प्रसाद रचना संचयन

अस्तर पर मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतय सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

प्रसाद रचना संचयन

सम्पादक

विष्णु प्रभाकर

रमेशचन्द्र शाह
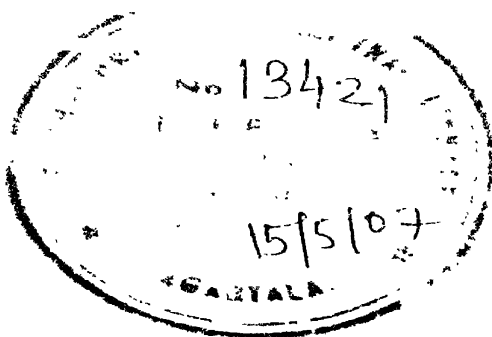
साहित्य अकादेमी

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग . स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
109, ए.डी.ए रगमन्दिर, जे सी. मार्ग, बंगलोर 560 002

मुद्रक : सुपर प्रिटिग सर्विस, दिल्ली-94

अनुक्रम

प्रसाद रचना संचयन

प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो युग 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है, वह मुख्यतः चार बड़ी प्रतिभा वाले कवियों की सर्जनात्मक ऊर्जा से आलोकित है: **प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी।** एक शक्तिशाली काव्यान्दोलन को, जिसमें एक साथ इतनी विविध और विलक्षण प्रतिभाओं का योगदान रहा हो, उसे परिभाषित करने के लिए 'छायावाद' संज्ञा उपयुक्त नहीं जान पड़ती। इस आन्दोलन का आरम्भ और राष्ट्रीय रंगमंच पर गाँधीजी के नेतृत्व का आविर्भाव लगभग आस-पास ही हुआ। कवि आलोचक विजयदेवनारायण साही ने इसीलिए इस युग को सत्याग्रह-युग की संज्ञा दी है, जोकि, निश्चय ही अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है। इसमें संदेह नहीं, कि 'सत्य को अन्तर्ध्वनित होते हुए पकड़ने' की गाँधीजी की शैली में और 'सत्य को उसके मूल चारुत्व में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति से ग्रहण कर लेने' के प्रसादीय आग्रह के बीच कहीं कोई गहरा संबंध है अवश्य। 'कामायनी' के इड़ा सर्ग में विक्षुब्ध प्रजा मनु पर एक ओर तो यह आरोप लगाती है कि "तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला/लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला", और दूसरी ओर यह भी, कि....."प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी/शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर, झीनी"।

कहना न होगा, जयशंकर प्रसाद के कवित्व में निहित यह 'जीवन की आलोचना' सत्याग्रह युग की केन्द्रीय अनुभूति और विचार-दृष्टि के मेल में ही है। आख़िर अंग्रेज़ी राज के शैतानी चरित्र का साक्षात्कार गाँधी जी को भी एकाएक नहीं हो गया था। धीरे-धीरे ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे और तब भी उन्हें कोई हड़बड़ी नहीं थी। वे इस मुक्ति-चेष्टा की नींव को ही मजबूत बनाना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने देश के 'अर्धक्षुधित, शोषित, निरस्त्रजन' के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया था। इसी तादात्म्य के फलस्वरूप वे समझ सके थे कि कोरी 'राजनीति' या कोरी 'संस्कृति' के द्वारा जनजागरण की दुहाई देने से काम चलनेवाला नहीं है। बजाए इस तरह की कल्पनाओं से अपने को बहलाने के, गाँधीजी ने समाज की आर्थिक मानसिक पुनर्रचना के उद्देश्य से नियोजित एक गहन रचनात्मक कार्यक्रम सामने रक्खा था और बताया था कि यही वह रास्ता है जिस पर चलकर हम सामूहिक आत्मनिर्भरता और सामूहिक दायित्व-भावना का विकास कर सकते हैं, जिसके बिना राजनीतिक आज़ादी का कोई अर्थ नहीं।

ठोस व्यावहारिक बुद्धि के धनी प्रसादजी निश्चय ही इस विवेक के कायल रहे होंगे। स्वयं उनके काव्य और नाटकों में सर्वत्र रचे हुए 'करुणा' के तत्त्व का इस संदर्भ में स्मरण

आना स्वाभाविक है। किंतु इस समानता के साथ एक अंतर की ओर भी ध्यान जाता है और वह है—करुणा के साथ-साथ 'आनन्द' पर प्रसाद जी का आग्रह। यह आनन्दवादी दर्शन—जो उनके समस्त लेखन का मूलाधार सरीखा है, मात्र एक अतीत-युग की मानसिकता को पुनर्जीवित करने का पलायनवादी उपक्रम नहीं है। प्रसादजी का समग्र कृतित्व इसका प्रमाण प्रस्तुत करता है कि जीवन और संसार की निरपवाद स्वीकृति का यह दर्शन—जोकि उदासीनता से एकदम अलग चीज़ है—वह बिना मानव-जीवन में निहित द्वैत के गहरे कारुण्य-बोध की अनुभूति के मूल्यवान नहीं हो सकता। यह आनन्दवाद महज यूनानी 'एपिक्योरियनिज़्म' या चार्वाकीय सुखवाद नहीं है। उनके काव्य में जो दो शब्द बीज-शब्दों की तरह बार-बार प्रयुक्त हुए हैं, वे हैं—'मधु' और 'करुणा'। यही पर्याप्त संकेत है कि उनकी मूल्य-चेतना और जीवनानुभूति में एक दोहरी संवेदना और दोहरा विवेक निरन्तर सक्रिय रहे हैं। करुणा प्रमुखतः बौद्ध अन्तर्दृष्टि है, जबकि 'मधु' वैदिक आर्यों के जीवनबोध में निहित अन्तःस्फूर्ति और सृष्टि-सामरस्य पर ज़ोर देनेवाला तत्त्व।

यों, हिन्दी साहित्य में नवीन राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हाथों हो चुका था जो कई मानों में प्रसाद जी के अग्रज थे। इस साहित्यिक संबंध पर बल देना इसलिए भी ज़रूरी जान पड़ता है कि जयशंकर प्रसाद के न केवल गद्य-साहित्य में, बल्कि काव्य-कृतित्व में भी हमें उस मौलिक मानवनिष्ठ दृष्टि का भरपूर परिपाक मिलता है, जिसका आरंभिक बीज हम भारतेंदु में ढूँढ़ सकते हैं। प्रसाद के कृतित्व के आस्वादन और मूल्यांकन में यह बात बुनियादी महत्त्व की है और इसका थोड़ा खुलासा यहाँ ज़रूरी होगा।

प्रसाद का वैशिष्ट्य करुणा और आनन्द के अतिरिक्त जिन दो तत्त्वों से प्रेरित है, वे हैं उनका इतिहास-बोध और आत्म-बोध। पहली दृष्टि में परस्पर विरोधी लगते हुए भी ये दोनों चीज़ें उनके कृतित्व में इतने अविच्छेद्य रूप में जुड़ी हुई हैं कि लगता है, दोनों का विकास दो लगातार पास आती हुई और अंत में एक बिन्दु पर मिल जाने वाली रेखाओं की तरह हुआ। यह बिन्दु निश्चय ही 'कामायनी' है। किन्तु इस परिणति के काफ़ी पहले भी हम लगातार देख सकते हैं कि उनका कृतित्व अपने इतिहास-बोध के कारण भी अपनी उतनी ही विशिष्ट चारित्रिक पहचान बनाने लगा है, जितना कि अपने उत्कट आत्मबोध के कारण। प्रसाद के जीवन और कृतित्व का जो असली संघर्ष है, वह एक एकीकृत भावबोध की उपलब्धि का संघर्ष है। व्यक्तिगत विषाद से उन्मोचन विश्व-वेदना की प्रगाढ़ अनुभूति में, और उस अनुभूति को अपनी सांस्कृतिक चेतना एवं इतिहास बोध के माध्यम से सर्जनात्मक सार्थकता देने की प्रेरणा—इसी में से प्रसाद जी की रचनात्मक सिद्धि का वृत्त बनता है। एक ओर हम पढ़ते हैं:—

"वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कम्पन

अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग"

तो दूसरी ओर, 'कामायनी' तक आते-आते :

"मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये-सी
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये-सी।"

इन 'भिन्न परिस्थितियों' पर भी एक नज़र डाल लेना यहाँ ठीक होगा। प्रसाद जी का जन्म माघ शुक्ल दशमी संवत् 1946 सन् 1889 के दिन काशी के एक सम्पन्न और यशस्वी घराने में हुआ था। चूँकि यह परिवार अपने विद्याप्रेम और औदार्य के लिए विख्यात था, अतः विद्वानों, कवियों, संगीतज्ञों का उनके यहाँ जमघट लगा रहता था। पठानों और बलूची स्त्रियों से लगाकर नेपाल, भूटान के कस्तूरीफ़रोशों तक, महापंडितों से लेकर जादू-टोने वालों तक, साधुओं से लेकर पाखंडियों तक, मानव-चरित्र का शायद ही कोई नमूना हो, जो उस रंगमंच पर न उतरा हो। ऐसे में संवेदनशील बालक जयशंकर के चित्त पर जीवन-लीला का वह विराट वैविध्य अंकित होना ही था।यह परिवार शैव था।कहा जा सकता है कि शिवोपासना ही नहीं, शैव दर्शन के चिंतन-मनन की भी एक सुदीर्घ परम्परा प्रसाद के परिवेश में निहित थी।जब पिता का देहावसान हुआ, उस समय प्रसाद की अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी।कुछ ही वर्षों के भीतर बड़े भाई भी परलोक सिधार गये और सोलहवर्षीय कवि पर समस्याओं का पहाड़ आ टूटा। आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह जर्जर हो चुके एक संस्कारी कुल परिवार के लुप्त गौरव के पुनरुद्धार की चुनौती तो मुँह बाये सामने खड़ी ही थी, जिस पर अन्तहीन मुक़दमेबाज़ी, भारी क़र्ज़ का बोझ, स्वार्थी और अकारणद्रोही स्वजन, तथाकथित शुभचिन्तकों की खोखली सहानुभूति का व्यंग्य..सबकुछ विपरीत ही विपरीत था। कोई और होता तो अपनी सारी प्रतिभा को लेकर इस बोझ के नीचे चकनाचूर हो गया होता। किन्तु इस प्रतिकूल परिस्थिति से जूझते हुए प्रसाद जी ने न केवल कुछ ही वर्षों के भीतर अपने कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था सुदृढ़ कर ली, बल्कि अपनी बौद्धिक-मानसिक सम्पत्ति को भी इस वात्याचक्र से अक्षत उबार लिया।

"ये मानसिक विप्लव प्रभो, जो हो रहे दिन रात हैं
कुविचार क्रूरों के कठिन कैसे कुटिल आघात हैं
हे नाथ मेरे सारथी बन जाव मानस-युद्ध में
फिर तो ठहरने से बचेंगे एक भी न विरुद्ध में।'

यही हुआ भी। जिस गहरे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की नींव पर प्रसाद जी के कृतित्व की पूरी इमारत खड़ी है, वह उनकी व्यक्तिगत जीवनी की भी बुनियाद है। घर-परिवार व्यवस्थित कर लेने के बाद हमारे कवि ने अपने अन्तर्जीवन की व्यवस्था भी उतनी ही दृढ़ता से सम्हाली और अपनी रचनात्मक प्रतिभा के निरन्तर और अचूक विकास क्रम से उन्होंने साहित्य जगत को विस्मय में डाल दिया। धीरे-धीरे, लगभग नामालूम ढंग से उनकी रचनाएँ साहित्य जगत में गहरे भिदती गई और क्या कविता, क्या कहानी, क्या नाटक, क्या साहित्य-चिंतन हर क्षेत्र में खमीर की तरह रूपान्तरकारी सिद्ध होती चली गई।

किसी ने उनके बारे में लिखा है कि प्रसाद का जो आन्तरिक व्यक्तित्व था, वह लीलापुरुष कृष्ण के आदर्श से प्रेरणा पाता था, और उनका जो सामाजिक व्यक्तित्व था, वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपना आदर्श मानता था। निश्चय ही प्रसाद जी के काव्य के पीछे जो जीवन और व्यक्तित्व है, उसमें धैर्य और निस्संगता की विपुल क्षमता रही होनी चाहिए। उनका आनन्दवाद महज़ आसानी से विरासत में मिल गई एक शास्त्रीय वस्तु ही नहीं है। इस दर्शन को उन्होंने विपरीत परिस्थितियों और घोर मानसिक उत्पीड़न से जूझते हुए संकल्पपूर्वक अर्जित किया था। इसीलिए उसमें एक विलक्षण मूल्यवत्ता है। जीवनी का जहाँ तक प्रश्न है, उसका आरंभ भी दुःखमय था और उपसंहार भीः जब प्रसाद जी अपनी सृजन-सामर्थ्य के शिखर पर थे, तभी, कुल जमा सैंतालीस वर्ष की आयु में एक घातक रोग ने उन्हें आ ग्रसा और इलाज के लिए किसी 'सेनेटोरियम' में जा रहने की बजाए वहीं अपनी प्रिय काशी में ही उन्होंने अपनी इहलीला संवरण कर ली। प्रसाद की जीवनी और उससे जुड़ा कृतित्व हमारे मन में बरबस ही कवि कीट्स के बारे लिखी आधुनिक कवि येट्स की उस प्रसिद्ध पंक्ति को प्रतिध्वनित कर देता हैः 'हिज़ आर्ट इज़ हैप्पी, बट हू नोज़ हिज़ माइण्ड' [उसकी कला आनन्दमयी है, किन्तु उसके पीछे जो मन रहा होगा, उसकी कथा कौन जानता है!]। अस्तु जहाँ तक प्रसादजी के मन का प्रश्न है, उसकी कुछ झलक हमें अवश्य मिल सकती है, यदि हम उनकी आनन्दमयी काव्य-कला में ही नहीं, उनकी उन कथा-सृष्टियों और नाट्यकृतियों में भी गहरी डुबकी लगाएँ जिनमें कि विशुद्ध आनन्द और समरसता के अतिरिक्त भी बहुत कुछ समाया हुआ है। स्वयं उनकी कविता का अंतःसाक्ष्य भी कम नहीं हैः उनके नाटक 'विशाख' का वह गीत याद आता है :

"आवृत हो अतीत सब मेरा
तूने देखा सब कुछ मेरा
परदा होने से...... "

क्या यह परदा, कला के लिए ही नहीं, संवेदनशील 'मन' के लिए भी अपरिहार्य नहीं है ?.....क्या प्रसाद जी की ही एक और नाट्य-गीति भी हमें नहीं बताती कि.... "नृत्य

करेगी नग्न विकलता परदे के उस पार?" जीवन के गहन पीड़ा-बोध में से ही 'आँसू' का कवि जीवन की निरपवाद स्वीकृति का ऐसा गान रच सकता है :

"छलना थी, फिर भी उसमें
मेरा विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था"

कहने का तात्पर्य यही, कि प्रसाद जी का 'आनन्दवाद' भी उनके 'नियतिवाद' की तरह इकहरा और सरलीकृत नहीं है।वह सच्चे अर्थों में समत्व-बुद्धि, यानी 'विज़डम' है। यह समत्व-बुद्धि उन्हें गहरे अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष में से उपलब्ध हुई थी। जैनेन्द्र कुमार सरीखे कथाकार चिन्तक ने भी यदि प्रसाद की इस ज़ोखिम उठानेवाली बुद्धि का लोहा माना है; तो यह सर्वथा स्वाभाविक है। उन्हीं के शब्दों में:–

"मेरे भाव में वह पहले बड़े नास्तिक लेखक थे।.... हर मत-मान्यता को, सामाजिक हो कि नैतिक, धार्मिक हो कि राजनैतिक, उन्होंने प्रश्नवाचक के साथ लिया।किसी को अंतिम नहीं माना। 'कंकाल' इसी से कितना भयंकर हो उठा है मानो काया की कमनीयता पर रीझने को तैयार नहीं है। शल्यक्रिया से भीतर के कदर्य और कुत्सित को बाहर लाकर बिखेर देने में उन्हें हिचक नहीं है।...नकार और निषेध को लेकर उठनेवालों दर्शनों का उन्होंने प्राणपण से निराकरण किया और उस दर्शन को प्रतिष्ठित करना चाहा जो जीवन के प्रति निरपवाद स्वीकृति का निमंत्रण देता है। हिन्दुत्व की उनकी ऐसी ही धारणा थी। बौद्ध और जैन परम्पराओं में उन्होंने वर्जन पर बल देखा और वह उन्हें किसी रूप में मान्य नहीं था।..मुझे लगता है जैसे यही उनके साहित्य का मूलभार, मूलकोण है।"

यहाँ पर हमारे मन में शंका उठ सकती कि कहाँ 'पहला बड़ा नास्तिक लेखक' और कहाँ 'हिन्दुत्व'! इन दोनों के बीच क्या संगति है? मगर जैनेन्द्र कुमार मानो हमारी शंका को भाँपते हुए ही, एक ऐसी गहरी बात आगे इसी सिलसिले में कह गये हैं, जो प्रसाद के किसी अध्येता या आलोचक ने आज तक नहीं कही, और जो अकाट्य लग उठती है। वे कहते हैं:–

"प्रसाद की अतिशय सप्रश्नता और प्रखर बौद्धिकता, जैसा कि अनिवार्य है, उन्हें उस जगह तक ले गई जहाँ खुद बुद्धि पर टिके रहना व्यक्ति के लिए संभव नहीं रहता। अपनी परिपक्व परिणति में बुद्धि यह दिखाए बिना नहीं रह सकती कि वह अपर्याप्त है और श्रद्धा में ही पूरी हो सकती है। इसका आशय यह नहीं, कि पहली वाली मेरी स्थापना सदोष है। बल्कि, यही कि श्रद्धा की स्वीकृति प्रसाद को बुद्धि द्वारा ही हो सकी है। जैसे बुद्धि माध्यम है, श्रद्धा बिना उसके अगम है।"

यह अन्तर्दृष्टि हमारे विचार में कामायनी की सही समझ के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक होगी। यह उन आलोचकों को भी पर्याप्त प्रत्युत्तर है जिन्हें 'कामायनी' में बुद्धि

तत्त्व की अवमानना अथवा श्रद्धा के पक्ष में एक तरह का भावुक सरलीकरण दिखाई दिया है।

सच पूछा जाय, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जयशंकर प्रसाद का कृतित्व समवेत रूप में संसार का तिरस्कार करनेवाले फलसफ़े की सबसे ज़ोरदार काट प्रस्तुत करता है। करुणा क्या रवीन्द्रनाथ की कहानियों के वातावरण में गहरे रची हुई नहीं? फिर भी कौन कह सकता है कि इस कारुण्य बोध के बावजूद रवीन्द्रनाथ का कवित्व और जीवन-दर्शन आनन्द प्रेरित ही नहीं? जैसा कि हमने पहले भी देखा, इन दोनों दृष्टियों के बीच कोई अनिवार्य अन्तर्विरोध नहीं है। इन आनन्दवाद में तीव्र रागात्मक संसक्ति भर नहीं है: उसमें आन्तरिक स्वातंत्र्य साधना और आत्मैक्य पर ज़ोर है। प्रसाद जी के उपन्यासों और नाटकों में संघर्ष और समाधान की एक विचित्र लीला दिखाई पड़ती है : उनके चरित्र भी राग-विराग, आशा-निराशा, रागाकुलता तथा दार्शनिक चिन्ताकुलता के बीच आन्दोलित होते रहते हैं। समाधान आश्वस्त नहीं करता वहाँ; संघर्ष और अस्थिरता का ही तीखा अनुभव हमारे सिर चढ़कर बोलता है। किन्तु उनकी काव्य-रचनाओं में उत्तरोत्तर एक ऐसा संतुलन सध जाता प्रतीत होता है जो इस द्वन्द्वात्मक लीला को एक समरसता की अनुभूति में घुला देता है। वहाँ 'तुमुल कोलाहल' है, तो यहाँ 'हृदय की बात' है। कहना न होगा वह 'तुमुल कोलाहल' जिसे व्यापता है, वह कथाकार-नाटककार, तथा उच्च काव्य-भूमि पर एक प्रशान्त समरसता के बोध को सिद्ध करनेवाला कवि दोनों अंततः एक ही व्यक्तित्व और एक ही मनीषा के दो पहलू हैं। अन्ततः गाँधीजी के लिए भी तो अनासक्ति योग की सार्थकता जीवन और कर्म के पक्ष में ही प्रयुक्त होने में थी, न कि जीवन की चुनौती से पलायन करने में।

कुल मिलाकर हम यही कह सकते हैं कि जहाँ एक ओर महात्मा गाँधी ने इतिहास के इस मोड़ पर भारत की लोकचेतना को प्रवृत्ति मार्ग की ओर मोड़ते हुए उसके नैतिक पक्ष की सार-सँवार पर अधिक बल दिया, वहाँ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रसाद सरीखे सर्जकों ने उसी प्रवृत्ति के काव्यात्मक अर्थात् आनन्दमूलक पक्ष को पल्लवित किया। जीवन और जगत के संबंध में जो मौलिक अन्तर्दृष्टियाँ इस देश ने अपनी सुदीर्घ लोकयात्रा के दौरान बार-बार कमाई और बार-बार गँवायी हैं, उन्हीं का नया संतुलन उपलब्ध करने की एक कठिन साधना प्रसाद के व्यक्तित्व और कृतित्व में भी हमें दिखाई देती है। प्रस्तुत संचयन से गुज़रते हुए हम देख सकते हैं कि प्रसाद की काव्य कल्पना बराबर उनके प्रत्यक्ष जीवनानुभवों और पर्यवेक्षणों द्वारा प्रेरित और पुष्ट होती रही और उनका कथा-साहित्य भी एक गहरे मनोवैज्ञानिक यथार्थ को ही झलकाता चलता है– अपने सारे रोमान और रहस्य के बावजूद उनका काव्य अवश्य अपने स्वर और रंग में अधिक आदर्श प्रेरित है, किन्तु वह भी यथार्थ का उल्लंघन करने की किसी तरह की पलायनेच्छा का परिणाम नहीं। मानवीय नियति के प्रति उनका वही दायित्व बोध वहाँ और भी सारभूत और घनिष्ठ रूप में विद्यमान है।

प्रसाद के कृतित्व में उनके रचनात्मक विकास के तीन सोपान स्पष्ट झलकते हैं। काव्य-रचनाओं में **चित्राधार, कानन-कुसुम, महाराणा का महत्त्व,** और **प्रेम पथिक**

पहले दौर के अंतर्गत आयेंगे, नाटकों में **राज्यश्री, विशाख,** तथा कहानियों में वे अधिकांश रचनाएँ, जो बाद में **छाया** नामक संग्रह में छपीं, इसी दौर की रचनाएँ हैं। दूसरा दौर वह है जिसमें जहाँ एक ओर 'झरना' के प्रकाशन के साथ नये रंग और नये तेवर के कवि के रूप में प्रसाद ने अपनी अलग पहचान स्थापित की, वहीं अपने संग्रह **प्रतिध्वनि** के जरिए हिन्दी कहानी के क्षेत्र में भी एक गुणात्मक परिवर्तन किया।उनका नाटककार रूप भी **अजातशत्रु** जैसे ऐतिहासिक नाटकों में और **कामना** सरीखे रूपकों में अधिक निखर कर आया। किंतु सृजनात्मक समृद्धि की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण दौर तीसरा है—सन् 27 से सन् 37 तक की अवधि, जो उनकी आयु का अंतिम दशक है। न केवल **आँसू, लहर,** और **'कामायनी'** जैसी प्रौढ़ काव्य-कृतियाँ, बल्कि **'कंकाल', 'तितली'** और **'इरावती'** (अपूर्ण) जैसे उपन्यास और **चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और एक घूँट** सरीखे उनके सर्वश्रेष्ठ नाटक भी इसी दौरान रचे गये।**आकाशदीप** और **आँधी** नामक कहानी-संग्रह तथा 'काव्य और कला' शीर्षक उनके महत्त्वपूर्ण साहित्य चिंतनात्मक लेखों का संकलन भी इसी दशक की देन हैं।

प्रसाद की कहानियाँ प्रसाद की गीति-संवेदना के साथ घनिष्ठ हैं। साथ ही उनमें भावों के उत्थान-पतन की ज़बर्दस्त नाटकीयता भी गुम्फित रहती है। इसलिये कई कहानियाँ अपने आप में सहज ही नाट्य-रूपान्तरण की सम्भावना सँजोए हुए हैं। 'गुंडा', 'स्वर्ग के खण्डहर', 'मधुवा', 'पुरस्कार', और 'आँधी', ऐसी ही कहानियाँ है। इनमें जो संवाद या कथोपकथन हैं, वे स्थूल यथार्थवादी धरातल पर नहीं, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक यथार्थ के धरातल पर प्रभाव उत्पन्न करते हैं। 'आकाशदीप' और 'ममता' इनसे अलग क़िस्म की कहानियाँ हैं हैं जिनका विन्यास नाट्यतत्त्व की बजाए गीति-तत्त्व के समीप है। हालाँकि कथोपथन यहाँ भी बड़े क्षिप्र और सजीव हैं, किन्तु, इनका प्रभाव नाट्य-सजीवता की अपेक्षा नहीं रखता।

'ममता' में यह प्रभावान्विति अपने सूक्ष्मतम संश्लिष्ट रूप में अनुभव की जा सकती है। कालगति का ऐसा मितव्ययतापूर्ण, सधा हुआ निर्वाह दुर्लभ है। स्वयं प्रसाद जी की कहानियों के बीच 'ममता' की स्थिति इस दृष्टि से विशिष्ट है। यहाँ एक भी वाक्य अतिरिक्त नहीं। भावोच्छ्वास अथवा चिन्तनात्मक टिप्पणी की भी इस कहानी-कला की दृष्टि से सर्वाधिक सन्तोषजनक रचना में कोई गुंजाइश नहीं।यही अद्भुत संयम और संवरण 'आकाशदीप' को भी वैशिष्ट्य प्रदान करता है। 'ममता' कहानी का उपसंहार देखिए : कुछ ही अर्थगर्भ वाक्यों में कहानी कहाँ की कहाँ पहुँच जाती है। पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं है। इस एक ही वाक्य में कितनी बड़ी विडम्बना, कितना गहरा जीवन-सत्य मूर्त हो आता है। एक ओर सम्राटों-साम्राज्यों-शिलालेखों का ऐतिहासिक (?) यथार्थ और दूसरी ओर अकेले मानव हृदय की पुकार अकेले का एकांत आत्मनिर्णय और कर्म, जिसका कोई साक्षी नहीं। किन्तु इसी में से उस इतिहास की निरर्थकता और अप्रांसगिकता पाठक के सिर पर चढ़कर बोलती है। यही वह सत्य है जिसे कलाकार-साहित्यकार देखता और दिखाता है। ममता एक साधारण स्त्री है: उसके चित्रण में रूमानी अतिरंजना की कतई

गुंजाइश नहीं। किन्तु इस साधारण चरित्र के सामने तथा-कथित इतिहास-नायकों की कारगुजारियाँ कितनी दयनीय लग उठती हैं। कहानी के नाटकीय आरम्भ में ही ममता एक ऐसी स्वाभिमानी और दृढ़ चरित्र के रूप में प्रकट होती है जो अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित अपने पिता चूड़ामणि को भी अपनी उच्चतर नैतिक चेतना का प्रमाण देकर हतप्रभ कर देती है। ऐसी नैतिक चेतना से समृद्ध स्त्री ही एक दूसरे कठिनतम निर्णय के क्षण में कह सकती है.. 'परन्तु यह दया नहीं'.. कर्त्तव्य की माँग है'.....और अपने इस विवेक को क्रियान्वित भी कर सकती है। इसी से तो यह कहानी शिलालेख से भी ज्यादा अमिट छाप मन पर छोड़ने में सक्षम है।

'आकाशदीप' का आरम्भ तो और भी नाटकीय है। यहाँ प्रसाद का कवित्व भी उतना ही मुखर है। रागात्मक ऐश्वर्य के भीतर विराग और कारुण्य की अन्त: सलिला इस कवित्व को एक अविस्मरणीय दीप्ति प्रदान करती है।

> ....चंपा ने उसके हाथ पकड़ लिये।किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिये दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चंपा ने कहा– "बुधगुप्त! मेरे लिये सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिये एक शून्य है। प्रिय नाविक, तुम स्वेदश लौट जाओ और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिये।".....

इन पंक्तियों की बेधकता का रहस्य स्वयं कवि प्रसाद के उस अन्तरंग जीवन-दर्शन में है, जो 'कामायनी' के मनु से कहलवाता है :

> 'दुख का गहन पाठ-पढ़कर अब सहानुभूति *समझते थे।*
> नीरवता की गहराई में मग्न अकेले रहते थे।'

'आकाशदीप' की नायिका और 'ममता' की नायिका को मिलानेवाला अन्तःसूत्र यही है। प्रसाद की अधिकांश कथा-रचनाओं का प्रेरक अन्तःसूत्र यही है : यही मानव-हृदय की रहस्यमय पुकार यही दुख का संकल्पपूर्वक वरण, यही अकेले का आत्मदान।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि निर्वेद, या आत्मकरुणा प्रसाद का स्थायी भाव है। वैसे भी हम देख चुके हैं कि यह सक्रिय सहानुभूति है। सकर्मक करुणा। थोथा आत्मावसाद अथवा रोमानी पलायनप्रियता नहीं। इसके अलावा दूसरी कहानियाँ भी हैं जिनके पात्र इस सार्थक करुणा से भिन्न दूसरे स्तरों की जिजीविषा से प्रेरित होते हैं। 'मधुआ' के शराबी को ही देख लीजिये। एक बालक के दृढ़ निश्चय का संक्रामक तेवर किस तरह इस चरित्र को रूपान्तरित कर देता है। यहाँ भी मानव-हृदय में छुपी हुई कोमलता और प्रेम भावना (यहाँ वात्सल्य के रूप में चरितार्थ) अकर्मण्यता को कर्मण्यता में, उदासीनता को सक्रिय सहानुभूति में बदल देती है। 'पुरस्कार' कहानी की सामान्य किसान-कन्या मधूलिका की गरिमा और स्वातंत्र्य-चेतना को ही देखिए जो राजा से नहीं डरती, किसी से नहीं डरती। प्रसाद की नायिकाएँ अलग से अध्ययन की माँग करती हैं। स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की घोषणा करनेवाले कथाकार तो बहुत मिलेंगे, लेकिन उस स्वतंत्रता को भरपूर आलोचना-

त्मक विवेक के साथ कहानी, उपन्यास और नाटक में चरितार्थ कर दिखानेवाले जयशंकर प्रसाद की समता कितने कम लोग कर पाये हैं, यह कोई भी मननशील जिज्ञासु देख सकता है। इस सन्दर्भ में 'आँधी' कहानी की नायिका 'लैला' तथा 'इन्द्रजाल' की नटिनी 'बेला' का स्मरण स्वाभाविक होगा।

यहीं पर हम प्रसाद की एक और कहानी का भी संक्षिप्त उल्लेख भर करना चाहेंगे। जिसका शीर्षक है : 'स्वर्ग के खण्डहर'। इस कहानी में भी तमाम रहस्य-रोमानी वातावरण के आरपार प्रसाद का वह काव्यमय, रागदीप्त जीवन-दर्शन कौंध उठा है। इस कहानी के कल्पित स्वर्ग का अधिष्ठाता शेख कहानी की नायिका 'लज्जा' से कहता है– "तुम ठीक मेरे स्वर्ग की रानी होने योग्य हो। यदि मेरे मत में तुम्हारा विश्वास हो, तो मैं तुम्हें मुक्त कर सकता हूँ। बोलो!" इस पर नायिका जो उत्तर देती है, वही इस संक्षिप्त कहानी–चर्चा का सटीक समापन होगा। नायिका कहती है :–

> "स्वर्ग! इस पृथ्वी को स्वर्ग की आवश्यकता क्या है शेख? ना, ना, इस पृथ्वी को स्वर्ग के ठेकेदारों से बचाना होगा। पृथ्वी का गौरव स्वर्ग बन जाने से नष्ट हो जायेगा।....पृथ्वी को केवल वसुन्धरा होकर मानव-जाति के लिये जीने दो, अपनी आकांक्षा के कल्पित स्वर्ग के लिए क्षुद्र स्वार्थ के लिये इस धरती को नरक न बनाओ, जिसमें देवता बनने के लिये प्रलोभन में पड़कर मनुष्य राक्षस न बन जायें।"

विकास-क्रम की इस रूपरेखा से साफ़ झलकता है कि अपने साहित्यिक जीवन के प्रत्येक सोपान पर प्रसाद एक साथ कई विधाओं में रचनाशील रहे। ऐसा लगता है कि कवित्व की भाँति ही नाट्य तत्त्व भी उनके स्वभाव में निहित है और यह उनकी जीवनानुभूति का भी बुनियादी गुणधर्म है। अधिकांश कहानियों का भी सूत्र संचालन काफी दूर बैठा हुआ कवि ही करता जान पड़ता है। इस प्रतीति के चलते, उनके बहुमुखी कृतित्व को देखने-परखने की सही पद्धति यही लगती है कि हम उनकी कविता को तो अपने दृश्य फलक के केन्द्र में रक्खें और नाटकों तथा कथाकृतियों को भी अपने दृष्टि-वृत्त में लाते रहें ताकि परिप्रेक्ष्य भी सही रहे और दृष्टि भी एकाग्र हो सके।

उनकी प्रारंभिक कविताओं से भावी संभावनाओं का पूरा संकेत न भी मिले, किन्तु यह तो पता चलता ही है कि इस कवि का रूझान गीति-काव्य और लम्बे कथा-काव्य दोनों की ओर है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी उनके जीवन-व्यापी सरोकारों का कुछ अनुमान इन रचनाओं से हो जाता है। प्रेम, प्रकृति, अतीत गाथा, पुराण, इतिहास, तथा मनोविज्ञान के प्रति उनका लगाव शुरू से ही दिखाई देने लगता है। रूपतंत्र के लिहाज़ से भी विभिन्न छन्दों और लयगतियों में निहित अभिव्यक्ति की संभावनाओं को टटोलने-परखने की सूझ-बूझ के दर्शन यहाँ हो जाते हैं। 'चित्राधार' की पहली ही कविता उजड़ी हुई अयोध्या के कथा-रूपक के जरिए देश की वर्तमान दुरवस्था को झलकाने और भविष्य के लिए आशा संकेत पाने की अभिलाषा में से निष्पन्न हुई है। 'प्रेम राज्य' मध्यकालीन इतिहास की एक घटना पर आधारित है। प्रकृति के विविध पक्षों को लेकर भी अनेक कविताएँ हैं।

जीवन की गंभीर आलोचना का पूर्वाभास भी हो जाता है : इस संचयन के पहले ही पदों को पढ़ते हुए पाठक इसका अनुभव करेगा।

'प्रेम-पथिक' में प्रेमानुभूति के विकास-क्रम के दो स्तरों का संधान किया गया है। एक तो व्यक्तित्व की उपलब्धि के साधन के रूप में और दूसरे इस व्यक्तित्व को अतिक्रान्त करते हुए विश्व-प्रेम और विश्व-करुणा की निर्वैयक्तिक साधना के रूप में। यहाँ पहली बार हम कवि को अतुकान्त छन्द का और पंक्ति के बीच में कहीं भी पूर्णविराम दे देने की छूट का उपयोग करते पाते हैं। 'कानन-कुसुम' में विषयों और छन्दों का भी ख़ासा वैविध्य है। ज़माना जब गद्य का हो, तो कविता का रास्ता तंग होता ही है और वह तंगी यहाँ भी महसूस की जा सकती है। फिर भी, शब्दों का मितव्यय, भाव के उतार-चढ़ाव के अनुरूप लय-गति के फेर बदल की सावधानी, और भावों के चित्रण में एक मनोवैज्ञानिक समझ-बूझ, ये कुछ ऐसी खूबियाँ हैं जो यहाँ भी अनुभव की जा सकती हैं। बोलचाल के मुहावरे की नज़दीकी और मौजूदा काव्य-रूढ़ियों को तोड़ने की लालसा भी कई कविताओं में झलकती है। हाँ, प्रसाद की जो अपनी बिल्कुल अलग से पहचानी जा सकने वाली आवाज़ है और उसके अनुरूप वाक्य-विन्यास की खोज है, उसका परिचय 'झरना' में मिलता है। यहाँ भी कई कविताएँ ऐसी मिल जायेंगी जिसमें पुरानी अनुगूँजें हैं, किन्तु अब कवि का संसार काफ़ी एकाग्र और एकान्वित प्रतीत होने लगता है। संग्रह की पहली ही कविता देखें जिसके आधार पर पूरे संग्रह का नामकरण हुआ है तो वह हिन्दी कविता में एक नये स्वर और नये संवेदन की असन्दिग्ध सूचना है, जिसे बाद में 'छायावाद' नाम दिया गया। द्विवेदी युग के पद्य के अभ्यस्त कानों को यहाँ निश्चय ही एक नया अनुभव हुआ होगा। वैसा ही नया अनुभव, जैसाकि छायावादी पद्य के अभ्यस्त कानों के लिए अज्ञेय के 'ओ पिया पानी बरसा' जैसी कविता का नया लयात्मक उत्तेजन। कविता के उपवन में जो भी नयी पौध पनपती है, वह इसी तरह के सूक्ष्म रूपतांत्रिक उद्भावनाओं और प्रयोगों के जरिए उपजती है।

हम देखते हैं कि अपनी अनगढ़ता के बावजूद प्रसाद का कवि जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त कर लेता है। उसकी समस्या पद्य में अपनी संश्लिष्ट जीवनानुभूति को व्यक्त करने की एक समर्थ शैली विकसित करने की है। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य की नवजात क्षमताओं को प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि अपने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रयुक्त छन्द-विधियों की सामर्थ्य को भी टटोलता हुआ अपने सूक्ष्म प्रयोग करता चलता है। उनमें आवेग सर्जित लयकारियों की वैसी समृद्धि भले ना दीखे, जैसी निराला में दीखती है, किंतु काव्य में जितना संगीत समा सकता है, वह प्रसाद को सहज सिद्ध है। उनका कवि संगीत का उपयोग करता है, बिना उसे अतिरिक्त महत्त्व दिए। प्रसाद में अनुभूति बहुधा एक सघन बिम्ब रचती है: बौद्धिक और ऐन्द्रिक संवेदनों को एकाग्र करती हुई। 'विषाद' शीर्षक कविता में ही, उदाहरण के लिए–

"किसके तममय अन्तरतम में, झिल्ली की झनकार हो रही
स्मृति सन्नाटे से भर जाती, चपला ले विश्राम सो रही।"

वे थिराये हुए आवेग के, हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से भी अधिक अपने आत्म-परिष्कार को जाँचते-समझते रहने की प्रक्रिया है। कहा जा सकता है कि वे अनुभूति और बुद्धि के रासायनिक संश्लेषण के कवि है :

अरे आ गई है भूली सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी सी कुटिया में रच दूँ, नयी व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह, खलेगा किनको?

प्रसाद 'छोटे-से जीवन की बड़ी-बड़ी कथाएँ कहनेवाले कवि नहीं हैं। वे तो बहुत बड़े जीवन को छोटे-से रूपक में से झलका देनेवाले कवि हैं। उनके भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते चले जाते हैं। बाहरी संसार, ऐन्द्रिय संवेदनों का जगत उनकी कवि कल्पना के लिए कलात्मक विलास के उपकरण नहीं जुटाता, बल्कि अधिकाधिक एकाग्र संवेदन और अर्थान्वेषण की प्रेरणा देता है। सजग पाठक देख सकता है कि प्रसाद में प्रारंभ से ही यह रूझान स्पष्ट है : अपनी ही अनुभूतियों और भाव संवेगों के अध्ययन मनन की प्रवृत्ति, जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़, परिपक्व और संश्लिष्ट व्यंजनावाली काव्य-पंक्तियों का सृजन करती है–

चढ़कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई

अंग्रेज़ी काव्य के अध्येताओं को ये पंक्तियाँ बरबस ही प्रख्यात 'मेटाफ़िज़िकल' कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देंगी :

बट हार्क अपॉन माइ पल्स आइ हियर
टाइम्स व्हीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर

हां, इस अत्यंत विशिष्ट अर्थ में प्रसाद एक 'मेटाफ़िज़िकल' कवि हैं, जिनके यहाँ बौद्धिक अनुभव और ऐन्द्रिक अनुभव संघटित होकर एकाग्र अभिव्यक्ति पाते हैं। यही उनकी विलक्षणता है जो 'लहर' की श्रेष्ठ कविताओं के बाद 'कामायनी' में अपने सघनतम

रूप में अनुभव की जा सकती है। प्रसाद की यह बौद्धिकता कोई ऊपर से आरोपित चीज़ नहीं है। वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अंतर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा है। यह मानना कि उनपर प्रारंभ से ही किसी बने-बनाये विचार दर्शन का अंकुश था, निहायत ग़लत होगा। वे गहरे अर्थों में सांस्कृतिक आत्मान्वेषण के कवि हैं। 'अतीत की विकल कल्पना' उनकी कविता की एक प्रमुख प्रेरणा रही दीखती है: अतीत का मोह नहीं, बल्कि अतीत की विकल कल्पना–जोकि एक साथ अत्यंत आत्मीय निजी भी है और जातीय सांस्कृतिक भी। 'लहर' की कविताओं में अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित मन' को कवि ने किस प्रकार जगाया है, एक कविता में, इस पर ध्यान दीजिए और फिर उस पहली ही 'लहर' शीर्षक कविता को देखिए, जिसमें कवि कहता है :

तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख लहर उठारी सरल-सरल
तू हँस जीवन की सुघराई

यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना! प्रसाद की 'लहर' 'अस्थिर आशा का अभिनय' नहीं है। वह 'आशा ' की माधुरी अवधि है, करुणा की नव अँगराई है। निश्चय ही यह किसी आसान रूढ़ आस्तिक विश्वास की 'करुणा' नहीं है। संभवतः इसका संबंध उस प्रज्ञा से है, जिसे पाने के लिए प्रसाद ने आजीवन काव्य-साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से लगातार पलायन किया। व्यक्तित्व से पलायन, यानी व्यक्तित्व का होम.. जो कामायनी की श्रद्धा का भी सारभूत संदेश है :

रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ पुरुष का जो है
संसृति सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है

किन्तु इस श्रद्धा बुद्धि की उपलब्धि इतनी आसान नहीं है। प्रसाद यदि साहित्य को दुःखदग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग के एकीकरण की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं तो यों ही नहीं करते। इससे पहले कि हम कामायनी के 'एकीकरण' को समझने की कोशिश करें, हमें प्रसाद जी द्वारा प्रस्तुत दुःखदग्ध जगत की उन झाँकियों पर भी दृष्टि डालनी होगी जो उनकी काव्येतर रचनाओं में सर्वत्र विन्यस्त हैं। हमें उनके नाटकों में निहित इतिहास के सबक़ सीखने होंगे, उनकी औपन्यासिक शल्य-क्रिया का मर्म भी पहचानना होगा। तभी हम कामायनी की काव्योपलब्धि को भी सम्यक् रूप से स्वीकार कर सकेंगे।

प्रसाद के कवित्व में यदि एक ओर गीति-लाघव है, तो दूसरी ओर जीवन का अत्यंत नाटकीय संवेदन भी। सच पूछा जाय, तो जीवन एक रंगमंच है, यह उनकी जीवनानुभूति का, और इसलिए उनके कृतित्व का भी स्थायीभाव सरीखा लगता है। यह अकारण नहीं, कि उनकी कविता में रंग कर्म से संबंधित बिम्बों की बहुतायत है। यों भी यह उनके सर्जक स्वभाव की अनिवार्यता है कि वे अपने भोगनेवाले व्यक्तित्व से काफ़ी दूरी हासिल करें। मानो अपनी व्यक्तिगत आवाज़ का भी सर्वश्रेष्ठ रचनात्मक उपयोग वे तभी कर पाते हों जब वे उसे निर्वैयक्तिक माध्यम से सुन सकें। प्रत्यक्ष जीवनानुभूतियों की जैसी सीधी घुसपैठ उनके नाटकों उपन्यासों वाले कवित्व में होती है, वैसी उनकी विशुद्ध कविताओं में नहीं। काव्य में उनका अधिकतर चिंतन-मंथन के अनेक छन्नों से छनकर, सान्द्र होकर ही अभिव्यक्त होता है, सीधे-सीधे कम।

यह अकारण नहीं कि प्रसाद जी की पहली ही नाट्य-रचना 'करुणालय' एक पद्य नाटक है। यह भी आकस्मिक नहीं है कि अपने समय के इस सबसे अधिक बौद्धिक और दार्शनिक कवि ने भारतेंदु की विरासत सम्हालते हुए उसे अपने ऐतिहासिक नाटकों के द्वारा नया जीवन दिया। भारतीय पुनर्जागरण की उस सान्ध्य चमक के दिनों में देश के 'ऐतिहासिक' चित्र ही सबसे अधिक दर्शकों की भावनाओं को जगानेवाले हो सकते थे। वह राजनैतिक उथल-पुथल का समय था। राष्ट्रीयता, स्वाधीनता संग्राम, जातीय एकता और पुनर्जागरण का सपना, यही उन दिनों की प्रेरक प्रवृत्तियाँ थीं और यही प्रसाद जी के नाट्य लेखन की भी प्रेरणा बनीं।

प्रसाद के नाटकों के नायक एतद्देशीय इतिहास के जाने-माने चरित्र हैं: राज्यश्री, हर्षवर्धन, अजातशत्रु, चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, चाणक्य, गौतमबुद्ध, ध्रुवस्वामिनी इत्यादि। ऐसे आलोचकों को, जिन्हें यह शिकायत थी, कि 'ये नाटक रंगमंच के लिए उपयुक्त नहीं हैं', प्रसाद जी का मुँहतोड़ जवाब था कि 'नाटक मंच के लिए नहीं होता, मंच नाटक के लिए हुआ करता है।' यह कथन निर्देशक को उसकी सही जगह पर रखता है और आज भी प्रासंगिक है।

प्रसाद जी अपने युग की राष्ट्रीय भावनाओं को प्रतिबिंबित करते थे, पर उनका इतिहास बोध वहीं तक सीमित नहीं था। भारतीय इतिहास का उनका ज्ञान बहुत गहरा था और उसके बारे में अपनी मोहमुक्त, सत्य शोधक दृष्टि के चलते उनकी विचार-दृष्टि अत्यंत मौलिक और स्वतंत्र थी। वे भारतीय संस्कृति के ही नही, भारतीय आचरण के भी प्रखर द्रष्टा और आलोचक थे। उनके नाटकों में हमें इतिहास का गौरव ही नहीं, उसकी कुण्ठा, त्रास और ऊब का भी हिला देनेवाला साक्षात्कार मिलता है। उनकी नाटकीय दुनिया में हिंसा और बर्बरता है, कुचक्र और विश्वासघात है, और है एक रोंगटे खडे कर देनेवाला नैतिक दिवालियापन। इस गंदगी और सड़ॉध का अधिष्ठान अक्सर शक्ति-सामन्तो और तथाकथित मठाधीशों में हुआ करता है। स्कन्दगुप्त का खलनायक प्रपंचबुद्धि राज्य के सबसे बड़े मठ का अधिपति है। लम्पट और विश्वासघाती भटार्क मगध का सेनापति है। राज्यश्री का विकटघोष एक बौद्ध भिक्षु से डाकू बना है। 'अजातशत्रु' का देवदत्त ईर्ष्या,

पाखण्ड और महत्त्वाकांक्षा के अंधेपन का जीता-जागता प्रतीक ही है। यहाँ हर घर भीतर से विभाजित हैः पुत्र पिता के विरुद्ध है, पत्नी पति के विरुद्ध कुचक्र रच रही होती है, मंत्री अपने राजा के ख़िलाफ़। संभ्रान्त नागरिक संवेदनहीन हैं। देश की बची-खुची चेतना का एकमात्र अवलम्ब स्कन्दगुप्त अपने ही लोगों द्वारा बारम्बार धोखा खाता है। नाटक का आरंभ ही एक भयानक दुःस्वप्न सरीखे दृश्य से होता है। और अंत में भी श्मशान घाट का अंधकार ही बचता है। निश्चय ही प्रेम, करुणा और क्षमा के उद्धारक तत्त्व भी किसी न किसी रूप में इन नाटकों में बराबर उपस्थित रहते हैं। परन्तु इन जीवन मूल्यों के साथ लेखक की प्रकट सम्पृक्ति के बावजूद हिंसा और घृणा के अँधेरे साम्राज्य को भेदने में यह आलोक समर्थ है, ऐसी आश्वस्ति दर्शक को कदाचित ही कभी हो पाती हो। इतना ही नहीं, सांस्कृतिक गौरव की अहम्मन्य आत्मतुष्टि प्रसाद की दृष्टि में हमेशा हास्यास्पद ही ठहरती है। 'स्कन्दगुप्त' में प्रख्यातकीर्त्ति के अनुसार सभी धर्म देश-काल की विशेष परिस्थितियों की उपज होते हैं और इसीलिए अपूर्ण भी, क्योंकि मनुष्य का ज्ञान कभी भी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए इतिहास क्रम में जुड़नेवाले नये ज्ञान के प्रति दिमाग़ को बन्द कर लेना मानव चेतना का अपमान है। यही प्रसाद जी की दृष्टि में विकास का मर्म है।

ध्यान देने की बात है कि 'कामायनी' भी मानव जीवन की सार्थकता चेतना के इसी विकास में देखती है और उसी में विश्व के कल्याण की आशा को भी केन्द्रित करती है। 'यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित ' ।........यह चेतना ही मानव पुरुषार्थ के फलस्वरूप अपनी स्वरूप सत्ता में प्रतिष्ठित हो, विश्व विकास का, विश्वात्मा का भी यही प्रयोजन कवि को दिखाई पड़ता है :

सृष्टि के विद्युत्कण जो व्यस्त, विकल बिखरे हैं हो निरुपाय
समन्वय उनका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।"

ध्यान देने की बात यह भी है कि प्रसाद जी का 'विजयिनी मानवता' का यह स्वप्न पश्चिम के उस मानव केंद्रित प्रकृति-द्रोही विजय अभियान के फलसफ़े से मूलतः भिन्न है। प्रसाद जी की दृष्टि मानव-निष्ठ अवश्य है, और इसीलिए वे विश्व मानव की चिंता से प्रेरित होकर ही 'मनु' की कथा को अपने महाकाव्य का विषय बताते हैं, किसी एक विशेष जाति के विशेष सांस्कृतिक नायक को नहीं। किंतु उनका यह मानववाद भी चराचरवादी मानववादी है, सृष्टि सामरस्य से ही प्रेरित और परिभाषित मानववाद है, प्रकृति से रण छेड़नेवाला, विश्व के अवधारणात्मक वशीकरण की लालसा से प्रेरित यूरोपियन मानववाद वह कदापि नहीं है, इस अंतर को समझ लेना ज़रूरी है।

'कामना' एक अलग क़िस्म का 'एलेगोरिकल' नाटक है, जहाँ मनोवृत्तियाँ ही पात्रों के रूप में सामने आती हैं। यह और 'एक घूँट' हमें प्रसाद जी के अंतरंग विचारों का बहुत अच्छा परिचय कराते हैं। 'कामना' को एक तरह से 'कामायनी' का पूर्वराग भी मान सकते हैं 'कामना' का परिवेश एक काल्पनिक द्वीप का है, जहाँ के निवासी नायिका कामना और उसके साथ

संतोष की तरह पूर्णतः सरल आनन्द और संतोष का जीवन बिता रहे है। तब आता है 'विलास'–कहीं बाहर से, जो इस सहजता को नष्ट करके लालची व्यक्तिवाद और महत्त्वाकांक्षा का रोग फैला देता है। 'दंभ' नामक पूँजी धर्म का पुरोहित भी इस काम में उसकी मदद करता है। तब 'विवेक' के नेतृत्व में विद्रोह होता है, विलास और लालसा पराजित होकर भाग जाते हैं।

'एक घूँट' की पृष्ठभूमि भी इसी तरह एक आदर्श काल्पनिक अरुणाचल आश्रम की है। यहाँ नगर-जीवन और ग्राम्य-जीवन की संधि और संतुलन है। आनन्द नामक एक विश्व भ्रमणकारी युवक– 'मुक्त प्रेम' के अपने दर्शन से इस आश्रम में खलबली मचा देता है। कवि रसाल की पत्नी वनलता उसके साथ बहस करती हुई अपनी ही मनोरचना को आर पार देखती हुई एक तरह का ज़रूरी आत्म-ज्ञान प्राप्त करती है। किन्तु अपनी धुरी से खिसकती नहीं। वह इस मुक्त प्रेम के प्रचारक की अहम्मन्यता के गुब्बारे को पिचकाकर अपने पति के पास लौट आती है। उधर ये प्रचारक महोदय स्वयं प्रेमलता के सहजविवेक के वशीभूत हो जाते हैं। दूसरों को बदलने निकले आनन्द महोदय स्वयं बदल जाते हैं। तो भी उनके आने से कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। उसने अनजाने ही आश्रमवासियों की आन्तरिक संभावनाओं और क्षमताओं को उकसा दिया है। इस विजातीय तत्त्व का आकर्षण सबको महसूस हुआ है, पर वह 'कामना' की तरह विध्वंसक आकर्षण नहीं है। आनन्द का आगमन आश्रमवासियों को अपनी अब तक की मानसिकता , अब तक के जीवन-बोध का पुनर्मूल्याकन करने को विवश कर देता है। सच तो यह है कि आनन्द उस तरह विजातीय है भी नहीं, वह उनकी अपनी ही एक बहुत अन्दरूनी ज़रूरत और वास्तविकता का प्रतीक बनकर आता है। वह मानो उन्हीं के भीतर गड़े, किंतु कालान्तर में भुला दिये गये आनन्द-बीज का ही एक आधुनिक और विकृत संस्करण है। इसीलिए वे उसे अपने में घुला और पचा ले जाते हैं, बिना किसी टूट-फूट के।

ये दोनों रचनाएँ बड़ी ही स्वतःस्फूर्त और सुगठित हैं। धारणा के स्तर पर सुस्पष्ट, और निर्वाह में पूर्ण कौशल का परिचय देते हुए। किन्तु रूपक (एलेगरी) के सरलतम विन्यास में ढले होने के कारण वे हमें जीवन की जटिलता का, मानव चरित्रों के जटिल घात-प्रतिघात का वैसा सघन अनुभव नहीं करा पाती जैसा कि प्रसाद जी के ही 'स्कन्दगुप्त, 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे नाटक करा पाते हैं। कई संरचनात्मक कमज़ोरियों के बावजूद ये नाटक हमें आख़िर आज भी क्यों आकर्षित करते हैं? इसीलिए, कि वे कुछ बुनियादी अन्तर्द्वन्द्वों का अत्यंत मार्मिक और विश्वसनीय चित्रण करते जान पड़ते हैं। एक बात जो हमें विस्मय में डालती है, वह यह है कि आधुनिक भारतीय साहित्य में आनन्द और जीवन पोषक मूल्यों के लिए रवीन्द्रनाथ की तरह गहनतम स्तरों पर लड़ाई लड़नेवाले प्रसाद जी अपने नाटकों में दुःख और दौरात्म्य की सर्वग्रासी समस्या से इस क़दर आक्रान्त दिखाई देते हैं कि समझ में नहीं आता इस संसार में कर्म करने, सहने और उम्मीद करते रहने का क्या कोई अर्थ है भी? लगता है, जैसे कलात्मक सौन्दर्य अथवा अनासक्त संन्यास-दृष्टि के सिवा इस सृष्टि के पास मनुष्य को देने के लिए कुछ भी नहीं है।

यहीं पर 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य हमें थोड़ी टेक, थोड़ी राहत प्रदान करता लगता है। यह राजाओं का निर्माता, महाबुद्धिशाली चरित्र प्रसाद ने पूरी गोलाई में गढ़ा है और अपने आप में वह उस बुनियादी आत्म-संघर्ष को बिम्बित करता है, जिसे हम प्रसाद जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का ही नहीं, स्वयं भारतीय इतिहास और सभ्यता का भी सबसे गहरा अंतर्द्वन्द्व याकि अंतर्विरोध भी मान सकते हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति, राग और विराग, कर्मजीवन और बुद्धिजीवन के दावों के बीच जो द्वन्द्व है उसे यहाँ वास्तविक जीवन में इच्छा, क्रिया और ज्ञान की यथासंभव एकता के जरिए हल करने की पीड़ा भरी चेष्टा अवश्य दिखाई देती है। पीड़ा और अकेलापन यहाँ भी है, चेष्टा भी पूरी तरह सफल नहीं लगती। फिर भी तीव्र मोहभंग से गुज़रता नायक उदासी का शिकार नहीं बनता। वह स्वयं चाणक्य को ललकारता है। यह चाणक्य के लिए एक ऐसा डंक है कि असह्य तिलमिलाहट के उस क्षण में वह अपने आपको अपने, समूचे जीवन की व्यर्थता और सार्थकता को सहसा मानो तड़ित् की कौंध में आर पार देख लेता है। यह एक सच्चा 'ट्रैजिक क्षण' है, जिसमें चाणक्य अपने दहला देनेवाले आत्मज्ञान से रूपान्तरित होकर अपनी सारी क्रूरताओं और विडम्बनाओं समेत अपने आपको उलाँघ जाता है। निश्चय ही, इसके बाद वह भी कर्मक्षेत्र से त्यागपत्र देकर चला जाता है। पर उसका वह 'पैशन', उसके जीवन की करुणा का वह तेजस्वी साक्षात्कार उसके पुरुषार्थ और आत्मग्लानि की वह इकट्ठी भभक, उसके निर्वेद को भी एक ऐसी दीप्ति और 'ट्रैजिक' गरिमा दे जाती है, जिसकी खोज हम प्रसाद के नाटकों में जाने कब से करते चले आ रहे थे।

हमने संकेत किया था कि 'कामायनी' का एक सूत्र 'कामना' नामक 'रूपक' से जुड़ता है। किन्तु दूसरी ओर वह उनके उपन्यास 'कंकाल' से भी जुड़ता देखा जा सकता है। यदि इस महाकाव्य की संरचना का बीज 'कामना' में खोजा जा सकता है, तो जो समाज-दर्शन वहाँ प्रस्फुटित हुआ है, उसकी पूरक पृष्ठभूमि 'कंकाल' में मौजूद है। लगता है, जैसे स्वयं कवि को भी अपने इस उपन्यास और उस महाकाव्य के बीच एक प्रच्छन्न संबंध-सूत्र का आभास था। तभी तो उन्होंने अपने मनु से एक जगह कहलवाया है:–

शापित सा मैं जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूँ
उसी खोखलेपन में जैसे
कुछ खोजता, अटकता हूँ

प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों के बारे में प्रेमचंद ने 'हंस' में प्रकाशित अपनी समीक्षा में लिखा था कि *'गड़े मुरदे उखाड़ने से क्या फ़ायदा !'* 'कंकाल' में प्रसाद ने अपने समसामयिक समाज की जीवित मृत्यु का उद्घाटन कर दिखाया। किसी समाज की नैतिक सड़ाँध का इससे भयावह साक्षात्कार और क्या होगा? कोई उन्नीस पात्रों में से सिर्फ़ एक अराजकतावादी विजय और दूसरी वह अनाथ घण्टी और तीसरी वह आत्मबलिदानी

यमुना ही उजाले के विन्दुओं की तरह इस कीचभरे अँधेरे में जुगनुओं की तरह टिमटिमाते दीखते हैं। 'आँसू' की आदर्श-प्रेरित मार्मिकता के पूरक यथार्थ के रूप में इसे देखना होगा कि किस तरह रूढ़ियों में जकड़े एक रुग्ण समाज में एक स्वतंत्र मानव व्यक्ति ही अपने आप में मूल्यों का स्रोत बनने लगता है। यह उपन्यास सारी सामाजिक संस्थाओं और रूढ़ियों की खिल्ली उड़ाता है क्योंकि अपने वर्तमान रूप में वे समाज और सामाजिक जीवन के आदर्श की जीती-जागती विडम्बना के रूप में प्रस्तुत हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्री-पुरुष संबंध पूरे समाज की आधारशिला है। किन्तु दाम्पत्य का जैसा अवमूल्यन इस उपन्यास में चित्रित है, वह रोंगटे खड़े कर देनेवाला है। यहाँ विवाह ने अपना सारा अर्थ खो दिया है। प्रेम की जगह पैसा घुस आया है। यह विकृत संसार खुदगर्ज़ वासनाओं से और बेग़ैरत पाखण्ड से संचालित है, किन्हीं मूल्यों से नहीं। इस विकृति का सबसे बड़ा पोषक स्वयं समाज का धर्मतंत्र है। उपन्यास का सीधा प्रहार इस धर्मतंत्र और उसके ठेकेदारों पर ही है। महज़ सुधारों से कुछ नही हो सकता, स्त्री-पुरुष संबंधों मे, तथा अन्य क्षेत्रों में एक आमूलचूल क्रान्ति आये बिना यह नासूर ठीक नहीं हो सकता—यही इस उपन्यास को पढ़कर प्रतीत होता है।

इस उपन्यास में 'भारत संघ' की कल्पना भारतीय समाज के सर्वोत्कृष्ट बचे-खुचे प्रतिनिधियों को, प्रगतिशील तत्त्वों को, और उसके माध्यम से जो यत्किंचित् विवेक चेतना समाज से अब भी सक्रिय हो सकती है—उसको फलीभूत करने का स्वप्न देखती है। हिन्दुस्तानी विवेक बुद्धि ने मनुष्य के लौकिक जीवन को व्यवस्थित करने की कुछ ऐसी सकल्पना खड़ी की थी, जिससे उसकी दैहिक मानसिक विभिन्न प्रकार की ज़रूरतें अकुण्ठ भाव से पूरी हो सकें। प्रसाद जी के अनुसार यह धर्म की एक मानवनिष्ठ संकल्पना थी। इस संकल्पना और व्यवस्था में मनुष्य की प्राकृतिक भूख या वृत्ति को 'पाप' की कोटि में डालने का प्रश्न ही नहीं उठता। आश्रम की व्यवस्था जहाँ आदमी के निजी व्यक्तित्व की परिपूर्ति के लिए थी, वहीं वर्ण की व्यवस्था उसके सामाजिक जीवन का सही रूपाकार गढ़ने के लिए। इस दोहरी परिपूर्ति के अभाव में क्या व्यक्ति, और क्या उसका सामाजिक जीवन, दोनों अपनी वास्तविक संभावनाओं के कंकाल भर रह जाते हैं। भारतीय समाज प्रसादजी के अनुसार वह लचीला संतुलन खो चुका है। सम्पूर्णता की वह अवधारणा ही जैसे छिन्न-भिन्न हो गयी है।

'कंकाल' में चित्रित समाज आधुनिक युग का अंधा लोभप्रेरित समाज है जिसे एक पाखण्डपूर्ण धर्म का सहारा भी मिला हुआ है। एक ओर तो गृहस्थ, संन्यासी और पण्डे हैं, दूसरी ओर बदमाश, डाकू और वेश्याएँ। उपन्यास के दर्पण में न केवल सनातन धर्मावलम्बियों की बल्कि सुधारवादी आर्यसमाज और मिशनरी ईसाइयों की दुनिया भी प्रतिबिम्बित है। अमीरी और कंगाली का भयानक वैपरीत्य भी। 'कंकाल' की संरचना अंग्रेज़ी साहित्य से परिचित पाठक को बेन जॉनसन के नाटकों का स्मरण दिलाती है। घटनाएँ चरित्रों के भीतर के भीतर से फूटती हैं और ये चरित्र मानो मनोवृत्तियाँ हैं जो अपना संतुलन

खोकर सर्वथा स्वैर और अराजक हो गयी हैं। प्रतिनिधित्व की बजाए, वे प्रहसन और 'कैरीकेचर' के निकट आ जाते हैं।

कई पाठकों को प्रसाद का दूसरा उपन्यास 'तितली' कथानक के ढाँचे और निर्वाह की दृष्टि से अधिक संतोषजनक लगता रहा है। यहाँ चरित्र-चित्रण भी अधिक गठा हुआ है। पहले भाग में चरित्रों को उनके स्वाभाविक परिवेश में प्रस्तुत कर दिया गया है। दूसरे भाग में कथानक खुलता और विस्तार पाता है। तीसरा भाग प्रमुख पात्रों की संभावनाओं का निदर्शन करता है और देहातियों तथा शहरियों को आमने-सामने भिडा देता है। इसी भाग में गाँव के भूमिहीनों का वहाँ के भ्रष्ट जमींदारों से संघर्ष छिड़ जाता है। चौथा भाग उपन्यास के खल चरित्रों का पराभव दिखलाता है। एक ओर इन्द्रदेव को शैला जैसी सहयोगिनी मिल जाती है। दूसरी ओर विद्रोही मधुवन भी तितली के पास लौट आता दिखाई देता है। उपन्यास का समापन इस तरह 'कंकाल' के विपरीत, सुखान्त की लय पर होता है। किन्तु यहाँ भी सामाजिक पुनर्निर्माण की आशा के आलम्बन मधुबन जैसे सामान्य और निर्धन लोग ही हैं।

'तितली' को पढ़ते हुए प्रसाद जी की एक बहुत पहले लिखी गई कहानी की याद आती है। सन् 1911 में प्रकाशित उनकी यह संभवतः पहली ही कहानी 'ग्राम' एक उजड़े हुए भू-स्वामी का चित्रण है। संभवतः सामन्ती व्यवस्था पर पूँजीवादी हमले का, कहना चाहिए, भारतीय समाज में एक नव धनाट्य वर्ग के उदय का, यह पहला संकेत है हिन्दी-साहित्य में। ऐसा लगता है, कि 'ग्राम' कहानी की जो विषय-वस्तु है, उसी को अधिक बारीकी और विस्तार में जाकर टटोलने का प्रयत्न 'तितली' में है। मधुवन एक भूतपूर्व ज़मींदार का लड़का है, पर उसके पास एक खँड़हर नुमा घर और दो बीघा ज़मीन के सिवा कुछ नहीं है। पुजारी भगवान का नाम लेकर सूदख़ोरी कर रहा है। 'तितली' में गाँधी विचार का भी प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है। एक चरित्र तो स्पष्ट कहता ही है कि 'हममें से कुछ शिक्षित लोगों को शहरी जीवन का लोभ त्याग कर गाँव में रहना चाहिए और ग्रामोत्थान के काम में सक्रिय भाग लेना चाहिए। 'कंकाल' का बाथम एक सिद्धान्तविहीन अवसरवादी था। तितली का वाटसन एक सहृदय और सम्यक् दृष्टि से विचार करनेवाला चरित्र है। उसे लेखक की स्पष्ट सहानुभूति भी प्राप्त है। 'कंकाल' वस्तुस्थिति के यथातथ्य उद्घाटन पर ध्यान केन्द्रित करता है। जबकि 'तितली' में 'क्या है' से एक क़दम आगे बढ़कर 'क्या हो सकता है' और 'क्या होना चाहिए' की ओर उपन्यासकार की दृष्टि उन्मुख है।

प्रसाद ने 'कामायनी' की रचना कर चुकने के बाद एक तीसरा उपन्यास 'इरावती' भी लिखना शुरू कर दिया था। किन्तु दैव-दुर्विपाक ने उसे पूर्ण नहीं होने दिया। वह एक ऐतिहासिक उपन्यास है और जीवन के संपूर्ण स्वीकार की लौ इसमें भी जल रही है। कहीं-कहीं तो इस अपूर्ण उपन्यास के भीतर अद्भुत सघनता और तीव्रता है। यदि इसे अपनी परिणति तक पहुँचने का अवसर मिला होता तो निश्चय ही प्रसादजी का नाटककार रूप और उपन्यासकार रूप संयुक्त होकर एक अनूठी कृति का निर्माण करते।

प्रसाद जी की पहली कहानी 'ग्राम' का उल्लेख हमने किया ही था। कहा जाता है कि उनका कथा कृतित्व उनके गहरे आत्मसंघर्ष को तथा अपने समय और परिवेश के प्रति उनकी गहरी संसक्ति को भी दरसाता है। सारी कवि-सुलभ भावुकता और दार्शनिकता के बावजूद अपनी कहानियों में प्रसाद कहीं घोर यथार्थवादी लगते हैं तो कहीं रहस्यवादी। उदाहरण के लिए 'गुंडा' कहानी को ही लीजिए, उसका नायक नन्हकू जिस आत्मबलिदानी शौर्य का परिचय देता है, उसके प्रति स्वयं लेखक की और हमारी भी प्रतिक्रिया क्या इकहरी होती है? क्या कथाकार ने खुद ही इस बलिदान की विडम्बना और अप्रासंगिकता नहीं झलका दी है? यह उसकी किसी एक व्यंग्योक्ति पर निर्भर नहीं, समूची कहानी की संकल्पना और रचना-विधान में यह विडम्बना और विद्रूप रचा मिलता है। कथानक के रंगीन परदे के बाहर हम सहसा अपने को वंचना और हताशा के अंधेरे में पाते हैं और अनेक सवाल हमें घेर लेते हैं। आखिर नन्हकू के इस बलिदान का अर्थ क्या है? क्या बचाया उसने? एक ख़ानदानी मलबे की प्रतिष्ठा? उसकी अपनी प्रेम भावना के खँड़हर? ऐसी प्रेम-भावना के, जिसके चरितार्थ होने की कहीं कोई सभावना नहीं थी? तब फिर, क्या एक निरर्थक बलिदान था—निरा आत्मघात एक समूची पीढ़ी का, जो अपना कुछ भी मूल्यवान बचा सकने में असमर्थ सिद्ध हो चुकी है, जो भीतर से खोखली है, और अपनी असमर्थता के उत्पीड़क अहसास को इस आख़िरी नशे में डुबा देना चाहती है: इस आत्म-बलिदान रूपी आत्म-प्रवंचना में। एक आख़िरी शहादत की दयनीय आत्म-तुष्टि में।

स्पष्ट ही, प्रसाद जी की कहानिया उनके जाने-पहचाने मानव चरित्रों और उनके निकट परिवेश के बारे में, अथवा अतीत और वर्तमान के बारे में उनकी उलझनों को सुलझाने के लिए ही नहीं हैं। वे उनका खुद का विरेचन भी करती है। चेतन अवचेतन जीवनानुभूति के स्वप्न-चित्र तथा कई अनपिघली गाँठें भी इन कहानियों में दिखाई दे जाती हैं। कई कहानियाँ ऐसी हैं जो कवि चिन्तक प्रसाद की विशिष्ट चिन्ताओं और धुनों को तीक्ष्ण बनाकर प्रस्तुत करती हैं। लगता है, कहानी उनके लिए स्वयं में साध्य नहीं थी। साधन रूप में प्रयोग ही उसका उन्हें अधिक अभीष्ट था। एक साफ़-सुथरी कहानी गढ़ने की अपेक्षा उन्हें अपने जीवनानुभव या भाव-चिंतन के एक तथ्य को लेकर उसके भावनात्मक और संभावनात्मक पहलुओं के साथ प्रयोग करने की चिन्ता अधिक रहती है। सब कुछ के बावजूद, 'गुण्डा', 'ममता', 'आकाशदीप', 'मधुआ', जैसी अनेकानेक रचनाएँ प्रसाद जी की हिन्दी कहानी के इतिहास में अमर हो चुकी हैं और ये कभी बासी नहीं पड़ेंगी। अपनी गहरी सांकेतिक समृद्धि के कारण।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि प्रसाद जी ने अपने कवित्व यानी कवि दृष्टि को जहाँ एक ओर शुद्ध काव्य के माध्यम से चरितार्थ किया, वहीं दूसरी ओर उसे अपने नाटकों और कथा-कृतित्व के माध्यम से भी प्रस्तुत किया। हम देख सकते हैं कि जहाँ यह नाटकीय और औपन्यासिक कवित्व जीवन-यथार्थ और संघर्ष तत्त्व पर

अधिक एकाग्र हुआ, वही उनका शुद्ध काव्यगत कवित्व उस संघर्ष और द्वन्द्व को ही एक सूक्ष्मतर स्तर पर परिभाषित करने और उसका हल ढूँढ़ने की ओर प्रवृत्त हुआ।

आज की दुनिया के सामने जो सबसे बड़ी चुनौती है वह है–त्रासजनित विवेक को 'पावनताजनित विवेक' में बदलने की। प्रसाद जी के नाटकों की चर्चा करते हुए हमने कहा था कि प्रसाद जी का मानववाद, सृष्टि-सामरस्य से ही प्रेरित और पारिभाषित मानववाद है। वह चराचरवादी मानववाद है, जिसे भारतीय संस्कृति द्वारा देखा गया सभ्यता का स्वप्न भी कह सकते हैं। विश्व मानवता और विश्व-सभ्यता का ऐसा स्वप्न, जो प्रकृति से या उसकी विभूतियों से द्रोह नहीं ठानता, जो सृष्टि को मानव-केन्द्रित मानने की अहम्मन्यता से प्रेरित होकर विश्वविजय का अभियान नहीं चलाता। 'पावनताजनित विवेक' से हमारा आशय यहाँ उसी सांस्कृतिक दृष्टि से है। वैदिक मनुष्य का सृष्टि संवेदन भी पावनता-जनित ही था। निश्चय ही अपने मूलोदगम में मनुष्य न पश्चिमी है, न पूर्वी, सभ्यतागत विभेद तो कालान्तर की घटना है। किन्तु एकबार अंतर्विभक्त हो जाने के बाद सभ्यताओं का फ़ासला भी बढ़ता गया। हम देखते हैं कि अपनी सभ्यता के इतिहास की गति से पश्चिम ने आधुनिक युग तक आते-आते जो सबक़ सीखा है, वह स्वयं त्रासदी के ह्रास के इन दिनों में त्रासजनित विवेक ही कहला सकता है। चूँकि अपनी प्रचण्ड प्राणशक्ति के फलस्वरूप इस वक्त वही सारे विश्व पर हावी है, अतः भारत का परम्परागत 'पावनताजनित विवेक' भी आधुनिक काल में निस्तेज और आक्रान्त-सा है। समस्या अब इस या उस गोलार्द्ध की संस्कृति या सभ्यता की नहीं है : समूचे विश्व की है। प्रकृति के साथ अनवरत रण छेड़ने की अपनी प्रारंभिक प्रतिज्ञा के फलस्वरूप पश्चिम की सभ्यता आज जिस विन्दु पर पहुँच गई है, उसमें मनुष्य मात्र के सामूहिक आत्मघात की नौबत आ चुकी है। तो कुल मिलाकर समस्या वही है : किस तरह इस त्रासजनित संकट को पावनताजनित विवेक में रूपातंरित किया जाए। आधुनिक भारत ने विचार और कर्म के स्तर पर इस चुनौती का किस तरह प्रत्युत्तर दिया है, यह श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी जैसे मनीषियों के जीवन-कार्य में देखा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' उसी की एक सर्वथा स्वतंत्र साहित्यिक अभिव्यक्ति कही जा सकती है।

'प्रसाद ग्रंथावली' के सम्पादक श्री रत्नशंकर प्रसाद ने बहुत सही लिखा है कि "जो माया वैदिक काल के मनुष्य के लिए इन्द्र की कर्मदायिनी शक्ति थी, वही भारतीय इतिहास के उत्तरकाल में आवरण और प्रत्यवाय मान ली गई।" उनका यह कथन भी विचारणीय और युक्तियुक्त है कि "दर्शन एक गतिमय स्थिति है। संज्ञा मात्र मान लेने से उस पर वेदान्तकथित शुद्ध ब्रह्म जैसी निष्क्रियता का आवरण पड जाता है, जिसे हटाकर उसे सक्रिय करने के लिए ऐसी माया आवश्यक होती है, जो स्वयं आवरण कही जाती है"। उनका यह प्रश्न बहुत सटीक और सारगर्भित लगता है कि "यदि माया कोई आवरण डाल सकती है तो क्या हटा नहीं सकती?" निष्कर्ष यही कि "दर्शन को ज्ञानरूप में मानने के साथ ही क्रियात्मक भी मानना ही होगा। अन्यथा स्थिरमंगल शिव से उसकी स्पन्दशक्ति को पृथक् करके शव की उपासना करने का अर्थ ही क्या?"

प्रसाद जी की 'कामायनी', एक तरह से, देखा जाय, तो उन त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में रूपान्तरित करने हेतु इस स्पन्दशक्ति का ही आवाहन है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में यह शक्ति ही पुरुषार्थ को जगाने, और उसे सही दिशा देनेवाली है: 'सेय क्रियात्मिका शक्तिः'.........। प्रसाद जी ने अनुसार जीवन की विडम्बना यही है कि "ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की"। इच्छा, ज्ञान, क्रिया का मांगलिक सामंजस्य इसीलिए शक्ति के साथ संवादिता स्थापित करने पर ही निर्भर है। यह शक्ति कामायनी अर्थात् श्रद्धा है। इस संवादिता का वैपरीत्य हम कंकाल में देख आये हैं। कुरूप यथार्थ का निर्मम साक्षात्कार करा चुकने के उपरान्त ही प्रसाद का कवि इस 'आदर्श' के साक्षात्कार में प्रवृत्त हुआ है, क्योंकि,

जड़ चेतनता की गाँठ वही, सुलझन है भूल-सुधारों की
वह शीतलता है शान्तिमयी, जीवन के उष्ण विचारों की।

जल-प्लावन की कथा संसार के कई देशों में प्रचलित सृष्टि-मिथकों में मिलती है और जयशंकर प्रसाद जैसे कृती कलाकार के लिए जो इस सृष्टि-रंगमंच पर विश्व मानव की आत्म-कथा को सुनने और सुनाने के ध्येय से अनुप्राणित रहा हो- यह सहज स्वाभाविक था कि उसकी कल्पना ऐसी समस्त सृष्टि कथाओं का महत्तम समापवर्तक निकाल कर काम करे, —एक ऐसी महान फ़ैण्टेसी की रचना करे, जिसमें मनोविज्ञान और इतिहास, आदिम अनुभव और आधुनिक अनुभव, धार्मिक संवेदना और आधुनिक धर्मनिरपेक्ष सांस्कृतिक दृष्टि, नाटक और कवित्व सब एक बिन्दु पर एकाग्र और संघटित हो सकें। कामायनी ऐसी ही 'फैण्टेसी' और ऐसी ही काव्य न...क कथा है। मनुष्यता के इस महाकाव्य का नायक मनु है। परंपरा में श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता का विकास माना गया है। यह विकास वैसे भी स्त्री तत्त्व और पुरुष तत्त्व, अर्थात् श्रद्धा और मनु के सहयोग से ही संभव है। अतः इस रूपक में यदि कवि को मानव जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास की संभावनापूर्ण झलक मिली तो यह स्वाभाविक था।

मनुष्य के मिथक से अपने प्रखर इतिहास बोध को जोड़कर प्रसाद जी ने बीसवीं सदी के मनुष्य की नियति का साक्षात्कार करना चाहा था अतीत का अवगाहन उन्होंने इसलिए नहीं किया कि वे अतीत के मानदण्डों से वर्तमान की पिटाई करें, जैसाकि टी.एस. एलियट ने उन्हीं के समय में कि.या–अपने 'द वेस्टलैण्ड' में। उन्होंने मानव जाति के सामूहिक अनुभव का समुद्र-मंथन किया–मनुष्य के वर्तमान और भविष्य के लिए कुछ मूल्यवान खोज निकालने के लिए।

कथा का सार-संक्षेप दे देने भर से इस महाकाव्य की उत्कृष्टता का कोई अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि असली चीज़ यहाँ काव्य है। कथा तो उसका निमित्त भर है। कथा और चरित्र तो उस असामान्य लयात्मक स्पन्द-स्फूर्ति के वाहन भर हैं जिसके जरिए कवि

की पूरी दृष्टिचेतना (विज़न) उत्तरोत्तर उद्घाटित होता चलता है। प्रस्तुत संचयन में केवल चार सर्ग दे पाना संभव हुआ है: अतः समग्र की एक संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ आवश्यक होगी।

पहले सर्ग में उतरते हुए जल प्लावन और निकलती हुई मही की पृष्ठभूमि में मनु की 'चिन्ता' का विस्फोट वर्णित है। विगत सुख वैभव की स्मृतियाँ चलचित्रों की तरह उभरती हैं और उनके विध्वंस की दृश्यावली भी। मनु स्वयं को उस तथाकथित अमरता के 'जीवित', किन्तु 'जर्जर' दंभ के रूप में देखता है। 'हम देव नहीं हैं, मात्र परिवर्तन के पुतले हैं'– यह सत्य उसकी बुद्धि को प्रत्यक्ष होता है। दूसरे सर्ग का शीर्षक (आशा) भी उतना ही सार्थक है। 'चिन्ता' सर्ग में यदि प्रलय का काव्य था, तो यहाँ जीवन की उतनी ही शक्तिशाली कविता है। प्रकृति और मनुष्य की अन्तरंगता यहाँ एक-से-एक सजीव बिम्बों के द्वारा उद्घाटित हुई है। मनु का परिस्थिति-चिंतन और आगे बढ़ता है। प्रलय ने तथाकथित देवों को भी 'परिवर्तन के पुतले' साबित कर दिया। किन्तु तब, इनका सूत्र-संचालन कौन कर रहा है? जैसे ही मनु इस 'अनन्तरमणीय' अस्तित्व का विचार करता है, उसके भीतर एक अद्भुत उन्मेष होता है :

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा, मैं रहूँ
शाश्वत नभ के गानों में।

मनु को जीवन का अनुभव अब एक 'यज्ञ' के रूप में होता है। वे अपने अन्तर्जगत का उत्तरोत्तर आविष्कार करते हैं। अकेलेपन का बोध भी तीखा हो आता है।

'श्रद्धा' सर्ग में मनु को अपनी पुकार का मूर्तिमान उत्तर मिलता है : प्रथम कवि के सुन्दर छन्द-सी श्रद्धा से उसकी भेंट होती है। मनु अपना परिचय देते हुए अपने को 'धरती और आसमान के बीच निरुपाय डोलता हुआ जीवन रहस्य' बताते हैं, 'विस्मृति का अचेत स्तूप' बताते हैं। श्रद्धा उसकी प्रत्यभिज्ञा-सी बनती हुई उसे आश्वासन देती है–"डरो मत अरे अमृत सन्तान"। वह उसे 'चेतना का सुन्दर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य' के प्रति उन्मुख करती है।

मनु को अपने जीवन वन में चुपके से बह आए इस मधुमय वसंत की गहरी अनुभूति होती है। एक दिन स्वप्न में उन्हें काम का स्वर सुनाई पड़ता है जो सृष्टि-लीला को प्रेरित करनेवाली मूल शक्ति, यानी प्रेमकला का परिचय उन्हें देता है और कहता है कि "उसको पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो।" क्या यह 'ड्रैमेटिक आयरनी' है? मनु की आगामी अयोग्यता का सूक्ष्म पूर्वसूचन-सा करती हुई?

'वासना' सर्ग में मनु और श्रद्धा के सहजीवन की झाँकियाँ हैं और पुरुष अहं के विकास के साथ बढ़ती अंतर्वृत्तियों की जटिलता के चित्र भी। स्त्री के प्रति पुरुष की कामना के जागरण के अद्भुत भाव प्रसंग भी। श्रद्धा का सरल नारीत्व पुरुष के इस उन्माद से आंदोलित

हो उठता है। समर्पण से पूर्व नारी हृदय की भावाकुलता का ऐसा संवेदनशील अंकन शायद ही कहीं मिले। लज्जा सर्ग का आरंभ ही देखिए। सृष्टि के संदर्भ में स्त्री की जो पुरुष से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका हमारे यहाँ स्वीकारी गई है, वह मात्र रूढ़ि नहीं है। इसकी मूल स्वीकृति तो स्वयं हमारी दार्शनिक परंपरा में (और सबसे अधिक, प्रत्यभिज्ञा दर्शन में) है। यहाँ भी 'कामायनी' यानी श्रद्धा की जो स्थितिशील भूमिका प्रारंभ मे दीखती है, वही बाद में गतिशील और रूपान्तरकारी भूमिका बन जाती है, जबकि प्रारंभ में गतिशील दीखते मनु बाद में एक स्थिर और ग्रहणशील भूमिका में ढल जाते प्रतीत होते हैं।

हम स्मरण कर सकते हैं कि एलियट ने अपने 'द वेस्टलैण्ड' में समसामयिक सभ्यता के नरक में जिस उद्धारक तत्त्व का एक प्रच्छन्न संकेत किया है वह दमित शोषित स्त्री से ही संबंधित है। महान रूसी उपन्यासकार भी इस स्त्री शक्ति से बहुत गहरे में उन्मथित दिखाई देते हैं। प्रसाद जी की 'कामायनी' इनसे भी एक क़दम आगे जान पड़ती है क्योंकि यहाँ सिर्फ़ स्त्री की सहनशक्ति का ही चित्रण नहीं, बल्कि उसकी एक अधिक सक्रिय और तेजस्वी भूमिका भी दृढ़तापूर्वक संकेतित है।

आगे की कथा अधिक गत्वर है। मनु को पुरोहितों की ज़रूरत पड़ती है। आकुलि-किलात कामायनी के पाले हिरन की ही बलि दे देते हैं। मनु अपना भोगवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसका श्रद्धा दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करती है। आठवें सर्ग का नायक मनस्तत्त्व है 'ईर्ष्या'। श्रद्धा गर्भधारण करती है। मनु को यह अपने अधिकार सुख में दूसरे का हस्तक्षेप लगता है। वह आत्म विस्तार की महत्त्वाकांक्षा से घर छोड़कर चला जाता है। 'इड़ा' सर्ग मे हम मनु को सारस्वत-प्रदेश में पाते हैं जो अब 'वेस्टलैण्ड'-सा पड़ा है। पुराने संस्कार बीज फिर पनपने लगते हैं काम देवता की वाणी पुनः मनु के अंतःकरण में गूँज उठती है– "तुम्हारा प्रजातंत्र आरम्भदूषित है, अतः वह शाप भरा होगा। जो असली श्रद्धा-रहस्य है, वही तुम्हारी प्रज्ञा भूल जाएगी। यह स्वर्ग और कहीं नहीं, यह पृथ्वी ही कल्याण-भूमि है। इस विस्मृति के फलस्वरूप तुम अपने ही बुद्धि वैभव से भ्रान्त भटकते रहोगे।"

वहीं मनु की भेंट इड़ा से होती है। यह इड़ा (बुद्धि) वही मनु से कहती है, जो वह सुनना चाहता है। दसवें सर्ग में श्रद्धा को एक दुःस्वप्न दीखता है, जो सही सिद्ध होता है। वास्तव में सारस्वत प्रदेश की प्रजा विक्षुब्ध थी। भीतर मनु सोच रहा है। "मैं ही तो नियामक हूँ। मैं किसी की क्यों मानूँ?" इतने में इड़ा आकर कहती है - "निर्बाध अधिकार न तो कोई आज तक भोग सका है, न आगे भोगेगा"। मनु उलटे इड़ा पर ही आरोप लगाता है कि यह संघर्ष की भूमिका आख़िर उसीने तो सिखाई थी । फिर अब यह लय और नियम के चक्कर वह क्यों सुझा रही है?

मनु का दर्पोद्धत भाषण जनता की क्रोधाग्नि भड़का देता है। इस संघर्ष पर्व के बाद आता है 'निर्वेद' सर्ग। इड़ा बैठी सोच रही है :

किन्तु वही मेरा अपराधी
जिसका वह उपकारी था
प्रकट उसी से दोष हुआ है
जो सबको गुणकारी था।

इतने में श्रद्धा और उसका पुत्र वहाँ प्रकट होते हैं। –"तुमुल कोलाहल कलह में, मैं हृदय की बात रे मन "......। मनु आँखें खोलते हैं। अनुताप प्रकट करते हैं, किंतु ग्लानि के मारे फिर भाग जाते हैं। 'दर्शन' सर्ग में श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा को सौंपकर मनु की खोज में निकलती है और उसे ढूँढ़ निकालती है। इड़ा के अन्तर्द्वन्द्व का समाधान करने के बाद श्रद्धा अपने पुत्र से कहती है : "स्वभाव से मननशील तू निर्भय होकर कर्म कर और मानव भाग्य के उदय की भूमिका बना। इस इड़ा का संताप भी तू हर सकेगा और समरसता का संदेश भी फैला सकेगा।"

मनु को श्रद्धा 'लोक-अग्नि' में तपकर ढली हुई 'विश्वमित्र मातृमूर्ति' लगती है। उसे यह जानकर खेद होता है कि पुत्र को श्रद्धा इड़ा के हाथ में सौंप आई। श्रद्धा उसे समझाती है कि "यह तो विनिमय है। तुम्हारा ऋण-पक्ष धन-पक्ष बन रहा है।"

अगले सर्ग का शीर्षक है 'रहस्य'। मनु और श्रद्धा हिमालय-आरोहण कर रहे हैं। तभी मनु को तीन आलोक-बिन्दु दीख पड़ते हैं। कामायनी बताती है कि ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लोक हैं और तुम इस त्रिकोण के मध्यबिन्दु हो। उनका आपस में न मिल सकना ही जीवन की विडम्बना है।

किन्तु प्रसाद जी के मनु ने श्रद्धा को एकबार खोकर पुनः पाया है। जैनेन्द्रजी की कही बात को स्मरण करें तो प्रसाद की श्रद्धा बुद्धि से बचकर चलनेवाली श्रद्धा नहीं, बल्कि बुद्धि को उसकी चरमता में भेदकर निकली हुई श्रद्धा है। इसलिए कवि को विश्वास है कि :-

महाज्योति रेखा-सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें
वे सम्बद्ध हुए, फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें

'आनन्द' सर्ग इस महाकाव्य का उपसंहार है। एक यात्री-दल कैलाश मानसरोवर की ओर बढ़ रहा है। इसमें इड़ा और मनु का पुत्र भी शामिल हैं। मनु दोनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं : देखो यहाँ, कोई पराया नहीं है। दूसरों की सेवा अपनी ही सुख-संसृति है। द्वैत-भाव ही विस्मृति है।" क्या वह काव्यानुभूति के जरिए अद्वैत का नवोन्मेष ही नहीं, जो कवि के साथ-साथ हमारे भी सिर पर चढ़कर बोल उठता है?

"मैं की मेरी चेतनता
सबको ही स्पर्श किये-सी
सब भिन्न परिस्थितियों की है
मादक घूँट पिये-सी"

कामायनी इस दृश्य में 'जगत की मंगल कामना', 'पूर्णकाम की प्रतिमा' और 'पुलकित विश्व-चेतना' के रूप में उभरती है। सर्ग का नाम सार्थक करते हुए यहाँ कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा हिमालयी प्रकृति की इस पृष्ठभूमि में अपनी कविता का एक और शिखर छू लेती है :

*प्रतिफलित हुई सब आँखें
उस प्रेमज्योति विमला से
सब पहचाने-से लगते
अपनी ही एक कला से*

*समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।*

इसी उदात्त स्वर पर प्रसाद जी की जीवनव्यापी साधना की चरम परिणति स्वरूप इस महाकाव्योपम कृति का यह आनन्द संगीत भी निष्पन्न होता है।

प्रसाद जी अपने अन्तःप्रमाण से यह अच्छी तरह जानते थे कि जीवन और संसार की निरपवाद स्वीकृति का यह दर्शन बिना मानवीय अस्तित्व में निहित द्वैत के गहरे पीड़ाबोध के मूल्यवान नहीं हो सकता। अपने साहित्य-चिंतन में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि जीवन और सृष्टि मात्र की आनन्दमूलकता की अनुभूति भारतीय मन की गहनतम अनुभूति है। किन्तु हमारे इतिहास में इस अनुभूति को एक दूसरी चिंताधारा से लगातार संघर्ष करना पड़ा है और वह चिन्ताधारा है दुखवाद की। हमारे इतिहास में ऐसे कई अवसर आए जब आनन्दवादी धारा को इस दुःखवाद ने ग्रस लिया। किंतु वह मूल संस्कार बार-बार उभरता रहा। प्रसाद जी का सबसे तगड़ा विरोध निवृत्तिमूलक मायावाद से है, जैसाकि श्री अरविन्द का रहा। किंतु, जैसाकि हम देख भी आए हैं, प्रसाद की सृजनात्मक कल्पना 'करुणा' के साथ भी उतनी ही घनिष्ठ है, जितनी कि 'मधु' के साथ। बारम्बार वे अस्तित्व के अपने दुर्निवार पीड़ाबोध को उस वीर दर्शन में घुलाने की कोशिश करते प्रतीत होते हैं और बारम्बार यह दुःखबोध, यह त्रासजनित विवेक उनकी संवेदना पर छा जाता है। कामायनी में निश्चय ही वह प्रभासिक्त पावनता का स्वर पूरी तरह उभर कर

आता है। किंतु आलोचकों ने –विशेषकर प्रसादजी के मर्मग्राही प्रशंसक विजयदेव नारायण साही जी सरीखे आलोचकों ने भी–उस पर यह आपत्ति उठाई है कि वह अनुभूति को निर्वैयक्तिक अनुभूति तक उठाने की बजाए उसे दर्शन में घुला देनेवाला काव्य है। दूसरे भी कुछ लोग हैं जिन्हें यह दर्शन ही यथास्थितिवादी लगता है– जैसे मुक्तिबोध को। क्या ये आपत्तियाँ युक्तियुक्त हैं? कहीं ये स्वयं ही पश्चिमी काव्यशास्त्र और पश्चिमी अर्थशास्त्र से आक्रान्त तो नहीं? प्रसाद जी में त्रास-जनित विवेक (ट्रैजिक सेन्स) की कमी नहीं है, यह कोई भी उनके नाटक या उपन्यासों को पढ़कर अनुभव कर सकता है। तब फिर यह क्यों ज़रूरी है कि वे उस 'ट्रैजिडी' के कला रूप का ही भारतीय संस्करण निर्मित करें जो स्वयं पश्चिम में लुप्तप्राय है? और वैयक्तिक अनुभूति को निर्वैयक्तिक अनुभूति में रूपान्तरित करने की छटपटाहट क्या उनमें हमने प्रारंभ से ही लक्षित नहीं की है? मुक्तिबोध की आपत्ति का तर्कसंगत उत्तर–जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया– 'प्रसाद ग्रंथावली' के संपादक रत्नशंकर प्रसाद दे ही चुके हैं कि कैसे वह आपत्ति भारतीय–विशेषकर शैवागम–दर्शन को लेकर ही कुछ भ्रान्त निष्कर्षों पर टिकी हुई है। हमारे विचार से 'कामायनी' की असली गुणवत्ता और उपलब्धि ही यही है कि वह आज के विश्व की सबसे दुरन्त समस्या–त्रास-जनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदलने की समस्या–से कवि की तरह, कविता के अपने साधनों से जूझती है।

कहा जा सकता है कि जो भी आशा और आलोक-संभावना 'कामायनी' में दिखाई गई है, वह संघर्ष जर्जरित मनु के लिए नहीं, बल्कि उसके उत्तराधिकारी पुत्र के लिए है। और यह पुत्र, यह भविष्य भी तो कवि ने आनन्दशक्ति श्रद्धा को नहीं, बल्कि तर्कमयी इड़ा के हाथों में सौंपा है। किन्तु इससे क्या अंतर पड़ता है? क्या गाँधी ने पण्डित नेहरू को अपना उत्तराधिकारी नहीं घोषित किया था? यह जानते और मानते हुए भी कि वे उनकी तरह नहीं सोचते, उनकी तरह श्रद्धामय नहीं हैं, पश्चिमी बुद्धिवाद से अभिभूत हैं। आख़िर अपने बुद्धिवादी और पश्चिमाभिमुख राजनीतिक शिष्य पर उन्होंने इतना भरोसा क्यों किया? क्या वह महज़ मजबूरी थी? याकि उस गहरे अवचेतन आकर्षण का कोई और रहस्य था? सृजनात्मक साहित्य से उदाहरण लें तो आद्योपान्त गाँधीमय राजा राव अपने 'कंठपुरा' नामक उपन्यास का नायक समापन क्या कहकर करता है? वह व्यक्तित्व और वह दर्शन क्या, जो अपने ही प्रतिरूप का सृजनात्मक नियोजन न कर सके? क्या सामरस्य का दर्शन यह ज़ोख़िम नहीं उठा सकता? क्या वह निराला के तुलसीदास की तरह देश-काल के शर से स्वेच्छया बिंधकर युग की पुकार के अनुरूप अपना कायाकल्प नहीं कर सकता? क्या गाँधी-विचार की शक्ति मात्र अनुयायियों पर अवलम्बित थी? स्वयं गाँधी तो ऐसा नहीं सोचते थे। वे तो नायक थे, अधिनायक नहीं। तब फिर प्रसाद जी ने स्वयं श्रद्धा के हाथों मनुपुत्र को नये ज़माने की 'इड़ा' को सौंपकर ऐसा क्या अनर्थ कर दिया? क्या हम कामायनी के अन्तःसाक्ष्य से ही नहीं देखते कि यह इड़ा भी अब वह इड़ा नहीं रही जो वह श्रद्धा के सम्पर्क में आने से पहले थी? क्या वह संभव नहीं कि यह इड़ा स्वयं ही अब तक श्रद्धा से गहरे स्तर पर प्रतिकृत और प्रभावित हो चुकी हो? ऐसा आश्वासन

क्या इस महाकाव्य से ही हमें नहीं मिल जाता? स्वयं प्रसाद जी को श्रद्धा का साक्षात्कार क्या अनायास हो गया था? क्या वे स्वयं बुद्धिवादी नहीं रह चुके थे? जैनेन्द्र जी ने उन्हें 'पहला बड़ा नास्तिक लेखक' क्यों माना था? प्रसाद जी के इस दर्शन की जड़ें क्या स्वयं उन्हीं की जीवनानुभूति में और स्वयं उनकी प्रश्नाकुल बौद्धिकता में ही नहीं है? क्या यह आसानी से हाथ लग गयी एक शास्त्रीय विरासत मात्र है?

हम देख ही चुके हैं कि प्रसादजी को 'आनन्द' का साक्षात्कार भी 'करुणा' के माध्यम से ही हुआ। हम देख ही चुके हैं कि आनन्दवाद के सत्य के प्रति आश्वस्त होते हुए भी प्रसाद उस बौद्धिक दुःखवाद की धारा से भीतर तक अभिसिंचित थे। उनके भीतर बैठा हुआ कलाकार हमारी सामूहिक चेतना पर कुण्डली मारकर बैठे दुःखवादी दर्शनों से अप्रभावित नहीं रह सका। क्या यह भी सच नहीं, कि इस दबाव के रहते ही उनकी रचनाओं में एक ऐसा संघर्ष-तत्त्व विकसित हो सका, जो उन्हें अपने समकालीनों से अलग वैशिष्ट्य प्रदान करता है?

आयरिश कवि यीट्स ने जिसे 'भारतीय ज्ञान-परंपरा की बुझती हुई जोत' कहा था, प्रसाद जी के भीतर उसकी तीक्ष्णतम चेतना थी और उसे जलाये रखने की चिन्ता भी। उनके कृतित्व से गुज़रते हुए हमें ऐसा अनुभव होता है, जैसे उनका 'तुमुल कोलाहल' भरा विक्षुब्ध मस्तिष्क उनके संवाद खोजी विवेक का नियन्त्रण बराबर स्वीकार करता चलता है। यह भी, कि यह संवाद संतुलन उनके लिए अपनी परम्परा की सर्वोत्कृष्ट विरासत के मेल में ही संभव हो सकता था। उन्होंने आजीवन उस सांस्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। कहना न होगा, 'कामायनी' उसी तपस्या का प्रतिफल है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि बीसवीं सदी के भारतीय मानस की उथल-पुथल को समझने के लिए भी प्रसाद का कृतित्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

विष्णु प्रभाकर
रमेशचंद्र शाह

खण्ड एक : काव्य

चित्राधार

पुन्य औ पाप न जान्यो जात।
सब तेरे ही काज करत हैं और न उन्हे सिरात।।
सखा होय सुभ सीख देत कोउ काहू को मन लाय।
सो तुभरोही काज सँवारत ताकों बड़ों बनाय।।
भारत सिंह शिकारी बन-बन मृगया को आमोद।
सरल जीव की रक्षा तिनसे होत तिहारे गोद।।
स्वारथ औ परमारथ सबही तेरो स्वारथ मीत।
तब इतनी टेढ़ी भृकुटी क्यों? देहु चरण में प्रीत।।

छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो ?
मन्दिर मसजिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो।।
अम्बर अवनि अनिल अनलादिक कौन भूमि नहि भायो।
कढ़ि पाहनहूँ ते पुकार बस ः बसों भेद छिपायो।।
कूवां ही से प्यास बुझत जो, सागर खोजन जावैं–
ऐसो को है याते सबही निज निज मति गु गावैं।।
लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्र.ीत।
अहो प्राणधन, मीत हमारे, देहु चरण में प्रीत।।

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं ?
जो नहि करत, सुनत नहिं जो कछु जो जन पीर न हरिहैं।।
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखावो मुनि को।
हमरी मति तो, इन झगड़न को समुझि सकत नहि तनिको।
परम स्वारथी तिनको अपनो आनंद रूप दिखाओ।
उनको दुख, अपनो आश्वासन, मनते सुनौ सुनाओ।।
करत सुनत फल देत लेत सब तुमहीं, यहै प्रतीत।
बढ़ै हमारे हृदय सदा ही, देहु चरण में प्रीत।।

और जब कहिहैं तब का रहिहैं।
हमरे लिए प्रान प्रिय तुम सों, यह हम कैसे सहिहैं।।
तव दरबारहू लगत सिपारस यह अचरज प्रिय कैसो?
कान फुकावै कौन, हम कि तुम! रुचे करो तुम तैसो।।
ये मन्त्री हमरो तुम्हरो कछु भेद न जानन पावें।
लहि 'प्रसाद' तुम्हरो जग में, प्रिय जूठ खान को जावें।

कानन कुसुम

प्रथम प्रभात

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रही,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय भी हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही

स्पन्दन-हीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से
अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी,
(फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ)–

आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें,
खुली आँख, आनन्द-हृदय दिखला दिया
मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँजके,
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा

वर्षा होने लगी कुसुम-मकरन्द की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द में
कैसी छवि ने बाल अरुण सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल राग-रञ्जित किया

सद्यःस्नात हुआ फिर प्रेम-सुतीर्थ में
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया,
विश्व विमल आनन्द भवन-सा बन रहा
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था

विरह

प्रियजन दृग-सीमा से जभी दूर होते
ये नयन-वियोगी रक्त के अश्रु रोते
सहचर-सुखक्रीड़ा नेत्र के सामने भी
प्रति क्षण लगती है नाचने चित्त में भी

प्रिय, पदरज मेघाच्छन्न जो हो रहा हो
यह हृदय तुम्हारा विश्व को खो रहा हो
स्मृति-सुख चपला की क्या छटा देखते हो
अविरल जलधारा अश्रु में भीगते हो

हृदय द्रवित होता ध्यान में भूत ही के
सब सबल हुए से दीखते भाव जी के
प्रति क्षण मिलते हैं जो अतीताब्धि ही में
गत निधि फिर आती पूर्ण की लब्धि ही मे

यह सब फिर क्या है, ध्यान से देखिये तो
यह विरह पुराना हो रहा जाँचिये तो
हम अलग हुए हैं पूर्ण से व्यक्त होके
वह स्मृति जगती है प्रेम की नींद सोके

भाव-सागर

थोड़ा भी हँसते देखा ज्योंही मुझे
        त्योंही शीघ्र रुलाने को उत्सुक हुए
क्यों ईर्ष्या है तुम्हें देख मेरी दशा
        पूर्ण सृष्टि होने पर भी यह शून्यता
अनुभव करके हृदय व्यथित क्यों हो रहा
        क्या इसमें कारण है कोई, क्या कभी
और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही
        मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं
        कुछ निजस्व-सा तुम पर होता भान है
गर्व-स्फीत हृदय होता तव स्मरण में

अहंकार से भरी हमारी प्रार्थना
देख न शंकित होना, समझो ध्यान से
वह मेरे में तुम हो साहस दे रहे
लिखता हूँ तुमको, फिर उसको देख के
स्वयं संकुचित होकर भेज नहीं सका
क्या? अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी
यथातथ्य प्रकटित हो सकते ही नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर! सुनो
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही

नहीं डरते

क्या हमने कह दिया, हुए क्यों रुष्ट हमें बतलाओ भी
ठहरो, सुन लो बात हमारी, तनक न जाओ, आओ भी
रूठ गये तुम, नहीं सुनोगे, अच्छा! अच्छी बात हुई
सुहृद, सदय, सज्जन मधुमुख थे मुझको अबतक मिले कई
सबको था दे चुका, बचे थे उलाहने से तुम मेरे
वह भी अवसर मिला, कहूँगा हृदय खोल कर गुण तेरे
कहो न कब बिनती थी मेरी सच कहना कि 'मुझे चाहो'
मेरे खौल रहे हृत्सर में तुम भी आकर अवगाहो
फिर भी, कब चाहा था तुमने हमको, यह तो सत्य कहो
हम विनोद की सामग्री थे केवल इससे मिले रहो
तुम अपने पर मरते हो, तुम कभी न इसका गर्व करो
कि 'हम चाह में व्याकुल हैं' यह गर्म साँस अब नहीं भरो
मिथ्या ही हो, किन्तु प्रेम का प्रत्याख्यान नहीं करते
धोखा क्या है, समझ चुके थे; फिर भी किया, नहीं डरते

महाकवि तुलसीदास

अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा
इस शुभ सत्ता को जिसने अनुभूत किया था
मानवता को सदय राम का रूप दिया था
नाम-निरूपण किया रत्न से मूल्य निकाला
अन्धकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक बाला

दीन रहा, पर चिन्तामणि वितरण करता था
भक्ति-सुधा से जो सन्ताप हरण करता था
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का
राम छोड़कर और की, जिसने कभी न आस की
'राम-चरित-मानस'-कमल जय हो तुलसीदास की

गान

जननी जिसकी जन्मभूमि हो; वसुन्धरा ही काशी हो
विश्व स्वदेश, भ्रातु मानव हों, पिता परम अविनाशी हो
दम्भ न छूए चरण-रेणु वह धर्म नित्य-यौवनशाली
सदा सशक्त करों से जिसकी करता रहता रखवाली
शीतल मस्तक, गर्म रक्त, नीचा सिर हो, ऊँचा कर भी
हँसती हो कमला जिसके करुणा-कटाक्ष में, तिस पर भी
खुले-किवाड़-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को
मानस शांत, सरोज-हृदय हो सुरभि सहित खिल जाने को
जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का कल हो
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में
ऐसे युवक चिरञ्जीवी हों, देश बना सुख-राशी हो
और इसलिये आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हो

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा
अथवा तोपों के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा
नहीं; महा संघर्षण से होकर व्यथित
हरिचन्दन दावानल फैलाने लगा
ग्मंदिरों के सब ध्वंस बचे हुए

धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में-
उनके, जिनके वे थे खुदवाये गये
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ

दुर्दिन-जल-धारा न सम्हाल सकी अहो
बालू की दीवार मुगल-साम्राज्य की
आर्य-शिल्प के साथ गिरा वह भी, जिसे
अपने कर से खोदा आलमगीर ने
मुगल-महीपति के अत्याचारी, अबल
कर कँपने-से लगे। अहो यह क्या हुआ
मुगल-अदृष्टाकाश-मध्य अति तेज से
धूमकेतु से सूर्यमल्ल समुदित हुए
सिंहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश
प्रतिहिंसा पूरित वीरों की मण्डली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग में
मुगल-महीपों के आवासादिक बहुत
टूट चुके हैं, आम खास के अंश भी
किन्तु न कोई सैनिक भी सन्मुख हुआ

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल है
मुख-मण्डल भीषण प्रतिहिंसा पूर्ण है
सूर्यमल्ल मध्याह्न सूर्य सम चण्ड हो
मोतीमस्जिद के प्राङ्गण में हैं खड़े
भीम गदा है कर में, मन में वेग है
उठा, क्रुद्ध हो सबल हाथ लेकर गदा
छज्जे पर जा पड़ा, काँपकर रह गई
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ
किन्तु न फिर वह चला चण्डकर नाश को
क्यों जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है

सूर्यमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया
भीषणता रुक कर करुणा-सी हो गई।
कहा–'नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से–
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही

हो जायेगी लुप्त। बड़ा आश्चर्य है
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता

अति सर्वत्र अहो वर्जित है, सत्य ही
कहीं वीरता बनती इससे क्रूरता
धर्म जन्य प्रतिहिंसा ने क्या-क्या नहीं
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प साहित्य का
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये
तोड़े गये, अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो
हे भारत के ध्वंस शिल्प! स्मृति से भरे
कितनी वर्षा शीतातप तुम सह चुके
तुमको देख नितान्त करुण इस वेश में
कौन कहेगा कब किसने निर्मित किया
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये
किस मिट्टी की ईंटें हैं बिखरी हुईं

झरना

परिचय

उषा का प्राची में आभास,
        सरोरुह का सर बीच विकास।।
कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?
        गगन मण्डल में अरुण विलास।।
रहे रजनी में कहाँ मिलिन्द?
        सरोवर बीच खिला अरविन्द।
कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?
        मधुर मधुमय मोहन मकरन्द।।
प्रफुल्लित मानस बीच सरोज,
        मलय से अनिल चला कर खोज।
कौन परिचय? था क्या सम्बन्ध?
        वही परिमल जो मिलता रोज।।
राग से अरुण घुला मकरन्द।
        मिला परिमल से जो सानन्द।
वही परिचय, था वह सम्बन्ध
        'प्रेम का मेरा तेरा छन्द।।'

झरना

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
                मनोहर झरना।
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना
        बात कुछ छिपी हुई है गहरी
        मधुर है स्रोत मधुर है लहरी
कल्पनातीत काल की घटना
हृदय को लगी अचानक रटना
                देखकर झरना।
प्रथम वर्षा से इसका भरना

स्मरण ही रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना
कर गई प्लावित तन मन सारा
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।
प्रणय वन्या ने किया पसारा
कर गई प्लावित तन मन सारा
प्रेम की पवित्र परछाईं में
लालसा हरित विटप झाँईं में
बह चला झरना।
तापमय जीवन शीतल करना
सत्य यह तेरी सुघराई में
प्रेम की पवित्र परछाईं में।।

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त,
भटकता है भ्रम के बन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।
जब लेता हूँ आभारी हो,
बल्लरियों से दान
कलियों की माला बन जाती,
अलियों का हो गान,
विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति ! तेरे आँगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार,
चमत्कृत होता हूँ मन में,
विश्व के नीरव निर्जन में।

पावस-प्रभात

नव तमाल श्यामल नीरद माला भली
श्रावण की राका रजनी में घिर चुकी,
अब उसके कुछ बचे अंश आकाश में
भूले भटके पथिक सदृश हैं घूमते।
अर्ध रात्रि में खिली हुई थी मालती,
उस पर से जो बिछल पड़ा था, वह चपल-
मलयानिल भी अस्त व्यस्त है घूमता
उसे स्थान ही कहीं ठहरने को नहीं।

मुक्त व्योम में उड़ते-उड़ते डाल से,
कातर अलस पपीहा की वह ध्वनि कभी-
निकल-निकल कर भूल या कि अनजान में,
लगती है खोजने किसी को प्रेम से।

क्लान्त तारकागण की मद्यप-मण्डली
नेत्र निमीलन करती है फिर खोलती।
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुढ़ककर है गिरा,
रजनी के आपानक का अब अंत है।

रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर-
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी।।

किरण

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज,
        रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
        उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
        मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,-
किसी अज्ञात विश्व की विकल-
        वेदना-दूती सी तुम कौन?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहली लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे तुम कौन?
उषा के चंचल मे अश्रान्त।
भला उस भोले मुख को छोड़,
और चूमोगी किसका भाल,
मनोहर यह कैसा है नृत्य,
कौन देता है सम पर ताल?
कोकनद मधु धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।
स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उससे भूलोक?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध,
बना दोगी क्या विरज विशोक!
सुदिनमणि-वलय विभूषित उषा–
सुन्दरी के कर का संकेत–
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत?
चपल! ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमनमन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहाँ वसन्त।

विषाद

कौन, प्रकृति के करुण काव्य-सा,
वृक्ष-पत्र की मधु छाया मे।
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है,
अमृत सदृश नश्वर काया में।

अखिल विश्व के कोलाहल से,
दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में,
कौन जङ्गली बैठा वन में।
शिथिल पड़ी प्रत्यञ्चा किसकी,

धनुष भग्न सब छिन्न जाल है।
वंशी नीरव पड़ी धूल में,
वीणा का भी बुरा हाल है।

किसके तममय अन्तरतम में,
झिल्ली की झनकार हो रही।
स्मृति सन्नाटे से भर जाती,
चपला ले विश्राम सो रही।

किसके अन्तःकरण अजिर में,
अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता;
फिर तुषार की वर्षा होती।

विषयशून्य किसकी चितवन है,
ठहरी पलक अलक में आलस!
किसका यह सूखा सुहाग है,
छिना हुआ किसका सारा रस।

निर्झर कौन बहुत बल खाकर,
बिलखाता ठुकराता फिरता।
खोज रहा है स्थान धरा में,
अपने ही चरणों में गिरता।

किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।।

बालू की बेला

आँख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन में? -न हो भीड़ का जब रेला।
दूर! कहाँ तक दूर? थका भरपूर चूर सब अंग हुआ।
दुर्गम पथ में विरथ दौड़कर खेल न था मैंने खेला।

कहते हो 'कुछ दुःख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस किसको किसने झेला?
आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार, रहो।
गलबाहीं दे हाथ बढ़ाओ, कह दो प्याला भर दे, ला!
निठुर इन्हीं चरणों में मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की वेला।।

चिह्न

इन अनन्त पथ के कितने ही, छोड़ छोड़ विश्राम-स्थान,
आये थे हम विकल देखने, नव वसन्त का सुन्दर मान।

मानवता के निर्जन बन में जड़ थी प्रकृति शान्त था व्योम,
तपती थी मध्याह्न-किरण-सी प्राणों की गति लोम विलोम।

आशा थी परिहास कर रही स्मृति का होता था उपहास,
दूर क्षितिज में जाकर सोता था जीवन का नव उल्लास।

द्रुतगति से था दौड़ लगाता, चक्कर खाता पवन हताश,
विह्वल-सी थी दीन वेदना, मुँह खोले मलीन अवकाश।

हृदय एक निःश्वास फेंककर खोज रहा था प्रेम-निकेत,
जीर्ण काण्ड वृक्षों के हँसकर रूखा-सा करते संकेत।

बिखर चुकी थी अम्बरतल में सौरभ की शुचितम सुख धूल,
पृथ्वी पर थे विकल लोटते शुष्क पत्र मुरझाये फूल।

गोधूली की धूसर छवि ने चित्रपटी ली सकल समेट,
निर्मल चिति का दीप जलाकर छोड़ चला यह अपनी भेंट।

मधुर आँच से गला बहावेगा शैलों से निर्झर लोक,
शान्ति सुरसरी की शीतल जल लहरी को देता आलोक।

नव यौवन की प्रेम कल्पना और विरह का तीव्र विनोद,
स्वर्ण रत्न की तरल कांति, शिशु का स्मित या माता की गोद।

इसके तल के तम अंचल में इनकी लहरों का लघु भान,
मधुर हँसी से अस्त व्यस्त हो, हो जायेगी, फिर अवसान।।

दीप

धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को,
अन्धकार अवसाद कालिमा लिये रहा बरसाने को।
गिरि संकट में जीवन-सोता मन मारे चुप बहता था,
कल कल नाद नहीं था उसमें मन को बात न कहता था।
इसे जाह्नवी-सा आदर दे किसने भेंट चढ़ाया है,
अञ्चल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है।
जला करेगा वक्षस्थल पर वहा करेगा लहरी में,
नाचेंगी अनुरक्त वीचियाँ रंजित प्रभा सुनहरी में,
तट तरु की छाया फिर उसका पैर चूमने जावेगी,
सुप्त खगों की नीरव स्मृति क्या उसको गान सुनावेगी।
देख नग्न सौन्दर्य प्रकृति का निर्जन में अनुरागी हो,
निज प्रकाश डालेगा जिसमें अखिल विश्व समभागी हो।
किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता बह जाने को।।

कब ?

शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आँखों से होगी, कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से सौरभ सूख रहा है आतप है;
सुमन कली खिलकर कब अपनी पंखुड़ियाँ बिखरावेगी?
लम्बी विश्व कथा में सुख की निद्रा-सी इन आँखों में–
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी?
मन-मयूर कब नाच उठेगा कादंबिनी छटा लखकर,
शीतल आलिंगन करने को सुरभि लहरियाँ आवेंगी?
बढ़ उमंग-सरिता आवेगी आर्द्र किये रूखी सिकता;
सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी?

स्वभाव

दूर हटे रहते थे हम तो आप ही
क्यों परिचित हो गये? न थे जब चाहते–

हम मिलना तुमसे। न हृदय में वेग था
स्वयं दिखा कर सुन्दर हृदय मिला लिया

दूध और पानी-सा; अब फिर क्या हुआ—
देकर जो कि खटाई फाड़ा चाहते?
भरा हुआ था नवल मेघ जल-बिन्दु से,
ऐसा पवन चलाया, क्यों बरसा दिया?

शून्य हृदय हो गया जलद, सब प्रेम-जल—
देकर तुम्हें। न तुम कुछ भी पुलकित हुए।
मरु—धरणी सम तुमने सब शोषित किया।
क्या आशा थी आशा कानन को यही?

चञ्चल हृदय तुम्हारा केवल खेल था,
मेरी जीवन मरण समस्या हो गई।
डरते थे इसको, होते थे संकुचित
'कभी न प्रकटित तुम स्वभाव कर दो कभी।'

असन्तोष

हरित वन कुसुमित हैं द्रुम-वृन्द;
बरसता है मलयज मकरन्द।
स्नेह मय सुधा दीप है चन्द,
खेलता शिशु होकर आनन्द।
क्षुद्र गृह किन्तु हुआ सुख मूल; उसी में मानव जाता भूल।
नील नभ में शोभन विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर, परम उदार।
नर हृदय, परिमित, पूरित स्वार्थ,
बात जँजती कुछ नहीं यथार्थ।
जहाँ सुख मिला न उससे तृप्ति, स्वप्न-सी आशा मिली सुषुप्ति।
प्रणय की महिमा का मधु मोद,
नवल सुषमा का सरल विनोद,
विश्व गरिमा का जो था सार,
हुआ वह लघिमा का व्यापार।
तुम्हारा मुक्तामय उपहार हो रहा अश्रुकणों का हार।

भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन।
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार।
न हो जब मुझको ही संतोष, तुम्हारा इसमें क्या है दोष?

प्रत्याशा

मन्द पवन बह रहा अँधेरी रात है।
आज अकेले निर्जन गृह में क्लान्त हो–
स्थित हूँ, प्रत्याशा में मैं तो प्राणधन!
शिथिल विपञ्ची मिली विरह संगीत से
बजने लगी उदास पहाड़ी रागिनी।
कहते हो–"उत्कण्ठा तेरी कपट है।"
नहीं नहीं उस धुँधले तारे को अभी–
आधी खुली हुई खिड़की की राह से
जीवन-धन! मैं देख रहा हूँ सत्य ही।
दिखलाई पड़ता है जो तम-व्योम में,
हिचको मत निस्सङ्ग न देख मुझे अभी।
तुमको आते देख, स्वयं हट जायेगे–
वे सब, आओ, मत संकोच करो यहाँ।
सुलभ हमारा मिलना है–कारण यही–
ध्यान हमारा नहीं तुम्हें जो हो रहा।
क्योंकि तुम्हारे हम तो करतलगत रहे
हाँ, हाँ, औरों की भी हो सम्वर्धना।
किन्तु न मेरी करो परीक्षा, प्राणधन!
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से।
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है।
चन्द्र-किरण–हिम-बिन्दु–मधुर-मकरन्दसे
बनी सुधा, रख दी है हीरक-पात्र में।
मत छलकाओ इसे, प्रेम परिपूर्ण है।

दर्शन

जीवन-नाव अँधेरे अन्धड़ में चली।
अद्भुत परिवर्त्तन यह कैसा हो गया।

निर्मल जल पर सुधा भरी है चन्द्रिका,
बिछल पड़ी, मेरी छोटी-सी नाव भी।
वंशी की स्वर लहरी नीरव व्योम में—
गूँज रही है, परिमल पूरित पवन भी—
खेल रहा है जल लहरी के सङ्ग में।
प्रकृति भरा प्याला दिखलाकर व्योम में—
बहकाती है, और नदी उस ओर ही—
बहती है। खिड़की उस ऊँचे महल की—
दूर दिखाई देती है, अब क्यों रुके—
नौका मेरी, द्विगुणित गति से चल पड़ी।
किंतु किसी के मुख की छवि-किरणें घनी,
रजत रज्जु-सी लिपटी नौका से वहीं,
बीच नदी में नाव किनारे लग गई।
उस मोहन मुख का दर्शन होने लगा।

हृदय का सौंदर्य

नदी की विस्तृत वेला शान्त,
अरुण मंडल का स्वर्ण विलास
निशा का नीरव चन्द्र-विनोद,
कुसुम का हँसते हुए विकास।

एक से एक मनोहर दृश्य,
प्रकृति की क्रीड़ा के सब छंद ;
सृष्टि में सब कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौंदर्य;
चन्द्रिका से उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका-सा मोहन मृदुहास।
अरुण हो सकल विश्व अनुराग
करुण हो निर्दय मानव चित्त;
उठे मधु लहरी मानस में
कूल पर मलयज का हो वास।

होली की रात

बरसते हों तारों के फूल
        छिपे तुम नील पटी में कौन?
उड़ रही है सौरभ की धूल
        कोकिला कैसे रहती मौन।

चाँदनी धुली हुई है आज
        बिछलते हैं तितली के पंख।
सम्हलकर, मिलकर बजते साज
        मधुर उठती हैं तान असंख।

तरल हीरक लहराता शान्त
        सरल आशा-सा पूरित ताल।
सिताबी छिड़क रहा विधु कान्त
        बिछा है सेज कमलिनी जाल।

पिये, गाते मनमाने गीत
        टोलियाँ मधुपों की अविराम।
चली आतीं, कर रहीं अभीत
        कुमुद पर बरजोरी विश्राम।

उड़ा दो मत गुलाल-सी हाय
        अरे अभिलाषाओं का धूल।
और ही रंग नहीं लग लाय
        मधुर मंजरियाँ जावें झूल।।

विश्व में ऐसा शीतल खेल
        हृदय में जलन रहे, क्या बात!
स्नेह से जलती ज्वाला झेल
        बना ली हाँ, होली की रात।।

रत्न

मिल गया था पथ में वह रत्न।
किन्तु मैंने फिर किया न यत्न।।
        पहल न उसमें था बना,
                चढा न रहा खराद।

स्वाभाविकता में छिपा,
न था कलंक विषाद।।

चमक थी, न थी तड़प की झोंक।
रहा केवल मधु स्निग्धालोक।।
मूल्य था मुझे नहीं मालूम।
किन्तु मन लेता उसको चूम।।

उसे दिखाने के लिए,
उठता हृदय कचोट।
और रुके रहते सभय,
करे न कोई खोट।।

बिना समझे ही रख दे मूल्य।
न था जिस मणि के कोई तुल्य।।
जान कर के भी उसे अमोल।
बढ़ा कौतूहल का फिर तोल।।

मन आग्रह करने लगा,
लगा पूछने दाम।
चला आँकने के लिए,
वह लोभी बे काम।।

पहन कर किया नहीं व्यवहार।
बनाया नहीं गले का हार।।

कुछ नहीं

हँसी आती है मुझको तभी,
जब कि यह कहता कोई कहीं–
अरे सच, वह तो है कंगाल,
अमुक धन उसके पास नहीं।

सकल निधियों का वह आधार,
प्रमाता अखिल विश्व का सत्य,
लिये सब उसके बैठा पास,
उसे आवश्यकता ही नहीं।

और तुम लेकर फेंकी वस्तु,
गर्व करते हो मन में तुच्छ,
कभी जब ले लेगा वह उसे,
तुम्हारा तब सब होगा नहीं।

तुम्हीं तब हो जाओगे दीन,
और जिसका सब संचित किए,
साथ बैठा है सब का नाथ,
उसे फिर कमी कहाँ की रही?

शान्त रत्नाकर का नाविक,
गुप्त निधियों का रक्षक यक्ष,
कर रहा वह देखो मृदु हास,
और तुम कहते हो कुछ नहीं।

कसौटी

तिरस्कार कालिमा कलित है,
अविश्वास-सी पिच्छल है।
कौन कसौटी पर ठहरेगा?
किसमें प्रचुर मनोबल है?
तपा चुके हो विरह वह्नि में,
काम जँचाने का न इसे।
शुद्ध सुवर्ण हृदय है प्रियतम!
तुमको शंका केवल है।।
बिका हुआ है जीवन धन यह
कब का तेरे हाथों में।
बिना मूल्य का, है अमूल्य यह
ले लो इसे, नहीं छल है।।
कृपा कटाक्ष अलम् है केवल,
कोरदार या कोमल हो।
कट जावे तो सुख पावेगा,
बार-बार यह विह्वल है।।
सौदा कर लो बात मान लो,
फिर पीछे पछता लेना।
खरी वस्तु है, कहीं न इसमें
बाल बराबर भी बल है।।

अतिथि

हृदय गुफा थी शून्य,
रहा घर सूना।
इसे बसाऊँ शीघ्र,
बढ़ा मन दूना।।

अतिथि आ गया एक,
नहीं पहचाना।
हुए नहीं पद शब्द,
न मैंने जाना।।

हुआ बड़ा आनन्द,
बसा घर मेरा।
मन को मिला विनोद,
कर लिया घेरा।।

उसको कहते 'प्रेम'
अरे अब जाना।
लगे कठिन नख रेख,
तभी पहचाना।।

अतिथि रहा वह किन्तु
ना घर बाहर था।
लगा खेलने खेल,
अरे, नाहर था।।

आँसू

आँसू

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

मानस सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की घातें
कल कल ध्वनि से हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें?

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी?

क्यों व्यथित व्योमगंगा-सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना तरङ्गिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें?

बस गयी एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में
नक्षत्र लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

ये सब स्फुलिङ्ग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग जल का
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर
करती है काम अनिल का।

बाड़वज्वाला सोती थी
इस प्रणयसिंधु के तल में
प्यासी मछली-सी आँखें
थीं विकल रूप के जल में।

बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाई देती लूटी।

छिल छिल कर छाले फोड़े
मल मल कर मृदुल चरण से
धुल धुल कर बह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।

इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन में
आँसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास पवन में।

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

सुख आहत शान्त उमगें
बेगार साँस ढोने में
यह हृदय समाधि बना है
रोती करुणा कोने में।

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली।

अवकाश भला है किसको,
सुनने को करुण कथाएँ
बेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ

जीवन की जटिल समस्या
है बढ़ी जटा-सी कैसी
उड़ती है धूल हृदय में
किसकी विभूति है ऐसी?

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा, जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणापट बुनते हो।

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिंचे थे
तीखी थी तान हमारी

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

घिर जातीं प्रलय घटाएं
कुटिया पर आकर मेरी
तम चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुस्क्याता था आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रस बूँद हमारे मन में?

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर!
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन संगी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढाये।

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिञ्चन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

मधु राका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

निर्झर-सा झिर झिर करता
माधवी कुञ्ज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र मुग्ध माया में।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी-सी फूलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछा कर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये।

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी
आँखों में काली पुतली
पुतली में श्याम झलक-सी

प्रतिमा में सजीवता-सी
बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

माना कि रूप सीमा है
सुन्दर! तव चिर यौवन में
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

लावण्य शैल राई-सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी।

बाँधा था विधु को किसने
इन काली ज़ंजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली?

तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
कालापानी वेला -सी
है अञ्जन रेखा काली।

अंकित कर क्षितिज पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।

कोमल कपोल पाली में
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं में बल देखा।

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे!
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुद्रा ऐसे?

विकसित सरसिज वन-वैभव
मधु-ऊषा के अंचल में
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में।

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जलबिन्दु सदृश ठहरे
उन कानों में दुख किनके?

थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि सर की नव लहरी?

चंचला स्नान कर आवे
चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी!

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

वह रूप रूप ही केवल
या रहा हृदय भी उसमें
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर मुझमें।

मेरे जीवन की उलझन
बिखरी थीं उनकी अलकें
पी ली मधु मदिरा किसने
थीं बन्द हमारी पलकें।

ज्यों-ज्यों उलझन बढ़ती थी
बस शान्ति विहँसती बैठी
उस बन्धन में सुख बँधता
करुणा रहती थी ऐंठी।

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाँही डाली
फूलों का चुम्बन, छिड़ती–
मधुपों की तान निराली।

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलों के अधर बिहँसते
मकरन्द भार से दब कर
श्रवणों में स्वर जा बसते।

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र हृदय में होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भींगा होता।

सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुञ्ज में मेरे
चाँदनी शिथिल अलसायी
सुख के सपनों से तेरे।

लहरों में प्यास भरी है
है भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पी कर
लुढ़का दी तुमने प्याली।

अल्क जाल है बिखरा
उड़ता पराग है रूखा
है स्नेह सरोज हमारा
विकसा, मानस में सूखा।

छिप गयीं कहाँ छू कर वे
मलयज की मृदुल हिलोरें
क्यों घूम गयी है आ कर
करुणा कटाक्ष की कोरें।

विस्मृति है, मादकता है
मूर्च्छना भरी है मन में
कल्पना रही, सपना था
मुरली बजती निर्जन में।

हीरे-सा हृदय हमारा
कुचला शिरीष कोमल ने
हिमशीतल प्रणय अनल बन
अब लगा विरह से जलने।

अलियों से आँख बचा कर
जब कंज संकुचित होते
धुँधली संध्या प्रत्याशा
हम एक-एक को रोते।

जल उठा स्नेह, दीपक-सा,
नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूमरेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।

नीरव मुरली, कलरव चुप
अलिकुल थे बन्द नलिन में
कालिन्दी वही प्रणय की
इस तममय हृदय पुलिन में।

कुसुमाकर रजनी के जो
पिछले पहरों में खिलता
उस मृदुल शिरीष सुमन-सा
मैं प्रात धूल में मिलता।

व्याकुल उस मधु सौरभ से
मलयानिल धीरे-धीरे
निश्वास छोड़ जाता है
अब विरह तरङ्गिनि तीरे।

चुम्बन अंकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता
मैं कोरी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।

श्यामल अंचल धरणी का
भर मुक्ता आँसू कन से
छूँछा बादल बन आया
मैं प्रेम प्रभात गगन से।

विष प्याली जो पी ली थी
वह मदिरा बनी नयन मे
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में।

कामना सिन्धु लहराता
छवि पूर्णिमा थी छाई
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाईं।

छायानट छवि-परद में
सम्मोहन वेणु बजाता
सन्ध्या-कुहुकिनी-अञ्चल मे
कौतुक अपना कर जाता।

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पडे बिलखते
थे, उतरे हुए नशे से।

अम्बर असीम अन्तर में
चञ्चल चपला से आकर
अब इन्द्रधनुप-सी आभा
तुम छोड़ गये हो जाकर।

मकरन्द मेघ माला-सी
वह स्मृति मदमाती आती
इस हृदय विपिन की कलिका
जिसके रस से मुसक्याती।

है हृदय शिशिरकण पूरित
मधु वर्षा से शशि! तेरी
मन मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।

शीतल समीर आता है
कर पावन परस तुम्हारा
मैं सिहर उठा करता हूँ
बरसा कर आँसू धारा

मधु मालतियाँ सोती हैं
कोमल उपधान सहारे
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे।

निष्ठुर! यह क्या छिप जाना?
मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की
हम होंगे औ' दुख होगा।

जब शान्त मिलन सन्ध्या को
हम हेम जाल पहनाते
काली चादर के स्तर का
खुलना न देखने पाते।

अब छुटता नहीं छुड़ाये
रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रंग अनोखा कैसा!

कामना कला की विकसी
कमनीय मूर्ति बन तेरी
खिंचती है हृदय पटल पर
अभिलाषा बनकर मेरी।

मणि दीप लिये निज कर में
पथ दिखलाने को आये
वह पावक पुञ्ज हुआ अब
किरनों की लट बिखराये।

ढ़ गयी और भी ऊँची
ठी करुणा की वीणा
ीनता दर्प बन बैठी
साहस से कहती पीड़ा

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर—छक कर मेरी
अब लाल आँख दिखलाकर
मुझको ही तुमने फेरी।

नाविक! इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया।

उस पार कहाँ फिर आऊँ
तम के मलीन अञ्चल में
जीवन का लोभ नहीं, वह
वेदना छद्ममय छल में।

प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है।
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड़ रहा है।

अवकाश शून्य फैला है
है शक्ति न और सहारा
अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या
हो भी कुछ कूल किनारा।

तिरती थी तिमिर उदधि में
नाविक! यह मेरी तरणी
मुखचन्द्र किरण से खिंचकर
आती समीप हो धरणी।

सूखे सिकता सागर में
यह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।

यह पारावार तरल हो
फेनिल हो गरल उगलता
मथ डाला किस तृष्णा से
तल में बड़वानल जलता।

निश्वास मलय में मिलकर
छाया पथ छू आयेगा
अन्तिम किरणें बिखराकर
हिमकर भी छिप जायेगा।

चमकूँगा धूल कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रहपथ में टकराऊँगा।

इस यान्त्रिक जीवन में क्या
ऐसी थी कोई क्षमता
जगती थी ज्योति भरी-सी।
तेरी सजीवता ममता।

है चन्द्र हृदय में बैठा
उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य सुधा बलिहारी
चुगता चकोर अंगारे।

बलने का सम्बल लेकर
दीपक पतंग से मिलता
जलने की दीन दशा में
वह फूल सदृश हो खिलता!

इस गगन यूथिका वन में
तारे जूही से खिलते
सित शतदल से शशि तुम क्यों
उनमें जाकर हो मिलते?

मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की
मकरंद भरी खिल जायें
तोडी जायें बेमन की।

यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृन्तों में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या
चुपचाप चू पड़े जीते!

सब सुमन मनोरथ अञ्जलि
बिखरा दी इन चरणों में
कुचलो न कीट-सा, इनके
कुछ है मकरन्द कणों मे।

निर्मोह काल के काले-
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी पड़ी रह जाती
सुख दुख मय जीवन रेखा।

दुख सुख में उठता गिरता
संसार तिरोहित होगा
मुड़कर न कभी देखेगा
किसका हित अनहित होगा।

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

इतना सुख ले पल भर में
जीवन के अन्तस्तल से
तुम खिसक गये धीरे-से
रोते अब प्राण विकल से।

क्यों छलक रहा दुख मेरा
ऊषा की मृदु पलकों में
हाँ, उलझ रहा सुख मेरा
सन्ध्या की घन अलकों में।

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे।

अवकाश असीम सुखों से
आकाश तरंग बनाता
हँसता-सा छायापथ में
नक्षत्र समाज दिखाता।

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन-सी करती
अपने खारे आँसू से
करुणा सागर को भरती।

धरणी दुख माँग रही है
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
हूँ देख रहा उस मुख को।

इतना सुख जो न समाता
अन्तरिक्ष में, जल थल में
उनकी मुट्ठी में बन्दी
था आश्वासन के छल में।

दुख क्या था उनको, मेरा
जो सुख लेकर यों भागे
सोते में चुम्बन लेकर
जब रोम तनिक-सा जागे।

सुख मान लिया करता था
जिसका दुख था जीवन में
जीवन में मृत्यु बसी है
जैसे बिजली हो घन में।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख द्रुम दल हिलने से
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से।

हो उदासीन दोनों से
दुख सुख से मेल कराये
ममता की हानि उठाकर
दो रूठे हुए मनाये।

चढ़ जाय अनन्त गगन पर
वेदना जलद की माला
रवि तीव्र ताप न जलाये
हिमकर का हो न उजाला।

नचती है नियति नटी-सी
कन्दुक-क्रीड़ा-सी करती
इस व्यथित विश्व आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।

सन्ध्या की मिलन प्रतीक्षा
कह चलती कुछ मनमानी
ऊषा की रक्त निराशा
कर देती अन्त कहानी।

"विभ्रम मदिरा से उठकर
आओ तम मय अन्तर में
पाओगे कुछ न, टटोलो
अपने बिन सूने घर में।

इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आओगे-आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रोओगे अपनाओगे।"

वेदना विकल फिर आई
मेरी चौदहों भुवन में
सुख कहीं न दिया दिखाई
विश्राम कहाँ जीवन में!

उच्छ्वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है
रोई आँखों में निद्रा
बनकर सपना होता है।

निशि, सो जावें जब उर में
ये हृदय व्यथा आभारी
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी।

तुम स्पर्श हीन अनुभव-सी
नन्दन तमाल के तल से
जग छा दो श्याम-लता-सी
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।

सपनो की सोनजुही सब
बिखरें, ये बनकर तारा
सित सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गङ्गा की धारा

नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में
विस्मृति की नील नलिन रस
बरसो अपाङ्ग के घन से।

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी
तम तुहिन बरस दो कन-कन
यह पगली सोये अब भी।

विस्मृति समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण जलद की
सुख सोये थका हुआ-सा
चिन्ता छुट जाय विपद की।

चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

रजनी की रोई आँखें
आलोक बिन्दु टपकातीं
तम की काली छलनाएँ
उनको चुप-चुप पी जातीं।

सुख अपमानित करता-सा
जब व्यङ्ग हँसी हँसता है
चुपके से तब मत रो तू
यह कैसी परवशता है।

अपने आँसू की अञ्जलि
आँखों से भर क्यों पीता
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्ज्वल होकर है जीता।

वह हँसी और यह आँसू
घुलने दे–मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे।

चुन-चुन ले रे कन-कन से
जगती की सजग व्यथाएँ
रह जायेंगी कहने को
जन-रञ्जन-करी कथाएँ।

जब नील दिशा अञ्चल में
हिमकर थक सो जाते हैं
अस्ताचल की घाटी में
दिनकर भी खो जाते हैं।

नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गङ्गा की धारा में
बिजली बन्दी होती जब
कादम्बिनी की कारा में।

मणिदीप विश्व-मन्दिर की
पहने किरणों को माला
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।

उत्ताल जलधि वेला में
अपने सिर शैल उठाये
निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती में जलन छिपाये

संकेत नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये
जब सोती गहन गुफा में
चञ्चल लट को छिटकाये।

वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व वेदना बाला
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला!

इस व्यथित विश्व पतझड़ की
तुम जलती हो मृदु होली
हे अरुणे! सदा सुहागिनि
मानवता सिर की रोली।

जीवन सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला-सी
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल बाला-सी।

जगद्वन्द्वों के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला
किरणों के केसर रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

तेरे प्रकाश में चेतन–
संसार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

उसमें धुँधली छायाएँ
परिचय अपना देती हैं
रोदन का मूल्य चुकाकर
सब कुछ अपना लेती हैं।

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय को
कल्याणी शीतल ज्वाला।

जिसके आगे पुलकित हो
जीवन है सिसकी भरता
हाँ मृत्यु नृत्य करती है
मुस्क्याती खड़ी अमरता।

वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोनेवाले
अधरों से हँसते-हँसते
आँखों से रोनेवाले।

इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो
मंगल किरणों से रञ्जित
मेरे सुन्दरतम जागो।

अभिलाषा के मानस में
सरसिज-सी आँखें खोलो
मधुपों से मधु गुञ्जारो
कलरव से फिर कुछ बोलो।

आशा का फैल रहा है
यह सूना नीला अञ्चल
फिर स्वर्ण-सृष्टि-सी नाचे
उसमें करुणा हो चंचल

मधु संसृति की पुलकावलि
जागो, अपने यौवन में
फिर से मरन्द उद्गम हो
कोमल कुसुमों के वन में।

फिर विश्व माँगता होवे
ले नभ की खाली प्याली
तुमसे कुछ मधु की बूँदें
लौटा लेने को लाली।

फिर तम प्रकाश झगड़े में
नवज्योति विजयिनी होती
हँसता यह विश्व हमारा
बरसाता मंजुल मोती।

प्राची के अरुण मुकुर में
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूँ
अपनी आँखों का तारा।

कुछ रेखाएँ हों ऐसी
जिनमें आकृति हो उलझी
तब एक झलक! वह कितनी
मधुमय रचना हो सुलझी।

जिसमें इतराई फिरती
नारी निसर्ग सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता

आँखों का निधि वह मुख हो
अवगुण्ठन नील गगन-सा
यह शिथिल हृदय ही मेरा
खुल जावे स्वयं मगन-सा।

मेरी मानसपूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो
झरता अनन्त यौवन मधु
अम्लान स्वर्ण शतदल हो।

कल्पना अखिल जीवन की
किरनों से दृग तारा की
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन
आलोकमयी धारा की।

वेदना मधुर हो जावे
मेरी निर्दय तन्मयता
मिल जावे आज हृदय को
पाऊँ मैं भी सहृदयता।

मेरी अनामिका सङ्गिनि!
सुन्दर कठोर कोमलते!
हम दोनों रहें सखा ही
जीवन-पथ चलते-चलते।

ताराओं की वे रातें
कितने दिन—कितनी घड़ियाँ
विस्मृति में बीत गई वे
निर्मोह काल की कड़ियाँ

उद्वेलित तरल तरंगें
मन की न लौट जावेंगी
हाँ, उस अनन्त कोने को
वे सच नहला आवेंगी।

जल भर लाते हैं जिसको
छूकर नयनों के कोने
उस शीतलता के प्यासे
दीनता दया के दोने।

फेनिल उच्छ्वास हृदय के
उठते फिर मधुमाया में
सोते सुकुमार सदा जो
पलकों की सुख छाया में।

आँसू वर्षा से सिंचकर
दोनों ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी में
जीवन द्रव अमल भरा हो।

जैसे सरिता के तट पर
जो जहाँ खड़ा रहता है
विधु का आलोक तरल पथ
सन्मुख देखा करता है।

जागरण तुम्हारा त्यों ही
देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूँदों से भी
हर लेता सब पंकिलता।

इस छोटी-सी सीपी में
रत्नाकर खेल रहा हो
करुणा की इन बूँदों में
आनन्द उँड़ेल रहा हो।

मेरे जीवन का जलनिधि
बन अंधकार उर्मिल हो
आकाशदीप-सा तब वह
तेरा प्रकाश झिलमिल हो।

हैं पड़ी हुई मुँह ढककर
मन की जितनी पीड़ाएँ
वे हँसने लगें सुमन-सी
करती कोमल क्रीड़ाएँ।

तेरा आलिंगन कोमल
मृदु अमरबेलि-सा फैले
धमनी के इस बंधन में
जीवन ही हो न अकेले।

हे जन्म जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में।

जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।

सपनों की सुख छाया में
जब तन्द्रालस संसृति है
तुम कौन सजग हो आई
मेरे मन में विस्मृति है!

तुम! अरे, वही हाँ तुम हो
मेरी चिर जीवनसंगिनि
दुख वाले दग्ध हृदय की
वेदने! अश्रुमयि रङ्गिनि!

जब तुम्हें भूल जाता हूँ
कुड्मल किसलय के छल में
तब कूक हूक-सी बन तुम
आ जातीं रंगस्थल में।

बतला दो अरे न हिचको
क्या देखा शून्य गगन में
कितना पथ हो चल आई
रजनी के मृदु निर्जन में!

सुख तृप्त हृदय कोने को
ढँकती तमश्यामल छाया
मधु स्वप्निल ताराओं की
जब चलती अभिनय माया।

देखा तुमने तब रुककर
मानस कुमुदों का रोना
शशि किरणों का हँस-हँसकर
मोती मकरन्द पिरोना।

देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने की ललचाना
वह हाहाकार मचाना
फिर उठ-उठकर गिर जाना।

मुँह सिये, झेलतीं अपनी
अभिशाप ताप ज्वालाएँ
देखी अतीत के युग की
चिर मौन शैल मालाएँ।

जिनपर न वनस्पति कोई
श्यामल उगने पाती है
जो जनपद परस तिरस्कृत
अभिशप्त कही जाती है।

कलियों को उन्मुख देखा
सुनते वह कपट कहानी
फिर देखा उड़ जाते भी
मधुकर को कर मनमानी।

फिर उन निराश नयनों की
जिनके आँसू सूखे हैं
उस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं।

सूखी सरिता की शय्या
वसुधा की करुण कहानी
कूलों में लीन न देखी
क्या तुमने मेरी रानी?

सूनी कुटिया कोने में
रजनी भर जलते जाना
लघु स्नेह भरे दीपक का
देखा है फिर बुझ जाना।

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

लहर

लहर

(१)

उठ उठ री लघु लोल लहर!
करुणा की नव अँगराई-सी,
मलयानिल की परछाईं-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर!

शीतल कोमल चिर कम्पन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री–
यह खेल खेल ले ठहर-ठहर!

उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखायें उभार–
भर जाती अपनी तरल-सिहर!

तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में,
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक!
आ चूम पुलिन के बिरस अधर!

(२)

निज अलकों के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे!

आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप-चाँपकर उन्हें नहीं–
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिह्न-सी बनकर यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ, इतनी ही तो है इच्छा? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।
फिर कह दोगे; पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्हीं अधरों से, पहले उनकी हँसी दबाओ तो।
सिहर रेत निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु-लता से आ जकड़ो।

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
        इसमें क्या है धरा, सुनो,
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित–
        मेरे क्षितिज! उदार बनो।

(३)

मधुप गुनगुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन-इतिहास–
यह लो, करते ही रहते हैं अपना व्यंग्य-मलिन उपहास।
तब भी कहते हो–कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे–यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करनेवाले–
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरनेवाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिलखिलाकर हँसते होनेवाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया?
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?

छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों को सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म कथा?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

(४)

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी।
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँत घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम विश्राम क्षितिज वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

(५)

हे सागर सङ्गम अरुण नील!
अतलान्त महा गंभीर जलधि—
तज कर अपनी यह नियत अवधि,

लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्वासों में
युग युग की मधुर कामना के–
बन्धन को देता जहाँ ढील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील।
पिङ्गल किरनों-सी मधु-लेखा,
हिमशैल बालिका को तूने कब देखा!
कलरव संगीत सुनाती,
किस अतीत युग की गाथा गाती आती।
आगमन अनन्त मिलन बनकर–
बिखराता फेनिल तरल खील।
हे सागर सङ्गम अरुण नील!
आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,
देवलोक की अमृत कथा की माया–
छोड़ हरित कानन की आलस छाया–
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना–
निस्सीम व्योम तल नील अंक में–
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील?
हे सागर सङ्गम अरुण नील!

(६)

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,
मधु-भिक्षा की रटन अधर में,
इस अनजाने निकट नगर में,
आ पहुँचा था एक अकिञ्चन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
लोगों की आँखें ललचाईं,
स्वयं माँगने को कुछ आई,
मधु सरिता उफनी अकुलाई,
देने को अपना संचित धन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
फूलों ने पंखुरियाँ खोलीं,
आँखें करने लगीं ठिठोली;
हृदयों ने न सम्हाली झोली,
लुटने लगे विकल पागल मन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
छिन्न पात्र में था भर आता–
वह रस बरबस था न समाता;
स्वयं चकित-सा समझ न पाता!
कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन।

उस दिन जब जीवन के पथ में,
मधु-मङ्गल की वर्षा होती,
काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती–
आशा, समझ मिला अपना धन।

(७)

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही–
तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई–
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये–
तू अब तक सोई है आली।
आँखों में भरे विहाग री!

(८)

तुम्हारी आँखों का बचपन!

खेलता था जब अल्हड़ खेल,
अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस-हँस कर मन,
आह रे, वह व्यतीत जीवन!

तुम्हारी आँखों का बचपन!
साथ ले सहचर सरस वसन्त,
चंक्रमण करता मधुर दिगन्त,
गूँजता किलकारी निस्वन,
पुलक उठता तब मलय-पवन।

तुम्हारी आँखों का बचपन!
स्निग्ध संकेतों में सुकुमार,
बिछल, चल थक जाता तब हार,
छिड़कता अपना गीलापन,
उसी रस में तिरता जीवन।

तुम्हारी आँखों का बचपन!
आज भी है क्या नित्य किशोर–
उसी क्रीड़ा में भाव विभोर–
सरलता का वह अपनापन–
आज भी है क्या मेरा धन!
तुम्हारी आँखों का बचपन!

(९)

अब जागो जीवन के प्रभात!
वसुधा पर ओस बने बिखरे
हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे
ऊषा बटोरती अरुण गात!

अब जागो जीवन के प्रभात!
तम-नयनों की ताराएँ सब–
मुँद रही किरण दल में है अब,
चल रहा सुखद यह मलय वात!

अब जागो जीवन के प्रभात!
रजनी की लाज समेटी तो,
कलरव से उठ कर भेंटो तो,
अरुणांचल में चल रही वात!
जागो अब जीवन के प्रभात!

(१०)

कितने दिन जीवन जल-निधि में-
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी, कूल चूमने चलकर
उठती गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में!

कितनी मधु-संगीत-निनादित
गाथाएँ निज ले चिर-संचित
तरल तान गावेगी वंचित!
पागल-सी इस पथ निरवधि में!

दिनकर हिमकर तारा के दल
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनायेंगे निज चंचल!
आशा की माधुरी अवधि में!

(११)

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन-घन सघन-बरसते-
इन आँखों की छाया भर थे!

सुरधनु रंजित नवजलधर से-
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के,
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली–
बरस रही थी जब हरियाली–
रस जलकन मालती मुकुल से–
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला
नील मेघ-पट पर वह बिरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें–
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

(१२)

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्रान समा जा रे !
जिसके कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो–
वह जीवन गीत सुना जा रे !
खिंच जाय अधर पर वह रेखा–
जिसमें अंकित हो मधु लेखा,
जिसको वह विश्व करे देखा,
वह स्मिति का चित्र बना जा रे !

(१३)

वसुधा के अंचल पर
यह क्या कन-कन-सा गया बिखर?
जल शिशु की चञ्चल क्रीड़ा-सा,
जैसे सरसिज दल पर।
लालसा निराशा में ढलमल
वेदना और सुख में विह्वल
यह क्या है रे मानव जीवन?
कितना है रहा निखर।
मिलने चलते जब दो कन,
आकर्षण-मय चुम्बन बन,
दल के नस-नस में बह जाती–
लघु-लघु धारा सुन्दर।

हिलता-डुलता चञ्चल दल,
ये सब कितने हैं रहे मचल?
कन-कन अनन्त अम्बुधि बनते!
कब रुकती लीला निष्ठुर!
तब क्यों रे फिर यह सब क्यों?
यह रोष भरी लाली क्यों?
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर।
वसुधा के अंचल पर!

(१४)

अपलक जगती हो एक रात!
सब सोये हों इस भूतल में,
अपनी निरीहता सम्बल में
चलती हो कोई भी न बात।

पथ सोये हों हरियाली में,
हों सुमन सो रहे डाली में,
हो अलस उनींदी नखत पाँत!

नीरव प्रशान्ति का मौन बना,
चुपके किसलय से बिछल छना
थकता हो पंथी मलय-वात।

वक्षस्थल में जो छिपे हुए–
सोते हों हृदय अभाव लिए–
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

(१५)

काली आँखों का अन्धकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार–

वह चित्र! रंग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार प्यार!

केवल स्मितिमय चाँदनी रात,
तारा किरनों से पुलक गात,
मधुपों मुकुलों के चले घात,
आता है चुपके मलय वात,
सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूँद चार!

तब लहरों-सा उठकर अधीर
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर,
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा पतझड़ का पा समीर।

पहने छाती पर तरल हार।
पागल पुकार फिर प्यार प्यार!

(१६)

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करनेवाले को?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरनेवाले को?

सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर
जीवन सन्ध्या को नहलाकर
रिक्त जलधि भरनेवाले को?

रजनी के लघु-तम कन में
जगती की ऊष्मा के वन में
उस पर पड़ते तुहिन सघन में
छिप, मुझसे डरनेवाले को?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या वह कँपने
देख मौन मरनेवाले को?

(१७)

शशि-सी वह सुन्दर रूप विभा
चाहे न मुझे दिखलाना।
उसकी निर्मल शीतल छाया
हिमकन को बिखरा जाना।

संसार स्वप्न बनकर दिन-सा
आया है नहीं जगाने,
मेरे जीवन के सुख निशीथ!
जाते जाते रुक जाना।

हाँ, इन जाने की घड़ियों
कुछ ठहर नहीं जाओगे?
छाया पथ में विश्राम नहीं,
है केवल चलते जाना।

मेरा अनुराग फैलने दो,
नभ के अभिनव कलरव में,
जाकर सूनेपन के तम में–
बन किरन कभी आ जाना।

(१८)

अरे आ गई है भूली सी–
यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को!

वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सबसे हो,

झाड़खण्ड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको!

आशा से अंकुर झूलेंगे
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किन को?

सिहर भरी कँपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर–
मानस नयन नलिन को।

जवाकुसुम-सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची मे,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।

अन्धकार का जलधि लाँघकर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।

इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से है
दे देने दो इनको।

(१९)

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मधु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को।

जीवन-रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर में आँसू बन,

वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा की इस हरियाली को।

निदय हृदय में हूक उठी क्या,
सोकर पहली चूक उठी क्या,
अरे कसक वह कूक उठी क्या,
झंकृत कर सूखी डाली को?

प्राणों के प्यासे मतवाले—
ओ झंझा से चलनेवाले।
ढलें और विस्मृति के प्याले,
सोच न कृति मिटनेवाली को।

(२०)

ओ री मानस की गहराई!
तू सुप्त, शान्त कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल—
नव मुकुर नीलमणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका! चिर चंचल—
यह विश्व बना है परछाई!
तेरा विषाद द्रव तरल-तरल
मूर्च्छित न रहे ज्यों पिये गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुघराई!
हँस, झिलमिल हो लें तारा गन,
हँस खिले कुञ्ज में सकल सुमन,
हँस, बिखरें मधु मरन्द के कन,
बनकर संसृति के तव श्रम कन,
—सब कह दें 'वह राका आई!'
हँस ले भय शोक प्रेम या रण,
हँस ले काला पट ओढ़ मरण,
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण,
देकर निज चुम्बन के मधुकण,
नाविक अतीत की उत्तराई!

(२१)

मधुर माधवी संध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त,
विरल मृदुल दलवाली डालों में उलझा समीर जब व्यस्त,
प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्य शिथिल बिछली पड़ती है वहन कर रहा है उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता,
वञ्चित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?
किसी नयन की नील दिशा में क्या कर चुका क्षणिक विश्राम?
क्या झंकृत हो जाते हैं उन स्मृति किरणों के टूटे तार?
सूने नभ में स्वर तरंग का फैलाकर मधु पारावार,
नक्षत्रों से जब प्रकाश की रश्मि खेलने आती है,
तब कमलों की-सी तब सन्ध्या क्यों उदास हो जाती है?

अशोक की चिन्ता

जलता है यह जीवन पतङ्ग
जीवन कितना? अति लघु क्षण,
ये शलभ पुंज-से कण-कण,
तृष्णा वह अनलशिखा बन—
दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग?

है ऊँचा आज मगध शिर—
पदतल में विजित पड़ा गिर,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर,
क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग?

इन प्यासी तलवारों से,
इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारो से,
उन हिंसक हुंकारों से,
नत मस्तक आज हुआ कलिंग।

यह सुख कैसा शासन का?
शासन रे मानव मन का!
गिरि भार बना-सा तिनका,
यह घटाटोप दो दिन का–
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग!

यह महादम्भ का दानव–
पीकर अनङ्ग का आसव–
कर चुका महा भीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव
तज विजय पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती,
मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती,
नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग।

वैभव की यह मधुशाला,
जग पागल होने वाला,
अब गिरा–उठा मतवाला -
प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली-काली अलकों में,
आलस, मद नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में,
सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण भंगुर है तरंग।

फिर निर्जन उत्सव शाला,
नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधु बाला,
सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न यहाँ मृदंग।

इस नील विषाद गगन में–
सुख चपला-सा दुख घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में,
इस मरु-मरीचिका-वन में–
उलझा है चञ्चल मन कुरंग।

आँसू कन-कन ले छल-छल–
सरिता भर रही दृगंचल;
सब अपने में हैं चञ्चल;
छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना विकल यह चेतन,
जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन,
अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।

करुणा गाथा गाती है,
यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है,
मुख पीला ले जाती है,
वन मधु पिङ्गल सन्ध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती,
रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती,
फिर तम पट में छिप जाती,
कलरव कर सो जाते विहंग।

जब पल भर का है मिलना,
फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्राप्त है खिलना,
फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन रंग?

संसृति के विक्षत पग रे!
यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे!
मृदु दल बिखेर इस मग रे!
कर चुके मधुर मधुपान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन पतंग।

प्रलय की छाया

थके हुए दिन के निराशा भरे जोवन की
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में!
और उस दिन तो;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से–
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।
दूरागत वंशी रव–
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में।
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को–हँसाने को।

पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगन्ध से–
कस्तूरी मृग जैसी।
पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था संसार मुझे छूकर।
नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं।
मेरे तो.

चरण हुए थे विजड़ित मधु भार से।
हँसती अनंग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नत शिर देख मुझे।

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका में।
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।

नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुस्कान खिल पड़ती।

नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या संगीत को।
कितनी मादकता थी?
लेने लगी झपकी मैं
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती;
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।

"आँखें खुलीं;
देखा मैंने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,
और थे प्रणत वहीं गुर्ज्जर-महीप भी।
वह एक सन्ध्या थी।"

"श्यामा सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त में

चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ–
ज्योतिमयी, हासमयी, विकल विलासमयी
बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में
मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
मधुर मरन्द-बिन्दु उसमें मिलाता था।

चाँदनी के अंचल में।
हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य भी परखने को मुझको
तारिकाएँ झाँकती थीं।
शत शतदलों की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम में
बहाती लावण्य धारा।

स्मर शशि किरणें,
स्पर्श करती थी इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थीं जिस मेरे अंग पर।
अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्ज्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के,
तिरते थे–
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में।

पीते मकरन्द थे–
मेरे इस अधखिले आनन सरोज का
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्ज्जर के थाले में मरन्द वर्षा करती मैं।"

"और परिवर्तन वह!
क्षितिज पटी को आन्दोलित करती हुई
नीले मेघ माला-सी
नियति-नटी थी आई सहसा गगन में
तड़ित विलास-सी नचाती भौंहें अपनी।"

"पावक-सरोवर में अवभृथ स्नान था
आत्म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
सती के पवित्र आत्म गौरव की पुण्य-गाथा
गूँज उठी भारत के कोने-कोने जिस दिन;

उन्नत हुआ था भाल
महिला-महत्त्व का।

दृप्त मेवाड़ के पवित्र बलिदान का
ऊर्जित आलोक
आँख खोलता था सबकी।
सोचने लगी थीं कुल-वधुएँ, कुमारिकाएँ
जीवन का अपने भविष्य नये सिर से;

उसी दिन
बँधने लगी थी विषमय परतंत्रता।

देव-मन्दिरों की मूक घण्टा-ध्वनि
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से।

मैं भी थी कमला,
रूप-रानी गुजरात की।
सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।
देखे तो प्रचण्ड रूप-ज्वाला की धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।
आह! कैसी वह स्पर्द्धा थी?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की वाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस साँचे में ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी।

देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैंने समझा था यही।
वह अतिरञ्जित-सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ?
वैसा दिव्य
अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की।

"अभिनय आरम्भ हुआ
अन-हलवाड़ा में अनल चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर में
गुर्ज्जरेश मेरी उन इंगितों में नाच उठे।
नारी के चयन! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नही करते
धैर्य किसका नहीं हरते ये?
वही अस्त्र मेरा था।
एक झटके में आज
गुर्जर स्वतंत्र साँस लेता था -- जीव हो।

क्रोध सुलतान का दग्ध करने लगा
दावानल बनकर
हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का।
बालकों की करुण पुकारें, और वृद्धों की
आर्तवाणी,
क्रन्दन रमणियों का,
भैरव संगीत बना, ताण्डव-नृत्य-सा
होने लगा गुर्जर में।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से
फाँद पड़ी मैं भी उस देश की विपत्ति में।
वही कमला हूँ मैं!
देख चिरसङ्गिनी रणाङ्गण में, रङ्ग में,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे
बाधा, विघ्न, आपदाएँ,

अपनी ही क्षुद्रता में टलतीं-बिचलतीं।
हँसते वे देख मुझे
मैं भी स्मित करती।

किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता में?
संबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश में
छोड़ना पड़ा ही उसे।
निर्वासित हम दोनों खोजते शरण थे,
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।

"वह दुपहरी थी,
लू से झुलसानेवाली; प्यास से जलानेवाली।
थके सो रहे थे तरुछाया में हम दोनों
तुर्कों का एक दल आया झंझावात-सा।
मेरे गुर्ज्जरेश !
आज किस मुख से कहूँ?
सच्चे राजपूत थे,
वह खड्ग लीला खड़ी देखती रही मैं वही
गत-प्रत्यागत में और प्रत्यावर्तन में
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मैं।
वाह री नियति!
उस उज्ज्वल आकाश में
पद्मिनी की प्रतिकृति-सी किरणों में बनकर
व्यंग्य-हास करती थी।

एक क्षण भ्रम के भुलावे में डालकर
आज भी नचाता वही,
आज सोचती हूँ जैसे पद्मिनी थी कहती—
"अनुकरण कर मेरा"
समझ सकी न मैं।
पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहिनी की दृप्त मूर्ति धारण कर
सन्मुख सुलतान के
मारने की, मरने की अटल प्रतिज्ञा हुई।
उस अभिमान् में
मैंने ही कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—

"ले चलो मैं गुर्जर की रानी हूँ, कमला हूँ"
वाह री! विचित्र मनोवृत्ति मेरी!
कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहास-शील था?
उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।

रूप यह!
देखे तो तुरुष्कपति मेरा भी
यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान और कितनी अभूतपूर्व?
बन्दिनी मैं बैठी रही
देखती थी दिल्ली कैसी विभव विलासिनी।
यह ऐश्वर्य की दुलारी, प्यारी क्रूरता की
एक छलना-सी, सजने लगी थी सन्ध्या में।
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी।
खोलकर ताराओं की विरल दशन पंक्ति
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुलतान ही के उस निर्मम हृदय में,
नारी मैं!
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की!

साहस उमड़ता था वेग पूर्ण ओघ-सा
किन्तु हलकी थी मैं,
तृण बह जाता जैसे
वैसे मैं विचारों में ही तिरती-सी फिरती।
कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की।

आज साक्षात होगा कितने महीनों पर
लहरी-सदृश उठती-सी गिरती-सी मैं
अद्भुत! चमत्कार!! दृप्त निज गरिमा में
एक सौंदर्यमयी वासना की आँधी-सी
पहुँची समीप सुलतान के।

तातारी दासियों ने मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनों पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला में रही कठिन कृपाणी जो
चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का रुधिर पान करने को।
किन्तु छिन गई वह
और निरुपाय मैं तो ऐंठ उठी डोरी-सी,
अपमान-ज्वाला में अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वहीं मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला।
उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त्त से सोचने लगी थी मैं—

"जीवन सौभाग्य है; जीवन अलभ्य है!"
चारों ओर लालसा भिखारिणी-सी माँगती थी—
प्राणों के कण-कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण रो उठे अकिंचन जो—
"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है?
विश्व-भर से मैं जिसे छाती में छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब हीः—
अपना दल-अंचल पसारकर बन-राजी,
माँगती है जीवन का बिन्दु-बिन्दु ओस-सा
क्रन्दन करता-सा जलनिधि भी
माँगता है नित्य मानो जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से।
व्याकुल हो विश्व, अन्ध तम से
भोर में ही माँगता है
"जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा भरी।
जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है।"
रो उठी मैं रोष भरी बात कहती हुई
"मारकर भी क्या मुझे मरने न दोगे तुम?
मानती हूँ शक्तिशाली तुम सुलतान हो

और मैं हूँ बन्दिनी।
राज्य है बचा नहीं,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझमें रही नहीं
इतनी मैं रिक्त हूँ?"
क्षोभ से भरा था कंठ फिर चुप हो रही।
शक्ति प्रतिनिधि उस दृप्त सुलतान की
अनुनय भरी वाणी गूँज उठी कान में :
"देखता हूँ मरना ही भारत की नारियों का
एक गीत-भार है!
रानी तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में
पद्मिनी को खो दिया है
किन्तु तुमको नहीं!
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से।
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी में
सुन न सकोगी, न विचार ही करोगी तुम
ठहरो विश्राम करो।"
अति द्रुत गति से
कब सुलतान गये
जान सकी मैं न, और तब से
यह रंगमहल बना सुवर्ण पींजरा।

"एक दिन, संध्या थी;
मलिन उदास मेरे हृदय पटल-सा
लाल पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से।
यमुना प्रशान्त मन्द-मन्द निज धारा में,
करुण विषाद भयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद-सी।
बैठी हुई कालिमा की चित्र-पटी देखती
सहसा मैं चौंक उठी द्रुत पद-शब्द से।

सामने था
शैशव से अनुचर
मानिक युवक अब
खिंच गया सहसा

पश्चिम-जलधि-कूल का वह सुरम्य चित्र
मेरी इन दुखिया अँखड़ियों के सामने।
जिसको बना चुका था मेरा यह बालपन
अद्भुत कुतूहल औ' हँसी की कहानी से।

मैंने कहा :–
"कैसे तू अभागा यहाँ पहुँचा है मरने?"
"मरने तो नहीं यहाँ जीवन की आशा में
आ गया हूँ रानी!–भला
कैसे मैं न आता यहाँ?"
कह, वह चुप था।
छुरे एक हाथ में
दूसरे से दोनों हाथ पकड़े हुए वहीं
प्रस्तुत थीं तातारी दासियाँ।

सहसा सुलतान भी दिखाई पड़े,
और मैं थी मूक गरिमा के इन्द्रजाल में।

"मृत्यु दंड!"
वज्र-निर्घोष-सा सुनाई पड़ा भीषणतम–
मरता है मानिक!

गूँज उठा कानों में–
"जीवन अलभ्य है; जीवन सौभाग्य है।"

उठी एक गर्व-सी
किन्तु झुक गई अनुनय की पुकार में
"उसे छोड़ दीजिए"–निकल पड़ा मुँह से।

हँसे सुलतान, और अप्रतिम होती मैं
जकड़ी हुई थी अपनी ही लाज-शृंखला में।

प्रार्थना लौटाने का उपाय अब कौन था?
अपने अनुग्रह के भार से दबाते हुए

कहा सुलतान ने–
"जाने दो रानी की पहली यह आज्ञा है।"
हाय रे हृदय! तूने
कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणि-कोष
और आकाश को पकड़ने की आशा में
हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में।

"अन्तर्निहित थी
लालसाएँ, वासनाएँ जितनी अभाव में
जीवन की दीनता में और पराधीनता में
पलने लगीं वे चेतना के अनजान में।
धीरे-धीरे आती है जैसे मादकता
आँखों के अजान में, ललाई में ही छिपती;
चेतना थी जीवन की फिर प्रतिशोध की।
किन्तु किस युग से वासना के बिन्दु रहे सींचते
मेरे संवेदनों को।
यामिनी के गूढ़ अन्धकार में
सहसा जो जाग उठे तारा से
दुर्बलता को मानती-सी अवलम्ब मैं
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल-सी भूमि पर।
बिखरे प्रलोभनों को मानती-सी सत्य मैं
शासन की कामना में झूमी मतवाली हो।

एक क्षण, भावना के उस परिवर्तन का
कितना अर्जित था?
जीवित हैं गुर्ज्जरेश! कर्णदेव!
भेजा संदेश मुझे "शीघ्र अन्त कर दो
जीवन की लीला।"
लालसा की अर्द्ध कृति-सी!
उस प्रत्यावर्तन में प्राण जो न दे सके, हाँ
जीवित स्वयं है।

जियें फिर क्यों न सब अपनी ही आशा में?
बन्दिनी हुई मैं अबला थी;
प्राणों का लोभ उन्हें फिर क्यों न बचा सका?

प्रेम कहाँ मेरा था?
और मुझमें भी कैसे कहूँ शुद्ध प्रेम था।
मानिक कहता है, आह, मुझे मर जाने को।
रूप ने बनाया रानी मुझे गुजरात की,
वही रूप आज मुझे प्रेरित था करता
भारतेश्वरी का पद लेने को।

लोभ मेरा मूर्तिमान प्रतिशोध था बना
और सोचती थी मैं, आज हूँ विजयिनी
चिर पराजित सुलतान पद तल में।
कृष्णागुरुवर्तिका
जल चुकी स्वर्ण पात्र के ही अभिमान में
एक धूम-रेखा मात्र शेष थी,
उस निस्पन्द रंग मन्दिर के व्योम में
क्षीणगन्ध निरवलम्ब।
किन्तु मैं समझती थी, यही मेरा जीवन है।
यह उपहार है, यह शृंगार है।
मेरी रूप माधुरी का।
मणि नूपुरों की बीन बजी, झनकार से
गूँज उठी रंगशाला इस सौन्दर्य की
विश्व था मनाता महोत्सव अभिमान का
आज विजयी था रूप
और साम्राज्य था नृशंस क्रूरताओं का
रूप माधुरी की कृपा-कोर को निरखता
जिसमें मदोद्धत कटाक्ष की अरुणिमा
व्यंग्य करती थी विश्व भर के अनुराग पर।
अवहेलना से अनुग्रह थे बिखरते।

जीवन के स्वप्न सब बनते-बिगड़ते थे
भवें बल खातीं जब;
लोगों की अदृष्ट लिपि लिखी-पढ़ी जाती थी
इस मुसक्यान के, पद्मराग-उद्गम से
बहता सुगन्ध की सुधा का सोता मन्द-मन्द।
रत्न राजि, सींची जाती सुमन-मरन्द से
कितनी ही आँखों की प्रसन्न नील ताराएँ

बनने को मुकुर-अचंचल, निस्पन्द थीं।
इन्हीं मीन दृगों को चपल संकेत बन
शासन, कुमारिका से हिमालय-शृंग तक
अथक अबाध और तीव्र मेघ-ज्योति-सा
चलता था–
हुआ होगा बनना सफल जिसे देखकर
मंजु मीन-केतन अनंग का।
मुकुट पहनते थे सिर, कभी लोटते थे–
रक्त दग्ध धरणी में रूप की विजय में।
हरमें सुलतान की
देखतीं सशंक दृग कोरों से
निज अपमान को।"

"बेच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे ;
उसी मानवता के आत्म सम्मान को।"

जीवन में आता है परखने का
जिसे कोई एक क्षण,
लोभ, लालसा या भय, क्रोध, प्रतिशोध के
उग्र कोलाहल में,
जिसकी पुकार सुनाई ही नहीं पड़ती।

सोचा यह उस दिन :
जिस दिन अधिकार-क्षुब्ध उस दास ने,
अन्त किया छल से काफूर ने
अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुलतान का।
आँधी में नृशंसता की रक्त-वर्षा होने लगी
रूप वाले, शीश वाले, प्यार से फले हुए
प्राणी राज-वंश के
मारे गये।
वह एक रक्तमयी सन्ध्या थी।

शक्तिशाली होना अहोभाग्य है
और फिर
बाधा-विघ्न-आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल विरोध करने में कैसा सुख है?

इसका भी अनुभव हुआ था भली-भाँति मुझे
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।

जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने;
आजीवन दास ने, रक्त से रँगे हुए;
अपने ही हाथों पहना है राज का मुकुट।

अन्त कर दास राजवंश का,
लेकर प्रचंड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने, खुसरु के नाम से
शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प है।

उसी दिन जान सकी अपनी मैं सच्ची स्थिति
मैं हूँ किस तल पर?
सैकड़ों ही वृश्चिकों का डंक लगा एक साथ
मैं जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने।
खुसरु ने!!
उद्धत प्रभुत्व का
वात्याचक्र! उठा प्रतिशोध-दावानल में
कह गया अभी-अभी नीच परिवारी वह!

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।
जितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,
अपना अस्तित्व हैं पुकारते,
नश्वर संसार में
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते।"
"लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतन्त्र हो बिखरते हैं!
एक माया-स्तूप-सा
हो रहा है लोप इन आँखों के सामने।

देख कमलावती।
ढुलक रही है हिम-बिन्दु-सी

सत्ता सौन्दर्य के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची-सी
छिपकर चारों और व्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती संकेत है व्यंग्य उपहास में।
ले चली बहाती हुई अन्ध के अतल में
वेग भरी वासना।
अन्तक शरभ के
काले-काले पंख ढकते है अन्ध तम से।
पुण्य ज्योति हीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सा
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में।

कामायनी

आशा

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी
जल मे अंतर्निहित हुई।

वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से।

नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग,
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।

धीरे-धीरे हिम-आच्छादन
हटने लगा धरातल से;
जगीं वनस्पतियाँ अलसाई
मुख धोती शीतल जल से।

नेत्र निमीलन करती मानो
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने;
जलधि लहरियों की अँगड़ाई
बार-बार जाती सोने।

सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी-सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी ऐंठी-सी।

देखा मनु ने वह अतिरंजित
विजन विश्व का नव एकांत;
जैसे कोलाहल सोया हो
हिम शीतल जड़ता-सा श्रांत।

इन्द्रलील मणि महा चषक था
सोम रहित उलटा लटका ;
आज पवन मृदु साँस ले रहा
जैसे बीत गया खटका।

वह विराट था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज;
कौन? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।

"विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम, मरुत, चंचल पवमान;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन में अम्लान?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विफल रहे;
अरे! प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे!

विकल हुआ-सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और नये हैं
सब परिवर्तन के पुतले;
हाँ—कि गर्व-रथ में तुरंग-सा;
जितना जो चाहे जुत ले।"

"महानील इस परम व्योम में,
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते-से संधान!

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए;
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए?

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?

हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

हे विराट! हे विश्वदेव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान"—
मंद्र गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

"यह क्या मधुर स्वप्न-सी झिलमिल
सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता-सी व्यक्त हो रही
आशा बनकर प्राण समीर!

यह कितनी स्पृहणीय बन गई
मधुर जागरण-सी छविमान;
स्मिति की लहरों-सी उठती है
नाच रही ज्यों मधुमय तान।

जीवन! जीवन! की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह;
किसके चरणों में नत होता
नव प्रभात का शुभ उत्साह।

मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में!
मैं भी कहने लगा, 'मै रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

यह संकेत कर रही सत्ता
किसकी सरल विकास-मयी;
जीवन की लालसा आज क्यों
इतनी प्रखर विलास-मयी?

तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,–
जीकर क्या करना होगा?
देव! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा?"

एक यवनिका हटी, पवन से
प्रेरित माया पट जैसी;
और आवरण-मुक्त प्रकृति थी
हरी भरी फिर भी वैसी।

स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर-दूर तक फैल रही;
शरद इंदिरा के मंदिर की
मानों कोई गैल रही।

विश्व-कल्पना-सा ऊँचा वह
सुख शीतल संतोष निदान;
और डूबती सी अचला का
अवलंबन मणि रत्न निधान।

अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर,
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर।

उमड़ रही जिसके चरणों में
नीरवता की विमल विभूति,
शीतल झरनों की धाराएँ
बिखरातीं जीवन अनुभूति।

उस असीम नीले अंचल में
देख किसी की मृदु मुसक्यान,
मानो हँसी हिमालय की है
फूट चली करती कल गान।

शिला-संधियों में टकरा कर
पवन भर रहा था गुंजार,
उस दुर्भेद्य अचल दृढ़ता का
करता चारण सदृश प्रचार।

संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट
गगन चुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।

विश्व मौन, गौरव, महत्त्व की
प्रतिनिधियों से भरी विभा;
इस अनन्त प्रांगण में मानो
जोड़ रही हैं मौन सभा।

वह अनन्त नीलिमा व्योम की
जड़ता-सी जो शांत रही;
दूर-दूर ऊँचे-से-ऊँचे
निज अभाव में भ्रांत रही।

उसे दिखातीं जगती का सुख,
हँसी, और उल्लास अजान,
मानो तुंग तरंग विश्व की
हिमगिरि की वह सुढर उठान।

थी अनन्त की गोद सदृश जो
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय;
उसमें मनु ने स्थान बनाया
सुन्दर स्वच्छ और वरणीय

पहला संचित अग्नि जल रहा
पास मलिन द्युति रवि कर से;
शक्ति और जागरण चिह्न-सा
लगा धधकने अब फिर से।

जलने लगा निरंतर उनका
अग्निहोत्र सागर के तीर;
मनु ने तप में जीवन अपना
किया समर्पण होकर धीर।

सजग हुई फिर से सुर संस्कृति,
देव यजन की वर माया
उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।

उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कांत;
लगे देखने लुब्ध नयन से
प्रकृति विभूति मनोहर शांत।

पाक यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने;
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने।

शुष्क डालियों से वृक्षों की
अग्नि अर्चियाँ हुईं समिद्ध;
आहुति की नव धूम गंध से
नभ कानन हो गया समृद्ध।

और सोचकर अपने मन में,
जैसे हम हैं बचे हुए;
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।

अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे;
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

दुख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनन किया करते वे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ;
एक सजीव तपस्या का
पतझड़ में मानो राज्य रहा।

फिर भी धड़कन कभी हृदय में
होती, चिंता कभी नवीन;
यों ही लगा बीतने उनका
जीवन अस्थिर दिन-दिन दीन।

प्रश्न उपस्थित नित्य नये थे
अंधकार की माया में;
रंग बदलते जो पल-पल में
उस विराट की छाया में।

अर्ध प्रस्फुटित उत्तर मिलते
प्रकृति सकर्मक रही समस्त;
निज अस्तित्व बना रखने में
जीवन आज हुआ था व्यस्त।

तप में निरत हुए मनु, नियमित-
कर्म लगे अपना करने।
विश्व रंग में कर्मजाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने।

उस एकांत नियति शासन में
चले विवश धीरे-धीरे;
एक शांत स्पंदन लहरों का
होता ज्यों सागर तीरे।

विजन जगत की तंद्रा में
तब चलता था सूना सपना;
ग्रह पथ के आलोक वृत्त से
काल जाल तनता अपना।

प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती संदेश-विहीन ;
एक विराग-पूर्ण संसृति में
ज्यों निष्फल आरंभ नवीन।

धवल मनोहर चंद्र बिम्ब से
अंकित सुंदर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।

नीचे दूर-दूर विस्तृत था
        उर्मिल सागर व्यथित अधीर;
अंतरिक्ष में व्यस्त उसी-सा
        रहा चन्द्रिका-निधि गंभीर।

खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
        अलस चेतना की आँखें ;
हृदय कुसुम की खिलीं अचानक
        मधु से वे भींगी पाँखें।

व्यक्त नील में चल प्रकाश का
        कंपन सुख बन बजता था;
एक अतींद्रिय स्वप्न लोक का
        मधुर रहस्य उलझता था।

नव हो जगी अनादि वासना
        मधुर प्राकृतिक भूख समान;
चिर परिचित-सा चाह रहा था
        ढूंढ़ सुखद करके अनुमान।

दिवा रात्रि या—मित्र वरुण की
        बाला का अक्षय शृंगार;
मिलन लगा हँसने जीवन के
        उर्मिल सागर के उस पार।

तप से संयम का संचित बल
        तृषित और व्याकुल था आज;
अट्टहास कर उठा रिक्त का
        वह अधीर तम, सूना राज।

धीर समीर परस से पुलकित
        विकल हो चला श्रांत शरीर।
आशा की उलझी अलकों से
        उठी लहर मधुगन्ध अधीर।

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खाकर चोट;
संवेदन! जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।

"आह! कल्पना का सुन्दर यह,
जगत मधुर कितना होता!
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता–सोता।

संवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो सकता;
फिर अभाव असफलताओं की
गाथा कौन कहाँ बकता।

कब तक और अकेले? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो?
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

"तम के सुंदरतम रहस्य, हे
कांति किरण रंजित तारा!
व्यथित विश्व के सात्विक शीतल
बिंदु, भरे नव रस सारा।

आतप तापित जीवन सुख की
शांतिमयी छाया के देश,
हे अनन्त की गणना, देते
तुम कितना मधुमय संदेश!

आह शून्यते! चुप होने में
तू क्यों इतनी चतुर हुई;
इंद्रजाल जननी! रजनी तू
क्यों अब इतनी मधुर हुई?

"जब कामना सिंधु तट आयी
ले संध्या का तारा दीप,
फाड़ सुनहली साड़ी उसकी
तू हँसती क्यों अरी प्रतीप?

इस अनंत काले शासन का
वह जब उच्छृंखल इतिहास,
आँसू औ' तम घोल लिख रही
तू सहसा करती मृदु हास।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।

किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी साँस,
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जा रही किसके पास।

विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।

घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती-सी आती,
विजन गगन में किसी भूल-सी
किसको स्मृति पथ में लाती।

रजत कुसुम के नव पराग-सी
उड़ा न दे तू इतनी धूल;
इस ज्योत्स्ना की, अरी बावली!
तू इसमें जावेगी भूल।

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।

फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

ऐसे अतुल अनंत विभव में
जाग पड़ा क्यों तीव्र विराग?
या भूली-सी खोज रही कुछ
जीवन की छाती के दाग!

"मै भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या?
मन जिसमें सुख सोता था!

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना;
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना!

श्रद्धा

"कौन तुम? संसृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?

मधुर विश्रांत और एकांत–
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य!"

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद;

एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे से, कौन–
गा रहा यह सुन्दर संगीत?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इंद्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति वाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।

मसृण गांधार देश के, नील
रोम वाले मेषों के चर्म,
ढँक रहे थे उसका वपु कांत
बन रहा था वह कोमल वर्म।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम–
बीच जब घिरते हों घन श्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम!

या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रांत।

घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलंबित मुख के पास,
नील घन शावक-से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।

नित्य यौवन छवि से हो दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

उषा की पहली लेखा कांत,
माधुरी से भींगी पर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।

कुसुम कानन-अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल-मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का-सा जलता भ्रांत,
शून्य में फिरता हूँ असहाय।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिम खंड
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड।

पहेली-सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बनकर अनजान।

भूलता ही जाता दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत;
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य
दीन जीवन का यह संगीत।

क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रांत?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग
शून्यता का उजड़ा-सा राज।

एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन राशि
सफलता का संकलित विलम्ब।

"कौन हो तुम वसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन तिमिर में चपला की रेख,
तपन में शीतल मंद बयार।

नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत–
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।"

लगा कहने आगंतुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष;
दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश ;

"भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी संतान।

घूमने का मेरा अभ्यास
बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;
कूतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।

दृष्टि जब जाती हिम-गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयतीत
आह कैसी है? क्या है पीर?

मधुरिमा में अपनी ही मौन
एक सोया संदेश महान,
सजग हो करता था संकेत;
चेतना मचल उठी अनजान।

बढ़ा मन और चले ये पैर
शैल मालाओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुन्दर सम्भार!

एक दिन सहसा सिंधु अपार
लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न
भूत-हित-रत किसका यह दान!
इधर कोई है अभी सजीव,
हुआ ऐसा मन में अनुमान।

तपस्वी! क्यों इतने हो क्लांत?
वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग!

हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश!

दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान;
काम से झिझक रहें हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।

कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।

काम मंगल में मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

"दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल ;

विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"

लगे कहने मनु सहित विषाद :-
"मधुर मारुत-से ये उच्छ्वास
अधिक उत्साह तरंग अबाध
उठाते मानस में सविलास।

किंतु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"

कहा आगंतुक ने सस्नेह —
"अरे, तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल ;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल।

पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक ;
नित्य नूतनता का आनंद
किये है परिवर्त्तन में टेक।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद चिह्न चली गंभीर;
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

"एक तुम, यह विस्तृत भू खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनंद।

अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते? तुच्छ विचार!
तपस्वी! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।

दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलंब;
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब?

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो",
विश्व में गूँज रहा जय गान।

"डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगल मय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

देव-असफलताओं का ध्वस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज।

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।

उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद ;
आज से मानवता की कीर्त्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बंद।

जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें-उतरायं;
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय ;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय!"

इड़ा

"किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
संघर्ष कर रहा-सा जब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरंतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर?"

देखे मैंने वे शैल शृंग
जो अचल हिमानी-से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग
अपने जड़ गौरव के प्रतीक वसुधा का कर अभिमान भंग
अपनी समाधि में रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद बिंदु उसके लेकर वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग में कंपन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।

अपनी ज्वाला से कर प्रकाश
जब छोड़ चला आया सुंदर प्रारंभिक जीवन का निवास
वन, गुहा, कुंज मरु अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास
पागल मैं, किस पर सदय रहा? क्या मैंने ममता ली न तोड़?
किस पर उदारता से रीझा? किससे न लगा दी कड़ी होड़?
इस विजन प्रांत में बिलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
लू-सा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला
मैं स्वप्न देखता हूँ उजड़ा कल्पना लोक में कर निवास
देखा कब मैंने कुसुम हास।

इस दुख मय जीवन का प्रकाश
नभ नील लता की डालों में उलझा अपने सुख से हताश
कलियाँ जिनको मैं समझ रहा वे काँटे बिखरे आस पास
कितना बीहड़ पथ चला और पड़ रहा कहीं थक कर नितांत
उन्मुक्त शिखर हँसते मुझ पर रोता मैं निर्वासित अशांत
इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाँच रही
खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी में जुगनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
उन ज्योति कणों का कर विनाश!

जीवन निशीथ के अंधकार!
तू नील तुहिन जल-निधि बनकर फैला है कितना वार पार
कितनी चेतनता की किरनें हैं डूब रहीं ये निर्विकार
कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका में अभंग

तू मूर्तिमान हो छिप जाता प्रतिफल के परिवर्त्तन अनंग
ममता की क्षीण अरुण रेखा खिलती है तुझमें ज्योति कला
जैसे सुहागिनी की ऊर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण मला
रे चिर-निवास विश्राम प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार।

जीवन-निशीथ के अंधकार।
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम-सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन शिशु की क्रीड़ा नौकायें बस दौड़ लगाती हैं अनन्त
कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन! हँसती तुझमें सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव-कलना
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में छायी पिक प्राणों की पुकार
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

यह उजड़ा सूना नगर प्रांत
जिसमें सुख दुख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प-सी हो नितांत
निज विकृत वक्र रेखाओं से, प्राणी का भाग्य बनी अशांत
कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बनकर मँडराती विकीर्ण
इन ढेरों में दुखभरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
आती दुलार को हिचकी-सी सूने कोनों में कसक भरी
इस सूखे तरु पर मनोवृत्ति आकाश-बेलि-सी रही हरी
जीवन समाधि के खँड़हर पर जो जल उठते दीपक अशांत
फिर बुझ जाते वे स्वयं शांत।

यों सोच रहे मनु पड़े श्रांत
श्रद्धा का सुख साधन निवास जब छोड़ चले आये प्रशांत
पथ पथ में भटक अटकते वे आये इस ऊजड़ नगर प्रांत
बहती सरस्वती वेग भरी निस्तब्ध हो रही निशा श्याम
नक्षत्र निरखते निर्निमेष वसुधा की वह गति विकल वाम
वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
देवेश इंद्र की विजय कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
वह पावन सारस्वत प्रदेश दुःस्वप्न देखता पड़ा क्लांत
फैला था चारों ओर ध्वांत।

"जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार
उस ओर आत्मविश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार–
"मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर
उल्लास शील मैं शक्ति केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनंद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव-नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा"
प्राणों के सुख साधन में ही, संलग्न असुर करते सुधार
नियमों में बँधते दुर्निवार।

था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण
दोनों का एक हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास हीन
फिर क्यों न तर्क को शस्त्रों से वे सिद्ध करें क्यों हो न युद्ध
उनका संघर्ष चला अशांत वे भाव रहे अब तक विरुद्ध
मुझमें ममत्व मय आत्म मोह स्वातंत्र्य मयी उच्छृंखलता
हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता
वह पूर्व द्वंद्व परिवर्त्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन
सचमुच मैं हूँ श्रद्धा विहीन।"

"मनु तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्म विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल
तुमने तो समझा असत् विश्व जीवन धागे में रहा झूल
जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान
तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समर सता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।"
जब गूँजी यह वाणी तीखी कंपित करती अम्बर अकूल
मनु को जैसे चुभ गया शूल।

"यह कौन? अरे फिर वही काम!
जिसने इस भ्रम में है डाला छीना जीवन का सुख विराम?
प्रत्यक्ष लगा होने अतीत जिन घड़ियों का अब शेष नाम

वरदान आज उस गत युग का कंपित करता है अंतरंग
अभिशाप ताप की ज्वाला से जल रहा आज मन और अंग।"
बोले मनु, "क्या मैं भ्रान्त साधना में ही अब तक लगा रहा
क्या तुमने श्रद्धा को पाने के लिये नहीं सस्नेह कहा?
पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय निज अमृत धाम
फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण काम?"

"मनु! उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान
जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुंदर जड़ देह मात्र
सौंदर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके
'कुछ मेरा हो' यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।

हाँ अब तुम बनने को स्वतंत्र
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वन्द्वों का उद्‌गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मंत्र
डाली में कंटक संग कुसुम खिलते मिलते भी हैं नवीन
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुए जिसको चाहे ले रहे बीन
तुमने तो प्राण मयी ज्वाला का प्रणय प्रकाश न ग्रहण किया
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया
अब विकल प्रवर्त्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यंत्र
हो शाप भरा तव प्रजातंत्र।

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती हो अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद

हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरता पड़ता
तब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुख देगी यह संकुचित दृष्टि।

अनवरत उठे कितनी उमंग
चुम्बित हो आँसू जलधर से अभिलाषाओं के शैल शृंग
जीवन नद हाहाकार भरा, हो उठती पीड़ा की तरंग
लालसा भरे यौवन के दिन पतझड़ से सूखे जायँ बीत
संदेह नये उत्पन्न रहें उनसे संतप्त सदा सभीत
फैलेगा स्वजनों का विरोध बनकर तम वाली श्याम अमा
दारिद्रय दलित बिलखाती हो यह शस्य श्यामला प्रकृति रमा
दुख नीरद में बन इंद्रधनुष बदले नर कितने नये रंग
बन तृष्णा ज्वाला का पतंग।

वह प्रेम न रह जाये पुनीत
अपने स्वार्थों से आवृत हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत
सारी संसृति हो विरह भरी, गाते ही बीतें करुण गीत
आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त
तुम राग विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त
मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नहीं
वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाय कहीं
रोकर बीतें सब वर्त्तमान क्षण सुंदर सपना हो अतीत
पेंगों में झूले हार जीत।

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधा मय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी-सी महासक्ति
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छंद
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया-सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल- पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको, बुराई में शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति।

जीवन सारा बन जाय युद्ध
उस रक्त अग्नि की वर्षा में बह जायँ सभी जो भाव शुद्ध
अपनी शंकाओं से व्याकुल तुम अपने ही होकर विरुद्ध
अपनो को आवृत किये रहो दिखलाओ निज कृत्रिम स्वरूप
वसुधा के समतल पर उन्नत चलता फिरता हो दंभ स्तूप
श्रद्धा इस संसृति की रहस्य व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी
सब कुछ देकर नव निधि अपनी तुम से ही तो वह छली गयी
हो वर्तमान से वंचित तुम अपने भविष्य में रहो रुद्ध
सारा प्रपंच ही हो अशुद्ध।

तुम जरा-मरण में चिर अशांत
जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्त्तन अनंत
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अंत
दुखमय चिर चिंतन के प्रतीक! श्रद्धा वंचक बनकर अधीर
मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर
'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वंचना से भर जा
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रांत
वह चलता रहे सदैव श्रांत!"

अभिशाप प्रतिध्वनि हुई लीन
नभ सागर के अंतस्तल में जैसे छिप जाना महा मीन
मृदु मरुत लहर में फेनोपम तारागण झिल मिल हुए दीन
निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तंद्रालस था वह विजन प्रांत
रजनी तम पुंजीभूत सदृश मनु श्वास ले रहे थे अशांत
वे सोच रहे थे, "आज वही मेरा अदृष्ट बन फिर आया
जिसने डाली थी जीवन पर पहले अपनी काली छाया
लिख दिया आज उसने भविष्य! यातना चलेगी अंतहीन
अब तो अवशिष्ट उपाय भी न।"

करती सरस्वती मधुर नाद
बहती थी श्यामल घाटी में निर्लिप्त भाव-सी अप्रमाद
सब उपल उपेक्षित पड़े रहे जैसे वे निष्ठुर जड़ विषाद

वह थी प्रसन्नता की धारा जिसमें था केवल मधुर ज्ञान
थी कर्म निरंतरता प्रतीक चलता था स्ववश अनन्त ज्ञान
हिम शीतल लहरों का रह-रह कूलों से टकराते जाना
आलोक अरुण किरणों का उन पर अपनी छाया बिखराना
अद्भुत था! निज निर्मित पथ का वह पथिक चल रहा निर्विवाद
कहता जाता कुछ सुसंवाद।

प्राची में फैला मधुर राग
जिसके मंडल में एक कमल खिल उठा सुनहला भर पराग
जिसके परिमल से व्याकुल हो श्यामल कलरव सब उठे जाग
आलोक रश्मि से बुने उषा अंचल में आंदोलन अमंद
करता, प्रभात का मधुर पवन सब ओर विचरने को मरंद
उस रम्य फलक पर नवल चित्र-सी प्रकट हुई सुन्दर बाला
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुषमा का मंडल सुस्मित-सा बिखराता संसृति पर सुराग
सोया जीवन का तम विराग।

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी चलती न रही चंचल बयार
पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूँदें मधुर मौन
निस्वन दिगंत में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु, "अरे कौन

आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया"
तंद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर बीते युग को उठता पुकार
वीचियाँ नाचती बार-बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल।"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल
"मनु मेरा नाम सुनो बाले! मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"
"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
भव के भविष्य का द्वार खोल।

"इस विश्व कुहर में इंद्रजाल
जिसने रच कर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत् नखत माल
सागर की भीषण तम तरंग-सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी
सुख नीड़ों को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल?

शनि का सुदूर वह नील लोक
जिसकी छाया-सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक
उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक
वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय
क्या बन सकता है? नियति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय।"

* * * * *

"कोई भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे
अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गंतव्य मार्ग पर पैर धरे
मत कर पसार निज पैरों चल, चलने की जिसको रहे झोंक
उसको कब कोई सके रोक।

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।"

हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बसकर उजड़े कितने ही जीवन मरण शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक
ले लिया भार अपने सिर पर मनु ने यह अपना विषम आज
हँस पड़ी उषा प्राचीनभ में देखे नर अपना राज काज
चल पड़ी देखने वह कौतुक चंचल मलयाचल की बाला
लख लाली प्रकृति कपोलों में गिरता तारा दल मतवाला
उन्निद्र कमल कानन में होती थी मधुपों की नोक झोंक
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

"जीवन निशीथ का अंधकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा-सी आज यहाँ आयी हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पड़े मेरे ये मनोभाव सोये विहंग
हँसती प्रसन्नता चाव भरी बनकर किरनों की-सी तरंग
अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया
मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

दर्शन

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात ;

उजले-उजले तारक झलमल,
प्रतिबिम्बित सरिता वक्षस्थल,
धारा बह जाती बिम्ब अटल,
खुलता था धीरे पवन पटल;

चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पाँत;
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

धूमिल छायाएँ रहीं घूम
लहरी पैरों को रही चूम ;

"माँ! तू चल आयी दूर इधर,
संध्या कब की चल गयी उधर;
इस निर्जन में अब क्या सुन्दर–
तू देख रही, हाँ बस चल घर

उसमें से उठता गंध धूम"
श्रद्धा ने वह मुख लिया चूम।

"माँ! क्यों तू है इतनी उदास,
क्या मैं हूँ तेरे नहीं पास;

तू कई दिनों से यों चुप रह,
क्या सोच रही है? कुछ तो कह ;
यह कैसा तेरा दुःख दुसह,
जो बाहर भीतर देता दह;

लेती ढीली-सी भरी साँस,
जैसे होती जाती हताश।"

वह बोली "नील गगन अपार,
जिसमें अवनत घन सजल भार ;

आते जाते, सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु-सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ रजनी के जुगनू अविरल;

यह विश्व अरे कितना उदार,
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।

यह लोचन गोचर सकल लोक,
संसृति के कल्पित हर्ष शोक;

भावोदधि से किरनों के मग;
स्वाती कन से बन भरते जग।,
उत्थान पतन मय सतत सजग
झरने झरते आलिंगित नग;

उलझन की मीठी रोक-टोक,
यह सब उसकी है नोंक-झोंक।

जग, जगता आँखें किये लाल;
सोता ओढ़े तम नींद जाल,

सुरधनु-सा अपना रंग बदल,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल;
अपनी सुषमा में यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल;

अवकाश सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल।

इसके स्तर-स्तर में मौन शान्ति,
शीतल अगाध है, ताप भ्रान्ति;

परिवर्तन मय यह चिर मङ्गल,
मुसक्याते इसमें भाव सकल;
हँसता है इसमें कोलाहल,
उल्लास भरा-सा अन्तस्तल;

मेरा निवास अति मधुर कान्ति,
यह एक नीड़ है सुखद शान्ति।"

"अम्बे फिर क्यों इतना विराग;
मुझ पर न हुई क्यों सानुराग?"

पीछे मुड़ श्रद्धा ने देखा,
वह इड़ा मलिन छबि की रेखा;
ज्यों राहुग्रस्त-सी शशि लेखा,
जिस पर विषाद की विष रेखा;

कुछ ग्रहण कर रहा दीन त्याग,
सोया जिसका है भाग्य, जाग।

बोली, "तुमसे कैसे विरक्ति,
तुम जीवन को अन्धानुरक्ति,

मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन,
देकर, तुमने रक्खा जीवन;
तुम आशामयि! चिर आकर्षण;
तुम मादकता की अवनत घन;

मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति,
तुम उत्तेजित चंचला शक्ति!

मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल,
यह हृदय! अरे दो मधुर बोल;

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ,
मैं पाती हूँ खो देती हूँ;
इससे ले उसको देती हूँ,
मैं दुख को सुख कर लेती हूँ;

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल,
चिरविस्मृत-सी हूँ रही डोल।

यह प्रभा पूर्ण तव मुख निहार,
मनु हत चेतन थे एक बार;

नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल;
फ़िर कौन क्षमा कर दे निश्छल,
जिससे यह धन्य बने भूतल;

'तुम क्षमा करोगी' यह विचार;
मैं छोड़ूँ कैसे साधिकार।"

"अब मैं रह सकती नहीं मौन,
अपराधी किन्तु यहाँ न कौन?

सुख दुख जीवन में सब सहते,
पर केवल सुख अपना कहते;
अधिकार न सीमा में रहते,
पावस निर्झर से वे बहते;

रोके फिर उनको भला कौन ?
सब को वे कहते—'शत्रु हो न!'

अग्रसर हो रही यहाँ फूट,
सीमाएँ कृत्रिम रहीं टूट;

श्रम भाग वर्ग बन गया जिन्हें,
अपने बल का है गर्व उन्हें;

नियमों की करनी सृष्टि जिन्हें,
विप्लव की करनी वृष्टि उन्हें;

सब पिये मत्त लालसा घूँट,
मेरा साहस अब गया छूट।

मैं जनपद-कल्याणी प्रसिद्ध,
अब अवनति कारण हूँ निषिद्ध;

मेरे सुविभाजन हुए विषम,
टूटते, नित्य बन रहे नियम;
नाना केंद्रों में जलधर सम,
घिर हट, बरसे ये उपलोपम;

यह ज्वाला इतनी है समिद्ध,
आहुति बस चाह रही समृद्ध।

तो क्या मैं भ्रम में थी नितान्त,
संहार-बध्य असहाय दान्त;

प्राणी विनाश मुख में अविरल,
चुपचाप चलें होकर निर्बल।
संघर्ष कर्म का मिथ्या बल,
ये शक्ति चिह्न, ये यज्ञ विफल;

भय की उपासना! प्रणति भ्रान्त!
अनुशासन की छाया अशान्त।

तिस पर मैंने छीना सुहाग,
हे देवि। तुम्हारा दिव्य राग;

मैं आज अकिंचन पाती हूँ;
अपने को नहीं सुहाती हूँ;
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ;
वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ;

दो क्षमा, न दो अपना विराग,
सोयी चेतनता उठे जाग!"

"है रुद्र रोष अब तक अशान्त,
श्रद्धा बोली, बन विषम ध्वान्त।

सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय;
अपनापन चेतन का सुखमय,
खो गया, नहीं आलोक उदय।

सब अपने पथ पर चले श्रान्त,
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;

ओ तर्कमयी! तू गिने लहर
प्रतिबिम्बित तारा पकड़, ठहर;
तू रुक-रुक देखे आठ पहर,
वह जड़ता की स्थिति भूल न कर;

सुख दुख की मधुमय धूप छाँह,
तू ने छोड़ी यह सरल राह।

चेतनता का भौतिक विभाग–
कर, जग को बाँट दिया विराग,

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत-शत;
कण विरह मिलन मय नृत्य निरत;
उल्लासपूर्ण आनन्द सतत;

तल्लीन पूर्ण है एक राग,
झंकृत है केवल 'जाग जाग!'

मैं लोक अग्नि में तप नितान्त,
आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त;

तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
जलती छाती की दाह रही;
तो ले ले जो निधि पास रही,
मुझको बस अपनी राह रही,

रह सौम्य! यहीं; हो सुखद प्रान्त,
विनिमय कर दे कर कर्म कान्त।

तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति,

मैं अपने मनु को खोज चली,
सरिता मरु नग या कुंज गली;
वह भोला इतना नहीं छली ।
मिल जायेगा, हूँ प्रेम पली,

तब देखूँ कैसी चली रीति,
मानव ! तेरी हो सुयश गीति!"

बोला बालक "ममता न तोड़;
जननी! मुझसे मुँह यों न मोड़;

तेरी आज्ञा का कर पालन,
वह स्नेह सदा करता लालन–
मैं मरूँ जिऊँ पर छुटे न प्रन,
वरदान बने मेरा जीवन!

जो मुझको तू यों चली छोड़,
तो मुझे मिले फिर यही क्रोड़!"

"हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा भार;

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।"

"अति मधुर वचन विश्वास मूल;
मुझको न कभी ये जायँ भूल;

हे देवि! तुम्हारा स्नेह प्रबल,
बन दिव्य श्रेय-उद्गम अविरल;
आकर्षण घन-सा वितरे जल;
निर्वासित हों संताप सकल;

कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल,
पकड़ा कुमार कर मृदुल फूल।

वे तीनों ही क्षण एक मौन,
विस्मृत-से थे, हम कहाँ, कौन!

विच्छेद बाह्य, था आलिंगन–
वह हृदयों का, अति मधुर मिलन
मिलते आहत होकर जलकन;
लहरों का यह परिणत जीवन;

दो लौट चले पुर ओर मौन,
जब दूर हुए तब रहे दो न;

निस्तब्ध गगन था, दिशा शान्त।
वह था असीम का चित्र कान्त।

कुछ शून्य विन्दु उर के ऊपर,
व्यथिता रजनी के श्रम सीकर;
झलके कब से पर पड़े न झर,
गंभीर मलिन छाया भू पर;

सरिता तट तरु का क्षितिज प्रान्त,
केवल बिखेरता दीन ध्वान्त।

शत-शत तारा मंडित अनन्त,
कुसुमों का स्तबक खिला बसन्त,

हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर;
बहती माया सरिता ऊपर,
उठती किरणों की लोल लहर;

निचले स्तर पर छाया दुरन्त,
आती चुपके, जाती तुरन्त।

सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल;

धीरे-धीरे लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल;
छप-छप का होता शब्द विरल,
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल;

संसृति अपने में रही भूल,
वह गन्ध विधुर अम्लान फूल।

तब सरस्वती-सा फेंक साँस,
श्रद्धा ने देखा आस पास;

थे चमक रहे दो खुले नयन,
ज्यों शिलालग्न अनगढ़े रतन;
यह क्या तम में करता सनसन?
धारा का ही क्या यह निस्वन!

ना, गुहा लतावृत एक पास,
कोई जीवित ले रहा साँस!

वह निर्जन तट था एक चित्र
कितना सुन्दर, कितना पवित्र?

कुछ उन्नत थे वे शैल शिखर,
फिर ऊँचा श्रद्धा का सिर;
वह लोक अग्नि में तप गल कर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर;

मनु ने देखा कितना विचित्र!
वह मातृमूर्ति थी विश्वमित्र।

बोले "रमणी तुम नहीं आह!
जिसके मन में हो भरी चाह;

तुमने अपना सब कुछ खोकर,
वंचिते! जिसे पाया रोकर;
मैं भगा प्राण जिनसे लेकर,
उसको भी, उन सबको देकर;

निर्दय मन क्या न उठा कराह!
अद्भुत है तव मन का प्रवाह!

ये श्वापद से हिंसक अधीर,
कोमल शावक वह बाल वीर;

सुनता था वह वाणी शीतल,
कितना दुलार कितना निर्मल?
कैसा कठोर है तव हृत्तल?
वह इड़ा कर गयी फिर भी छल,

तुम बनी रही हो अभी धीर,
छुट गया हाथ से आह तीर,"

"प्रिय! अब तक हो इतने सशंक,
देकर कुछ कोई नहीं रंक,

यह विनिमय है या परिवर्तन,
बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन;
अपराध तुम्हारा वह बंधन–
लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन–

निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक?
दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।"

"तुम देवि! आह कितनी उदार,
यह मातृमूर्ति है निर्विकार;

हे सर्वमंगले! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में हो रहती;

मैं भूला हूँ तुमको निहार–
नारी-सा ही! वह लघु विचार।

मैं इन निर्जन तट में अधीर,
सह भूख व्यथा तीखा समीर;

हाँ भाव चक्र में पिस-पिसकर,
चलता ही आया हूँ बढ़कर;
इनके विकार-सा ही बनकर,
मैं शून्य बना सत्ता खोकर;

लघुता मत देखो वक्ष चीर,
जिसमें अनुशय बन घुसा तीर।"

"प्रियतम! यह नत निस्तब्ध रात,
है स्मरण कराती विगत बात;

वह प्रलय शान्ति वह कोलाहल,
जब अर्पित कर जीवन संबल;
मैं हुई तुम्हारी थी निश्छल,
क्या भूलूँ मैं, इतनी दुर्बल;

तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात
मैं नित्य, तुम्हारी सत्य बात।

इस देव द्वन्द्व का वह प्रतीक–
मानव! कर ले सब भूल ठीक;

यह विष जो फैला महा विषम
निज कर्मोन्नति से करते सम,
सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ संयम;

गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती है पड़ी लीक।"

वह शून्य असत या अंधकार,
अवकाश पटल का वार-पार;

बाहर भीतर उन्मुक्त सघन,
था अचल महा नीला अंजन;
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन,
थे निर्निमेष मनु के लोचन;

इतना अनन्त था शून्य सार,
दीखता न जिसके परे पार।

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,

तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन,
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष! मंगल चेतन!

केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरनों की थी लहर लोल।

बन गया तमस था अलक जाल,
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;

अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।

लीला का स्पन्दित आल्हाद,
वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद;

आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर;
बनते तारा, हिमकर दिनकर,
उड़ रहे धूलि कण से भूधर;

संहार सृजन से युगल पाद–
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;

विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर;
चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर;

यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप पाप का कर विनाश–

नर्तन में निरत, प्रकृति गल कर,
उस कान्ति सिन्धु में घुल मिलकर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर;

हीरक गिरि पर विद्युत विलास,
उल्लसित महा हिम धवल हास।

देखा मनु ने नर्तित नटेश,
हत चेत पुकार उठे विशेष;

"यह क्या! श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल;

मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश!"

खण्ड दो : नाटक

एक घूँट

स्कन्दगुप्त

एक घूँट

(प्रतीकात्मक एकांकी)

परिचय

अरुणाचल आश्रम

अरुणाचल पहाड़ी के समीप, एक हरे-भरे प्राकृतिक वन में कुछ लोगों ने मिलकर एक स्वास्थ्य-निवास बसा लिया है। कई परिवारों ने उसमें छोटे-छोटे स्वच्छ घर बना लिये हैं। उन लोगों को जीवन-यात्रा का अपना निराला ढंग है, जो नागरिक और ग्रामीण जीवन की संधि है। उनका आदर्श है सरलता, स्वास्थ्य और सौंदर्य।

कुंज

आश्रम का मंत्री। एक सुदक्ष प्रबंधकार और उत्साही संचालक। सदा प्रसन्न रहनेवाला अधेड़ मनुष्य।

रसाल

एक भावुक कवि। प्रकृति से और मनुष्यों से तथा उनके आचार-व्यवहारों से अपनी कल्पना के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त सरल प्राणी।

वनलता

रसाल कवि की स्त्री। अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट। उसकी समस्त भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करने में व्यस्त रहती है।

मुकुल

उत्साही तर्कशील युवक! कुतूहल से उसका मन सदैव उत्सुकता-भरी प्रसन्नता में रहता है।

झाड़ू वाला

एक पढ़ा-लिखा किंतु साधारण स्थिति का मनुष्य अपनी स्त्री की प्रेरणा से उस आश्रम में रहने लगता है; क्योंकि उस आश्रम में कोई साधारण काम करनेवाले को लज्जित

होने की आवश्यकता नहीं। सभी कुछ-न-कुछ करते थे। उसकी स्त्री के हृदय में स्त्री-जन-सुलभ लालसाएँ होती हैं; किंतु पूर्ति का कोई उपाय नहीं।

चंदुला
एक विज्ञापन करनेवाला विदूषक।

प्रेमलता
मुकुल की दूर के संबंध की बहन। एक कुतूहल से भरी कुमारी। उसके मन में प्रेम और जिज्ञासा भरी है।

आनंद
एक स्वतंत्र प्रेम का प्रचारक, घुमक्कड़ और सुंदर युवक। कई दिनों से आश्रम का अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरा है।

[अरुणाचल-आश्रम का एक सघन कुंज। श्रीफल, बट, आम, कदंब और मौलसिरी के बड़े-बड़े वृक्षों की झुरमुट में प्रभात की धूप घुसने की चेष्टा कर रही है। उधर समीर के झोंके, पत्तियों और डालों को हिला-हिलाकर, जैसे किरणों के निर्विरोध प्रवेश में बाधा डाल रहे हैं। वसंत के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध, उस हरी-भरी छाया में कलोल कर रही है। वृक्षों के अतराल के गुंजारपूर्ण नभखंड की नीलिमा में जैसे पक्षियों का कलरव साकार दिखाई देता है!

मौलसिरी के नीचे वेदी पर वनलता बैठी हुई, अपनी साड़ी के अंचल की बेल देख रही है। आश्रम में ही कहीं होते हुए संगीत को कभी सुन लेती है, कभी अनसुनी कर जाती है।]

(नेपथ्य में गान)

खोल तू अब भी आँखें खोल!
जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठतीं लहरें लोल!
छबि की किरनों से खिल जा तू,
अमृत-झड़ी सुख से झिल जा तू।
इस अनंत स्वर से मिल जा तू वाणी में मधु घोल।
जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न! अह!
भूल अरे सपने को मत रह जकड़ा, बंधन खोल।
खोल तू अब भी आँखें खोल।

[संगीत बंद होने पर कोकिल बोलने लगती है। वनलता अंचल छोड़कर खड़ी हो जाती है। उसकी तीखी आँखें जैसे कोकिल को खोजने लगती हैं। उसे न देखकर हताश-सी वनलता अपने-ही-आप कहने लगती है–]

कितनी टीस है, कितनी कसक है, कितनी प्यास है, निरंतर पंचम की पुकार! कोकिल! तेरा गला जल उठता होगा। विश्व-भर से निचोड़कर यदि डाल सकती तेरे सूखे गले में एक घूँट। (**कुछ सोचती है**) किंतु इस संगीत का...क्या अर्थ है...बंधनों को खोल देना, एक विश्रृंखलता फैलाना, परंतु मेरे हृदय की पुकार क्या कह रही है। आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती? (**रसाल को आते हुए देखकर**) मेरी विश्व-यात्रा के संगी, मेरे स्वामी! तुम काल्पनिक विचारों के आनंद में अपनी सच्ची संगिनी को भूल.... (**रसाल चुपचाप वनलता की आँखें बंद कर लेता है, वह फिर कहने लगती है**) कौन है? नीला, शीला, प्रेमलता! बोलती भी नहीं : अच्छा, मैं भी खूब छकाऊँगी, तुम लोग बड़े दुलार पर चढ़ गयी हो न!

रसाल : (**निश्वास लेकर हाथ हटाते हुए**) इन लोगों के अतिरिक्त और कोई दूसरा तो ही हो नहीं सकता। इतने नाम लिये किंतु...किंतु एक मेरा ही स्मरण न आया। क्यों वनलता?

वनलता : **(सिर पर साड़ी खींचती हुई)** आप थे? मैं नहीं जान...

रसाल : **(बात काटते हुए)** जानोगी कैसे लता। मैं भी जानने की, स्मरण होने की वस्तु होऊँ तब न! अच्छा तो है, तुम्हारी विस्मृति भी मेरे लिए स्मरण करने की वस्तु होगी। **(निश्वास लेकर)** अच्छा, चलती हो आज मेरा व्याख्यान सुनने के लिए?

वनलता : **(आश्चर्य से)** व्याख्यान! तुम कब से देने लगे? तुम तो कवि हो कवि, भला तुम व्याख्यान देगा क्या जानो, और वह विषय कौन-सा होगा जिस पर तुम व्याख्यान दोगे? घड़ी-दो-घड़ी बोल सकोगे! छोटी-छोटी कल्पनाओं के उपासक! सुकुमार सूक्ति के संचालक! तुम भला क्या व्याख्यान दोगे?

रसाल : तो मेरे इस भावी अपराध को तुम क्षमा न करोगी। आनंदजी के स्वागत में मुझे कुछ बोलने के लिए आश्रमवालों ने तंग कर दिया है। क्या करूँ वनलता!

वनलता : **(मौलसिरी की एक डाल पकड़कर झुकाती हुई)** आनंदजी का स्वागत! अब होगा! कहते क्या हो! उन्हें आये तो कई दिन हो गये!

रसाल : **(सिर पकड़कर)** ओह । मैं भूल गया था, स्वागत नहीं उनके परिचय-स्वरूप कुछ बोलना पड़ेगा।

वनलता : हाँ परिचय! अच्छा मुझे तो बताइये, यह आनंदजी कौन है, क्यों आये हैं और कब! नहीं-नहीं; कहाँ रहते हैं?

रसाल : मनुष्य हैं, उनका कुछ निज का संदेश है; उसी का प्रचार करते हैं। कोई निश्चित निवास नहीं। **(जैसे कुछ स्मरण करता हुआ)** तुम भी चलो न! संगीत भी होगा। आनंदजी अरुणाचल पहाड़ी की तलहटी में घूमने गये हैं; यदि नदी की ओर भी चले गये हों तो कुछ विलंब लगेगा नहीं तो अब आते ही होंगे। तो मैं चलता हूँ।

[रसाल जाने लगता है। वनलता चुप रहती है। फिर रसाल के कुछ दूर जाने पर उसे बुलाती है।]

वनलता : सुनो तो!

रसाल : **(लौटते हुए)** क्या?

वनलता : यह अभी-अभी जो संगीत हो रहा था **(कुछ सोचकर)** मुझे उसका पद स्मरण नहीं हो रहा है, वह...

रसाल : मेरी 'एक घूँट' नाम की कविता मधुमालती गाती रही होगी।

वनलता : क्या नाम बताया–'एक घूँट' उहूँ! कोई दूसरा नाम होगा, तुम भूल रहे हो; वैसा स्वर-विन्यास एक घूंट नाम की कविता में हो ही नहीं सकता।

रसाल : तब ठीक है। कोई दूसरी कविता रही होगी! तो मैं जाऊँ न!

वनलता : **(स्मरण करके)** ओहो, उसमें न जकड़े रहने के लिए, बंधन खोलने के लिए, और भी क्या-क्या ऐसी ही बातें थी। वह किसकी कविता है?

रसाल : **(दूसरी ओर देखकर)** तो, तो वह मेरी–हाँ-हाँ–मेरी ही कविता थी।

वनलता : **(त्योरी चढ़ाकर)** अच्छा, तो आप बंधन तोड़ने की चेष्टा में हैं आजकल! क्यों, कौन बंधन खोल रहा है?

रसाल : **(हँसने की चेष्टा करता हुआ)** यह अच्छी रही! किंतु लता! यह क्या पुराने ढंग की साड़ी तुमने पहन ली है? यह तो समय के अनुकूल नहीं; और मैं तो कहूँगा, सुरुचि के भी प्रतिकूल है।

वनलता : समय के अनुकूल बनने की मेरी बात नहीं, और सुरुचि के संबंध में मेरा निज का विचार है। उसमें किसी दूसरे की सम्मति की मुझे आवश्यकता नहीं।

रसाल : उस दिन जो नई साड़ी मैं ले आया था, उसे पहन आओ न! **(जाने लगता है)**

वनलता : अच्छा-अच्छा, तुम जाते कहाँ हो? व्याख्यान कहाँ होगा? ए कवि जी, सुनूँ भी!

रसाल : यही तो मैं भी पूछने जा रहा था।

[वनलता दाहिने हाथ की तर्जनी से अपना अधर दबाये, बायें हाथ से दाहिनी कुहनी पकड़े हँसने लगती है और रसाल उसकी मुद्रा साग्रह देखने लगता है, फिर चला जाता है।]

वनलता : **(दाँतों से ओंठ चबाते हुए)** हूँ! निरीह, भावुक प्राणी! जंगली पक्षियों के बोल, फूलों की हँसी और नदी के कलनाद का अर्थ समझ लेते हैं। परंतु मेरे आर्त्तनाद को कभी समझने की चेष्टा भी नहीं करते। और मैंने ही...

[दूर से कुछ लोगों के बातचीत करते हुए आने का शब्द सुनाई पड़ता है। वनलता चुपचाप बैठ जाती है। प्रेमलता और आनंद का बात करते हुए प्रवेश। पीछे-पीछे और भी कई स्त्री-पुरुषों का आपस में संकेत से बाते करते हुए आना। वनलता जैसे उस ओर ध्यान ही नहीं देती।]

आनंद : (एक ढीला रेशमी कुरता पहने हुए है, जिसकी बाँहें उसे बार-बार चढ़ानी पड़ती हैं, बीच-बीच में चादर भी सम्भाल लेता है। पान को रूमाल से पोंछते हुए प्रेमलता की ओर गहरी दृष्टि से देखकर) जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पखड़ियों को गद्गद कर देती हैं, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरंतर परिस्थिति होनी चाहिए।

प्रेमलता : किंतु जीवन की झंझटें, आकांक्षाएँ, ऐसा अवसर आने दें तब न! बीच-बीच में ऐसा अवसर आ जाने पर भी वे चिरपरिचित निष्ठुर विचार गुर्राने लगते हैं। तब!

आनंद : उन्हें पुचकार दो, सहला दो; तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वे आपस में लड़ जायँ और तब तुम तटस्थ दर्शक मात्र बन जाओ और खिलखिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको। देख सकोगे न!

प्रेमलता : असंभव! विचारों का आक्रमण तो सीधे मुझी पर होता है। फिर वे परस्पर कैसे लड़ने लगें? (स्वगत) अहा, कितना मधुर यह प्रभात है! यह मेरा मन जो गुदगुदी का अनुभव कर रहा है, उसका संघर्ष किससे करा दूँ।

[मुकुल भवों को चढ़ाकर अपनी एक हथेली पर तर्जनी से प्रहार करता है, जैसे उसकी समझ में प्रेमलता की बात बहुत सोच-विचारकर कही

गई हो। आनंद दोनों को देखता है,फिर उसकी दृष्टि वनलता की ओर चली जाती है।]

आनंद : (सँभलते हुए) जब तुम्हारे हृदय में एक कटु विचार आता है, उसके पहले से क्या कोई मधुर भाव प्रस्तुत नहीं रहता? जिससे तुलना करके तुम कटुता का अनुभव करती हो।

प्रेमलता : हाँ, ऐसा ही समझ में आता है।

आनंद : तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि पवित्र-मंदिर में दो- कटु और मधुर- भावों का द्वंद्व चला करता है, और उन्हीं मे एक, दूसरे पर आतंक जमा लेता है।

प्रेमलता : लेता है किंतु; यह बात मेरी समझ में....

आनंद : (हँसकर) न आई होगी। किंतु तुम उस द्वंद्व के प्रभाव से मुक्त हो सकती हो। मान लो कि तुम किसी से स्नेह करती हो **(ठहरकर प्रेमलता की ओर गूढ़ दृष्टि से देखकर)** और तुम्हारे हृदय में इसे सूचित करे... व्यक्त करने के लिए इतनी व्याकुलता....

प्रेमलता : ठहरिये तो, मैं प्यार करती हूँ कि नहीं, पहले इस पर भी मुझे दृढ निश्चय कर लेना चाहिये।

आनंद : **(विरक्ति प्रकट करता हुआ)** उँह, दृढ़ निश्चय को बीच में लाकर तुमने मेरी विचार-धारा दूसरी ओर बहा दी। दृढ़ निश्चय! एक बंधन है। प्रेम की स्वतंत्र आत्मा को बंदीगृह में न डालो। इससे उसका स्वास्थ्य, सौंदर्य और सरलता सब नष्ट हो जायगी।

प्रेमलता : ऐं! **(और भी कई व्यक्ति आश्चर्य से)** ऐं!

आनंद : हाँ-हाँ, उस नियमबद्ध प्रेम-व्यापार का बड़ा ही स्वार्थपूर्ण विकृत रूप होगा। जीवन का लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा।

प्रेमलता : **(आश्चर्य से)** और वह लक्ष्य क्या है?

आनंद : **विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौंदर्य' है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न**

का मूल रहस्य है, स्वस्थ–अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से–रहने पर सफल हो सकती है। दृढ़ निश्चय कर लेने पर उसकी सरलता न रहेगी, अपने मोह-मूलक अधिकार के लिए वह झगड़ेगी।

प्रेमलता : किंतु अभी-अभी आपने नदी-तट पर जाल की कड़ियों को आपस में लड़ाते हुए मछुओं की बातें सुनी हैं। वे न-जाने....

आनंद : सुनी हैं। आनंद के संबंध में पहले एक बात मेरी सुन लो। आनंद का अंतरंग सरलता है और बहिरंग सौंदर्य है, इसी में वह स्वस्थ रहता है।

प्रेमलता : किंतु आपकी ये बातें समझ में नहीं आतीं।

आनंद : **(हँसकर)** तो इसमें मेरा अपराध नहीं। प्रायः न सनझने के कारण मेरे इस कथन का अर्थ उलटा ही लगाया जायगा, या तो पागल का प्रलाप समझा जायगा। किंतु करूँ क्या, बात तो जैसी है वैसी ही कही जायगी न! उन मछुओं को सरलता और सौंदर्य दोनों का ज्ञान नहीं। फिर आनंद के नाम पर वे दुख का नाम क्यों लें?

प्रेमलता : **(उदास होकर)** यदि हम लोगों की दृष्टि में उनके यहाँ सौंदर्य का अभाव हो, तो भी उनके पास सरलता नहीं है, मैं ऐसा नहीं मान सकती।

आनंद : तुम्हारा न मानने का अधिकार मैं मानता हूँ, किंतु वे अपने भीतर ज्ञाता बनने का निश्चय करके, अपने स्वार्थों के लिए दृढ़ अधिकार प्रकट करते हुए, अपनी सरलता की हत्या कर रहे थे और सौंदर्य को मलिन बना रहे थे। काल्पनिक दुःखों को ठोस मानकर...

मुकुल : **(बात काटते हुए)** ठहरिये तो, क्या फिर 'दुःख' नाम की वस्तु कोई हुई नहीं?

आनंद : होगा कहीं! हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोलकर सृष्टि के सुंदर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है।

[वनलता चुपचाप तीव्र दृष्टि से दोनों को देखती हुई अपने बाल सँवारने लगती है और प्रेमलता आनंद को देखती हुई अपने-आप सोचने लगती है।]

प्रेमलता : **(स्वगत)** अहा! कितना सुंदर जीवन हो, यदि मनुष्य को इस बात का विश्वास हो जाय कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है। आनंद! आह! इनकी बातों में कितनी प्रफुल्लता है! हृदय को जैसे अपनी भूली हुई गति स्मरण हो रही है। **(वह प्रसन्न नेत्रों से आनंद को देखती हुई कह उठती है)** और!

आनंद : और दुःख की उपासना करते हुए एक-दूसरे के दुःख मे दुखी होकर परंपरागत सहानुभूति—नहीं-नहीं, यह शब्द उपयुक्त नहीं; हाँ—सहरोदन करना मूर्खता है। प्रसन्नता की हत्या का रक्त पानी बन जाता है। पतला, शीतल! ऐसी संवेदनाएँ संसार में उपकार से अधिक अपकार ही करती हैं।

प्रेमलता : **(स्वगत सोचने लगती है)** सहानुभूति भी अपराध है? अरे यह कितना निर्दय! आनंद! आनंद! यह तुम क्या कह रहे हो? इस स्वच्छंद प्रेम से या तुमसे क्या आशा!

मुकुल : फिर संसार में इतना हाहाकार!

आनंद : उँह, विश्व विकासपूर्ण है; है न? तब विश्व की कामना का मूल रहस्य 'आनंद' ही है, अन्यथा वह 'विकास' न होकर दूसरा ही कुछ होता।

मुकुल : और संसार में जो एक-दूसरे को कष्ट पहुँचाते है, झगड़ते हैं!

आनंद : दुःख के उपासक उसकी प्रतिमा बनाकर पूजा करने के लिए द्वेष, कलह और उत्पीड़न आदि सामग्री जुटाते रहते हैं। तुम्हें हँसी के हल्के धक्के से उन्हें टाल देना चाहिए।

मुकुल : महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुंदर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है, वैसे ही आपको दुःख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली-कलूटी हाँड़ी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोमचा लड़कों ने उछल-कूदकर

गिरा भी दिया और लूटकर खा भी गये, उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलक पसारे बैठी होगी या खाट पर पड़ी होगी।

प्रेमलता : **(आनंद की ओर देखकर)** क्यों?

आनंद : ठीक वही बात! यही तो होना चाहिए। स्वच्छंद प्रेम को जकड़कर बाँध रखने का, प्रेम की परिधि संकुचित बनाने का यही फल है, यही परिणाम है (मुस्कराने लगता है)।

मुकुल : तब क्या सामाजिकता का मूल उद्‌गम–वैवाहिक प्रथा तोड़ देनी चाहिए ? यह तो साफ़-साफ़ दायित्व छोड़कर उद्‌भ्रांत जीवन बिताने की घोषणा होगी। परस्पर सुख-दुख में गला बाँधकर एक दूसरे पर विश्वास करते हुए, संतुष्ट दो प्राणियों की आशाजनक परिस्थिति क्या छोड़ देने की वस्तु है? फिर....

प्रेमलता : (स्वगत) यह कितनी निराशामयी शून्य कल्पना है– **(आनंद को देखने लगती है)**।

आनंद : **(हताश होने की मुद्रा बनाकर)** ओह! मनुष्य कभी न समझेगा। अपने दुःखों से भयभीत कंगाल दूसरों के दुःख में श्रद्धावान बन जाता।

मुकुल : मैंने देखा है कि मनुष्य एक ओर तो दूसरे से ठगा जाता है, फिर भी दूसरे से कुछ ठग लेने के लिए सावधान और कुशल बनने का अभिनय करता रहता है।

प्रेमलता : ऐसा भी होता होगा!

आनंद : यह मोह की भूख...

वनलता : **(पास आकर)** और पेट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती। हृदय को– **(छाती पर हाथ रखकर)** कभी इसको–भी टटोलकर देखा है? इनकी भूख-प्यास का भी कभी अनुभव किया है?

(आनंद कौतुक से वनलता की ओर देखने लगता है। आश्रम के मंत्री कुंज के साथ रसाल का प्रवेश)

आनंद : **(मुस्कराकर)** देवि, तुम्हारा तो विवाहित जीवन है न! तब भी हृदय भूखा और प्यासा! इसीसे मैं स्वच्छंद प्रेम का पक्षपाती हूँ।

वनलता : वही तो मैं समझ नहीं पाती, प्रतिकूलताएँ... **(कहते-कहते रसाल को देखकर रुक जाती है, फिर प्रेमलता को देखकर)** प्रेमलता! तुमने आज प्रश्न करके हम लोगों के अतिथि श्री आनंद जी को अधिक समय तक थका दिया है। अच्छा होता कि कोई गान सुनाकर इन शुष्क तर्कों से उत्पन्न हुई हम लोगों की ग्लानि को दूर करती।

प्रेमलता : **(सिर झुकाकर प्रसन्न होती हुई)** अच्छा, सुनिए—

[सब प्रसन्नता करते हुए एक-दूसरे को देखते हैं]

प्रेमलता : **(गाती है)**—

जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा—
बहती ले अनुराग तुम्हारा—
फिर भी प्यासा हृदय हमारा—
व्यथा घूमती मतवाली है।

हरित दलों के अंतराल से—
बचता-सा इस सघन जाल से—
यह समीर किस कुसुम-बाल से—
माँग रहा मधु की प्याली है।

एक घूँट का प्यासा जीवन—
निरख रहा सबको भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन—
कहाँ सजल वह हरियाली है।

[गान समाप्त होने पर एक प्रकार का सन्नाटा हो जाता है। संगीत की प्रतिध्वनि उस कुंज में अभी भी जैसे सब लोगों को मुग्ध किये है। वनलता सब लोगों से अलग कुंज से धीरे-धीरे कहती है]

वनलता : कुछ देखा आपने ?

कुंज : क्या?

वनलता : हमारे आश्रम में एक प्रेमलता ही तो कुमारी है। और यह आनंदजी भी कुमार ही हैं।

कुंज : तो इससे क्या?

वनलता : इससे! हाँ, यही तो देखना है कि क्या होता है? होगा कुछ अवश्य! देखूँ तो मस्तिष्क विजयी होता है कि हृदय! आपको...

कुंज : **(चिंतित भाव से)** मुझे तो इसमें...जाने भी दो वह देखो रसालजी कुछ कहना चाहते हैं क्या? मैं चलूँ।

[दोनों आनंदजी के पास जाकर खड़े हो जाते हैं]

कुंज मंत्री : महोदय! मेरे मित्र श्री रसालजी आपके परिचय स्वरूप एक भाषण देना चाहते हैं। यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके व्याख्यान के पहले ही–

आनंद : **(जैसे घबराकर)** क्षमा कीजिए मैं तो व्याख्यान देना नहीं चाहता; परन्तु श्री रसालजी की रसीली वाणी अवश्य सुनूँगा। आप लोगों ने तो मेरा वक्तव्य सुन ही लिया। मैं वक्ता नहीं हूँ। जैसे सब लोग बातचीत करते हैं, कहते हैं, सुनते हैं, ठीक उसी तरह मैंने भी आप लोगों से वाग्विलास किया है। **(रसाल को देखकर सविनय)** हाँ, तो श्रीमान् रसाल जी!

प्रेमलता : किंतु बैठने का प्रबंध तो कर लिया जाय!

वनलता : आनंदजी इस वेदी पर बैठ जायँ और हम लोग इन वृक्षों की ठंडी छाया में बड़ी प्रसन्नता से यह गोष्ठी कर लेंगे।

आनंद : हाँ-हाँ, ठीक तो है।
[सब लोग बैठ जाते है और वनलता एक वृक्ष से टिक कर खड़ी हो जाती है। रसाल आनंद के पास खड़ा होकर, व्याख्यान देने की चेष्टा करता है। सब मुस्कराते हैं। फिर वह सम्हलकर कहने लगता है।]

रसाल : **व्यक्ति का परिचय तो उसकी वाणी, उसके व्यवहार से वस्तुतः स्वयं हो जाता है; किंतु यह प्रथा-सी चल पड़ी है कि...**

वनलता : **(सस्मित, बीच में ही बात काटकर)** कि जो उस व्यक्ति के संबंध में भी कुछ नहीं जानते, उन्हीं के सिर पर परिचय देने का भार लाद दिया जाता है।

[सब लोग वनलता को असंतुष्ट होकर देखने लगते हैं और वह अपनी स्वाभाविक हँसी से सबका उत्तर देती है और कहती है]–

अस्तु, कविजी, आगे फिर... **(सब हँस पड़ते हैं।)**

रसाल : अच्छा, मैं भी श्री आनंदजी का परिचय न देकर आपके संदेश के संबंध में दो-एक बातें कहना चाहता हूँ, क्योंकि आपका संदेश हमारे आश्रम के लिए एक विशेष महत्त्व रखता है। आपका कहना है कि– **(रुककर सोचने लगता है।)**

मुकुल : कहिए-कहिए!

रसाल : कि अरुणाचल-आश्रम इस देश की एक बड़ी सुंदर संस्था है, इसका उद्देश्य बड़ा ही स्फूर्तिदायक है। इसके आदर्श वाक्य, जिन्हें आप लोगों ने स्थान-स्थान पर लगा रक्खे हैं, बड़े ही उत्कृष्ट हैं; किंतु उन तीनों में एक और जोड़ देने से आनंद जी का संदेश पूर्ण हो जाता है–स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य में प्रेम को भी मिला देने से इन तीनों की प्राण-प्रतिष्ठा हो जायगी। इन विभूतियों का एकत्र होना विश्व के लिए आनंद का उत्स खुल जाना है।

प्रेमलता : किंतु महोदय! मैं आपके विरुद्ध आप ही की एक कविता गाकर सुनाना चाहती हूँ।

मुकुल ठहरो प्रेमलता!

वनलता वाह! गाने न दीजिए! अब तो मैं समझती हूँ कि कविजी को जो कुछ कहना था, कह चुके।

[सब लोग एक दूसरे का मुँह देखने लगते हैं, आनंद सबको विचार-विमूढ़-सा देखकर हँसने लगता है।]

प्रेमलता तो फिर क्या आज्ञा है?

आनंद : हाँ-हाँ, बड़ी प्रसन्नता से? हम लोगों के तर्कों, विचारों और विवादों से अधिक संगीत से आनंद की उपलब्धि होती है।

प्रेमलता : किंतु यह दुःख का गान है। तब भी मैं गाती हूँ।

[गान]

जलधर की माला
घुमड़ रही जीवन-घाटी पर–जलधर की माला।
–आशा लतिका कँपती थरथर–
गिरे कामना-कुंज हहरकर
–अंचल में है उपल रही भर–यह करुणा-बाला।
यौवन ले आलोक किरन की
डूब रही अभिलाषा मन की
क्रंदन चुंबित निठुर निधन की–बनती वनमाला।
अंधकार गिरि-शिखर चूमती–
असफलता की लहर घूमती
क्षणिक सुखों पर सतत झूमती–शोकमयी ज्वाला।

[संगीत समाप्त होने पर एक-दूसरे का मुँह बड़ी गंभीरता की मुद्रा से देखने लगते हैं।]

आनंद : यह स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक है। ऐसी भावनाएँ हृदय को कायर बनाती हैं। रसालजी, यह आपकी ही कविता है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि...

रसाल : मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी कल्पना की दुर्बलता है। मैं इससे बचने का प्रयत्न करूँगा। **(सब लोगों की ओर देखकर)** और आप लोग भी अनिश्चित जीवन की निराशा के गान भूल जाइये। प्रेम का प्रचार करके, परस्पर प्यार करके, दुःखमय विचारों को दूर भगाइये।

मुकुल : किंतु प्रेम में क्या दुःख नहीं है?

रसाल : होता है, किंतु वह दुःख मोह का है, जिसे प्रायः लोग प्रेम के सिर मढ़ देते हैं। आपका प्रेम, आनंदजी के सिद्धांत पर सबसे सम-भाव का होना चाहिए। भाई, पिता, माता और स्त्री को भी इन विशेष उपाधियों से मुक्त होकर प्यार करना सीखिए। सीखिए कि हम मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं। मानवता के नाम...

[सब लोग वनलता की ओर देख व्यंग्य से हँसने लगते हैं। रसाल जैसे अपनी भूल समझता हुआ चुप हो जाता है।]

वनलता : **(भँवें चढ़ाकर तीखेपन से)** हाँ, मानवता के नाम पर, बात तो बड़ी अच्छी है। किंतु मानवता आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ। फिर क्यों न झरनों, चाँदनी रातों, कुंज और वनलताओं को ही प्यार किया जाय–जिनकी किसी से कुछ माँग नहीं। **(ठहरकर)** प्रेम की उपासना का एक केंद्र होना चाहिए, एक अंतरंग साम्य होना चाहिए।

प्रेमलता : मानवता के नाम पर प्रेम की भीख देने में प्रत्येक व्यक्ति का बड़ा गर्व होगा। उसमें समर्पण का भाव कहाँ ?

कुंज : सो तो ठीक है, किंतु अंतरंग साम्यवाली बात पर मैं भी एक बात कहना चाहता हूँ। अभी कल ही मैंने 'मधुरा' में एक टिप्पणी देखी थी और उसके साथ कुछ चित्र भी थे, जिनमें दो व्यक्तियों की आकृति का साम्य था। एक वैज्ञानिक कहता है कि प्रकृति जोड़े उत्पन्न करती है।

वनलता : **(शीघ्रता से)** और उसका उद्देश्य दो को परस्पर प्यार करने का संकेत करना है। क्यों, यही न? किंतु प्यार करने के लिए हृदय का साम्य चाहिए, अंतर की समता चाहिए। वह कहाँ मिलती है? दो समान अंतःकरणों का चित्र भी तुमने देखा है? सो भी–

कुंज : एक स्त्री और एक पुरुष का, यही न! (मुँह बनाकर) ऐसा न देखने का अपराध करने के लिए मैं क्षमा माँगता हूँ।

[सब हँसने लगते हैं। ठीक उसी समय एक चंदुली, गले में विज्ञापन लटकाये आता है। उसकी चंदुली खोपड़ी पर बड़े अक्षरों में लिखा है 'एक घूँट'–और विज्ञापन में लिखा है 'पीते ही सौंदर्य चमकने लगेगा।' स्वास्थ्य के लिए सरलता से सुधारस मिला हुआ सुअवसर हाथ से न जाने दीजिए। पीजिए 'एक घूंट']

कुंज : **(उसे देखकर आश्चर्य से)** हमारे आश्रम के आदर्श शब्द! सरलता, स्वास्थ्य और सौंदर्य! वाह!

रसाल : और मेरी कविता का शीर्षक 'एक घूँट'!

चँदुला : **(दाँत निकालकर)** तब तो मैं भी आप ही लोगों की सेवा कर रहा हूँ। है न? आप लोग भी मेरी सहायता कीजिये। इसीलिए मैं यहाँ...

रसाल : **(उसे रोककर)** किंतु तुमने अपनी खोपड़ी पर यह क्या भद्दापन अंकित कर लिया है?

चंदुला : **(सिर झुकाकर दिखाते हुए)** महोदय! प्रायः लोगों की खोपड़ी में ऐसा ही भद्दापन भरा रहता है। मैं तो उसे निकाल बाहर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आपको इससे सहमत होना चाहिए। यदि इस समय आप लोगों की कोई सभा, गोष्ठी या ऐसी ही कोई समिति इत्यादि हो रही हो तो गिन लीजिए, मेरे पक्ष में बहुमत होगा। होगा न?

रसाल : किंतु यह अ-सुंदर है।

चंदुला : किंतु मैं ऐसा करने के लिए बाध्य था। महोदय, और करता ही क्या?

रसाल : क्या?

चंदुला : मैंने खिड़की से एक दिन झाँककर देखा, एक गोरा-गोरा प्रभावशाली मुख, उसके साथ दो-तीन मनुष्य सीढ़ी और बड़े-बड़े कागज लिये मेरे मकान पर चढ़ाई कर रहे हैं। मैंने चिल्लाकर कहा—हॅं-हॅं-हॅं-हॅं, यह क्या?

रसाल : तब क्या हुआ?

चंदुला : उसने कहा, विज्ञापन चिपकेगा। मैंने बिगड़कर कहा—तुम उस पर लगा हुआ विज्ञापन स्वयं नहीं पढ़ रहे हो, तब तुम्हारा विज्ञापन दूसरा कौन पढ़ेगा ? वह मेरी दीवार पर लिखा हुआ विज्ञापन पढ़ने लगा—'यहाँ विज्ञापन चिपकाना मना है।' मै मुँह बिचकाकर उसकी मूर्खता पर हँसने लगा था कि उसने डाँटकर कहा—'तुम नीचे आओ।'

रसाल : और तुम नीचे उतर आये, क्यों?

चंदुला : उतरना ही पड़ा। मैं चंदुला जो था। वह मेरा सिर सहला कर बोला—'अरे तुम अपनी सब जगह बेकार रखते हो। इतनी बड़ी दीवार! उस पर विज्ञापन लगाना मना है! और इतना बढ़िया प्रमुख स्थान, जैसा किसी अच्छे पत्र में मिलना असंभव है। तुम्हारी खोपड़ी खाली! आश्चर्य! तुम अपनी मूर्खता से हानि उठा रहे हो। तुमको नहीं मालूम कि नंगी खोपड़ी पर प्रेत लोग चपत लगाते हैं।'

वनलता तो उसने भी चपत लगाया होगा?

चंदुला नहीं-नहीं, (**मुँह बनाकर**) वह बड़ा भलामानुष था। उसने कहा–'तुम लोग उपयोगिता का कुछ अर्थ नहीं जानते। मैं तुम्हें प्रतिदिन एक सोने का सिक्का दूँगा और तब मेरा विज्ञापन तुम्हारी चिकनी खोपड़ी पर खूब सजेगा। सोच लो।'

रसाल और तुम सोचने लगे?

चंदुला हां, किंतु मैंने सोचने का अवसर कहाँ पाया? ऊपर से वह बोलीं।

रसाल ऊपर से कौन?

चंदुला वही-वही, (**दाँत से जीभ दबाकर**) जिनका नाम धर्म-शास्त्र की आज्ञानुसार लिया ही नहीं जा सकता।

रसाल कौन, तुम्हारी स्त्री?

चंदुला : (**हँसकर**) जी-ई-ई, उन्होंने तीखे स्वर से कहा– 'चुप क्यों हो, कह दो कि हाँ! बड़े मूर्ख हो तुम!' मैंने देखा कि वह विज्ञापनवाला हँस रहा है। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मूर्ख तो नहीं ही बनूँगा, और चाहे कुछ भी बन जाऊँ। तुरंत कह उठा–हाँ–ना नहीं निकला, क्योंकि जिसकी कृपा से खोपड़ी चंदुली हो गई थी उसी का डर गला दबाये था।

रसाल : (**निश्वास लेकर वनलता की ओर देखता हुआ**) तब तुमने स्वीकार कर लिया?

चंदुला : हाँ, और लोगों के आनंद के लिए।

आनंद : (**आश्चर्य से**) आनंद के लिए?

चंदुला : जी, मुझे देखकर सब लोग प्रसन्न होते हैं। सब तो होते हैं, एक आप ही का मुँह बिचका देख रहा हूँ। मुझे देखकर हँसिए तो! और यह भी कह देना चाहता हूँ कि उसी विज्ञापनदाता ने यह गुरु-भार अपने ऊपर लिया है–बीमा कर लिया है–कि कोई मुझे चपत नहीं लगा सकेगा। आप लोग समझ गये? यह मेरी कथा है।

आनंद : किंतु आनंद के लिए तुमने यह सब किया! कैसे आश्चर्य की बात है? **(वनलता को देखकर)** यह सब स्वच्छंद प्रेम को सीमित करने का कुफल है, देखा न?

चंदुला : आश्चर्य क्यों होता है महोदय! मान लिया कि आपको मेरा विज्ञापन देखकर आनंद नहीं मिला, न मिले; किंतु इन्हीं पंद्रह दिनों में जब मेरी श्रीमती हार पहनकर अपने मोटे-मोटे अधरों की पगडंडी पर हँसी को धीरे-धीरे दौड़ावेंगी और मेरी चंदुली खोपड़ी पर हल्की-सी चपत लगावेंगी तब क्या मैं आँख मूँद-कर आनंद न लूँगा—आप ही कहिये? आपने ब्याह किया है तो!

आनंद : **(डाँटते हुए)** मैंने ब्याह नहीं किया है: किंतु इतना मैं कह सकता हूँ कि आनंद को इस गड़बड़-झाला में घोटना ठीक नहीं। अंतरात्मा के उस प्रसन्न-गंभीर उल्लास को इस तरह कदर्थित करना अपराध है।

चंदुला : कदापि नहीं, एक घूँट सुधारस पान करके देखिए तो, वही भीतर की सुंदर प्रेरणा आपकी आँखों में, कपोलों पर, सब जगह, चाँदनी-सी खिल जायगी। और संभवतः आप ब्याह करने के लिए...

रसाल : **(डाँटकर)** अच्छा बस, अब जाइए।

चंदुला : **(झुककर)** जाता हूँ। किंतु इस सेवक को न भूलियेगा। सुधारस भेजने के लिए शीघ्र ही पत्र लिखियेगा। मैं प्रतीक्षा करूँगा **(जाता है।)**

[कुछ लोग गंभीर होकर निश्वास लेते हैं जैसे प्राण बचा हो, और कुछ हँसने लगते है।]

रसाल : **(निश्वास लेकर)** ओह! कितना पतन है? कितना बीभत्स! कितना निर्दय! मानवता! तू कहाँ है?

आनंद : आनंद में, मेरे कवि-मित्र! यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है? डर उत्पन्न करना! विभी-षिका फैलाना! जिससे स्निग्ध गंभीर जल में, अबाधगति से तैरने-वाली मछली-सी विश्वसागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल

देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे! सबसे भयभीत, सबसे सशंक!

रसाल : अब मेरी समझ में आया।

वनलता : क्या?

रसाल : यही कि हम लोगों को शोक-संगीतों से अपना पीछा छुड़ा लेना चाहिये। आनंदातिरेक से आत्मा की साकारता ग्रहण करना ही जीवन है। उसे सफल बनाने के लिए स्वच्छंद प्रेम करना सीखना-सिखाना होगा।

वनलता : **(आश्चर्य से)** सीखना होगा और सिखाना होगा? क्या उसके लिए कोई पाठशाला खुलनी चाहिए?

आनद : नहीं; पाठशाला की कोई आवश्यकता इस शिक्षा के लिये नहीं है। हम लोग वस्तु या व्यक्ति विशेष से मोह करके और लोगों से द्वेष करना सीखते हैं न। उसे छोड़ देने ही से सब काम चल जायगा।

प्रेमलता : तो फिर हम लोग किसी प्रिय वस्तु पर अधिक आकर्षित न हों—आपका यही तात्पर्य है क्या?

[आनंद कुछ बोलने की चेष्टा करता है कि आश्रम का झाड़ू वाला और उसकी स्त्री कलह करती हुई आ जाती है। सब लोग उनकी बातें सुनने लगते हैं।]

झाड़ूवाला : **(हाथ से झाड़ू को हिलाकर)** तो तेरे लिए मैं हर दूसरे दिन उजली साड़ी कहाँ से लाऊँ? और कहाँ से उठा लाऊँ सत्ताइस रुपये का सितार **(सब लोगों की ओर देखकर)** आप लोगों ने यह अच्छा रोग फैलाया।

मंत्री : क्या है जी!

झाड़ूवाला : **(सिसकती हुई अपनी स्त्री को कुछ कहने से रोककर)** आप लोगों ने स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य का ठेका ले लिया है; परन्तु मैं कहूँगा कि इन तीनों का गला घोंटकर आप लोगों ने इन्हें बंदी बनाकर सड़ा डाला है, सड़ा; इन्हीं आश्रम की दीवारों के भीतर! उनकी अंत्येष्टि कब होगी?

रसाल : तुम क्या बक रहे हो?

झाड़ूवाला : हाँ, बक रहा हूँ! यह बकने का रोग उसी दिन से लगा जिस दिन मैंने अपनी स्त्री से इन विष भरी बातों को सुना! और सुना अरुणाचल-आश्रम नाम के स्वास्थ्य-निवास का यश। स्वास्थ्य, सरलता और सौंदर्य के त्रिदोष ने मुझे भी पागल बना दिया। विधाता ने मेरे जीवन को नये चक्कर में जुतने का संकेत किया। मैंने सोचा कि चलो इसी आश्रम में मैं झाड़ू लगाकर महीने में पंद्रह रुपये ले लूँगा और श्रीमतीजी सरलता का पाठ पढ़ेंगी। किंतु यहाँ तो....

झाड़ू वाले की स्त्री : कठोर अपमान! भयंकर आक्रमण! स्त्री होने के कारण मैं कितना सहती रहूँ। सत्ताइस रुपये के सितार के लिए कहना विष हो गया। विष! **(कान छूती है)** कानों के लिए फूल नहीं– **(हाथों को दिखाकर)** इनके लिए सोने की चूड़ियाँ नहीं माँगती, केवल संगीत सीखने के लिए एक सितार माँगने पर इतनी विडंबना–**(रोने लगती है।)**

सब लोग : **(झाड़ू वाले से सक्रोध)** यह तुम्हारा घोर अत्याचार है। तुम श्रीमती से क्षमा माँगो। समझे?

झाड़ूवाला : **(जैसे डरा हुआ)** समझ गया। **(अपनी स्त्री से)** श्रीमतीजी, मैं तुमसे क्षमा माँगता हूँ। और कृपाकर अपने लिए, तुम इन लोगों से सितार के मूल्य की भीख माँगो। देखूँ तो ये लोग भी कुछ...

रसाल : **(डाँटकर)** तुम अपना कर्त्तव्य नहीं समझते और इतना उत्पात मचा रहे हो।

झाड़ूवाला : जी, मेरा कर्त्तव्य तो इस समय यहाँ झाड़ू लगाने का है। किंतु आप लोग यहाँ व्याख्यान झाड़ रहे हैं। फिर भला मैं क्या करूँ? अच्छा तो अब आप लोग यहाँ से पधारिये, मैं... **(झाड़ू देने लगता है। सब रूमाल नाक से लगाते हुए एक स्वर से 'हैं-हैं-हैं' करने लगते हैं।)**

आनंद : चलिये यहाँ से!

झाड़ूवाला : वायुसेवन का समय है। खुली सड़क पर, नदी के तट, पहाड़ी के नीचे या मैदानों में निकल जाइये। किंतु–नहीं-नहीं, मैं सदा भूल करता आया

हूँ। मुझे तो ऐसी जगहों में रोगी ही मिले हैं जिन्हें वैद्य ने बता दिया हो–मकरध्वज के साथ एक घंटा वायुसेवन। अच्छा, आप लोग व्याख्यान दीजिये। मैं चलता हूँ: चलिये श्रीमतीजी। उँहूँ आप तो सुनेंगी न! आप ठहरिये। (झाड़ू देना बंद कर देना है।)

आनंद मुझे भी आज आश्रम से विदा होना है। आप लोग आज्ञा दीजिए। किंतु... नहीं, अब मैं उस विषय पर अधिक कुछ न कहकर केवल इतना ही कह देना चाहता हूँ कि इस परिणाम से–स्वच्छंद प्रेम को बंधन में डालने के कुफल–आप लोग परिचित तो हैं, पर उसे टालते रहने का अब समय नहीं है।

[वनलता, झाड़ूवाला और उसकी स्त्री को छोड़कर सबका प्रस्थान]

वनलता : (झाड़ू वाले से) क्यों जी तुम तो पढ़े-लिखे मनुष्य हो, समझदार हो?

झाड़ूवाला : हाँ, देवि, किंतु समझदारी में एक दुर्गुण है। उस पर चाहे अन्य लोग कितने ही अत्याचार कर लें; परन्तु वह नहीं कर सकता -ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देने पाता। (झाड़ू फटकार कर एक वृक्ष से टिका देता है।)

वनलता : प्लेटो-अफलातून ने कहा है कि मनुष्य-जीवन के लिए संगीत और व्यायाम दोनों ही आवश्यक हैं। हृदय में संगीत और शरीर में व्यायाम नवजीवन की धारा बहाता रहता है। मनुष्य....

झाड़ूवाला : और पंतजलि ने कहा है कि जो मनुष्य क्लेश, कर्म और विपाक इत्यादि से अर्थात् रहित-तात्पर्य, वही-वही कुछ-कुछ सूना-सूना जो पुरुष मनुष्य हो, वही ईश्वर है।

वनलता : इससे क्या?

झाड़ूवाला : आपने प्लेटो को पुकारा, मैंने पतंजलि को बुलाया। आपने एक प्रमाण कहकर अपनी बातों का समर्थन किया और मैंने भी एक बड़े आदमी का नाम ले लिया। उन्होंने इन बातों को जिस रूप में समझा था वैसी मेरी और आपकी परिस्थिति नहीं–समय नहीं, हृदय नहीं। फिर मुझे तो

अपनी स्त्री को समझाना है, और आपको अपने पति का हृदय समझना है।

वनलता : **(चौंककर)** मुझे समझना है और तुमको समझाना है! कहते क्या हो?

झाड़ूवाला : **(अपनी स्त्री से)** कहो, अब भी तुम समझ सकी हो या नहीं!

झाड़ूवाले की स्त्री : मैंने समझ लिया है कि मुझे सितार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि–

झाड़ूवाला : क्योंकि हम लोग दीवार से घिरे हुए एक बड़े भारी कुंजवन में सुखी और संतुष्ट रहना सीखने के लिए बंदी बने हैं। जब जगत से, आकाक्षा और अभाव के संसार से, कामना और प्राप्ति के उपायों की क्रीड़ा से विरत होकर एक सुंदर जीवन, बिता देने के लोभ से मैंने झाड़ू लगाना स्वीकार किया है; विद्यालय की परीक्षा और उपाधि को भुला दिया है तब तुम मेरी स्त्री होकर...

झाड़ूवाले की स्त्री : बस-बस, मैं अब तुमसे कुछ न कहूँगी; मेरी भूल थी। अच्छा तो मैं जाती हूँ।

झाड़ूवाला : मैं भी चलता हूँ–**(दोनों का प्रस्थान)**

वनलता : यही तो, इसे कहते हैं झगड़ा, और यह कितना सुखद है, एक-दूसरे को समझकर जब समझौता करने के लिए, मनाने के लिए, उत्सुक होते हैं तब जैसे स्वर्ग हँसने लगता है–हा, इस भीषण संसार में। मैं पागल हूँ! **(सोचती हुई करुण मुखमुद्रा बनाती है, फिर धीरे-धीरे सिसकने लगती है)** वेदना होती है। व्यथा कसकती है। प्यार के लिये। प्यार करने के लिये नहीं, प्रेम पाने के लिये। विश्व की इस अमूल्य संपत्ति में क्या मेरा अंश नहीं। इन असफलताओं के संकलन में मन को बहलाने के लिए, जीवन-यात्रा में थके हृदय के संतोष के लिए कोई अवलंब नहीं। मैं प्यार करती हूँ और प्यार करती रहूँ; किंतु मुझे मानवता के नाते...इसे सहने के लिए मैं कदापि प्रस्तुत नहीं। आह! कितना तिरस्कार है। **(वनलता सिर झुकाकर सिसकने लगती है। आनंद का प्रवेश)।**

आनंद : आप कुछ दुखी हो रही हैं–क्यों?

वनलता : मान लीजिये कि हाँ मैं दुखी हूँ।

आनंद : और वह दुःख ऐसा है कि आप रो रही हैं।

वनलता : **(तीखेपन से)** मुझे यह नहीं मालूम कि कितना दुःख हो तब रोना चाहिए और कैसे दुःख में न रोना चाहिए, आपने इसका श्रेणी-विभाग किया होगा। मुझे तो यही दिखलाई देता है कि सब दुखी हैं, सब विकल हैं, सबको एक-एक घूँट की प्यास बनी है।

आनंद : किंतु मैं दुख का अस्तित्व ही नहीं मानता। मेरे पास तो प्रेम रूपी अमूल्य चिंतामणि है।

वनलता : और मैं उसी के अभाव से दुखी हूँ।

आनंद : आश्चर्य। आपको प्रेम नहीं मिला। कल्याणी! प्रेम तो...

वनलता : हाँ, आश्चर्य क्यों होता है आपको। संसार में लेना तो सब चाहते हैं, कुछ देना ही तो कठिन काम है। गाली, देने की वस्तुओं में सुलभ है; किंतु सबको वह भी देना नहीं आता। मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझे किसी ने अपना निश्छल प्रेम नहीं दिया; और बड़े दुःख के साथ इसे न देने का, संसार का, उपकार मानती हूँ। **(आँखों में जल भर लेती फिर जैसे अपने को सम्हालती हुई)** क्षमा कीजिए, मेरी यह दुर्बलता थी।

आनंद : नहीं श्रीमती! यही तो जीवन की परम आवश्यकता है। आह! कितने दुःख की बात है कि आपको...

वनलता : तो आप दुःख का अस्तित्व मानने लगे!

आनंद : **(विनम्रता से)** अब मैं इस विवाद को न बढ़ाकर इतना मान लेता हूँ कि आपको प्रेम की आवश्यकता है। और दुखी हैं। क्या आप मुझे प्यार करने की आज्ञा देंगी? क्योंकि....

वनलता : 'क्योंकि' न लगाइये; फिर प्यार करने में असुविधा होगी। 'क्योंकि' में एक कड़वी दुर्गंध है।

[रसाल चुपचाप आकर दोनों की बातें सुनता है और समय-समय पर उसकी मुख -मुद्रा में आश्चर्य, क्रोध, और विरक्ति के चिह्न झलकते हैं।]

आनंद : क्योंकि मैं किसी को प्यार नहीं करता, इसलिए आपसे प्रेम करता हूँ।

वनलता : (**सक्रोध**) वाग्जाल से क्या तात्पर्य?

आनंद : मैं–मैं।

वनलता : हाँ, आप ही का, क्या तात्पर्य है?

आनंद : मेरा किसी से द्वेष नहीं, इसलिए मैं सबको प्यार कर सकता हूँ। प्रेम करने का अधिकारी हूँ।

वनलता : कदापि नहीं, इसलिये कि मैं आपको प्यार नहीं करती। फिर आपके प्रेम का मेरे लिये क्या मूल्य है?

आनंद : तब! (**ओठ चाटने लगता है**)

वनलता : तब यही कि (**कुछ सोचती हुई**) मैं जिसे प्यार करती हूँ वही–केवल वही व्यक्ति–मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को–जो मेरे सुंदर हृदय का आवरण है–सतृष्ण देखे। उस प्यास में तृप्ति न हो, एक-एक घूँट वह पीता चले, मैं भी पिया करूँ। समझे? इसमें आपकी पोली दार्शनिकता या व्यर्थ के वाक्यों को स्थान नहीं।

आनंद : (**जैसे झेंप मिटाता हुआ**) मैं तो पथिक हूँ और संसार ही पथ है। सब अपने-अपने पथ पर घसीटे जा रहे हैं, मैं अपने को ही क्यों कहूँ। एक क्षण, एक युग कहिये या एक जीवन कहिये; है वह एक क्षण, कहीं विश्राम किया और फिर चले। वैसा ही निर्मोह प्रेम संभव है। सबसे एक-एक घूँट पीते-पिलाते नूतन जीवन का संचार करते चल देना। यही तो मेरा संदेश है।

वनलता : शब्दावली की मधुर-प्रवंचना से आप छले जा रहे हैं।

आनंद : क्या मैं भ्रांत हूँ?

वनलता : अवश्य! असंख्य जीवनों की भूल-भूलैया में अपने चिरपरिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर एक घूँट पीना और

पिलाना–क्या समझे! प्रेम का एक घूँट। बस इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आनंद : **(हताश होकर अंतिम आक्रमण करता हुआ)** तो क्या आपने खोज लिया है–पहचान लिया है?

वनलता : मैंने तो पहचान लिया है। किंतु वही, मेरे जीवन-धन अभी नहीं पहचान सके। इसी का मुझे...

[रसाल आकर प्यार से वनलता का हाथ पकड़ता है और आनंद को गूढ़ दृष्टि से देखता है ।]

आनंद : अरे आप यहीं–

रसाल : जी..**(वनलता से)** प्रिये! आज तक मैं भ्रांत था। मैंने आज पहचान लिया। यह कैसी भूल-भुलैया थी।

आनंद : तो मैं चलूँ.... **(सिर खुजलाने लगता है)**

वनलता : यही तो मेरे प्रियतम!

आनंद : **(अलग खड़ा होकर)** यह क्या! यही क्या मेरे संदेश का मेरी आकांक्षा का, व्यक्ति रूप है! **(वनलता और रसाल परस्पर स्निग्ध दृष्टि से देख रहे हैं। आनंद उस सुंदरता को देखकर धीरे-धीरे मन में सोचता-सा)** असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चि...र....प...रि....चि....त...

[रसाल और वनलता दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े आनंद की ओर देखकर हँसते हुए, चले जाते हैं; आनंद उसी तरह चिंता में निमग्न अपने-आप कहने लगता है :–]

चिरपरिचित को खोज निकालना! कितनी असंभव बात! किंतु......परन्तु....बिल्कुल ठीक.....मिलते हैं–हाँ मिल ही जाते हैं, खोजने वाला चाहिए।

प्रेमलता : **(सहसा हाथ में शर्बत लिये प्रवेश करके)** खोजते-खोजते मैं तो थक गयी। और शर्बत छलकते-छलकते कितना बचा, इसे आप ही देखिए। आप यहीं बैठे हैं और मैं कहाँ-कहाँ खोज आई।

आनंद : मुझे आप खोज रही थीं?

प्रेमलता : हाँ-हाँ, आप ही को **(हँसती है)**

आनंद : **(रसाल और वनलता की बात मन-ही-मन-स्मरण करता हुआ)** सचमुच! बड़ा आश्चर्य है! **(फिर कुछ सोचकर)** अच्छा, क्यों?

(प्रेमलता को गहरी दृष्टि से देखने लगता है।)

प्रेमलता : **(जैसे खीझकर)** आप ही ने कहा था न! कि मैं जा रहा हूँ। भोजन तो न करूँगा। हाँ, शर्बत या ठंडाई एक घूँट पी लूँगा। कहा था न? मीठी नारंगी का शर्बत ले आयी हूँ। पी लीजिए एक घूँट!

आनंद : एक घूँट! मुझे पिलाने के लिये खोजने का आपने कष्ट उठाया है! **(विमूढ़-सा सोचने लगता है और शर्बत लिये प्रेमलता जैसे कुछ लज्जा का अनुभव करती है।)**

प्रेमलता : आप मुझे लज्जित क्यों करते हैं?

आनंद : **(चौंककर)** ऐं! आपको मैं लज्जित कर रहा हूँ! क्षमा कीजिये। मैं कुछ सोच रहा था।

प्रेमलता : यही आज न जाने की बात! वाह, तब तो अच्छा होगा। ठहरिये—दो-एक दिन!

आनंद : नहीं प्रेमलता। आह! क्षमा कीजिये। मुझसे भूल हुई। मुझे इस तरह आपका नाम...

[हँसती हुई वनलता का प्रवेश]

वनलता : कान पकड़िये, बड़ी भूल हुई। क्यों आनंदजी, यह कौन है आप? बिना समझे-बूझे नाम जपने लगे।

[प्रेमलता लज्जित-सी सिर झुका लेती है। वनलता फिर अदृश्य हो जाती है। आनंद प्रेमलता के मधुर मुख पर अनुराग की लाली को सतृष्ण देखने लगता है। और प्रेमलता कभी आनंद को देखती है, कभी आँखें नीची कर लेती है।]

आनंद : प्रेमलता! प्रेमलता। तुम्हारी स्वच्छ आँखों में तो पहले इसका संकेत भी न था। यह कितना मादक है।

प्रेमलता : क्या! मैंने किया क्या?

आनंद : मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।

वनलता : **(फिर हँसती हुई प्रवेश करके)** मैं कहती थी न। खोजते-खोजते चिरपरिचित को पाकर एक घूँट पीना और पिलाना। कैसे पते की कही थी? हमारे आश्रम की एकमात्र सरला कुमारी प्रेमलता आपसे एक घूँट पीने का अनुरोध कर रही है तब भी...

आनंद : क्षमा कीजिए श्रीमती! मैं अपनी मूर्खता पर विचार कर रहा हूँ। इतनी ममता कहाँ छिपी थी प्रेमलता? लाओ एक घूँट पी लूँ।

वनलता : **(प्रेमलता के साथ)** महाशय! आज से यही इस अरुणाचल-आश्रम का नियम होगा उच्छृङ्खल प्रेम को बाँधने का। चलो प्रेमलता।

[वनलता के संकेत करने पर प्रेमलता सलज्ज अपने हाथों से आनंद को पिलाती है —आश्रम की अन्य स्त्रियाँ पहुँचकर गाने लगती हैं, रसाल, मुकुल और कुंज भी आकर फूल बरसाते हैं।]

मधुर मिलन कुंज में–

जहाँ खो गया जगत का, सारा श्रम-संताप।
सुमन खिल रहे हों जहाँ, सुखद सरल निष्पाप।।

उसी मिलन कुंज में–

तरु लतिका मिलने गले, सकते कभी न छूट।
उसी स्निग्ध छाया तले पी...लो...न.....एक घूँट।

स्कन्दगुप्त

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

स्कन्दगुप्त- युवराज (विक्रमादित्य)
कुमारगुप्त- मगध का सम्राट्
गोविन्दगुप्त- कुमारगुप्त का भाई
पर्णदत्त- मगध का महानायक
चक्रपालित- पर्णदत्त का पुत्र
बन्धुवर्मा- मालव का राजा
भीमवर्मा- बन्धुवर्मा का भाई
मातृगुप्त- काव्यकर्त्ता कालिदास
प्रपंचबुद्धि- बौद्ध कापालिक
सर्वनाग- अन्तर्वेद का विषयपति
कुमारदास (धातुसेन)-सिंहल का राजकुमार
पुरगुप्त- कुमारगुप्त का छोटा पुत्र
भटार्क- नवीन महाबलाधिकृत
पृथ्वीसेन- मंत्री कुमारामात्य
खिंगिल- हूण आक्रमणकारी
मुद्गल- विदूषक
प्रख्यातकीर्ति-
लंकाराज-कुल का श्रमण महाबोध-विहार-स्थविर
महाप्रतिहार, महादंडनायक, नन्दी ग्राम का दंडनायक, प्रहरी, सैनिक इत्यादि

स्त्री-पात्र

देवकी- कुमारगुप्त की बड़ी रानी-स्कन्द की माता
अनन्तदेवी- कुमारगुप्त की छोटी रानी-पुरगुप्त की माता
जयमाला- बन्धुवर्मा की स्त्री-मालव की रानी
देवसेना- बन्धुवर्मा की बहिन
विजया- मालव के धनकुबेर की कन्या
कमला- भटार्क की जननी
रामा- शर्वनाग की स्त्री
मालिनी- मातृगुप्त की प्रणयिनी
सखी, दासी, इत्यादि

प्रथम अंक

१

[उज्जयिनी में गुप्त-साम्राज्य का 'स्कंधावार']

स्कन्दगुप्त — **(टहलते हुए)** अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है! उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? **(ठहरकर)** उँह! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।

पर्णदत्त — **(प्रवेश करके)** युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त — आर्य पर्णदत्त को अभिवादन करता हूँ। सेनापति की क्या आज्ञा है?

पर्णदत्त — मेरी आज्ञा। युवराज! आप सम्राट् के प्रतिनिधि हैं; मैं तो आज्ञाकारी सेवक हूँ। इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ, यही कामना है। गुप्तकुल-भूषण! आशीर्वाद दीजिए, वृद्ध पर्णदत्त की माता की स्तन्य लज्जित न हो।

स्कन्दगुप्त — आर्य! आपकी वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों में लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं। तब भी सन्देह!

पर्णदत्त — सन्देह दो बातों से है युवराज!

स्कन्दगुप्त — वे कौन-सी हैं?

पर्णदत्त — अपने अधिकारों के प्रति आपकी उदासीनता और अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन।

स्कन्दगुप्त क्या अयोध्या का कोई नया समाचार है?

पर्णदत्त : सम्भवतः सम्राट् तो कुसुमपुर चले गये हैं, और कुमारामात्य महाबलाधिकृत वीरसेन ने स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया।

स्कन्दगुप्त : क्या! महाबलाधिकृत अब नहीं हैं? शोक!

पर्णदत्त : अनेक समरों के विजेता, महामानी, गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत अब इस लोक में नहीं हैं! प्रौढ़ सम्राट् के विलास की मात्रा बढ़ गई है।

स्कन्दगुप्त : चिन्ता क्या! आर्य! अभी तो आप हैं, तब भी मैं ही सब विचारों का भार वहन करूँ, अधिकार का उपयोग करूँ। वह भी किसलिए?

पर्णदत्त : किसलिए? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में विश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए आपको अपने अधिकारों का उपयोग करना होगा। युवराज! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं!

स्कन्दगुप्त : सेनापते! प्रकृतिस्थ होइए? परम भट्टारक महाराजधिराज अश्वमेध पराक्रम श्रीकुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं है। गुप्त-सेना की मर्यादा की रक्षा के लिए पर्णदत्त सदृश महाबीर अभी प्रस्तुत हैं।

पर्णदत्त : राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है। गुप्त-साम्राज्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ उसका दायित्व भी बढ़ गया है; पर उस बोझ को उठाने के लिए गुप्तकुल के शासक प्रस्तुत नहीं, क्योंकि साम्राज्य-लक्ष्मी को वे अब अनायास और अवश्य अपनी शरण आनेवाली वस्तु समझने लगे हैं।

स्कन्दगुप्त : आर्य! इतना व्यंग्य न कीजिए, इसके कुछ प्रमाण भी हैं?

पर्णदत्त : प्रमाण! प्रमाण अभी खोजना है? आँधी आने के पहले आकाश जिस तरह स्तम्भित ही रहता है, बिजली गिरने से पूर्व जिस प्रकार नील कादम्बिनी का मनोहर आवरण महाशून्य पर चढ़ जाता है, क्या वैसी ही दशा गुप्त-साम्राज्य की नहीं है?

स्कन्दगुप्त : क्या पुष्यमित्रों के युद्ध को देखकर वृद्ध सेनापति चकित हो रहे हैं? (हँसता है)

पर्णदत्त : युवराज! व्यंग्य न कीजिए। केवल पुष्य मित्रों के युद्ध से ही इतिश्री न समझिए, म्लेच्छों के भयानक आक्रमण के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए। चरों ने आज ही कहा है कि कपिशा को श्वेत हूणों ने पदाक्रान्त कर लिया! तिस पर भी युवराज पूछते है कि 'अधिकारों का उपयोग किसलिए!' यही 'किसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले-पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।

[चक्रपालित का प्रवेश]

चक्रपालित : (देखकर) अरे युवराज भी यहीं हैं! युवराज की जय हो।

स्कन्दगुप्त : आओ चक्र! आर्य पर्णदत्त ने मुझे घबरा दिया है।

चक्रपालित : पिताजी! प्रणाम। कैसी बात है?

पर्णदत्त : कल्याण हो, आयुष्मन्! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किसलिए?'

चक्रपालित : तात! इस 'किसलिए' का अर्थ मैं समझता हूँ।

पर्णदत्त : क्या?

चक्रपालित : गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम!

स्कन्दगुप्त : चक्र, सावधान! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है?

चक्रपालित : युवराज! यह अनुमान नहीं है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

पर्णदत्त : (गम्भीरता से) चक्र! यदि यह बात हो भी तब भी [तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक हैं। असावधान बालक! अपनी चंचलता को विपवृक्ष का बीज न बना देना।

स्कन्दगुप्त : आर्य पर्णदत्त, क्षमा कीजिए। हृदय की बातों को राजनीतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।

पर्णदत्त : ठीक है, किन्तु उसे इतनी शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। (देखकर) चर आ रहा है, कोई युद्ध का नया समाचार है क्या?

[चर का प्रवेश]

चर : युवराज की जय हो!

पर्णदत्त : क्या समाचार है?

चर : अबकी बार पुष्यमित्रों का अन्तिम प्रयत्न है। वे अपनी समस्त शक्ति संकलित करके बढ़ रहे हैं! नासीर-सेना के नायक ने सहायता माँगी है। दशपुर से भी दूत आया है।

स्कन्दगुप्त : अच्छा, जाओ, उसे भेज दो।

[चर जाता है, दशपुर के दूत का प्रवेश]

दूत : युवराज भट्टारक की जय हो!

स्कन्दगुप्त : मालवपति सकुशल हैं?

दूत : कुशल आपके हाथ है। महाराज विश्ववर्मा का शरीरान्त हो गया है! नवीन नरेश महाराज बन्धुवर्मा ने साभिवादन श्रीचरणों में सन्देश भेजा है।

स्कन्दगुप्त : खेद! ऐसे समय में, जब कि हम लोगों को मालवपति से सहायता की आशा थी, वह स्वयं कौटुम्बिक आपत्तियों में फँस गये हैं!

दूत : इतना ही नहीं, शक-राष्ट्रमण्डल चंचल हो रहा है, नवागत म्लेच्छवाहिनी से सौराष्ट्र भी पदाक्रान्त हो चला है, इसी कारण पश्चिमी मालव भी अब सुरक्षित न रहा।

[स्कन्दगुप्त पर्णदत्त की ओर देखते हैं]

पर्णदत्त : वलभी का क्या समाचार है?

दूत : वलभी का पतन अभी रुका है। किन्तु बर्बर हूणों से उसका बचना कठिन है। मालव की रक्षा के लिए महाराज बन्धुवर्म ने सहायता माँगी है। दशपुर की समस्त सेना सीमा पर जा चुकी है।

स्कन्दगुप्त : मालव और शक-युद्ध में जो सन्धि गुप्त-साम्राज्य और मालवराष्ट्र में हुई है, उसके अनुसार मालव की रक्षा गुप्त-सेना का कर्त्तव्य है। महाराज विश्ववर्मा के समय से ही सम्राट् कुमारगुप्त उनके संरक्षक हैं। परन्तु दूत! बड़ी कठिन समस्या है।

दूत : विषम व्यवस्था होने पर भी युवराज! साम्राज्य ने संरक्षकता का भार लिया है।

पर्णदत्त : दूत!क्या तुम्हें विदित नहीं है कि पुष्यमित्रों से हमारा युद्ध चलरहा है!

दूत : तब भी मालव ने कुछ समझकर किसी आशा पर ही, अपनी स्वतंत्रता को सीमित कर लिया था।

स्कन्दगुप्त : दूत! केवल सन्धि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं है, किन्तु शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्राम करो। सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्द-गुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते-जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।

दूत : धन्य युवराज! आर्य-साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है! **(प्रणाम करके जाता है)**

पर्णदत्त : युवराज! आज यह वृद्ध, हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होंगी।

चक्रपालित : तात! पुष्यमित्र-युद्ध का अन्त तो समीप है।विजय निश्चित है। किसी दूसरे सैनिक को भेजिए। मुझे युवराज के साथ जाने की अनुमति हो।

स्कन्दगुप्त : नहीं चक्र, तुम विजयी होकर मुझसे मालव में मिलो। ध्यान रखना होगा कि राजधानी में अभी कोई सहायता नहीं मिलती। लोगों को इस आसन्न विपद में अपना ही भरोसा है।

पर्णदत्त : कुछ चिन्ता नहीं युवराज! भगवान् सब मंगल करेंगे। चलिए विश्राम करें।

[पट-परिवर्तन]

२

[कुसुमपुर के राज-मंदिर में सम्राट् कुमारगुप्त और उनके पारिषद्]

धातुसेन : परम भट्टारक! आपने भी स्वयं इतने विकट युद्ध किये हैं। मैं तो समझा था, राजसिंहासन पर बैठे-बैठे राजदंड हिला देने से ही इतना बड़ा गुप्त-साम्राज्य स्थापित हो गया था, परन्तु–

कुमारगुप्त : (हँसते हुए) तुम्हारी लंका में अब राक्षस नहीं रहते? क्यों धातुसेन?

धातुसेन : राक्षस यदि कोई था तो विभीषण, और बंदरों में भी एक सुग्रीव हो गया था। दक्षिणापथ आज भी उनकी करनी का फल भोग रहा है। परन्तु हाँ, एक आश्चर्य की बात है कि महामान्य परमेश्वर परम भट्टारक को भी युद्ध करना पड़ा। रामचन्द्र ने तो, सुना था, जब वे युवराज भी न थे तभी युद्ध किया था। सम्राट् होने पर भी युद्ध!

कुमारगुप्त : युद्ध करना ही पड़ता है। अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है।

धातुसेन अच्छा, तो स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त ने देवपुत्रों तक का राज्य-विजय किया था, सो उनके लिए परम आवश्यक था? क्या पाटलिपुत्र के समीप ही वह राष्ट्र था?

कुमारगुप्त तुम भी बालि की सेना में से कोई बचे हुए हो!

धातुसेन परम भट्टारक की जय हो! बालि की सेना न थी, और वह युद्ध न था। जब उसमें लड्डू खानेवाले सुग्रीव निकल पड़े, तब फिर–

कुमारगुप्त क्यों?

धातुसेन उनकी बड़ी सुन्दर ग्रीवा में लड्डू अत्यन्त सुशोभित होता था, और सबसे बड़ी बात तो थी बालि के लिए–उनकी तारा का मंत्रित्व। सुना है सम्राट्! स्त्री की मंत्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है, इसीलिए उन्हें राज्य की झंझटों से शीघ्र छुट्टी मिल गई। परम भट्टारक की दुहाई! एक स्त्री को मंत्री आप भी बना लें, बड़े-बड़े दाढ़ी-मूँछवाले मंत्रियों के बदले उसकी एकांत मंत्रणा कल्याणकारिणी होगी।

कुमारगुप्त : (हँसते हुए) लेकिन पृथ्वीसेन तो मानते ही नहीं।

धातुसेन : तब मेरी सम्मति से वे ही कुछ दिनों के लिए स्त्री हो जायें, क्यों कुमारामात्य जी?

पृथ्वीसेन : पर तुम तो स्त्री नहीं हो जो मैं तुम्हारी सम्मति मान लूँ?

कुमारगुप्त : **(हँसता हुआ)** हाँ, तो आर्य समुद्रगुप्त को विवश होकर उन विद्रोही विदेशियों का दमन करना पड़ा; क्योंकि मौर्य-साम्राज्य के समय से ही सिन्धु के उस पार का देश भी भारत-साम्राज्य के अन्तर्गत था। जगद्विजेता सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस से उस प्रान्त को मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने लिया था।

धातुसेन : फिर तो लड़कर ले लेने की एक परम्परा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे ऐसे ही लेते चले आये हैं। उसी प्रकार आर्य !...

कुमारगुप्त : उँह! तुम समझते नहीं। मनु ने इसकी व्यवस्था दी है।

धातुसेन : नहीं धर्मावतार! समझ में तो इतनी बात आ गई कि लड़कर ले लेना ही एक प्रधान स्वत्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भटार्क : नहीं तो क्या रोने से, भीख माँगने के कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

मुद्गल : **(प्रवेश करके)** रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर, अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता! इसके भीतर कुछ रखकर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ!

(पद्मासन से बैठ जाता है।)

पृथ्वीसेन : परम भट्टारक की जय हो! मुझे कुछ निवेदन करना है—यदि आज्ञा हो तो।

कुमारगुप्त : हाँ, हाँ कहिए।

पृथ्वीसेन : शिप्रा के इस पार साम्राज्य का स्कन्धावार स्थापित है। मालवेश का दूत भी आ गया है कि 'हम ससैन्य युवराज के सहायतार्थ प्रस्तुत है।' महानायक पर्णदत्त ने भी अनुकूल समाचार भेजा है।

कुमारगुप्त : मालव का इस अभियान से कैसा भाव है, कुछ पता चला? क्योंकि यह युद्ध तो जान-बूझकर छेड़ा गया है।

पृथ्वीसेन : अपने मुख से मालवेश ने दूत से यहाँ तक कहा था कि युवराज को कष्ट देने की क्या आवश्यकता थी, आज्ञा पाने ही से मैं स्वयं इसे ठीक कर लेता।

कुमारगुप्त : महासन्धि-विग्रहिक! साधु! यह वंश-परंपरागत तुम्हारी ही विद्या है।

पृथ्वीसेन : सम्राट् के श्रीचरणों का प्रताप है। सौराष्ट्र से भी नवीन समाचार मिलने-वाला है। इसीलिए युवराज को वहाँ भेजने का मेरा अनुरोध था।

भटार्क : सौराष्ट्र की गति-विधि देखने के लिए एक रणदक्ष सेनापति की आवश्यकता है। वहाँ शक राष्ट्र बड़ा चञ्चल अथच भयानक है।

पृथ्वीसेन : **(गूढ़ दृष्टि से देखते हुए)** महाबलाधिकृत! आवश्यकता होने पर आपको वहाँ जाना ही होगा, उत्कण्ठा की आवश्यकता नहीं।

भटार्क : नहीं, मैं तो...

कुमारगुप्त : महाबलाधिकृत! तुम्हारी स्मरणीय सेवा स्वीकृत होगी। अभी आवश्य-कता नहीं।

धातुसेन : **(हाथ जोड़कर)** यदि दक्षिणापथ पर आक्रमण का आयोजन हो तो मुझे आज्ञा मिले। मेरा घर पास है, मैं जाकर स्वच्छन्दतापूर्वक लेट रहूँगा, सेना को भी कष्ट न होने पावेगा।

(सब हँसते हैं।)

मुद्गल : जय हो देव! पाकशाला पर चढ़ाई करनी हो तो मुझे आज्ञा मिले। मैं अभी उसका सर्वस्वान्त कर डालूँ।

[फिर सब हँसते हैं। गम्भीर भाव से अभिवादन करते हुए–एक ओर पृथ्वीसेन और दूसरी ओर भटार्क का प्रस्थान।]

कुमारगुप्त : मुद्गल! तुम्हारा कुछ...

मुद्‌गल : महादेवी ने प्रार्थना की है कि युवक भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए चक्रपाणि भगवान् की पूजा की सब सामग्री प्रस्तुत है। आर्यपुत्र कब चलेंगे?

कुमारगुप्त : **(मुँह बनाकर)** आज तो कुछ पारसीक नर्तकियाँ आनेवाली हैं, आपानक भी ! महादेवी से कह देना असन्तुष्ट न हों, कल चलूँगा। समझा न मुद्‌गल?

मुद्‌गल : **(खड़ा होकर)** परमेश्वर परम भट्टारक की जय हो!

(जाता है।)

धातुसेन : वह चाणक्य कुछ भाँग पीता था। उसने लिखा है कि राजपुत्र भेड़िये हैं, इनसे पिता को सदैव सावधान रहना चाहिए।

कुमारगुप्त : यह राष्ट्रनीति है।

(अनन्त देवी का चुपचाप प्रवेश।)

धातुसेन : भूल गया। उसके बदले उस ब्राह्मण को लिखना था कि राजा लोग ब्याह ही न करें, क्यों भेड़ियों-सी सन्तान उत्पन्न हों?

अनन्तदेवी : **(सामनेआकर)** आर्यपुत्र की जय हो!

(धातुसेन भयभीत होने का-सा मुँह बनाकर चुप हो जाता है)

कुमारगुप्त : आओ प्रिये! तुम्हें खोज ही रहा था।

अनन्तदेवी : नर्तकियों को बुलवाती आ रही हूँ। कुमारामात्य आदि थे, मंत्रणा में बाधा समझकर, जान-बूझकर देर लगाई। आपको तो देखती हूँ कि अवकाश ही नहीं।

(धातुसेन की ओर क्रुद्ध होकर देखती है।)

कुमारगुप्त : वह अबोध विदेशी हँसोड़ है।

अनन्तदेवी : तब भी सीमा होनी चाहिए।

धातुसेन : चाणक्य का नाम ही कौटिल्य है। उनके सूत्रों की व्याख्या करने जाकर ही यह फल मिला। क्षमा मिले तो एक बात और पूछ लूँ क्योंकि फिर इस विषय का प्रश्न न करूँगा।

अनन्तदेवी : पूछ लो।

धातुसेन : उसके अनर्थशास्त्र में विषकन्या का...

कुमारगुप्त : (डाँटकर) चुप रहो।

(नर्तकियों का गाते हुए प्रवेश)

न छोड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए बीन-तार कोकिल
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।

हृदय धूल में मिला दिया है
उसे चरण-चिह्न-सा किया है
खिले फूल सब गिरा दिया है
न अब बसन्ती बहार कोकिल।

सुनी बहुत आनन्द-भैरवी
विगत हो चुकी निशा-माधवी
रही न अब शारदी कैरवी
न तो मघा की फुहार कोकिल।

न खोज पागल मधुर प्रेम को
न तोड़ना और के नेम को
बचा विरह मौन के क्षेम को
कुचाल अपनी सुधार कोकिल।

[पट-परिवर्तन]

३

(पथ में मातृगुप्त)

मातृगुप्त कविता करना अनन्त पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनन्त उत्कण्ठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसारक समस्त अभावों को असन्तोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परन्तु कैसी विडम्बना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या! –एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय-कोश के अमूल्य रत्नों की उदारता, और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को–भारत के प्रकाण्ड और बौद्ध पण्डित को–परास्त करने में मैं भी सबकी प्रशंसा का भाजन बना। परन्तु हुआ क्या?

(मुद्गल का प्रवेश)

मुद्गल : कहिए कविजी। आप तो बहुत दिनों पर दिखाई पड़े! कुलपति की कृपा से कहीं अध्यापन-कार्य मिल गया क्या?

मातृगुप्त : मैं तो अभी यों ही बैठा हूँ।

मुद्गल : क्या बैठे-बैठे काम चल जाता है? तब तो भाई, तुम बड़े भाग्यवान हो। कविता करते हो न? भाई! उसे छोड़ दो।

मातृगुप्त : क्यों? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है! कवित्व–वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से, और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!

मुद्गल : परन्तु हाथ का मुख से, पेट का अन्न से और आँखों का निद्रा से भी सम्बन्ध होता है कि नहीं? इसको भी कभी सोचा-विचारा है?

मातृगुप्त : संसार में क्या इतनी ही वस्तुएँ विचारने की हैं, पशु भी इनकी चिन्ता कर लेते होंगे।

मुद्गल : और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है–अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है। और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

मातृगुप्त : होगा, तुम्हारा तात्पर्य क्या है?

मुद्गल : स्वप्नमय जीवन छोड़कर विचारपूर्ण वास्तविक स्थिति में आओ। ब्राह्मण-कुमार हो, इसीलिए दया आती है।

मातृगुप्त : क्या करूँ?

मुद्गल : मैं दो-चार दिन में अवन्ती जानेवाला हूँ; युवराज भट्टारक के पास तुम्हें रखवा दूँगा। अच्छी वृत्ति मिलने लग जायगी। है स्वीकार?

मातृगुप्त : पर तुम्हें मेरे ऊपर इतनी दया क्यों?

मुद्गल : तुम्हारी बुद्धिमत्ता देखकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। उसी दिन से मैं खोजता था। तुम जानते हो कि राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि, 'अभी टकराने दो; ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं।'

मातृगुप्त : तब तो बड़ी कृपा है। मैं अवश्य चलूँगा। काश्मीरमंडल में हूणों का आतंक है, शास्त्र और संस्कृत-विद्या का कोई पूछनेवाला नहीं। म्लेच्छाक्रान्त देश छोड़कर राजधानी में चला आया था। अब आप ही मेरे पथ-प्रदर्शक हैं।

मुद्गल : अच्छा तो मैं जाता हूँ। शीघ्र ही मिलूँगा। तुम चलने के लिए प्रस्तुत रहना।

(जाता है।)

मातृगुप्त : काश्मीर! जन्मभूमि!! जिसकी धूलि में लोटकर खड़े होना सीखा, जिसमें खेल-खेलकर शिक्षा प्राप्त की, जिसमें जीवन के परमाणु संगठित हुए थे, वही छूट गया! और बिखर गया एक मनोहर स्वप्न, आह! वही जो मेरे इस जीवन-पथ का पाथेय रहा!

प्रिय! संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।
'वह उच्छृंखलता थी अपनी'—कहकर मन मत बहलाना।
मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी।
मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।
छलक उठा प्याला, लहरी में मेरे सुख को माप रहा।
सजग सुप्त सौंदर्य हुआ हो चपल चली भौं हें मिलने।
लीन हो गयी लहर, लगे मेरे ही नख छाती छिलने।
श्यामा का नखदान मनोहर मुक्ताओं से ग्रथित रहा।
जीवन के उस पार उड़ाता हँसी, खड़ा मैं चकित रहा।
तुम अपनी निष्ठुर क्रीड़ा के विभ्रम से, बहकाने से।
सुखी हुए फिर लगे देखने मुझे पथिक पहचाने-से।
उस सुख का आलिंगन करने कभी भूलकर आ जाना।
मिलन-क्षितिज-तट मधु जलनिधि में मृदु हिलकोर उठा जाना।

कुमारदास : **(प्रवेश करके)** साधु!

मातृगुप्त : **(अपनी भावनाओं में तल्लीन जैसे किसी को न देख रहा हो।)** अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थीं, सन्ध्या में शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौन्दर्य, उस अतीन्द्रिय जगत् की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं स्वप्न टूट गया!

कुमारदास : समझ में न आया, सिंहल में और काश्मीर में क्या भेद है। तुम गौरवर्ण हो, लम्बे हो, खिंची हुई भौं हें हैं; सब होने पर भी सिंहलियों की घुँघराली लटें, उज्ज्वल श्याम शरीर, क्या स्वप्न में देखने की वस्तु नहीं?

मातृगुप्त : **(कुमारदास को जैसे सहसा देखकर)** पृथ्वी की समस्त ज्वाला को जहाँ प्रकृति ने अपने बर्फ के अंचल से ढँक दिया है, उस हिमालय के—

कुमारदास : और बड़वानल को अनन्त जलराशि से जो सन्तुष्ट कर रहा है, उस रत्नाकर को—अच्छा जाने दो। रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है, तब जय हो काश्मीर की। हाँ, उस हिमालय के....

मातृगुप्त : उस हिमालय के ऊपर प्रभात-सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का, पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसी से नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रखे। कल्पना की भाषा के पंख गिर जाते हैं, मौन-नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र!

कुमारदास : तुम विद्वान हो, सुकवि हो, तुमको इतना मोह?

मातृगुप्त : यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्रजाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलनेवाले भूखे हृदय को आहार मिले।

कुमारदास : मित्र! तुम्हारी कोमल कल्पना, वाणी की वीणा से झनकार उत्पन्न करेगी। तुम सचेष्ट बनो, प्रतिभाशील हो। तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

मातृगुप्त : उसकी चिन्ता नहीं। दैन्य जीवन के प्रचण्ड आतप में सुन्दर स्नेह मेरी छाया बने! झुलसा हुआ जीवन धन्य हो जायगा।

कुमारदास : मित्र! इन थोड़े दिनों का परिचय मुझे आजीवन स्मरण रहेगा अब तो मैं सिंहल जाता हूँ—देश की पुकार है। इसलिए मैं स्वप्नों का देश 'भव्य-भारत' छोड़ता हूँ। कविवर! इस क्षीण परिचय कुमार धातुसेन को भूलना मत—कभी आना।

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के सहचर, विनोदशील कुमारदास! तुम क्या कुमार धातुसेन हो?

कुमारदास : हाँ मित्र, लंका का युवराज। हमारा एक मित्र, एक बाल-सहचर, प्रख्यातकीर्ति, महाबोधि-बिहार का श्रमण है। उसे और गुप्त-साम्राज्य का वैभव देखने पर्यटक के रूप में भारत चला आया था। गौतम के पद-रज से पवित्र भूमि को खूब देखा और देखा दर्प से उद्धत गुप्त-साम्राज्य के तीसरे पहर का सूर्य। आर्य-अभ्युत्थान का यह स्मरणीय युग है। मित्र, परिवर्तन उपस्थित है।

मातृगुप्त : सम्राट् कुमारगुप्त के साम्राज्य में परिवर्तन!

धातुसेन : सरल युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य। परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन–प्रलय–हुआ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुंल्लिग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

मातृगुप्त : निस्सन्देह! अनन्तदेवी के इशारे पर कुमारगुप्त नाच रहे हैं अद्भुत पहेली है!

धातुसेन : पहेली! यह भी रहस्य ही है। पुरुष है कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल–उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार! अभागा मनुष्य सन्तुष्ट है–बच्चों के समान। पुरुष ने कहा–'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया–'कौवा'; बस, वह रटने लगा। विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट् तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है। निर्मम शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरम्भ होनेवाला है। तुम भी सम्भवतः उसके अभिनेताओं में से एक होगे। सावधान! सिंहल तुम्हारे लिए प्रस्तुत है।

[प्रस्थान]

मातृगुप्त : विचक्षण उदार राजकुमार!

[प्रस्थान]

४

[अनन्तदेवी का सुसज्जित प्रकोष्ठ]

अनन्तदेवी : जया! रात्रि का द्वितीय पहर तो व्यतीत हो रहा है, अभी भटार्क के आने का समय नहीं हुआ?

जया : स्वामिनी! आप बड़ा भयानक खेल खेल रही हैं।

अनन्तदेवी : क्षुद्र हृदय—जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्त्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

जया : परन्तु राजकीय अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथच फूल से कोमल है।

अनन्तदेवी : अपनी नियति का पथ मैं अपने पैरों चलूँगी, अपनी शिक्षा रहने दे।

[जया कपाट के समीप कान लगाती है, संकेत होता है, गुप्तद्वार खुलते ही भटार्क सामने उपस्थित होता है।]

भटार्क : महादेवी की जय हो!

अनन्तदेवी : परिहास न करो मगध के महाबलाधिकृत! देवकी के रहते किस साहस से तुम मुझे महादेवी कहते हो?

भटार्क : हमारा हृदय कह रहा है, और आये दिन साम्राज्य की जनता, प्रजा, सभी कहेगी।

अनन्तदेवी : मुझे विश्वास नहीं होता।

भटार्क : महादेवी! कल सम्राट के समक्ष जो विद्रूप और व्यंग्यबाण मुझ पर बरसाये गये हैं, वे अन्तस्तल के गड़े हुए है। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे। चुभ-चुभकर वे मुझे सचेत करेंगे। मैं उन पथ-प्रदर्शकों को अनुसरण करूँगा। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचण्ड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत

का माननीय पद मिला है; मैं उस सम्मान की रक्षा करूँगा। महादेवी! आज मैंने अपने हृदय के मार्मिक रहस्य का अकस्मात् उद्‌घाटन कर दिया है। परन्तु वह भी जान-बूझकर—समझकर। मेरा हृदय शूलों के लौह-फलक सहने के लिए है, क्षुद्र विष-वाक्यबाण के लिए नहीं।

अनन्तदेवी : तुम वीर हो भटार्क! यह तुम्हारे उपयुक्त ही है। देवकी का प्रभाव जिस उग्रता से बढ़ रहा है, उसे देखकर मुझे पुरगुप्त के जीवन में शंका हो रही है। महाबलाधिकृत, दुर्बल माता का हृदय उसके लिए आज ही से चिन्तित है, विकल है। सम्राट की मति एक-सी नहीं रहती, वे अव्यवस्थित और चंचल हैं। इस अवस्था में वे विलास की अधिक मात्रा से केवल जीवन के जटिल सुखों की गुत्थियाँ सुलझाने में व्यस्त हैं।

भटार्क : मैं सब समझ रहा हूँ। पुष्यमित्रों के युद्ध में मुझे सेनापति की पदवी नहीं मिली, इसका कारण भी मैं जानता हूँ। मैं दूध पीनेवाला शिशु नहीं हूँ और यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है। मैं कृतघ्न नहीं हूँ, महादेवी! आप निश्चिन्त रहें।

अनन्तदेवी : पुष्यमित्रों के युद्ध में भेजने के लिए मैंने भी कुछ समझकर उद्योग नहीं किया। भटार्क! क्रान्ति उपस्थित है, तुम्हारा यहाँ रहना आवश्यक है।

भटार्क : क्रान्ति के सहसा इतना समीप उपस्थित होने के तो कोई लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ते।

अनन्तदेवी : राजधानी में आनन्द-विलास हो रहा है, और पारसीक मदिरा की धारा बह रही है; इनके स्थान पर रक्त की धारा बहेगी! आज तुम कालागुरु के गन्ध-धूम से सन्तुष्ट हो रहे हो, कल इन उच्च सौध-मन्दिरों में महापिशाची की विप्लव-ज्वाला धधकेगी! उस चिरायँध की उत्कट गन्ध असह्य होगी। तब तुम भटार्क! उस आगामी खण्ड-प्रलय के लिए प्रस्तुत हो कि नहीं? **(ऊपर देखती हुई)** उहूँ, प्रपंचबुद्धि की कोई बात आज तक मिथ्या नहीं हुई।

भटार्क : कौन प्रपंचबुद्धि?

अनन्तदेवी : सूचीभेद्य अन्धकार में छिपनेवाली रहस्यमयी नियति का–प्रज्ज्वलित कठोर नियति का–नील आवरण उठाकर झाँकनेवाला। उसकी आँखों

में अभिचार का संकेत है; मुस्कराहट के विनाश की सूचना है; आँधियों से खेलता है; बातें करता है —बिजलियों से आलिंगन!

(प्रपंचबुद्धि का सहसा प्रवेश।)

प्रपंचबुद्धि : स्मरण है भाद्र की अमावस्या?

(भटार्क और अनन्तदेवी सहमकर हाथ जोड़ते हैं।)

अनन्तदेवी : स्मरण है, भिक्षु शिरोमणे! उसे मैं भूल सकती हूँ?

प्रपंचबुद्धि : कौन, महाबलाधिकृत! हँ-हँ-हँ-हँ, तुम लोग सद्धर्म के अभिशाप की लीला देखोगे; है आँखों में इतना बल? क्यों, समझ लिया था कि इन मुण्डित-मस्तक जीर्ण कलेवर भिक्षु कंकालों में क्या धरा है। देखो—शव-चिता में नृत्य करती हुई तारा का ताण्डव नृत्य, शून्य सर्वनाशकारिणी प्रकृति की मुण्डमालाओं की कन्दुक-क्रीड़ा! अश्वमेध हो चुके, उनके फलस्वरूप महानरमेध का उपसंहार भी देखो। **(देखकर)** है तुझमें–तू करेगा? अच्छा महादेवी! अमावस्या के पहले पहर में, जब नील गगन में भयानक और उज्ज्वल उल्कापात होगा, महाशून्य की ओर देखना। जाता हूँ। सावधान!

(प्रस्थान।)

भटार्क : महादेवी! यह भूकम्प के समान हृदय को हिला देनेवाला कौन व्यक्ति है? ओह, मेरा तो सिर घूम रहा है!

अनन्तदेवी : यही तो भिक्षु प्रपंचबुद्धि है!

भटार्क : तब मुझे विश्वास हुआ। यह क्रूर-कठोर नर-पिशाच मेरी सहायता करेगा। मैं उस दिन के लिए प्रस्तुत हूँ।

अनन्तदेवी : तब प्रतिश्रुत होते हो?

भटार्क : दास सदैव अनुचर रहेगा।

अनन्तदेवी : अच्छा, तुम इसी गुप्तद्वार से जाओ। देखूँ, अभी कादम्ब की मोह-निद्रा से सम्राट जगे कि नहीं!

जया : **(प्रवेश करके)** परम भट्टारक अँगड़ाइयाँ ले रहे हैं। स्वामिनी शीघ्र चलिए।

(जया का प्रस्थान।)

भटार्क : तो महादेवी, आज्ञा हो।

अनन्तदेवी : (देखती हुई) भटार्क! जाने को कहूँ? इस शत्रुपुरी में मैं असहाय अबला इतना-आह! **(आँसू पोंछती है)**

भटार्क : धैर्य रखिए। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिए!

अनन्तदेवी : तो भटार्क, जाओ।

(जया का सहसा प्रवेश।)

जया : चलिए शीघ्र।

(दोनों जाती हैं।)

भटार्क : एक दुर्भेद्य नारी-हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य-बीज है आह, कितनी साहसशीला स्त्री है? देखूँ, गुप्त-साम्राज्य के भाग्य की कुंजी यह किधर घुमाती है। परन्तु इसकी आँखों में काम-पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की चंचल प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का सन्देश वहन कर रही है। परन्तु...अच्छा चलूँ, यह विचार करने का स्थान नहीं है।

(गुप्त द्वार से जाता है)

[पट-परिवर्तन]

(अन्तःपुर का द्वार)

शर्वनाग : **(टहलता हुआ)** कौन-सी वस्तु देखी? किस सौन्दर्य पर मन रीझा? कुछ नहीं, सदैव इसी सुन्दरी खड्ग-लता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा। मै नहीं जानता कि और भी कुछ सुन्दर है। मेरी स्त्री—-जिसके अभावों का कोश कभी खाली नहीं, जिसकी भर्त्सनाओं का भण्डार अक्षय है, उससे मेरी अन्तरात्मा काँप उठती है। आज मेरा पहरा है। घर मे जान छूटी, परन्तु रात बड़ी भयानक है। चलूँ अपने स्थान पर बैठूँ। सुनता हूँ कि परम भट्टारक की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है—-जाने भगवान्....

(भटार्क का प्रवेश।)

भटार्क : कौन?

शर्वनाग : नायक शर्वनाग?

भटार्क : कितने सैनिक है?

शर्वनाग : पूरा एक गुल्म।

भटार्क : अन्तःपुर से कोई आज्ञा मिली है?

शर्वनाग : नहीं।

भटार्क : तुमको मेरे साथ चलना होगा।

शर्वनाग : मैं प्रस्तुत हूँ; कहाँ चलूँ?

भटार्क : महादेवी के द्वार पर।

शर्वनाग : वहाँ मेरा क्या कर्तव्य होगा?

भटार्क : कोई न तो भीतर जाने पावे और न भीतर से बाहर आने पावे

शर्वनाग : **(चौंककर)**इसका तात्पर्य?

भटार्क : **(गम्भीरता से)** तुमको महाबलाधिकृत की आज्ञा पालन करनी चाहिए।

शर्वनाग : तब भी क्या स्वयं महादेवी पर नियन्त्रण रखना होगा?

भटार्क : हाँ।

शर्वनाग : ऐसा!

(कोलाहल, भीषण उल्कापात)

भटार्क : ओह, ठीक समय हो गया! अच्छा, मैं अभी जाता हूँ।

(द्वार खोलकर भटार्क भीतर जाता है।)

[रामा का प्रवेश]

रामा : क्यों, तुम आज यहीं हो?

शर्वनाग : मैं, मैं यहीं हूँ; तुम कैसे?

रामा : मूर्ख! महादेवी सम्राट् को देखना चाहती हैं, परन्तु उनके आने में बाधा है। गोबर-गणेश! तू कुछ कर सकता है?

शर्वनाग : मैं क्रोध से गर्जते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ; परन्तु सिंह-वाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते है।

रामा : **(पैर पटककर)** तुम कीड़े से भी अपदार्थ हो!

शर्वनाग : न-न-न-न, ऐसा न कहो, मैं सब कुछ हूँ। परन्तु मुझे घबराओ मत; समझाकर कहो। मुझे क्या करना होगा?

रामा : महादेवी देवकी की रक्षा करनी होगी, समझा? क्या आज इस सम्पूर्ण गुप्त साम्राज्य में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जो उनकी रक्षा करे! शत्रु अपने

विषैले डंक और तीखे दाढ़ सँवार रहे हैं। पृथ्वी के नीचे कुमंत्रणाओं का क्षीण भूकम्प चल रहा है।

शर्वनाग : यही तो मैं भी कभी-कभी सोचता था। परन्तु....

रामा : तुम, जिस प्रकार हो सके, महादेवी के द्वार पर जाओ। मैं जाती हूँ। **(जाती है)**

(एक सैनिक का प्रवेश।)

सैनिक : नायक! न जाने क्यों हृदय दहल उठा है, जैसे सनसन करती हुई, डर से, यह आधी रात खिसकती जा रही है! पवन में गति है, परन्तु शब्द नहीं। 'सावधान' रहने का शब्द मैं चिल्लाकर कहता हूँ; परन्तु मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है। यह सब क्या है, नायक?

शर्वनाग : तुम्हारी तलवार कहीं भूल तो नहीं गई है?

सैनिक : म्यान हल्की-सी लगती है, टटोलता हूँ—पर....

शर्वनाग : तुम घबराओ मत, तीन साथियों को साथ लेकर घूमो, सबको सचेत रखो। हम इसी शिला पर हैं, कोई डरने की बात नहीं।

[सैनिक जाता है, फाटक खोलकर पुरगुप्त निकलता है। पीछे भटार्क और सैनिक]

पुरगुप्त : नायक शर्वनाग!

शर्वनाग : जय हो कुमार की। क्या आज्ञा है?

पुरगुप्त : तुम साम्राज्य की शिष्टता सीखो।

शर्वनाग : कुमार! दास चिर-अपराधी है। **(सिर झुका लेता है।)**

भटार्क : इन्हें महादेवी के द्वार पर जाने की आज्ञा दीजिए, यह विश्वस्त सैनिक वीर हैं।

पुरगुप्त : जाओ, तुम महादेवी के द्वार पर। जैसा महाबलाधिकृत ने कहा है, वैसा करना।

शर्वनाग : जैसी आज्ञा।

[अपने सैनिकों को साथ लेकर जाता है, दूसरे नायक और सैनिक परिक्रमण करते है।]

भटार्क : कोई भी पूछे तो यह मत कहना कि सम्राट का निधन हो गया है। हॉ, बढ़ी हुई अवस्था का समाचार बतलाना और सावधान कोई भी–चाहे वह कुमारामात्य ही क्यों न हों–भीतर न आने पावें। तुम यही कहना कि परम भट्टारक अत्यन्त विकल हैं, किसी से मिलना नहीं चाहते। समझा?

नायक : अच्छा....

(दोनों जाते हैं, फाटक बन्द होता है।)

नायक : **(सैनिकों से)** आज बड़ी विकट अवस्था है, भाइयो सावधान!

[कुमारामात्य पृथ्वीसेन, महादण्डनायक और महाप्रतिहार का प्रवेश]

महाप्रतिहार : नायक, द्वार खोलो, हम लोग परम भट्टारक का दर्शन करेंगे।

नायक : प्रभु! किसी को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है।

महाप्रतिहार : **(चौंककर)**आज्ञा! किसकी आज्ञा? अबोध! तू नहीं जानता–सम्राट् के अन्तःपुर पर स्वयं सम्राट् का भी उतना अधिकार नहीं जितना महाप्रतिहार का? शीघ्र द्वार उन्मुक्त कर।

नायक : दण्ड दीजिए प्रभु, परन्तु द्वार न खुल सकेगा।

महाप्रतिहार : तू क्या कह रहा है?

नायक : जैसी भीतर से आज्ञा मिली है।

कुमारामात्य : **(पैर पटककर)** ओह!

धमनायक : विलम्ब असह्य है, नायक! द्वार से हट जाओ।

महाप्रतिहार : मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अन्तःपुर से हट जाओ युवक! नहीं तो तुम्हें पदच्युत करूँगा।

नायक : यथार्थ है। परन्तु मैं महाबलाधिकृत की आज्ञा से यहाँ हूँ, और मैं उन्हीं के अधीनस्थ सैनिक हूँ। महाप्रतिहार के अन्तःपुर-रक्षकों में मैं नहीं हूँ।

महाप्रतिहार : क्या अन्तःपुर पर भी सैनिक नियंत्रण है? पृथ्वीसेन!

पृथ्वीसेन : इसका परिणाम भयानक है। अन्तिम शय्या पर लेटे हुए सम्राट् की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

महाप्रतिहार : अच्छा **(कुछ देखकर)** हाँ, शर्वनाग कहाँ गया?

नायक : उसे महाबलाधिकृत ने दूसरे स्थान पर भेजा है।

महाप्रतिहार : **(क्रोध से)** मूर्ख शर्वनाग!

(अन्तःपुर से क्षीण क्रन्दन)

महादण्डनायक : **(कान लगा कर सुनते हुए)** क्या सब शेष हो गया? हम अवश्य भीतर जायेंगे।

[तीनों तलवार खींच लेते हैं, नायक भी सामने आ जाता है, द्वार खोलकर पुरगुप्त और भटार्क का प्रवेश]

पृथ्वीसेन : भटार्क! यह सब क्या है?

भटार्क : **(तलवार खींचकर सिर से लगाता हुआ)** परम भट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो! माननीय कुमारामात्य, महादण्ड-नायक और महाप्रतिहार साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र अर्पण करके, परम भट्टारक का अभिवादन कीजिए।

(तीनों एक-दूसरे का मुँह देखते हैं)

महाप्रतिहार : तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं?

भटार्क : नहीं।

पृथ्वीसेन : परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कन्दगुप्त?

पुरगुप्त : चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकारी का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये हैं।

पृथ्वीसेन : परन्तु प्रमाण?

पुरगुप्त : क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा?

पृथ्वीसेन : अवश्य।

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत! इन विद्रोहियों को बन्दी करो।

(भटार्क आगे बढ़ता है)

पृथ्वीसेन : ठहरो भटार्क! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक बात..

पुरगुप्त : आधी बात भी नहीं, बन्दी करो।

पृथ्वीसेन : कुमार! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त-साम्राज्य का राज-दण्ड टिकेगा नहीं। सम्भवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इसलिए कुमार! इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त : महाबलाधिकृत! क्यों विलम्ब करते हो?

भटार्क : आप लोग शस्त्र रखकर आज्ञा मानिए।

महाप्रतिहार : आततायी! यह स्वर्गीय आर्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र, और अपनी रक्षा कर।

पृथ्वीसेन : महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है! पश्चिम और उत्तर से काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय बल-नाश करने का नहीं है। आओ, हम लोग गुप्त-साम्राज्य के विधानानुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। भटार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल-भुजंगी राष्ट्रनीति की—प्राण देकर भी—रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्योछावर हों! आर्य साम्राज्य की जय हो!

(छुरा मारकर गिरता है, महाप्रतिहार और दण्डनायक भी वैसा ही करते हैं।)

पुरगुप्त : पाखण्ड स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ।

भटार्क : परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक!

पुरगुप्त : कुछ नहीं। **(भीतर जाता है)**

भटार्क : तो जायें, सब जायें, गुप्त-साम्राज्य के हीरों के-से उज्ज्वल-हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त, सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों!

[पट-परिवर्तन]

[नगर-प्रान्त में पथ]

मुद्गल : **(प्रवेश करके)** किसी के सम्मान-सहित निमन्त्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना—एक दूसरी बात है और भटकते, थकते, उछलते, कूदते, ठोकर खाते और लुढ़कते— हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है। कहाँ हम और कहाँ यह दौड़, कुसुमपुरी से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान! इस बार की आज्ञा तो पालन करता हूँ; परन्तु यदि, तथापि, पुनश्च, फिर भी, कभी ऐसी आज्ञा मिली कि इस ब्राह्मण ने साष्टांग प्रणाम किया। अच्छा, इस वृक्ष की छाया में बैठकर विचार कर लूँ कि सैकड़ों योजन लौट चलना अच्छा है कि थोड़ा और चलकर काम कर लेना।

(गठरी रख बैठकर ऊँघने लगता है, मातृगुप्त का प्रवेश)

मातृगुप्त : मुझे तो युवराज ने मूलस्थान की परिस्थिति सँभालने के लिए भेजा, देखता हूँ कि यह मुद्गल भी यहाँ आ पहुँचा! चलें, इसे कुछ तंग करें, थोड़ा मनोविनोद ही सही।

(कपड़े से मुँह छिपाकर, गठरी खींचकर चलता है।)

मुद्गल : **(उठकर)** ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं, तुम कष्ट न करो।

(मातृगुप्त चक्कर काटता है, मुद्गल पीछे-पीछे दौड़ता है।)

मातृगुप्त : **(दूर खड़ा होकर)** अब आगे बढ़े कि तुम्हारी टाँग टूटी।

मुद्गल : अपनी गठरी बचाने में टाँग टूटना बुरा नहीं, अपशकुन नहीं। तुम यह न समझना कि हम दूर चलते-चलते थक गये हैं। तुम्हारा पीछा न छूटेगा। हम ब्राह्मण हैं, हमसे शास्त्रार्थ कर लो। डण्डा न दिखाओ। हाँ, मेरी गठरी जो तुम लेते हो, इसमें कौन-सा न्याय है? बोलो—

मातृगुप्त : न्याय? तब तो तुम आप्तवाक्य अवश्य मानते होगे।

मुद्गल : अच्छा तो तर्कशास्त्र लगाना पड़ेगा?

मातृगुप्त : हाँ, तुमने गीता पढ़ी होगी?

मुद्गल : हाँ अवश्य, ब्राह्मण और गीता न पढ़े!

मातृगुप्त : उसमें लिखा है कि 'न त्वेवाहं जातु नाऽसौ न त्वं नेमें'—न हम हैं, न तुम हो, न यह वस्तु है, न तुम्हारी है, न हमारी—फिर इस छोटी-सी गठरी के लिए इतना झगड़ा!

मुद्गल : ओहो! तुम नहीं समझे!

मातृगुप्त : क्या?

मुद्गल : गीता सुनने के बाद क्या हुआ?

मातृगुप्त : महाभारत!

मुद्गल : तब भइया, इस गठरी के लिए महाभारत का एक संस्करण हो जाना आवश्यक है। गठरी में हाथ लगाया कि डंडा लगा।

(डंडा तानता है।)

मातृगुप्त : मुदगल डंडा मत तानो, मैं वैसा मूर्ख नहीं कि सूच्यग्र-भाग के लिए दूध और मधु से बना हुआ एक बूँद रक्त भी गिराऊँ!

(गठरी देता है)

मुद्गल : अरे कौन! मातृगुप्त!

(नेपथ्य में कोलाहल)

मातृगुप्त : हाँ मुद्गल! इधर तो शक और हूणों की सम्मिलित सेना घोर आतंक फैला रही है, चारों और विप्लव का साम्राज्य है। निरीह भारतीयों की घोर दुर्दशा है।

मुद्गल : और मैं महादेवी का संदेश लेकर अवन्ती गया, वहाँ युवराज नहीं थे। बलाधिकृत पर्णदत्त की आज्ञा हुई कि महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त को जिस तरह हो, खोज निकालो। यहाँ तो विकट समस्या है। हम लोग क्या कर सकते हैं?

मातृगुप्त : कुछ नहीं, केवल भगवान् से प्रार्थना। साम्राज्य में कोई सुननेवाला नहीं, अकेले युवराज स्कन्दगुप्त क्या करेंगे?

मुद्गल : परन्तु भाई, हम ईश्वर होते तो इन मनुष्यों की, कोई प्रार्थना सुनते ही नहीं। इनको हर काम में हमारी आवश्यकता पड़ती है। मैं तो घबरा जाता, भला वह तो कुछ सुनते भी हैं।

मातृगुप्त : नहीं मुद्गल, निरीह प्रजा का नाश देखा नहीं जाता। क्या इनकी उत्पत्ति का यही उद्देश्य था? क्या इनका जीवन केवल चींटियों के समान किसी की प्रतिहिंसा पूर्ण करने के लिए है? देखो-वह दूर पर बँधे हुए नागरिक और उन पर हूणों की नृशंसता! ओह!!

मुद्गल : अरे! हाय रे बाप!!

मातृगुप्त : सावधान! असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ, हम लोग भगवान् से विनती करें–

(दोनों सम्मिलित स्वर से)

उतारोगे अब कब भू-भार।
बार-बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार।
उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार।
बाड़व लेलिहान जिह्वा का करता है विस्तार।
प्रलय-पयोधर बरस रहे हैं रक्त-अश्रु की धार।
मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार।
पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार।
सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार।

(हूण सैनिकों का प्रवेश–बन्दियों के साथ।)

हूण : चुप रह, क्या गाता है?

मुद्गल : हैं हैं, भीख माँगता हूँ, गीत गाता हूँ। आप भी कुछ दीजिएगा?

(दीन मुद्रा बनाता है)

हूण : **(धक्का देते हुए)** चल, एक ओर खड़ा हो। हाँ जी, इन दुष्टों ने कुछ देना अभी स्वीकार नहीं किया, बड़े कुत्ते हैं!

नागरिक : हम निरीह प्रजा हैं। हम लोगों के पास क्या रह गया जो आप लोगों को दें। सैनिकों ने तो पहले ही लूट लिया है।

हूण-सेनापति : तुम लोग बातें बनाना खूब जानते हो। अपना छिपा हुआ धन देकर प्राण बचाना चाहते हो तो शीघ्रता करो, नहीं तो गरम किये हुए लोहे प्रस्तुत हैं—कोड़े और तेल में तर कपड़े भी। उस कष्ट का स्मरण करो!

नागरिक : प्राण तो तुम्हारे हाथों में है, जब चाहो ले लो।

हूण-सेनापति : **(कोड़े से मारता हुआ)** उसे तो ले ही लेंगे; पर, धन कहाँ है?

नागरिक : नहीं है निर्दय! हत्यारे! कह दिया कि नहीं है!

हूण-सेनापति : **(सैनिकों से)** इन बालकों को तेल से भीगा हुआ कपड़ा डाल कर जलाओ और स्त्रियों को गरम लोहे से दागो।

स्त्रियाँ : हे नाथ!

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो?
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो?
नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या?
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो!
पुकारा जब किसी ने तब सुना था!
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो!

(स्त्रियों को पकड़ कर हूण खींचते हैं)

मातृगुप्त : हे प्रभु!

हमें विश्वास दो अपना बना लो।
सदा स्वच्छन्द हों-चाहे जहाँ हों।

इन निरीहों के लिये प्राण उत्सर्ग करना धर्म है। कायरो! स्त्रियों पर यह अत्याचार !!

(तलवार से बंधन काटता है। लपकते हुए एक संन्यासी का प्रवेश)

संन्यासी : साधु! वीर! सम्हलकर खड़े हो जाओ— भगवान् पर विश्वास करके खड़े हो।

मुद्गल : **(पहचानता हुआ)** जय हो, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो!

(सब उत्साहित होकर भिड़ जाते हैं ; हूण सैनिक भागते हैं)

गोविन्दगुप्त : अच्छा मुद्गल! तुम यहाँ कैसे? और युवक! तुम कौन हो?

मातृगुप्त : युवराज स्कन्दगुप्त का अनुचर।

मुद्गल : वीर-पुंगव! इतने दिनों पर दर्शन भी हुआ तो इस वेश में!

गोविन्दगुप्त : अच्छा है, सुरक्षित है। चलो, दुर्ग में हमारी सेना पहुँच चुकी है, वहाँ विश्राम करो। यहाँ का प्रबन्ध करके हमको शीघ्र आवश्यक कार्य से मालवा जाना है। अब हूणों के आतंक का डर नहीं!

सब : जय हो राजकुमार गोविन्दगुप्त की!

गोविन्दगुप्त : पुष्यमित्रों के युद्ध का क्या परिणाम हुआ?

मातृगुप्त : विजय हुई।

गोविन्दगुप्त : और मालव का?

मुद्गल : युवराज थोड़ी सेना लेकर बन्धुवर्मा की सहायता के लिए गये हैं।

गोविन्दगुप्त : **(ऊपर देखकर)** वीरपुत्र है। स्कन्द! आकाश के देवता और पृथ्वी की लक्ष्मी तुम्हारी रक्षा करें। आर्य-साम्राज्य के तुम्हीं एकमात्र भरोसा हो।

मुदगल : तब महाराजपुत्र! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया, शीघ्र रक्षा कीजिए।

गोविन्दगुप्त : हाँ-हाँ, सब लोग चलो।

। सब जाते हैं।

७

[अवन्ती का दुर्ग]

(देवसेना, विजया, जयमाला)

विजया : विजय किसकी होगी, कौन जानता है।

जयमाला : तुमको केवल अपने धन की रक्षा का इतना ध्यान है।

देवसेना : और देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का कुछ नहीं।

विजया : **(संकुचित होकर)** नहीं, मेरा अभिप्राय यह नहीं था।

जयमाला : परन्तु एक उपाय है।

विजया : वह क्या?

जयमाला : रक्षा का निश्चित उपाय।

देवसेना : तुम्हारे पिता ने तो उस समय नहीं माना, न सुना, नहीं तो आज इस भय का अवसर ही न आता।

जयमाला : तुम्हारी अपार धन-राशि में से एक क्षुद्र अंश, वही यदि इन धन लोलुप श्रृगालों को दे दिया जाता, तो...

विजया : किन्तु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।

जयमाला : ठहरो, कोई आ रहा है।

(बन्धुवर्मा का प्रवेश)

बन्धुवर्मा : प्रिये! अभी तक युवराज का कोई सन्देश नहीं मिला। सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।

जयमाला : नाथ! तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा? क्या? मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था? जाओ प्रभु! सेना लेकर सिंह-विक्रम से सेना पर टूट पड़ो! दुर्ग-रक्षा का भार मैं लेती हूँ।

विजया : महाराज! यह केवल वाचालता है। दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।

बन्धुवर्मा : घबराओ मत श्रेष्ठि-कन्ये।

जयमाला : वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं। श्रेष्ठि-कन्ये! हम क्षत्राणी हैं, चिर-संगिनी खड्गलता का हम लोगों से चिर-स्नेह है।

बन्धुवर्मा : प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए। अच्छा, दुर्ग का तो नहीं, अन्तःपुर का भार तुम्हारे ऊपर है।

देवसेना : भैया, आप निश्चिन्त रहिए।

बन्धुवर्मा : भीम दुर्ग का निरीक्षण करेगा; मैं जाता हूँ।

(जाता है)

विजया : भयानक युद्ध समीप जाना पड़ता है, क्यों राजकुमारी!

देवसेना : तुम वीणा ले लो तो मैं गाऊँ।

विजया : हँसी न करो राजकुमारी।

जयमाला : बुरा क्या है?

विजया : युद्ध और गान!

जयमाला : युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव-संगीत की सृष्टि होती है, जीवन के

अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी ऑखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।

देवसेना : तो भाभी, मैं तो गाती हूँ। एक बार गा लूँ, हमारा प्रिय गान फिर गाने को मिले या नही।

जयमाला : तो गाओ न।

विजया : रानी। तुम लोग आग की चिनगारियाँ हो, या स्त्री हो? देवी ज्वालामुखी की सुन्दर लट के समान तुम लोग...

जयमाला : सुनो, देवसेना गा रही है–

[गाना]

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप।

जल-थल, मारुत, व्योम में, जो छाया है सब ओर।
खोज-खोजकर खो गयी मैं, पागल-प्रेम विभोर
भाँग से भरा हुआ यह कूप।
भरा नैनों में मन में रूप।

धमकी की तन्त्री बजी, तू रहा लगाये कान।
बलि हारी मैं, कौन तू है मेरा जीवन-प्रान।
खेलता जैसे छाया-धूप
भरा नैनों में मन में रूप।।

(सहसा भीमवर्मा का प्रवेश)

भीम : भाभी, दुर्ग का द्वार टूट चुका है। हम अन्तःपुर के बाहरी द्वार पर हैं। अब तुम लोग प्रस्तुत रहना।

जयमाला : उनका क्या समाचार है?

भीम : अभी कुछ नहीं मिला। गिरिसंकट में उन्होंने शत्रुओं के मार्ग को रोका था, परन्तु दूसरी शत्रु-सेना गुप्त मार्ग से आ गई। मैं जाता हूँ, सावधान।

(जाता है)

[नेपथ्य में कोलाहल, भयानक शब्द]

विजया : महारानी! किसी सुरक्षित स्थान में निकल चलिए।

जयमाला : **(छुरी निकालकर)** रक्षा करनेवाली तो पास है, डर क्या, क्यों देवसेना?

देवसेना : भाभी! श्रेष्ठि-कन्या के पास नहीं है, उन्हें भी दो।

विजया : न न न, मैं लेकर क्या करूँगी, भयानक।

देवसेना : इतनी सुन्दर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने के योग्य नहीं है?

विजया : **(धड़ाके का शब्द सुनकर)** ओह! तुम लोग बड़ी निर्दय हो।

जयमाला : जाओ, एक ओर छिपकर खड़ी हो जाओ!

(रक्त से लथपथ भीमवर्मा का प्रवेश)

भीमवर्मा : भाभी! रक्षा न हो सकी, अब तो मैं जाता हूँ। वीरों के वरणीय सम्मान को अवश्य प्राप्त करूँगा। परन्तु . .

जयमाला : हम लोगों की चिन्ता न करो। वीर! स्त्रियों की, ब्राह्मणों की पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना, क्षत्रिय का धर्म है। एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव का शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृदय कँपा दो! वीर! बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान! —आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे!

[भीमवर्मा का प्रस्थान, द्वार का टूटना, विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश, भीमवर्मा का आकर रोकना, गिरते-गिरते भीमवर्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कन्दगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश।]

'युवराज स्कन्दगुप्त की जय!'

(शक और हूण स्तम्भित होते हैं)

स्कन्दगुप्त : ठहरो देवियो! स्कन्द के जीवित रहते स्त्रियों को शस्त्र नहीं चलाना पड़ेगा।

(युद्ध ; सब पराजित और बन्दी होते हैं)

विजया : **(झाँककर)** अहा! कैसी भयानक और सुन्दर मूर्ति है!

स्कन्दगुप्त : **(विजया को देखकर)** यह—यह कौन?

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

१

[मालव में शिप्रा-तट-कुंज]

देवसेना : इसी पृथ्वी पर है और अवश्य।

विजया : कहाँ राजकुमारी! संसार में छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है, कृतघ्नता और पाखण्ड का साम्राज्य यहीं है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीन कर भागनेवाले विकट जीव यहीं तो हैं। श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

देवसेना : पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। विजया! आकाश के सुन्दर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं, वे कुसुम-कोमल है कि वज्र-कठोर कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र-से उज्ज्वल- किन्तु कोमल- स्वर्गीय संगीत की प्रतिमा तथा स्थायी कीर्ति सौरभ वाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

विजया : होंगे, परन्तु मैंने नहीं देखा।

देवसेना : तुमने सचमुच कोई ऐसा व्यक्ति नहीं देखा?

विजया : नहीं तो–

देवसेना : समझकर कहो।

विजया : हाँ, समझ लिया।

देवसेना : क्या तुम्हारा हृदय कभी पराजित नही हुआ? विजया! विचार कर कहो, किसी भी असाधारण महत्त्व से तुम्हारा उद्दंड हृदय अभिभूत नहीं हुआ? यदि हुआ है, वही स्वर्ग है। जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजया : तो राजकुमारी, मैं कह दूँ?

देवसेना : हाँ, हाँ तुम्हें कहना ही होगा।

विजया : मुझे तो आज तक किसी को देखकर हारना नहीं पड़ा। हाँ, एक युवराज के सामने मन ढीला हुआ; परन्तु मैं उसे कुछ राजकीय प्रभाव भी कह कर टाल दे सकती हूँ।

देवसेना : नहीं विजया! वह टालने से, बहला देने से, नहीं हो सकता, तुम भाग्यवती हो, देखो यदि वह स्वर्ग तुम्हारे हाथ लगे। **(सामने देखकर)** अरे लो! वह युवराज आ रहे हैं। हम लोग हट चलें।

(दोनों जाती हैं, स्कन्दगुप्त का प्रवेश, पीछे चक्रपालित)

स्कन्दगुप्त : विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है चक्रपालित! संसार में जो सबसे महान् है, वह क्या है? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

चक्रपालित : युवराज! सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास सम्भवतः इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विजयी होता है जो दिन-रात 'युद्धस्व विगतज्वरः' का शंखनाद सुना करता है।

स्कन्दगुप्त : चक्र! ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े! आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी

दाँत-पर-दाँत रखे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करे! वसन्त के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय! नहीं, नहीं, चक्र! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मैं स्वयं न जान सकता हूँ। क्या है वह जिसे कोई नहीं जान पाता?

चक्रपालित : सावधान युवराज! प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते है! वह तुच्छ प्राणों का मोह है अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है। अयोध्या चलने के लिए आपने कब का समय निश्चित किया है? राजसिंहासन कब तक सूना रहेगा? पुष्यमित्रों और शकों के युद्ध समाप्त हो चुके हैं।

स्कन्दगुप्त : तुम मुझे उत्तेजित कर रहे हो।

चक्रपालित : हाँ युवराज! मुझे यह अधिकार है।

स्कन्दगुप्त : नहीं चक्र! अश्वमेध-पराक्रम स्वर्गीय सम्राट् कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता, मुझे सिंहासन न चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है। मुझे...

चक्रपालित : यह नहीं होगा। यदि राज्यशक्ति के केन्द्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायगा। आपको सब के अधिकारों की रक्षा के लिए अपना अधिकार सुरक्षित करना ही पड़ेगा।

[चर का आना, कुछ संकेत करना, दोनों का प्रस्थान; देवसेना और विजया का प्रवेश]

विजया : यह क्या राजकुमारी! युवराज तो उदासीन हैं।

देवसेना : हाँ विजया, युवराज की मानसिक अवस्था कुछ बदली हुई है।

विजया : दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।

देवसेना : कहीं तुम्हारा सोचा हुआ युवराज के महत्त्व का परदा तो नहीं हट रहा है? क्यों विजया! वैभव का अभाव तुम्हें खटकने नहीं लगा?

विजया : राजकुमारी! तुम तो निर्दय वाक्य-बाणों का प्रयोग कर रही हो।

देवसेना : नहीं विजया, बात ऐसी नहीं है। धनवानों के हाथ में माप ही एक है; वह विद्या, सौन्दर्य, बल, पवित्रता और तो क्या, हृदय भी उसी से मापते हैं। वह माप है—उनका ऐश्वर्य।

विजया : परंतु राजकुमारी! इस उदार दृष्टि से तो चक्रपालित क्या पुरुष नहीं है? है अवश्य। वीर हृदय है, प्रशस्त वक्ष है, उदार मुख-मंडल है!

देवसेना : और सबसे अच्छी एक बात है। तुम समझती हो कि वह महत्त्वाकांक्षी है। उसे तुम अपने वैभव से क्रय कर सकती हो, क्यों? भाई, तुमको लेना है, तुम स्वयं समझ लो, मेरी दलाली नहीं चलेगी।

विजया : जाओ राजकुमारी।

देवसेना : एक गाना सुनोगी?

विजया : महारानी खोजती होंगी, अब चलना चाहिए।

देवसेना : तब तुम अभी प्रेम करने का, मनुष्य फँसाने का ठीक सिद्धान्त नहीं जानती हो।

विजया : क्या?

देवसेना : नये ढंग से आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिए ही; परन्तु एक वस्तु और चाहिए। पुरुष को वशीभूत करने से पहले चाहिए, धोखे की टट्टी। मेरा तात्पर्य है—एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का, अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ मुख पर पड़ें और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय। और फिर दो बूँद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान—वागीश्वरी की करुण-कोमल तान। बिना इसके सब रंग फीका—

विजया : उस समय भी गान?

देवसेना : बिना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है। आहा! तुमने सुना नहीं? दुर्भाग्य तुम्हारा। सुनोगी?

विजया : राजकुमारी! गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को ज़ोर से हिला देना, जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई।

देवसेना : विजया! प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकली में, रागिनी है।

विजया : राजकुमारी, क्या कह रही हो?

देवसेना : तुमने एकान्त टीले पर, सब से अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ, पारिजात-वृक्ष देखा है।

विजया : नहीं तो।

देवसेना : उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर, ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत, वह स्वयं देखता है–सुनता है। उसके अन्तर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर में गाता है–

घने प्रेम-तरु-तले।
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।
छाया है विश्वास की श्रद्धा-सरिता-कूल,
सिंची आँसुओं से मृदुल है परागमय धूल,
यहाँ कौन जो छले!
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
कहाँ जा रहे चले!

पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु-भर यह माया का खेल,
मिलो स्नेह से गले।
घन प्रेम-तरु-तले।

(बन्धुवर्मा का प्रवेश।)

देवसेना : (संकुचित होती-सी) अरे भइया–

बन्धुवर्मा : देवसेना, तुझे गाने का भी विचित्र रोग है!

देवसेना : रोग तो एक-न-एक सभी को लगता है। परन्तु यह रोग अच्छा है, इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते है।

बन्धुवर्मा : पगली! जा देख, युवराज जा रहे हैं; कुसुमपुर से कोई समाचार आया है।

देवसेना : तब उन्हें जाना आवश्यक होगा। भाभी बुलाती है क्या?

बन्धुवर्मा : हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। सम्भवतः सिंहासन पर बैठने का–राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना : क्या आप को ठीक नहीं मालूम?

बन्धुवर्मा : हाँ, उनकी विदाई करनी होगी। सम्भवतः सिंहासन पर बैठने का–राज्याभिषेक का प्रकरण होगा।

देवसेना : क्या आप को ठीक नहीं मालूम?

बन्धुवर्मा : नहीं तो, मुझसे कुछ कहा नहीं। परन्तु भौंहों के नीचे एक गहरी छाया है, बात कुछ समझ में नहीं आती।

देवसेना : भइया, तुम लोगों के पास बातें छिपा रखने का एक भारी रहस्य है। जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है। जब तुम्हारा हृदय भीतर से क्रन्दन करता है, तब तुम लोग एक मुस्कराहट से टाल देते हो–यह बड़ी प्रवञ्चना है।

बन्धुवर्मा : **(हँसकर)** अच्छा जा उधर, उपदेश मत दे।

(विजया और देवसेना जाती है।)

बन्धुवर्मा : उदार-वीर हृदय, देवोपम-सौन्दर्य, इस आर्यावर्त्त का एकमात्र आशा-स्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अंकित है! अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एकजीवन पूर्ण ज्योति है। भविष्य के साथ इसका युद्ध होगा। देखूँ कौन विजयी होता है ? परन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से इस वीर परोपकारी के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है। चलूँ ·

(जाता है।)

[पट-परिवर्तन]

२

[मठ में प्रपंचबुद्धि, भटार्क और शर्वनाग]

प्रपंचबुद्धि : बाहर देख लो, कोई है तो नहीं।

(शर्व जाकर लौट जाता है।)

शर्वनाग : कोई नहीं, परन्तु आप इतना चौंकते क्यों हैं? मैं तो कभी यह चिन्ता नहीं करता कि कौन आया है या कौन आवेगा।

प्रपंचबुद्धि : तुम नहीं जानते।

शर्वनाग : नहीं श्रमण! खड्ग हाथ में लिये प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा। इतने डर की, घबराहट की आवश्यकता नहीं। विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी।

प्रपंचबुद्धि : प्रत्येक भित्ति के, किवाड़ों के कान होते है; समझ लेना चाहिए देख लेना चाहिए।

शर्वनाग : अच्छी बात है, कहिए।

भटार्क : तुम पहले चुप तो रहो।

(शर्व चुप रहने की मुद्रा बनाता है।)

प्रपंचबुद्धि : धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना चाहिए।

शर्वनाग : भिक्षु शिरोमणे! वह कौन-सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है?

प्रपंचबुद्धि : यही हत्या रोकना, अहिंसा, गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हाँ, अवसर ऐसा है कि हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो। परन्तु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क : क्या?

प्रपंचबुद्धि : महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की सम्भावना है, उन्हें संसार से हटाना होगा।

शर्वनाग : ठीक है, तभी आप चौंकते हैं, और तभी धर्म की रक्षा होगी। हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों?

भटार्क : ठहरो शर्व! परन्तु महास्थविर! क्या इसकी अत्यन्त आवश्यकता है?

प्रपंचबुद्धि : नितान्त।

शर्वनाग : बिना इसके काम ही न चलेगा, धर्म ही न प्रचारित होगा!

प्रपंचबुद्धि : और यह काम शर्व को करना होगा।

शर्वनाग : **(चौंककर)** मुझे? मैं कदापि नहीं...

भटार्क : शीघ्रता न करो शर्व! भविष्यत् के सुखों से इसकी तुलना करो।

शर्वनाग : नाप-तौल मैं नहीं जानता, मुझे शत्रु दिखा दो। मैं भूखे भेड़िए की भाँति उसका रक्तपान कर लूँगा, चाहे मैं ही क्यों न मारा जाऊँ; परन्तु निरीह हत्या—यह मुझसे नहीं...।

भटार्क : मेरी आज्ञा।

शर्वनाग : तुम सैनिक हो, उठाओ तलवार। चलो, दो सहस्र शत्रुओं पर हम दो मनुष्य आक्रमण करें। देखें, मरने से कौन भागता है। कायरता! अबला महादेवी की हत्या! किस प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो?

भटार्क : सावधान शर्व! इस चक्र से तुम नहीं निकल सकते। या तो करो या मरो। मैं सज्जनता का स्वाँग नहीं ले सकता, मुझे वह नहीं भाता। मुझे कुछ लेना है, वह जैसे मिलेगा—लूँगा। साथ दोगे तो तुम भी लाभ में रहोगे।

शर्वनाग : नहीं भटार्क। लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता, तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था, मुझसे यह नहीं होने का।

प्रपंचबुद्धि : ठहरो भटार्क। मुझे पूछने दो। क्यों शर्व! तुमने जो यह अस्वीकार किया है, वह क्यों? पाप समझकर?

शर्वनाग : अवश्य।

प्रपंचबुद्धि : तुम किसी कर्म को नहीं कह सकते, वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इससे पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके जीने से क्या लाभ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो? परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म?

शर्वनाग : हाँ।

प्रपंचबुद्धि : मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना, दोनों स्थलों में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है। यही न!

शर्वनाग : हाँ, ऐसा ही तो।

प्रपंचबुद्धि : तब तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

शर्वनाग : दूसरा उपाय क्या?

प्रपंचबुद्धि : है क्यों नहीं। हम कर्म की जाँच परिणाम से करते है, और यही उद्देश्य तुम्हारे स्थान और समय वाली जाँच का होगा।

शर्वनाग : परन्तु जिसके भावी परिणाम को अभी तुम देख न सके, उसके बल पर तुम कैसे पूर्व कार्य कर सकते हो?

प्रपंचबुद्धि : आशा पर, जो सृष्टि का रहस्य है। आओ इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण दें। **(मदिरा का पात्र भरता है, स्वयं पीकर सबको पिलाता है, बार-बार ऐसा करता है।)**

प्रपंचबुद्धि : क्यों, कैसी कड़वी थी?

शर्वनाग : उँह, हृदय तक लकीर खिंच गई!

भटार्क : परन्तु अब तो एक आनन्द का स्रोत हृदय में बहने लगा है।

शर्वनाग : मैं नाचूँ? **(उठाना चाहता है।)**

प्रपंचबुद्धि : ठहरो, मेरे साथ।

[उठकर दोनों नाचते हैं, अकस्मात् लड़खड़ाकर प्रपंचबुद्धि गिर पड़ता है, चोट लगती है।]

भटार्क : अरे रे! (सम्हलकर उठाता है।)

प्रपंचबुद्धि : कुछ चिन्ता नहीं।

शर्वनाग : बड़ी चोट आई।

प्रपंचबुद्धि : परन्तु परिणाम अच्छा हुआ। तुम लोगों पर भारी विपत्ति आनेवाली थी।

भटार्क : वह टल गई क्या? (आश्चर्य से देखता है।)

शर्वनाग : क्यों सेनापति! टल गई?

प्रपंचबुद्धि : उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट सहा, मैं तुम लोगों के भूत, भविष्यत् और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ, अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क : धन्य गुरुदेव!

शर्वनाग : आश्चर्य!

भटार्क : शंका न करो, श्रद्धा करो; श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व, अब भी तुम विश्वास नहीं करते?

शर्वनाग : करता हूँ। जो आज्ञा होगी वही करूँगा।

प्रपंचबुद्धि : अच्छी बात है, चलो—

(सब जाते हैं। धातुसेन का प्रवेश।)

धातुसेन : मैं अभी यहीं रह गया, सिंहल नहीं गया। इस रहस्यपूर्ण अभिनय को देखने की इच्छा बलवती हुई। परन्तु मुद्गल तो अभी नहीं आया, यहाँ तो आने को था। (देखता है।) लो, वह आ गया।

मुद्गल : क्यों भइया, तुम्हीं धातुसेन हो?

धातुसेन : (हँसकर)पहचानते नहीं?

मुद्गल : किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है। तुम किस धातु के हो?

धातुसेन : भाई, सोना अत्यन्त घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है, और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। मूल्य भी बहुत लगता है। इतने पर भी सिर पर बोझ-सा रहता है। मैं सोना नहीं हूँ, क्योंकि उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है 'लोहा'।

मुद्गल : तब तुम लोहे के हो?

धातुसेन : लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूँ, भाई! मैं तो मिट्टी हूँ–मिट्टी, जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते है, टूटते हैं, फिर मिट्टी होते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो–धूल समझो। परन्तु यह तो बताओ, महादेवी की मुक्ति के लिए क्या उपाय सोचा?

मुद्गल : मुक्ति का उपाय! अरे ब्राह्मण की मुक्ति भोजन करते हुए मरने में, बनियों की दिवालों की चोट से गिर जाने में, और शूद्रों की–हम तीनों की ठोकरों से मुक्ति-ही-मुक्ति है। महादेवी तो क्षत्राणी हैं, सम्भवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।

धातुसेन : तुमने ठीक सोचा। आज अर्द्धरात्रि में, कारागार में।

मुद्गल : कुछ चिन्ता नहीं, युवराज आ गये हैं।

धातुसेन : मैं भी प्रस्तुत रहूँगा।

[दोनों जाते हैं।]

[पट-परिवर्तन]

३

[देवकी के राजमन्दिर का बाहरी भाग]

(मदिरोन्मत्त शर्वनाग का प्रवेश)

शर्वनाग : कादम्ब, कामिनी, कञ्चन–वर्णमाला के पहले अक्षर! करना होगा। इन्हीं के लिए कर्म करना होगा। मनुष्य को यदि इन कवर्गों की चाट नहीं तो कर्म क्यों करें? 'कर्म' में एक 'कु' और जोड़ दें। लो, अच्छी वर्णमैत्री होगी!

कादम्ब! ओह प्यारा! **(प्याले में मदिरा उँड़ेलता है)** लाल–यह क्या रक्त? आह! कैसी भीषण कमनीयता है। लाल मदिरा लाल नेत्रों से लाल-लाल रक्त देखना चाहती है! किसका? एक प्राणी का, जिसके कोमल मांस में रक्त मिला हो। अरे रे नहीं, दुर्बल नारी। उँह, यह तेरी दुर्बलता है। चल अपना काम देख, देख–सामने सोने का संसार खड़ा है!

(रामा का प्रवेश।)

रामा : पामर! सोने की लंका राख हो गई।

शर्वनाग : उसमें मदिरा न रही होगी, सुन्दरी!

रामा : मदिरा का समुद्र उफन कर बह रहा था–मदिरा-समुद्र के तट पर ही लंका बसी थी।

शर्वनाग : तब उसमें तुम जैसी कोई कामिनी न होगी। तुम कौन हो–स्वर्ग की अप्सरा या स्वप्न की चुडैल?

रामा : स्त्री को देखते ही ढिलमिल हुए, आँखें फाड़कर देखते हैं–जैसे खा जायँगे। मैं कोई हूँ।

शर्वनाग : सुन्दरी! यह तुम्हारा ही दोष है। तुम लोगों का वेश-विन्यास आँखों की लुका-चोरी, अंगों का सिमटाना, चलने में एक क्रीड़ा, एक कौतूहल,

पुकार कर–टोक कर कहते हैं–'हमें देखो।' हम क्या करें, देखते ही बनता है!

रामा : दुर्वृत्त मद्यप! तू अपनी स्त्री को नहीं पहचानता है–परस्त्री समझ कर उसे छेड़ता है!

शर्वनाग : **(सम्हलकर)** अयँ! अरे ओह! मेरी रामा, तुम हो?

रामा : हाँ, मैं हूँ।

शर्वनाग : **(हँसकर)** तभी तो मैं तुमको जान कर ही बोला, नहीं भला मैं किसी परस्त्री से–**(जीभ निकाल कर कान पकड़ता है।)**

रामा : अच्छा, यह तो बताओ, कादम्ब पीना कहाँ से सीखा है? और यह क्या बकते थे?

शर्वनाग : अरे प्रिये! तुम से न कहूँगा तो किससे कहूँगा सुनो–

रामा : हाँ हाँ, कहो।

शर्वनाग : तुमको रानी बनाऊँगा।

रामा : **(चौंककर)** क्या?

शर्वनाग : तुम्हें सोने से लाद दूँगा।

रामा : किस तरह?

शर्वनाग : वह भी बतला दूँ? तुम नित्य कहती आती हो कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है'–तो मैं कुछ कर दिखाना चाहता हूँ।

रामा : अरे कहो न!

शर्वनाग : वह पीछे बताऊँगा। आज तुम महादेवी के बन्दीगृह में न जाना समझा न?

रामा : (उत्सुकता से) क्यों?

शर्वनाग : सोना लेना हो, मान लेना हो, तो ऐसा ही करना; क्योंकि आज वहाँ जो कांड होगा, तुम उसे देख न सकोगी। तुम अभी इसी स्थान से लौट जाओ!

रामा : (डरती हुई) क्या करोगे? तुम पिशाच की दुष्कामना से भी भयानक दिखाई देते हो ! तुम क्या करोगे? बोलो!

शर्वनाग : (मद्यपान करता हुआ) हत्या! थोड़ी-सी मदिरा दे, शीघ्र दे नहीं तो छुरा भोंक दूँगा। ओह, मेरा नशा उखड़ा जा रहा है।

रामा : आज तुम्हें क्या हो गया है! मेरे स्वामी! मेरे...

शर्वनाग : अभी मैं तेरा कुछ नहीं हूँ। सोना मिलने से हो जाऊँगा, इसी का उद्योग कर रहा हूँ।

(इधर-उधर देखकर बगल से सुराही निकालकर पीता है।)

रामा : ओह! मैं समझ गई! तूने बेच दिया–पिशाच के हाथ तूने अपने को बेच दिया। अहा! ऐसा सुन्दर, ऐसा मनुष्योचित मन, कौड़ी के मोल बेच दिया। लोभवश मनुष्य से पशु हो गया है। रक्त-पिपासु! क्रूरकर्मा मनुष्य! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा! नरक की दुर्गन्ध! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी। मेरे रक्त के प्रत्येक परमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण! वह मेरा पति तो क्या स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।

शर्वनाग : क्या तूँ–ओ–तूँ...

रामा : हाँ-हाँ, मैं न होने दूँगी। मुझे ही मार ले हत्यारे ! मद्यप! तेरी रक्त पिपासा शान्त हो जाये। परन्तु महादेवी पर हाथ लगाया तो मैं पिशाचिनी-सी प्रलय की काली आँधी बनकर कुचक्रियों के जीवन की काली राख अपने शरीर में लपेट कर ताण्डव नृत्य करूँगी। मान जा, इसी में तेरा भला है।

शर्वनाग : अच्छा, तू इसमें विघ्न डालेगी। तू तो क्या, विघ्नों का पहाड़ भी होगा तो ठोकरों से हटा दिया जायगा। मुझे सोना और सम्मान मिलने में कौन बाधा देगा?

रामा : मैं दूँगी। सोना मैं नहीं चाहती, मान मैं नहीं चाहती, मुझे अपना स्वामी अपने उसी मनुष्य-रूप में चाहिए। **(पैर पड़ती है।)** स्वामी! हिंस्र पशु भी जिनसे पाले जाते हैं, उन पर चोट नहीं करते; अरे तुम तो मस्तिष्क रखनेवाले मनुष्य हो।

शर्वनाग : **(ठुकरा देता है)** जा, तू हट जा, नहीं तो मुझे एक के स्थान पर दो हत्याएँ करनी पड़ेंगी! मैं प्रतिश्रुत हूँ, वचन दे चुका हूँ!

रामा : **(प्रार्थना करती हुई)** तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता; ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी! मान जाओ।

शर्वनाग : ओह, विलम्ब होता है, तो पहले तू ही ले–**(पकड़ना और मारना चाहता है; रामा शीघ्रता से हाथ छुड़ाकर भाग जाती है।)**

(अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि और भटार्क का प्रवेश।)

भटार्क : शर्व!

शर्वनाग : जय हो! मैं प्रस्तुत हूँ; परन्तु मेरी स्त्री इसमें बाधा डालना चाहती है। मैं पहले उसी को पकड़ना चाहता था, परन्तु वह भगी।

अनन्तदेवी : सौगन्ध है! यदि तू विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायगा।

प्रपंचबुद्धि : शर्व! तुम तो स्त्री नहीं हो।

शर्वनाग : नहीं, मैं प्रतिश्रुत हूँ परन्तु....

भटार्क : तुम्हारी पद-वृद्धि और पुरस्कार का प्रमाण-पत्र यह प्रस्तुत है। **(दिखाता है)** काम हो जाने पर–

शर्वनाग : तब शीघ्र चलिए, दुष्ट रामा भीतर पहुँच गयी होगी।

(सब जाते हैं।)

[पट-परिवर्तन]

४

[बन्दीगृह में देवकी और रामा]

रामा : महादेवी! मैं लज्जा के गर्त्त में डूब रही हूँ। मुझे कृतज्ञता और सेवा-धर्म धिक्कार दे रहे हैं। मेरा स्वामी...

देवकी : शांत हो रामा! बुरे दिन कहने किसे है? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्मसमर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें, तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। इसलिए इस कठोर समय में भगवान की स्निग्ध . करुणा का शीतल ध्यान कर।

रामा : महादेवी! परन्तु आपकी क्या दशा होगी?

देवकी : मेरी दशा? मेरी लाज का बोझ उसी पर है जिसने वचन दिया है, जिस विपद्-भंजन की असीम दया अपना स्निग्ध अंचल सब दुखियों के आँसू पोंछने के लिए सदैव हाथ में लिये रहती है।

रामा : परन्तु उसने पिशाच का प्रतिनिधित्व ग्रहण किया है, और...

देवकी : न घबरा रामा! एक पिशाच नहीं, नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपा दृष्टि से एक बिन्दु से शान्त होती है।

[नेपथ्य से गान]

पालना बनें प्रलय की लहरें!
शीतल हो ज्वाला की आँधी,
करुणा के घन-छहरें।
दया दुलार करे, पल भर भी—
विपदा पास न ठहरे।
प्रभु का हो विश्वास सत्य तो,
सुख का केतन ध्वज फहरे।

(भटार्क आदि के साथ अनन्तदेवी का प्रवेश।)

अनन्तदेवी : परन्तु व्यंग्य की विष-ज्वाला रक्तधारा से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

देवकी : क्या तुम मेरी हत्या करोगी?

प्रपंचबुद्धि : हाँ! सद्धर्म का विरोधी, हिमालय की निर्जन ऊँची चोटी तथा अगाध समुद्र के अन्तस्थल में भी नहीं बचने पावेगा; और उस महाबलिदान का आरम्भ तुम्हीं से होगा। शर्व! आगे बढ़ो।

रामा : एक शर्व नहीं, तुम्हारे-जैसे सैकड़ों पिशाच भी यदि जुट कर आवें तो आज महादेवी का अंगस्पर्श कोई न कर सकेगा।

(छुरी निकालती है।)

शर्वनाग : मैं तेरा स्वामी हूँ रामा! क्या तू मेरी हत्या करेगी?

रामा : ओह! बड़ी धर्मबुद्धि जगी है पिशाच को, और यह महादेवी तेरी कौन है?

शर्वनाग : फिर भी मैं तेरा..

रामा : स्वामी! नहीं-नहीं, तू मेरे स्वामी की 'नरकवासिनी प्रेतात्मा' है। तेरी हत्या कैसी—तू तो कभी का मर चुका है।

देवकी : शान्त हो रामा! देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल बे रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।

(शर्व आगे बढ़ता है।)

अनन्तदेवी : क्यों देवकी! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई?

देवकी : परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।

भटार्क : भगवान् का स्मरण कर लो।

देवकी : मेरे अन्तर की करुण कामना एक थी कि 'स्कन्द' को देख लूँ। परन्तु तुम लोगों से, हत्यारों से, मैं उसके लिए भी प्रार्थना न करूँगी। प्रार्थना उसी विश्वम्भर के श्रीचरणों में है, जो अपनी अनन्त दया का अभेद्य कवच पहना कर मेरे स्कन्द को सदैव सुरक्षित रखेगा।

शर्वनाग : अच्छा तो **(खड्ग उठाता है, रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है।)** हट जा अभागिनी!

रामा : मूर्ख! अभागा कौन है? जो संसार के सब से पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान् है; वह या मैं?

शर्वनाग : कहता हूँ कि अपनी लोथ मुझे पैरों से न ठुकराने दे!

रामा : टुकडे का लोभी! तू सती का अपमान करे, यह तेरी स्पर्धा? तू कीड़ों से भी तुच्छ है। पहले मैं मरूँगी तब महादेवी।

अनन्तदेवी : **(क्रोध से)** तो पहले इसी का अन्त करो शर्व! शीघ्रता करो।

शर्वनाग : अच्छा तो वही होगा (प्रहार करने पर उद्यत होता है।)

[किवाड़ तोड़कर स्कन्द भीतर घुस आता है–पीछे मुद्गल और धातुसेन। आते ही शर्वनाग की गर्दन दबाकर तलवार छीन लेता है।]

स्कन्दगुप्त : **(भटार्क से)** क्यों रे नीच पशु! तेरी क्या इच्छा है?

भटार्क : राजकुमार! वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।

स्कन्दगुप्त : तू वीर है? अर्द्धरात्रि में निस्सहाय अबला महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने वाला चोर! तुझे भी वीरता का अभिमान है? तो द्वन्द्वयुद्ध के लिए आमन्त्रित करता हूँ–बचा अपने को!

(भटार्क दो-एक हाथ चलाकर घायल होकर गिरता है।)

स्कन्दगुप्त : मेरी सौतेली माँ! तुम...?

अनन्तदेवी : स्कन्द! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ।

(घुटनों के बल बैठकर हाथ जोड़ती हुई)

स्कन्दगुप्त : अनन्तदेवी! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता, परन्तु सावधान! विद्रोह की इच्छा न करना, नहीं तो क्षमा असम्भव है। 'अहा! मेरी माँ!'

देवकी : (आलिंगन करके) आओ मेरे वत्स!

[पट-परिवर्तन]

५

[अवन्ती-दुर्ग का एक भाग; बन्धुवर्मा, भीमवमा और जयमाला का प्रवेश।]

बन्धुवर्मा : वत्स भीम! बोलो, तुम्हारी क्या सम्मति है?

भीमवर्मा : तात! आपकी इच्छा; मैं आपका अनुचर हूँ।

जयमाला : परन्तु इसकी आवश्यकता ही क्या है? उनका इतना बड़ा साम्राज्य है, तब भी क्या मालव ही के बिना काम न चलेगा?

बन्धुवर्मा : देवी! केवल स्वार्थ देखने का अवसर नहीं है। यह ठीक है कि शकों के पतन-काल में पुष्करणाधिपति स्वर्गीय महाराज सिंहवर्मा ने एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, और उनके वंशधर ही उस राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं; परन्तु उस राज्य का ध्वंश हो चुका था, म्लेच्छों की सम्मिलित वाहिनी उसे धूल में मिला चुकी थी; उस समय तुम लोगों को केवल आत्महत्या का ही अवलम्ब निःशेष था, तब इन्हीं स्कन्दगुप्त ने रक्षा की थी; यह राज्य अब न्याय से उन्हीं का है।

भीमवर्मा · परन्तु क्या वे माँगते हैं?

बन्धुवर्मा : नहीं भीम! युवराज स्कन्द ऐसे क्षुद्र हृदय के नहीं; उन्होंने पुरगुप्त को इस जघन्य अपराध पर भी मगध का शासक बना दिया है। वह तो सिंहासन भी नहीं लेना चाहते।

जयमाला : परन्तु महाराज मालव उन्हें प्रिय है!

बन्धुवर्मा : देवी, तुम नहीं देखती हो कि आर्यावर्त्त पर विपत्ति की प्रलय-मेघमाला घिर रही है; आर्य-साम्राज्य के अन्तर्विरोध और दुर्बलता को आक्रमणकारी भली-भाँति जान गये। शीघ्र ही देशव्यापी युद्ध की सम्भावना है। इसलिए यह मेरी ही सम्मति है कि साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिए, आर्य राष्ट्र के त्राण के लिए, युवराज उज्जयिनी में रहें; इसी में सबका कल्याण है। आर्यावर्त्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है। और उज्जयिनी में साम्राज्यभिषेक का अनुष्ठान होगा, सम्राट् होंगे स्कन्दगुप्त।

जयमाला : आर्यपुत्र! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है? क्या उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा?

बन्धुवर्मा : **(सिर झुका कर सोचते हुए)** तुम कृतघ्नता का समर्थन करोगी, वैभव ओर ऐश्वर्य के लिए ऐसा कदर्य प्रस्ताव करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी ध्यान न था!

जयमाला : यदि होता?

बन्धुवर्मा : तब मैं इस कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही से नमस्कार करता और आजीवन अविवाहित रहता। क्षत्रिये! जो केवल खड्ग का अवलम्ब रखनेवाले–सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर, मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

भीमवर्मा : भैया! तब?

बन्धुवर्मा : भीम! क्षत्रियों का कर्तव्य है–आर्त्त-त्राण परायण होना, विपद का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसक्याकर अवहेलना करना, और–और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना!

(देवसेना का सहसा प्रवेश।)

देवसेना : भाभी! सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तिवाद का विस्मृत हो जाना–एक मनोहर संगीत है! क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो; भैया को देखो–कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र!

जयमाला : देवसेना! समष्टि में भी व्यष्टि रहती है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो?

बन्धुवर्मा : ठहरो जयमाला! इसी क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। इसे छोड़ दो जयमाला! इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र वस्तुओं से बहुत दूर हो जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

भीमवर्मा : भाभी! अब तर्क न करो। समस्त देश के कल्याण के लिए–एक कुटुम्ब की भी नहीं, उसके 'क्षुद्र स्वार्थों की बलि होने दो भाभी! हृदय नाच उठा है, जाने दो इस नीच प्रस्ताव को। देखो–हमारा आर्यावर्त्त विपन्न है, यदि हम मर-मिटकर भी इसकी कुछ सेवा कर सकें...

जयमाला : जब सभी लोगों की ऐसी इच्छा है, तब मुझे क्या।

बन्धुवर्मा : तब मालवेश्वरी की जय हो, तुम्हीं इस सिंहासन पर बैठो। बन्धुवर्मा तो आज से आर्य-साम्राज्य-सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक है। तुम्हें तुम्हारा ऐश्वर्य सुखद हो।

(जाना चाहता है।)

भीमवर्मा : ठहरो भैया, हम भी चलते हैं।

चक्रपालित : **(प्रवेश करके)** धन्य वीर! तुमने क्षत्रिय का सिर ऊँचा किया है। बन्धुवर्मा! आज तुम महान् हो, हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं। रण में, वन में, विपत्ति में, आनन्द में, हम सब सहभागी होंगे। धन्य तुम्हारी जननी–जिसने आर्य-राष्ट्र का ऐसा शूर सैनिक उत्पन्न किया।

बन्धुवर्मा : स्वागत चक्र! मालवेश्वरी की जय हो! अब हम सब सैनिक जाते हैं!

चक्रपालित : ठहरो बन्धु! एक सुखद समाचार सुन लो। पिताजी का अभी-अभी पत्र आया है कि सौराष्ट्र के शकों को निर्मूल कर के परम भट्टारक मालव के लिए प्रस्थान कर चुके हैं।

बन्धुवर्मा : सम्भवतः महाराजपुत्र उत्तरापथ की सीमा की रक्षा करेंगे।

चक्रपालित : हाँ बन्धु!

देवसेना : लो भाई, मैं भी तुम लोगों की सेवा करूँगी।

जयमाला : **(घुटने टेककर)** मालवेश्वरी की जय हो! प्रजा ने अपराध किया है, दंड दीजिए। पतिदेव! आपकी दासी क्षमा माँगती है। मेरी आँखें खुल गईं। आज हमने जो राज्य पाया है, वह विश्व-साम्राज्य से भी ऊँचा है—महान् है। मेरे स्वामी और ऐसे महान्! धन्य हूँ मैं...

[बन्धुवर्मा सिर पर हाथ रखता है।]

६

[पथ में भटार्क और उनकी माता]

कमला : तू मेरा पुत्र है कि नहीं?

भटार्क : माँ! संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है, और मुझे इतने ही पर विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ, किसलिए? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है, और वह जीवित है।

कमला : और मुझे इसका दुःख है कि मैं मर क्यों न गई; मैं क्यों अपने कलंक-पूर्ण जीवन को पालती रही। भटार्क! तेरी माँ को एक ही आशा थी कि पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पद-दलित भारतभूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा; मेरा सिर ऊँचा होगा। परन्तु हाय!

भटार्क : माँ! तो तुम्हारी आशाओं को मैंने विफल किया? क्या मेरी खड्ग-लता आग के फूल नहीं बरसाती? क्या मेरे रण-नाद वज्र-ध्वनि के समान शत्रु के कलेजे नहीं कँपा देते? क्या तेरे भटार्क का लोहा भारत के क्षत्रिय नहीं मानते?

कमला : मानते हैं, इसी से तो और ग्लानि है।

भटार्क : घर लौट चलो माँ! ग्लानि क्यों है?

कमला : इसलिए कि तू देशद्रोही है। तू राजकुल की शांति का प्रलय-मेघ बन गया; और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न!! कमला कलंकिनी हो सकती है, परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता, उसक रक्त में नहीं। **(रोती है।)**

(विजया का प्रवेश।)

विजया : माता! तुम क्यों रो रही हो? **(भटार्क की ओर देखकर)** और यह कौन? क्यों जी! तुमने इस वृद्धा का क्यों अपमान किया है?

कमला : देवी! यह मेरा पुत्र था।

विजया : था! क्या अब नहीं?

कमला : नहीं, इसने महाबलाधिकृत होने के लालच में अपने आया शृंखला में जकड़ दिये; अब फिर भी उज्जयिनी में है—किसी षड्यंत्र के लिए!

विजया : कौन, तुम महाबलाधिकृत भटार्क हो? और तुम्हारी माता की यह दीन दशा!

कमला : ना बेटी! उसे कुछ मत कहो, मैं स्वयं इसका ऐश्वर्य त्याग कर चली आई हूँ। महाकाल के मन्दिर में भिक्षा ग्रहण कर इसी उज्जयिनी में पड़ी रहूँगी, परन्तु इससे..

भटार्क : माँ! अब और लज्जित न करो। चलो—घर चलूँ।

विजया : (स्वगत) अहा! कैसी वीरत्व-व्यंजक मनोहर मूर्ति है! और गुप्त-साम्राज्य का महाबलाधिकृत!

कमला : इस पिशाच ने छलने के लिए रूप बदला है। सम्राट् का अभिषेक होनेवाला है, यह उसी में कोई प्रपञ्च रचने आया है। मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दंडनायक को समर्पित कर देती।

'कौन! भटार्क? अरे यहाँ भी!!'

(सहसा मातृगुप्त, मुदगल और गोविन्दगुप्त का प्रवेश)

भटार्क तलवार निकालता है, गोविन्दगुप्त उसके हाथ से तलवार छीन लेते हैं।

मुद्गल : महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय!

गोविन्दगुप्त : कृतघ्न! वीरता उन्माद नहीं है, आँधी नहीं है, जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्रबल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय। तू उसे कुचलने पर सिर ऊँचा कर नहीं रह सकता। मातृगुप्त! बन्दी करो इसे।और तुम कौन हो भद्रे?'

कमला : मैं इस कृतघ्न की माता हूँ। अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।

गोविन्दगुप्त : यह तो मैंने अपने कानों से सुना। धन्य हो देवी। तुम जैसी जननियाँ जब तक उत्पन्न होंगी, तब तक आर्यराष्ट्र का विनाश असम्भव है। 'और वह युवती कौन है?'

कमला : मुझे सहायता देती थी, कोई अभिजात कुल की कन्या है। इसका कोई अपराध नहीं।

मुद्गल : अरे राम। यह भी कोई अवश्य भयानक स्त्री होगी!

मातृगुप्त : परन्तु यह अपना कोई परिचय भी नहीं दे रही है।

विजया : मैं अपराधिनी हूँ; मुझे भी बन्दी करो।

भटार्क : यह क्यों, इस युवती से तो मैं परिचित भी नहीं हूँ; इसका कोई अपराध नहीं।

विजया : **(स्वगत)** ओह! इस आनन्द महोत्सव में मुझे कौन पूछता है, मैं मालव में अब किस काम की हूँ! जिसके भाई ने समस्त राज्य अर्पण कर दिया है– वह देवसेना और कहाँ मैं! तब तो मेरा यही... **(भटार्क की ओर देखती है।)**

गोविन्दगुप्त : भद्रे! तुम अपना स्पष्ट परिचय दो।

विजया : मैं अपराधिनी हूँ।

मातृगुप्त : परन्तु तुम्हारा और भी कोई परिचय है?

विजया : यही कि मैं बन्दी होने की अभिलाषिनी हूँ।

कमला : वत्से! तुम अकारण क्यों दुःख उठाती हो?

विजया : मेरी इच्छा। मुझे बन्दी कीजिए। मैं अपना परिचय न्यायाधिकरण में दूँगी। यहाँ मैं कुछ न कहूँगी। मेरा यहाँ अपमान किया जायगा तो आर्यराष्ट्र के नाम पर मैं तुम लोगों पर अभियोग लगाऊँगी।

गोविन्दगुप्त : क्यों भटार्क ! यदि तुम्हीं कुछ कहते–

भटार्क : मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है। मुझे भी विलम्ब हो रहा है, शीघ्र न्यायाधिकरण में ले चलिए।

मुद्गल : और वृद्धा कमला?

गोविन्दगुप्त : यह बन्दी नहीं हैं, परन्तु एक बार स्कन्द के समक्ष उसे चलना होगा।

मातृगप्त : तो फिर सब चलें, अभिषेक का समय भी समीप है।

(सब जाते हैं।)

[पट-परिवर्तन]

७

राजसभा

[बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, मातृगुप्त तथा मुद्‌गल के साथ स्कन्दगुप्त का एक ओर से और दूसरी ओर से गोविन्दगुप्त का प्रवेश।]

स्कन्दगुप्त : **(बीच में खड़ा होकर)** तात! कहाँ थे? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे?

(चरण-वन्दन करता है।)

गोविन्दगुप्त : उठो वत्स! आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति! गुप्तकुल तिलक! भाई से मैं रूठ गया था, परन्तु तुमसे कदापि नहीं; तुम मेरी आत्मा हो वत्स! **(आलिंगन करता है।)**

[अनुचरियों के साथ देवकी का प्रवेश, स्कन्द देवकी का चरणवन्दन करता है।]

देवकी : वत्स! चिरविजयी हो! देवता तुम्हारे रक्षक हों। महाराज-पुत्र! इसे आशीर्वाद दीजिए कि गुप्तकुल के गुरुजनों के प्रति यह विनयशील रहे।

गोविन्दगुप्त : महादेवी! तुम्हारी कोख से पैदा हुआ यह रत्न, यह गुप्तकुल के अभिमान का चिह्न, सदैव यशोमंडित रहेगा!

स्कन्दगुप्त : **(बन्धुवर्मा से)** मित्र मालवेश! बढ़ो, सिंहासन पर बैठो! हम लोग तुम्हारा अभिनन्दन करें!

(जयमाला और देवसेना का प्रवेश।)

जयमाला : देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं। आर्यावर्त्त के सम्राट् के अतिरिक्त अब दूसरा कोई मालव के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

["मालव की जय हो!"–**तुमुल ध्वनि]**

बन्धुवर्मा : **(हँसकर)** सम्राट्! अब तो मालवेश्वरी ने स्वयं सिंहासन त्याग दिया है, और मैं उन्हें दे चुका था, इसलिए अब सिंहासन ग्रहण करने में विलम्ब न कीजिए।

गोविन्दगुप्त वत्स! इस आर्य-जाति के रत्नों की कौन-सी प्रशंसा करूँ। इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं। बढ़ो, वत्स! सिंहासन पर बैठो, मैं तुम्हारा तिलक करूँ।

स्कन्दगुप्त तात! विपत्तियों के बादल घिर रहे हैं; अन्तर्विद्रोह की ज्वाला प्रज्ज्वलित है; इस समय मैं केवल एक सैनिक बन सकूँगा, सम्राट् नहीं।

गोविन्दगुप्त आज आर्य-जाति का प्रत्येक बच्चा सैनिक है, सैनिक छोड़ कर और कुछ नहीं। आर्य-कन्याएँ अपहरण की जाती हैं, हूणों के विकट ताण्डव से पवित्र भूमि पदाक्रांत है; कहीं देवता की पूजा नहीं होती; सीमा की बर्बर जातियों की राक्षसी वृत्ति का प्रचंड पाखंड फैला है। इसी समय आर्य जाति तुम्हें पुकारती है—सम्राट् होने के लिए नहीं, उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए—सम्राट्!

[गोविन्दगुप्त और बन्धुवर्मा हाथ पकड़कर स्कन्दगुप्त को सिंहासन पर बैठाते है। भीम छत्र लेकर बैठता है। देवसेना चमर करती है। गैरुड़ध्वज लेकर बन्धुवर्मा खड़े होते हैं। देवकी राजतिलक करती है। गोविन्दगुप्त खड्ग का उपहार देते हैं। चक्र गरुड़ांकित राजदण्ड देता है।]

गोविन्दगुप्त : परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय हो!

सब : **(समवेत स्वर से)** जय हो!

बन्धुवर्मा : आर्य-साम्राज्य के महाबलाधिकृत महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त की जय हो! **(सब वैसा ही कहते हैं)**

स्कन्दगुप्त : आर्य! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य पालन कर सकूँ, और आर्यराष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान् से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कन्दगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेश-सेवा से, कभी विचलित न हो।

गोविन्दगुप्त : सम्राट्! परमात्मा की असीम अनुकम्पा से आपका उद्देश्य सफल हो। आज गोविन्द ने अपना कर्तव्य पालन किया। वत्स बन्धुवर्मा! तुम इस नवीन आर्यराष्ट्र के संस्थापक हो। तुम्हारे इस आत्म-त्याग की गौरव-गाथा आर्य-जाति का मुख उज्ज्वल करेगी। वीर! इस वृद्ध में साम्राज्य के महाबलाधिकृत होने की क्षमता नहीं, तुम्हीं इसके उपयुक्त हो।

बन्धुवर्मा अभी नहीं आर्य! आपके चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव का राजकुटुम्ब एक-एक बच्चा, आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे, वही होगा।

'धन्य! धन्य!!'

स्कन्दगुप्त : तात! पर्णदत्त इस समय नहीं है!

चक्रपालित : सम्राट! वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख-रेख में लगे हैं।

(कुमारदास का प्रवेश।)

मातृगुप्त : सिंहल के युवराज कुमार धातुसेन की जय हो।

(सब आश्चर्य से देखते हैं।)

स्कन्दगुप्त : कुमारदास, सिंहल के युवराज?

मातृगुप्त : हाँ महाराजाधिराज!

स्कन्दगुप्त : अद्भुत! वीर युवराज। तुम्हारा स्नेह क्या कभी भूल सकता हूँ? आओ, स्वागत!

(सब मंच पर बैठते हैं।)

गोवन्दगुप्त : बन्दियों को ले आओ।

[सैनिकों के साथ भटार्क, शर्वनाग, विजया तथा कमला का प्रवेश।]

स्कन्दगुप्त : क्यों शर्व! तुम क्या चाहते हो?

शर्वनाग : सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, ऐसे नीच के लिए और कोई दंड नहीं है।

स्कन्दगुप्त : नहीं, मैं तुम्हें इससे भी कड़ा दण्ड दूँगा, जो वध से भी उग्र होगा।

शर्वनाग : वही हो सम्राट्! जितनी यन्त्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा।

स्कन्दगुप्त : परन्तु मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ, क्षमा करता हूँ। तुम्हारे अपराध ही तुम्हारे मर्मस्थल पर सैकड़ों बिच्छुओं के डंक की चोट करेंगे। आजीवन तुम उसी यन्त्रणा को भोगो, क्योंकि रामा–साध्वी रामा–को मैं अपनी आज्ञा से विधवा न बनाऊँगा। रामा सती! तेरे पुण्य से आज तेरा पति मृत्यु से बचा!

(रामा सम्राट् के पैर पकड़ती है।)

शर्वनाग : दुहाई सम्राट की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूँगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचरण किया था। ओह!

(छुरी निकालना चाहता है।)

स्कन्दगुप्त : ठहरो शर्व! मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा।

(रामा आश्चर्य और दुःख से देखती है।)

स्कन्दगुप्त : शर्व! यहाँ आओ।

(शर्व समीप आता है।)

देवकी : वत्स! इसे किसी विषय का शासक बनाकर भेजो, जिसमें दुखिया रामा को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

सब : महादेवी की जय हो।

स्कन्दगुप्त : शर्व! तुम आज से अन्तर्वेद के विषयपति नियत किये गये। यह लो–**(खड्ग देता है)**

शर्वनाग : **(रुद्ध कण्ठ से)** सम्राट्! देवता! आपकी जय हो! **(देवकी के पैर पर गिर कर)** माँ! मुझे क्षमा करो, मैं मनुष्य से पशु हो गया था! अब तुम्हारी ही दया से मैं मनुष्य हुआ। आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देव-चरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूँ!

देवकी : उठो। क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती। प्रतिहिंसा पाशव धर्म है। उठो, मैं तुम्हें क्षमा करती हूँ।

(शर्व खड़ा होता है।)

स्कन्दगुप्त : भटार्क! तुम गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत नियत किये गये थे, और तुम्हीं साम्राज्य-लक्ष्मी महादेवी की हत्या के कुचक्र में सम्मिलित थे! यह तुम्हारा अक्षम्य अपराध है।

भटार्क : मैं केवल राजमाता की आज्ञा का पालन करता था।

देवकी : क्यों भटार्क! तुम यह उत्तर सच्चे हृदय से देते हो? क्या ऐसा कहकर तुम स्वयं अपने को धोखा देते हुए औरों को भी प्रवंचित नहीं कर रहे हो?

भटार्क : अपराध हुआ। **(सिर नीचा कर लेता है)**

स्कन्दगुप्त : तुम्हारे खड्ग पर साम्राज्य को भरोसा था। तुम्हारे हृदय पर तुम्हीं को भरोसा न रहे, यह बड़े धिक्कार की बात है। तुम्हारा इतना पतन? **(भटार्क स्तब्ध रहता है, विजया की ओर देखकर)** और तुम विजया? तुम क्यों इसमें–

देवसेना : सम्राट्! विजया मेरी सखी है।

विजया : परन्तु मैंने भटार्क को वरण किया है।

जयमाला : विजया!

विजया : कर चुकी देवी।

देवसेना : उसके लिए दूसरा उपाय न था राजाधिराज! प्रतिहिंसा मनुष्य को इतना नीचे गिरा सकती है! परन्तु विजया तू ने शीघ्रता की।
(स्कन्द विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है।)

गोविन्दगुप्त : यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है! भटार्क के नीच कर्म से दुखी होकर यह उज्जयिनी चली आई है।

स्कन्दगुप्त : परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया?

देवसेना : (स्वगत) आह! जिसके लिए मुझे आशंका थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गयी।

देवकी : वत्स! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूँद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल-कामना है कि तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सब के लिए क्षमाप्रार्थिनी हूँ।

कुमारदास : आर्यनारी सती! तुम धन्य हो! इसी गौरव से तुम्हारे का सिर ऊँचा रहेगा।

स्कन्दगुप्त : जैसी माता की इच्छा–

मातृगुप्त : परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!!

[यवनिका]

तृतीय अंक

१

[शिप्रा-तट]

प्रपंचबुद्धि सब विफल हुआ। इस दुरात्मा स्कन्दगुप्त ने मेरी आशाओं के भंडार पर अर्गला लगा दी। कुसुमपुर में पुरगुप्त और अनंतदेवी अपने विडम्बना के दिन बिता रहे हैं। भटार्क भी बन्दी हुआ, उसके प्राणों की रक्षा नहीं। क्रूर कर्मों की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म के उठाने की आकांक्षा थी, परन्तु वह टूट गया! **(कुछ सोचकर)** उग्रतारा की साधना से विकट से भी विकट कार्य सिद्ध होते हैं, तो फिर इस महाकाल में महाश्मशान से बढ़कर कौन उपयुक्त स्थान होगा! चलूँ—

भटार्क : भिक्षुशिरोमणे! प्रणाम!

प्रपंचबुद्धि : कौन, भटार्क? अरे मैं स्वप्न देख रहा हूँ क्या!

भटार्क : नहीं आर्य, मैं जीवित हूँ।

प्रपंचबुद्धि : उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया?

भटार्क : नहीं, उससे बढ़कर!

प्रपंचबुद्धि : क्या?

भटार्क : मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंचबुद्धि : तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए, न कि उनके उपकारों का स्मरण।

भटार्क : मैं इतना नीच नहीं हूँ!

प्रपंचबुद्धि : परन्तु मैं तुम्हारी प्रवृत्ति जानता हूँ। तुम इतने उच्च भी नहीं हो। चलो एकान्त में बात करें। कोई आता है।

(दोनों जाते हैं। विजया का प्रवेश)

विजया : मैं कहाँ जाऊँ! उस उच्छृंखल वीर को मैं लौहशृंखला पहना सकूँगी? उसे अपने बाहु-पाश में जकड़ सकती हूँ? हृदय के विकल मनोरथ! आह!

[गाना]

उमड़ कर चली भिगोने आज,
तुम्हारा निश्चय अञ्चल छोर।
नयन जल-धारा रे प्रतिकूल!
देख ले तू फिरकर इस ओर!

हृदय की अन्तरतम मुसक्यान,
कल्पनामय तेरा यह विश्व!
लालिमा में लय हो लवलीन!
निरखते इन आँखों की कोर।

यह कौन? ओ! राजकुमारी!

[देवसेना का प्रवेश–दूर पर उसकी परिचारिकाएँ]

देवसेना : विजया! सायंकाल का दृश्य देखने शिप्रा-तट पर तुम भी आ गई हो।

विजया : हाँ, राजकुमारी। **(सिर झुका लेती है।)**

देवसेना : विजया, अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई, मुझे कुछ पूछना था।

विजया : पूछना क्या है?

देवसेना : क्या जो तुमने किया है, उसे सोच-समझकर? कहीं तम्हारे दम्भ ने तुमको छल तो नहीं लिया? तीव्र मनोवृत्ति के कशाघात ने तुम्हें विपथगामिनी तो नहीं बना दिया?

विजया : राजकुमारी! मैं अनुगृहीत हूँ। उस कृपा को नहीं भूल सकती जो आपने दिखाई है। परन्तु अब और प्रश्न करके मुझे उत्तेजित करना ठीक नहीं।

देवसेना : **(आश्चर्य से)** क्यों विजया! मेरे सखी-जनोचित सरल प्रश्नों में भी तुम्हें व्यंग्य सुनाई पड़ता है?

विजया : क्या इसमें भी प्रमाण की आवश्यकता है? राजकुमारी! आज से मेरी ओर देखना मत। मुझे कृत्या अभिशाप की ज्वाला समझना और..

देवसेना : ठहरो, दम ले लो! सन्देह के गर्त्त में गिरने के पहले विवेक का अवलम्बन ले लो विजया!

विजया : हताश जीवन कितना भयानक होता है–यह नहीं जानती हो? उस दिन जिस तीखी छुरी को रखने के लिए मेरी हँसी उड़ाई जा रही थी, मैं समझती हूँ कि उसे रख लेना मेरे लिए आवश्यक था। राजकुमारी! मुझे न छेड़ना। मैं तुम्हारी शत्रु हूँ। **(क्रोध से देखती है।)**

देवसेना : **(आश्चर्य से)** क्या कह रही हो?

विजया : वही जिसे तुम सुन रही हो।

देवसेना : वह तो जैसे उन्मत्त का प्रलाप था, अकस्मात् स्वप्न देखकर जग जाने वाले प्राणी की कुतूहल-गाथा थी। विजया! क्या मैंने तुम्हारे सुख में बाधा दी? परन्तु मैंने तो तुम्हारे मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े न बिछाये।

विजया : उपकारों की ओट से मेरे स्वर्ण को छिपा दिया, मेरी कामना-लता को समूल उखाड़ कर कुचल दिया!

देवसेना : शीघ्रता करनेवाली स्त्री! अपनी असावधानी का दोष दूसरे पर न फेंक। देवसेना मूल्य देकर प्रणय नहीं लिया चाहती है... अच्छा, इससे क्या?

(जाती है।)

विजया : जाती हो, परन्तु सावधान!

(भटार्क और प्रपंचबुद्धि का प्रवेश।)

भटार्क : विजया! तुम कब आई हो?

विजया : अभी-अभी, तुम्हीं को तो खोज रही थी। **(प्रपंचबुद्धि को देखकर)** आप कौन है?

भटार्क : 'योगाचार संघ' के प्रधान श्रमण आर्य प्रपंचबुद्धि।

(विजया नमस्कार करती है।)

प्रपंचबुद्धि : कल्याण हो देवी! भटार्क से तो तुम परिचित-सी हो, परन्तु मुझे भी जान जाओगी।

विजया : आर्य! आपके अनुग्रह-लाभ की बड़ी आकाक्षा है।

प्रपंचबुद्धि : शुभे! प्रज्ञापारमिता-स्वरूपा तारा तुम्हारी रक्षा करे। क्या तुम सद्धर्म की सेवा के लिए कुछ उत्सर्ग कर सकोगी? **(कुछ सोचकर)** तुम्हारे मनोरथ पूर्ण होने में विघ्न और विलम्ब है। इसीलिए तुम्हें अवश्य धर्माचरण करना होगा।

विजया : आर्य! मेरा भी एक स्वार्थ है।

प्रपंचबुद्धि : क्या?

विजया : राजकुमारी देवसेना का अन्त!

प्रपंचबुद्धि : और मुझे उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान में एक राजबलि चाहिए!

भटार्क : यह तो अच्छा सुयोग है।

विजया : उसे श्मशान तक ले आना तो मेरा काम है; आगे मैं कुछ न कर सकूँगी।

प्रपंचबुद्धि : सब हो जायगा। उग्रतारा की कृपा से सब कुछ सुसम्पन्न होगा।

भटार्क : परन्तु मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा, और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से...नहीं, नहीं...

प्रपंचबुद्धि : सावधान! भटार्क! अलग ले जाकर इतना समझाया फिर भी...! तुम पहले अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुत हो चुके हो।

भटार्क : ओह! पाप-पंक में लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं! कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में बाँध लेता है! दुर्भाग्य!

(सबका प्रस्थान।)

मातृगुप्त : **(निकलकर)** भयानक कुचक्र! एक निर्मल कुसुम-कली को कुचलने के लिए इतनी बड़ी प्रतारणा की चक्की? मनुष्य! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को! तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन हैं–छल, कपट, विश्वासघात कृतघ्नता और पैने अस्त्र। इनसे भी बढ़कर प्राण लेने की कला-कुशलता। देखा जायगा; भटार्क! तुम जाते कहाँ हो!

[जाता है।]

२

[श्मशान में साधक-रूप से प्रपंचबुद्धि। दूर से स्कन्दगुप्त टहलता हुआ आता है।]

स्कन्दगुप्त : इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता है कि सब की–विश्व-भर की–शान्ति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता, तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला–कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त-सम्राट् के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है। कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है, और न तो हँस सकता है। तब भी विजया...? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा। जिसे हमने सुख-शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्त दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया! **(देखकर)** ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्तिमान पिशाच है! अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिपकर देखूँ। **(छिपता है।)**

(विजया के साथ देवसेना का प्रवेश।)

देवसेना : आज फिर तुम किस अभिप्राय से आई हो?

विजया : और तुम राजकुमारी? क्या तुम इस महाबीभत्स श्मशान में आने से नहीं डरती हो?

देवसेना : संसार का मूक शिक्षक 'श्मशान' क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?

(नेपथ्य से गान)

सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल-सदृश।–सब०

समय भागता है प्रतिक्षण में,
नव-अतीत के तुषार-कण में,
हमें लगा कर भविष्य-रण में,
आप कहाँ छिप जाता है?–सब०

बुल्ले, लहर, हवा के झोंके,
मेघ और बिजली के टोंके,
किसका साहस है कुछ रोके,
जीवन का वह नाता है।–सब०

वंशी को बस बज जाने दो,
मीठी मीड़ों को आने दो,
आँख बन्द करके गाने दो,
जो कुछ हमको आता है।–सब०

विजया : **(स्वगत)** भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी...आह! कैसा भोला मुखड़ा है! नहीं, नहीं विजया! सावधान! प्रतिहिंसा... **(प्रकट)** राजकुमारी! देखो, यह कोई बड़ा सिद्ध है, वहाँ तक चलोगी?

देवसेना : चलो, परन्तु मुझे सिद्ध से क्या प्रयोजन? जब मेरी कामनाएँ विस्मृति के नीचे दबा दी गई हैं, तब वह चाहे स्वयं ईश्वर ही हो तो क्या? तब भी एक कुतूहल है। चलो–

[विजया देवसेना को आगे कर प्रपंचबुद्धि के पास ले जाती है, और आप हट जाती है। ध्यान से आँख खोलकर प्रपंच उसे देखता है।]

प्रपंचबुद्धि : तुम्हारा नाम देवसेना है?

देवसेना : **(आश्चर्य से)** हाँ, भगवन्!

प्रपंचबुद्धि : तुमको देवसेवा के लिए शीघ्र प्रस्तुत होना होगा। तुम्हारी ललाटलिपि कह रही है कि तुम बड़ी भाग्यवती हो!

देवसेना : कौन-सी देवसेवा?

प्रपंचबुद्धि : यह नश्वर शरीर, जिसका उपभोग तुम्हारा प्रेमी भी न कर सका और न करने की आशा है, देवसेबा में अर्पित करो। उग्रतारा तुम्हारा परम मंगल करेंगी।

देवसेना : **(सिहर उठती है।)** क्या मुझे अपनी बलि देनी होगी? **(घूमकर देखती है)** विजया! विजया!!

प्रपंचबुद्धि : डरो मत, तुम्हारा सृजन इसीलिए था। नित्य की मोह-ज्वाला में जलने से तो यही अच्छा है कि तुम एक साधक का उपकार करती हुई अपनी ज्वाला शान्त कर दो!

देवसेना : परन्तु...कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता..

प्रपंचबुद्धि : **(उठकर उसका हाथ पकड़कर खड्ग उठाता है।)** पर मुझे ठहरने का अवकाश नहीं। उग्रतारा की इच्छा पूर्ण हो!

देवसेना : प्रियतम! मेरे देवता युवराज!! तुम्हारी जय हो!

(सिर झुकाती है।)

[पीछे से मातृगुप्त आकर प्रपंच का हाथ पकड़कर नेपथ्य में ले जाता है, देवसेना चकित होकर स्कन्द का आलिंगन करती है।]

३

[मगध में अनन्तदेवी, पुरगुप्त, विजया और भटार्क]

पुरगुप्त : विजय-पर-विजय! देखता हूँ कि एक बार वंक्षुतट पर गुप्त-साम्राज्य की पताका फिर फहरायेगी। गरुड़ध्वज वंक्षु के रेतीले मैदान में अपनी स्वर्ग-प्रभा का विस्तार करेगा।

अनन्तदेवी : परन्तु तुमको क्या? निर्वीर्य, निरीह बालक! तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता है? लज्जा की गर्त्त में डूब जाते। और भी छाती फुलाकर इसका आनन्द मनाते हो!

विजया : अहा! यदि आज राजाधिराज कहकर युवराज पुरगुप्त का अभिनन्दन कर सकती!

भटार्क : यदि मैं जीता रहा तो वह भी कर दिखाऊँगा।

(दौवारिक का प्रवेश।)

दौवारिक : जय हो! एक चर आया है।

भटार्क : ले जाओ।

(दौवारिक जाकर चर को लिवा लाता है।)

चर : युवराज की जय हो!

भटार्क : तुम कहाँ से आये हो?

चर : नगरहार के हूण-स्कंधावार से।

भटार्क : क्या संदेश है?

चर : सेनापति खिंगिल ने पूछा है कि मगध की गुप्तपरिषद् क्या कर रही है? उसने प्रचुर अर्थ लेकर भी मुझे ठीक समय पर धोखा दिया है। परन्तु स्मरण रहे कि अबकी हमारा अभियान सीधे कुसुमपुर पर होगा।

स्कन्दगुप्त का साम्राज्य-ध्वंस पीछे होगा। पहले कुसुमपुरी का मणि-रत्न-भंडार लूटा जायगा। प्रतिष्ठान और चरणाद्रि तथा गोपाद्रि के दुर्गपतियों को धन, विद्रोह करने के लिए परिषद् की आज्ञा से भेजा गया था, उसका क्या फल हुआ? अन्तर्वेद के विषयपति की कुटिल दृष्टि ने उस रहस्य का उद्घाटन करके वह धन भी आत्मसात् कर लिया और सहायता के बदले हम लोग प्रवंचित हुए, जिससे हूणों को सिन्धु-तट छोड़ देना पड़ा।

भटार्क : ओह! शर्वनाग ने बड़ी सावधानी से काम लिया। आचार्य प्रपंचबुद्धि का निधन होने से यह सब दुर्घटना हुई है। दूत! हूण से कहना कि पुरगुप्त को सम्राट् बनाने में तुम्हें अवश्य सहायता करनी पड़ेगी।

चर : परन्तु उन्हें विश्वास कैसे हो?

भटार्क : मैं प्रमाण-पत्र दूँगा। हूणों को एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्दगुप्त ने समस्त सामन्तों को आमंत्रण दिया है मगध की रक्षक सेना भी उसमें सम्मिलित होगी, और मैं ही उसका परिचालन करूँगा। वहीं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलेगा। और यह लो प्रमाण-पत्र। **(पत्र लिखकर देता है।)**

पुरगुप्त : ठहरो।

अनन्तदेवी : चुप रहो!

दूत : तो यह उपहार भी सम्राज्ञी के लिये प्रस्तुत है।

(रत्नों से भरी हुई मंजूषा देता है।)

भटार्क : और उत्तरापथ के समस्त धर्मसंघों के लिए क्या किया है?

दूत : आर्य महाश्रमण के पास मैं हो आया हूँ। समस्त सद्धर्म के अनुयायी और संघ, स्कन्दगुप्त के विरुद्ध हैं। याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से घबरा उठा है। सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं।

भटार्क : अच्छा, जाओ। नगरहार के गिरिव्रज का युद्ध इसका निबटारा करेगा। हूणराज से कहना कि सावधान रहें, शीघ्र वहीं मिलूँगा।

(दूत प्रणाम करके जाता है।)

पुरगुप्त : यह क्या हो रहा है?

अनन्तदेवी : तुम्हारे सिंहासन पर बैठने की प्रस्तावना है!

(सैनिक का प्रवेश।)

सैनिक : महादेवी की जय हो!

भटार्क : क्या है?

सैनिक : कुसुमपुर की सेना जालन्धर से भी आगे बढ़ चुकी है। साम्राज्य के स्कन्धावार में शीघ्र ही उसके पहुँच जाने की संभावना है।

पुरगुप्त : विजया! बहुत विलम्ब हुआ। एक पात्र...

(अनन्तदेवी संकेत करती है, विजया उसे पिलाती है।)

भटार्क : मेरे अश्वों की व्यवस्था ठीक है न? मैं उसके पहले पहुँचूँगा!

सैनिक : परन्तु महाबलाधिकृत!

भटार्क : क्या? कहो!

सैनिक : यह राष्ट्र का आपत्तिकाल है, युद्ध की आयोजनाओं के बदले हम कुसुमपुर में आपानकों का समारोह देख रहे हैं। राजधानी विलासिता का केन्द्र बन रही है। यहाँ के मनुष्यों के लिए विलास के उपकरण बिखरे रहने पर भी अपर्याप्त हैं! नये-नये साधन और नवीन कल्पनाओं से भी इस विलासिता राक्षसी का पेट नहीं भर रहा है। भला मगध के विलासी सैनिक क्या करेंगे?

भटार्क : अबोध! जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी? जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

विजया : बात तो यही है।

सैनिक : आप महाबलाधिकृत हैं, इसलिए मैं कुछ न कहूँगा!

भटार्क : नहीं तो?

सैनिक : यदि दूसरा कोई ऐसा कहता, तो मैं यही उससे कहता कि तुम देश के शत्रु हो !

भटार्क : **(क्रोध से)** हैं...

सैनिक : हाँ। यवनों से उधार ली हुई सभ्यता नाम की विलासिता के पीछे आर्य-जाति उसी तरह पड़ी है, जैसे कुलवधू को छोड़कर कोई नागरिक वेश्या के चरणों में। देश पर बर्बर हूणों की चढ़ाई और तिसपर भी यह निर्लज्ज आमोद! जातीय जीवन के निर्वाणोन्मुख प्रदीप का यह दृश्य है। आह! जिस मगध देश की सेना सदैव नासीर में रहती थी, आर्य चन्द्रगुप्त की वही विजयिनी सेना पीछे निमन्त्रण पाने पर साम्राज्य-सेना में जाय! महाबलाधिकृत! मेरी तो इच्छा होती हैं कि मैं आत्महत्या कर लूँ! मैं उस सेना का नायक हूँ, जिस पर गरुड़ध्वज की रक्षा का भार रहता था। आर्य समुद्रगुप्त की प्रतिष्ठित उस सेना का ऐसा अपमान!

भटार्क : **(अपने क्रोध के मनोभाव दबाकर)** अच्छा, तुम यहीं मगध की रक्षा करना, मैं जाता हूँ।

सैनिक : हूँ, अच्छा तो यह खड्ग लीजिए, मैं आज से मगध की सेना का नायक नहीं। **(खड्ग देता है।)**

पुरगुप्त : **(मद्यप की-सी चेष्टा बनाकर)** यह अच्छा किया, जाओ मित्र! हम-तुम कादम्ब पियें। जाने दो इन्हें। इन्हें लड़ने दो!

अनन्तदेवी : **(भटार्क को संकेत करती हुई ले जाती है, और विजया से कहती है।)** विजया! युवराज का मन बहलाओ।

[सैनिक तिरस्कार की दृष्टि से देखते हुए जाता है। भटार्क और अनन्तदेवी एक ओर विजया और पुरगुप्त दूसरी ओर जाते हैं ।]

४

[उपवन]

(जयमाला और देवसेना)

जयमाला : तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नहीं आता? जब तू गाती है तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है!

पहली सखी : सम्राट् युद्ध-यात्रा में गये हैं और...

दूसरी सखी : तो क्या?

देवसेना : तुम सब भी भाभी के साथ मिल गई हो। क्यों भाभी! गाऊँ वह गीत?

जयमाला : मेरी प्यारी! तू गाती है। अहा! बड़ी-बड़ी आँखें तो बरसाती। ताल-सी लहरा रही हैं। तू दुःखी होती है। ले, मैं मैं जाती हूँ। अरी! तुम सब इसे हँसाओ। **(जाती है।)**

देवसेना : क्या महारथी हारकर भगे! अब तुम सब क्षुद्र सैनिकों की पारी है? अच्छा तो आओ।

पहली सखी : नहीं, राजकुमारी! मैं पूछती हूँ कि सम्राट् ने तुमसे कभी प्रार्थना की थी ?

दूसरी सखी : हाँ, तभी तो प्रेम का सुख है!

तीसरी सखी : तो क्या मेरी राजकुमारी स्वयं प्रार्थिनी होंगी? उहूँ!

देवसेना : प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों कहूँ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से; लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जा रहा है।

पहली सखी : न कहो, तब फिर क्या—हरी-हरी कोंपलों की टट्टी में फूल खिल रहा है—और क्या!

देवसेना : तेरा मुँह काला, और क्या? निर्दय होकर आघात मत कर, मर्म बड़ा कोमल है। कोई दूसरी हँसी तुझे नहीं आती?

(मुँह फेर लेती है।)

दूसरी सखी : *लक्ष्यभेद ठीक हुआ-सा देखती हूँ।*

देवसेना : *क्यों घाव पर नमक छिड़कती है? मैंने कभी उनसे प्रेम की चाह करके* उनका अपमान नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकान्त व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है। मत छेड़ो वीणा के तारों को कहीं दर्द न नासूर बन जाए. . .

(आँखों में आँसू बहते हैं।)

तीसरी सखी : हैं-हैं.....क्या तुम रोती हो? मेरा अपराध क्षमा करो!

देवसेना : **(सिसकती हुई)** नहीं प्यारी सखी! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रो लेती हूँ; बस, फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनन्त स्वर्ग का सृजन करेगा।

दूसरी सखी : तुम्हें इतना दुःख है, मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी!

देवसेना : **(सम्हलकर)** यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है, मेरा हृदय मुझ से अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय-कलह उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर, स्वस्थ होकर, बैठती हूँ।

तीसरी सखी : आश्चर्य! राजकुमारी! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है!

देवसेना : कूलों में उफन कर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचंड पवन और भयानक वर्षा! परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।

पहली सखी–

[गान]

माझी! साहस है खे लोगे!

जर्जर तरी भरी पथिकों से-
झड़ में क्या खोलोगे?
अलस नील-घन की छाया में-
जल जालों की छल-माया में-
अपना बल तोलोगे!

अनजाने तट की मदमाती-
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं!
ये झटके झेलोगे? माझी-

(भीमवर्मा का प्रवेश।)

भीमवर्मा : बहिन! शक-मण्डल से विजय का समाचार आया है!

देवसेना : भगवान् की दया है।

भीमवर्मा : परन्तु महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त वीरगति को प्राप्त हुए, यह बड़ा ..

देवसेना : वे धन्य हैं!

भीमवर्मा : वीर-शय्या पर सोते-सोते उन्होंने अनुरोध किया कि महाराज बन्धुवर्मा गुप्त-साम्राज्य के महाबलाधिकृत बनाये जायँ, इसलिए अभी वे स्कन्धावार में ठहरेंगे। उनका आना अभी नहीं हो सकता। और भी कुछ सुना देवसेना?

देवसेना : क्या?

भीमवर्मा : सम्राट् ने तुम्हें बचाने के पुरस्कार-स्वरूप मातृगुप्त को काश्मीर का शासक बना दिया है। गन्धारवंशी राजा अब वहाँ नहीं हैं। काश्मीर अब साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया है।

देवसेना : सम्राट् की महानुभावता है। भाई! मेरे प्राणों का इतना मूल्य?

भीमवर्मा : आर्य-साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन! सिन्धु के प्रदेश से म्लेच्छ-राज ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की

उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक हिमालय की कन्दराओं में भी, स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा। धन्य हैं हम लोग जो इस दृश्य को देखने के लिए जीवित हैं!

देवसेना : मंगलमय भगवान् सब मंगल करेंगे। भाई, साहस चाहिए, कोई वस्तु असम्भव नहीं।

भीमवर्मा : उत्तरापथ के सुशासन की व्यवस्था करके परम भट्टारक शीघ्र आवेंगे। मुझे अभी स्नान करना है, जाता हूँ।

देवसेना : भाई! तुम अपने शरीर के लिए बड़े ही निश्चिन्त रहते हो। और कामों के लिए तो....

(भीम हँसता हुआ जाता है।)

(मुद्गल का प्रवेश।)

मुद्गल : जो है सो काणाम करके यह तो अपने से नहीं हो सकता। उहूँ, जब कोई न मिला तो फूटे ढोल की तरह मेरे गले पड़ी!

देवसेना : क्या है मुद्गल?

मुद्गल : वही-वही, सीता की सखी मन्दोदरी की नानी त्रिजटा। कहाँ है मातृगुप्त ज्योतिषी की दुम! अपने को कवि भी लगाता था! मेरी कुण्डली मिलाई या कि मुझे मिट्टी में मिलाया। शाप दूँगा। एक शाप! दाँत पीसकर, हाथ उठाकर, शिखा खोलते हुए चाणक्य का लकड़दादा बन जाऊँगा। मुझे इस झंझट में फँसा दिया! उसने क्यों मेरा ब्याह कराया ...?

देवसेना : तो क्या बुरा किया?

मुद्गल : झख मारा, जो है सो का णाम करके।

देवसेना : अरे ब्याह भी तुम्हारा होता?

मुद्गल : न होता तो क्या इससे भी बुरा रहता? बाबा, अब तो मैं इस पर भी प्रस्तुत हूँ कि कोई इसको फेर ले। परन्तु यह हत्या कौन अपने पल्ले बाँधेगा।

(सब हँसती हैं।)

देवसेना : आज कौन-सी तिथि है? एकादशी तो नहीं है?

मुद्गल : हाँ, यजमान के घर एकादशी और मेरे पारण की द्वादशी; क्योंकि ठीक मध्याह्न में एकादशी के ऊपर द्वादशी चढ बैठती है, उसका गला दबा देती है, पेट पचकने लगता है!

देवसेना : अच्छा, आज तुम्हारा निमंत्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ।

मुद्गल : जो है सो देवता प्रसन्न हों, आपका कल्याण हो! फिर शीघ्रता होनी चाहिए। पुण्यकाल बीत न जाय... चलिए मैं उसे बुला लेता हूँ। **(जाता है।)**

[सबका प्रस्थान।]

५

[गान्धार की घाटी–रणक्षेत्र]

(तुरही बजती है, स्कन्दगुप्त और बन्धुवर्मा के साथ सैनिकों का प्रवेश।)

बन्धुवर्मा : वीरो! तुम्हारी विश्वविजयिनी वीर-गाथा सुर-सुन्दरियों की वीणा के साथ मंद ध्वनि से नंदन में गूँज उठेगी। असीम साहसी आर्य-सैनिक! तुम्हारे शस्त्र ने बर्बर हूणों को बता दिया है कि रणविद्या केवल नृशंसता नहीं है। जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रूम-साम्राज्य पादा-क्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे हुए कण्ठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जेय वीर हैं। समझ लो–आज के युद्ध में प्रत्यावर्त्तन नहीं है। जिसे लौटना हो, अभी से लौट जाय।

सैनिक : आर्य-सैनिकों का अपमान करने का अधिकार महाबलाधिकृत को भी नहीं है! हम सब प्राण देने आये हैं, खेलने नहीं।

स्कन्दगुप्त : साधु! तुम यथार्थ ही जननी जन्मभूमि की सन्तान हो।

सैनिक : राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय!

(चर का प्रवेश।)

चर : परम भट्टारक की जय हो!

स्कन्दगुप्त : क्या समाचार है?

चर : देव! हूण शीघ्र ही नदी पार होकर आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे हैं; परन्तु यदि आक्रमण न हुआ, तो स्वयं आक्रमण करेंगे।

बन्धुवर्मा : और कुभा के रणक्षेत्र का क्या समाचार है?

चर : मगध की सेना पर विश्वास करने के लिए मैं न कहूँगा। भटार्क की दृष्टि में पिशाच की मंत्रणा चल रही है, खिंगिल के दूत भी आ रहे हैं। चक्रपालित उस कूट-चक्र को तोड़ सकेंगे कि नहीं इसमें सन्देह है।

स्कन्दगुप्त : बन्धुवर्मा! तुम कुभा के रण-क्षेत्र की ओर जाओ, मैं यहाँ देख लूँगा।

बन्धुवर्मा : राजाधिराज! मगध की सेना पर अधिकार रखना मेरे सामर्थ्य के बाहर होगा, और मालव की सेना आज नासीर में है। आज इस नदी की तीक्ष्ण धारा को लाल करके बहा देने की मेरी प्रतिज्ञा है। आज मालव का एक भी सैनिक नासीर-सेना से न हटेगा।

स्कन्दगुप्त : बन्धु! यह यश मुझसे मत छीन लो।

बन्धुवर्मा : परन्तु सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं। यहाँ मालव की सेना मरेगी, दूसरे को यहाँ मरकर अधिकार जमाने का अधिकार नहीं। और बन्धुवर्मा मरने-मारने में जितना पटु है, उतना षड्यंत्र में नहीं। आपके रहने से सौ बन्धुवर्मा उत्पन्न होंगे। आप शीघ्रता कीजिए।

स्कन्दगुप्त : बन्धुवर्मा! तुम बड़े कठोर हो।

बन्धुवर्मा : शीघ्रता कीजिए। यहाँ हूणों को रोकना मेरा ही कर्त्तव्य है, उसे मैं ही करूँगा। महाबलाधिकृत का अधिकार मैं न छोड़ूँगा। चक्रपालित वीर है, परन्तु अभी वह नवयुवक है; आपका वहाँ पहुँचना आवश्यक है। भटार्क पर विश्वास न कीजिए।

स्कन्दगुप्त : मैंने समझा कि हूणों के सम्मुख वह विश्वासघात न करेगा।

बन्धुवर्मा : ओह! जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन कोई भी इधर आँख उठाकर न देखेगा। सम्राट्! शीघ्रता कीजिए।

स्कन्दगुप्त : **(आलिंगन करता है)** मालवेश की जय!

बन्धुवर्मा : महाराजधिराज श्री स्कन्दगुप्त की जय!

[चर के साथ स्कन्दगुप्त जाते हैं]

[नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु-सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बन्धुवर्मा की अन्तिम अवस्था; गरुड़ध्वज टेक कर उसे चूमना]

बन्धुवर्मा : **(दम तोड़ते हुए)** विजय! तुम्हारी....विजय...! आर्य-साम्राज्य की जय !

सब : आर्य साम्राज्य की जय!

बन्धुवर्मा : भाई! स्कन्दगुप्त से कहना कि मालव-वीर ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की; **भीम और देवसेना उनकी शरण हैं।**

सैनिक : महाराज! आप क्या कहते हैं! **(सब शोक करते हैं।)**

बन्धुवर्मा : **बन्धुगण! यह रोने का नहीं, आनन्द का समय है। कौन वीर इस तरह** जन्मभूमि की रक्षा में प्राण देता है, यही मैं ऊपर से देखने जाता हूँ।

सैनिक : महाराज बन्धुवर्मा की जय!

[गरुड़ध्वज की छाया में बन्धुवर्मा की मृत्यु]

६

[दुर्ग के सम्मुख कुभा का रणक्षेत्र; चक्रपालित और स्कन्दगुप्त]

चक्रपालित : सम्राट्! प्रतारणा की पराकाष्ठा! दो दिन से जान-बूझकर शत्रु को उस ऊँची पहाड़ी पर जमने का अवकाश दिया जा रहा है। आक्रमण करने से मैं रोका जा रहा हूँ। समस्त मगध की सेना उसके संकेत पर चल रही है।

स्कन्दगुप्त : चक्र! कुभा में जल बहुत कम है, आज ही उतरना होगा। तुम्हें दुर्ग में रहना चाहिए। मैं भटार्क पर विश्वास तो करता ही नहीं, परन्तु उस पर प्रकट रूप से अविश्वास का भी समय नहीं रहा।

चक्रपालित : नहीं सम्राट्! उसे बन्दी कीजिए। वह देखिए–आ रहा है।

भटार्क : **(प्रवेश करके)** राजाधिराज की जय हो!

स्कन्दगुप्त : क्यों सेनापति! यह क्या हो रहा है?

भटार्क : आक्रमण की प्रतीक्षा सम्राट्!

स्कन्दगुप्त : या समय की?

भटार्क : सम्राट् का मुझ पर विश्वास नहीं है, यह ....।

चक्रपालित : विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता!

भटार्क : तुम अभी बालक हो।

चक्रपालित : दुराचारी! कृतघ्न! अभी मैं तेरा कलेजा फाड़ खाता; तेरा....!

भटार्क : सावधान! अब मैं सहन नहीं कर सकता!

[तलवार पर हाथ रखता है।]

स्कन्दगुप्त : भटार्क! वह बालक है। कूटमंत्रणा, वाक्चातुरी नहीं जानता। चुप रहो चक्र।

[चक्रपालित और भटार्क सिर नीचा कर लेते हैं]

स्कन्दगुप्त : भटार्क! प्रवंचना का समय नहीं है। स्मरण रखना–कृतघ्न और नीचों की श्रेणी में तुम्हारा नाम पहले रहेगा।

[भटार्क चुप रह जाता है]

स्कन्दगुप्त : युद्ध के लिए प्रस्तुत हो?

भटार्क : मेरा खड्ग साम्राज्य की सेवा करेगा।

स्कन्दगुप्त : अच्छा तो अपनी सेना लेकर तुम गिरिसंकट पर पीछे से आक्रमण करो और सामने से मैं आता हूँ। चक्र! तुम दुर्ग की रक्षा करो।

भटार्क : जैसी आज्ञा! नगरहार के स्कन्धावार को भी सहायता के लिए कहला दिया जाय तो अच्छा हो।

स्कन्दगुप्त : चर गया है। तुम शीघ्र जाओ। देखो–सामने शत्रु दीख पड़ते हैं।

[भटार्क का प्रस्थान]

चक्रपालित : तो मैं बैठता हूँ।

स्कन्दगुप्त : भविष्य अच्छा नहीं है चक्र! नगरहार से समय पर सहायता पहुँचती नहीं दिखाई देती। परन्तु यदि आवश्यकता हो, तो शीघ्र नगरहार की ओर प्रत्यावर्तन करना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा।

[चर का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त : गान्धार युद्ध का क्या समाचार है?

चर : विजय। उस रणक्षेत्र में हूण नहीं रह गये। परन्तु सम्राट् बन्धुवर्मा नहीं हैं!

स्कन्दगुप्त : आह बन्धु! तुम चले गये? धन्य हो वीर-हृदय!

[शोक मुद्रा से बैठ जाता है]

चक्रपालित : इसका समय नहीं है सम्राट्, उठिए सेना आ रही है, इस समय यह समाचार नहीं प्रचारित करना है।

स्कन्दगुप्त : (उठते हुए) ठीक कहा!

[भटार्क के साथ सेना का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त : देखा, कुभा के उस बन्धु से सावधान रहना। आक्रमण में यदि असफलता हो, और शत्रु की दूसरी सेना कुभा को पार करना चाहे तो, उसे काट देना। देखो भटार्क! तुम्हारे विश्वास का यही प्रमाण है।

भटार्क : जैसी आप की आज्ञा।

[कुछ सैनिकों के साथ जाता है।]

स्कन्दगुप्त : चक्र दुर्ग-रक्षक सैनिकों को लेकर तुम प्रतीक्षा करना। हम इसी छोटी सी सेना से आक्रमण करेंगे। तुम सावधान!

[नेपथ्य में रण-वाद्य]

देखो—वह हूण आ रहे हैं! उन्हें वहीं रोकना होगा।

चक्रपालित : जैसी आज्ञा। (जाता है)

स्कन्दगुप्त : वीर मगध-सैनिको! आज स्कन्दगुप्त तुम्हारी परिचालना कर रहा है, यह ध्यान रहे, गरुड़ध्वज का मान रहे, भले ही प्राण जायें!

मगध-सेना : राजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त की जय!

[सेना बढ़ती है, ऊपर से अस्त्र-वर्षा होती है, घोर युद्ध के बाद हूण भागते हैं। साम्राज्य-सेना का, जयनाद करते हुए, शिखर पर अधिकार करना]

नायक : (ऊपर देखता हुआ) सम्राट्! आश्चर्य है, भागी हुई हूण-सेना कुभा के उस पार उतर जाना चाहती है!

स्कन्दगुप्त : क्या कहा?

नायक : कुछ मगध-सेना भी वहाँ है, परन्तु वह तो जैसे उनका स्वागत कर रही

स्कन्दगुप्त : विश्वासघात। प्रतारणा! नीच भटार्क।

नायक : फिर क्या आज्ञा है?

स्कन्दगुप्त : दुर्ग की रक्षा होनी चाहिए। उस पार की हूण-सेना यदि आ गई, तो कृतघ्न भटार्क उन्हें मार्ग बतावेगा। वीरो, शीघ्र उन्हें उसी पार रोकना होगा। अभी कुभा पार होने की सम्भावना है।

[नायक तुरही बजाता है, सैनिक इकट्ठे होते हैं]

स्कन्दगुप्त : (घबराहट में देखते हुए) शीघ्रता करो।

नायक : क्या?

स्कन्दगुप्त : नीच भटार्क ने बन्ध तोड़ दिया है, कुभा में जल बड़े वेग से बढ़ रहा है। चलो शीघ्र--

[सब उतरना चाहते हैं, कुभा में अकस्मात् जल बढ़ जाता है, सब बहते हुए दिखाई देते हैं]

[अन्धकार]

चतुर्थ अंक

१

[प्रकोष्ठ]

(विजया और अनन्तदेवी)

अनन्तदेवी : क्या कहा?

विजया : मैं आज ही पासा पलट सकती हूँ! जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए विवश कर सकती हूँ।

अनन्तदेवी : क्यों? इतनी उत्तेजना क्यों है? सुनूँ भी तो।

विजया : समझ जाओ।

अनन्तदेवी : नहीं, स्पष्ट कहो।

विजया : भटार्क मेरा है!

अनन्तदेवी : तो?

विजया : उस राह से दूसरों को हटाना होगा।

अनन्तदेवी : कौन छीन रहा है?

विजया : एक पाप-पंक में फँसी हुई निर्लज्ज नारी। क्या उसका नाम भी बताना होगा? समझो, नहीं तो साम्राज्य का स्वप्न गला दबाकर भंग कर दिया जायगा।

अनन्तदेवी : **(हँसती हुई)** मूर्ख रमणी! तेरा भटार्क केवल मेरे कार्य-साधन का अस्त्र है, और कुछ नहीं। वह पुरगुप्त के ऊँचे सिंहासन की सीढ़ी है, समझी?

विजया : समझी, और तुम भी जान लो कि तुम्हारा नाश समीप है।

अनन्तदेवी : **(बनाती हुई)** क्या तुम पुरगुप्त के साथ सिंहासन पर नहीं बैठना चाहती हो? क्यों—वह भी तो कुमारगुप्त का पुत्र है?

विजया : हाँ, वह कुमारगुप्त का पुत्र है; परन्तु वह तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न है। तुमसे उत्पन्न हुई सन्तान—छिः!

अनन्तदेवी : क्या कहा? समझकर कहना।

विजया : कहती हूँ, और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से; कोई भी मुझको भटार्क से वञ्चित नहीं कर सकता। प्रणय-वञ्चिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोडे—विघ्नों—को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेनेवाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स, और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त के विलास-जर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलम्ब वाछनीय नहीं। कहे देती हूँ, हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणा को एक फूँक में उड़ा दूँगी!

अनन्तदेवी : क्या! इतना साहस! तुच्छ स्त्री! तू जानती है कि किसके साथ बात कर रही है? मैं वही हूँ—जो अश्वमेध-पराक्रम कुमार-गुप्त से, बालों को सुगन्धित करने के लिए गन्धचूर्ण जलवाती थी—जिसकी एक तीखी कोर से गुप्त-साम्राज्य डावाँडोल हो रहा है, उसे तुम...एक सामान्य स्त्री! जा-जा, ले अपने भटार्क को; मुझे ऐसे कीट-पतंगों की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्मरण रखना, मैं हूँ अनन्तदेवी! तेरी कूटनीति के कंटकित कानन की दावाग्नि—तेरे गर्व-शैल-शृंग का वज्र। मैं वह आग लगाऊँगी, जो प्रलय के समुद्र से भी न बुझे।

[जाती है]

विजया : मैं कहीं की न रही! इधर भयानक पिशाचों की लीला-भूमि, उधर गम्भीर समुद्र! दुर्बल रमणी-हृदय थोड़ी आँच में गरम, और शीतल हाथ फेरते

ही ठंडा! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना ! जिनको क्षमा की आवश्यकता है-जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार; और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष, यह बदलनेवाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुःखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो भूल जाते हैं, कि यहाँ मेरा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वही सच्ची है, जहाँ स्वार्थ की भी बलि हो। अपना अतुल धन और हृदय दूसरों के हाथ में देकर चलूँ-कहाँ? किधर-**(उन्मत्त-भाव से प्रस्थान करना चाहती है)**

[पदच्युत नायक का प्रवेश।]

नायक : शान्त हो।

विजया : कौन?

नायक : एक सैनिक?

विजया : दूर हो, मुझे सैनिक से घृणा है।

नायक : क्यों सुन्दरी?

विजया : क्रूर! केवल अपने झूठे मान के लिए, बनावटी बड़प्पन के लिए, अपना दम्भ दिखलाने के लिए एक अनियंत्रित हृदय का लोहों से खेल विडम्बना है! किसकी रक्षा, किस दीन की सहायता के लिए तुम्हारे अस्त्र हैं?

नायक : साम्राज्य की रक्षा के लिए।

विजया : झूठ। तुम सबको जंगली हिंस्र पशु होकर जन्म लेना था। डाकू! थोड़े-से ठीकरों के लिए अमूल्य मानव-जीवन का नाश करनेवाले, भयानक भेड़िये!

नायक : **(स्वगत)** पागल हो गई है क्या?

विजया : स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमंड से तुच्छ समझा, देव-तुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया, किस लिए? केवल अपना रूप, धन, यौवन दूसरे को दान करके उन्हें नीचा दिखाने के लिए? स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़कर खो दिया—इस लोक का सुख, उस लोक की शान्ति! ओह!

नायक : शान्त हो!

विजया : शान्ति कहाँ? अपनों को दंड देने के लिए मैं स्वयं उनसे अलग हुई; उन्हें दिखाने के लिए-'मैं भी कुछ हूँ!' अपनी भूल थी, उसे अभिमान से उनके सिर दोष के रूप में मढ़ रक्खा था। उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच-हृदय को नित्य उत्तेजित कर रही थी। अब उसका फल मिला।

नायक : रमणी! भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है; परन्तु जो जान-बूझकर भूल-भुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शान्ति का—कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

विजया : (सिसकती हुई) मैं अनाथ निःसहाय हूँ!

नायक : (बनावटी रूप उतारता है) मैं शर्वनाग हूँ। मैं सम्राट् का अनुचर हूँ। मगध की परिस्थिति देखकर अपने विषय अन्तर्वेद को लौट रहा हूँ।

विजया : क्या अन्तर्वेद के विषयपति शर्वनाग?

शर्वनाग : हाँ, परन्तु देश पर एक भीषण आतंक है। भटार्क की पिशाच-लीला सफल होना चाहती है। विजया! चलो, देश के प्रत्येक बच्चे, बूढ़े और युवक को उसकी भलाई में लगाना होगा; कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा। आओ, यदि हम राजसिंहासन न प्रस्तुत कर सकें तो हमें अधीर न होना चाहिए। हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राजमार्ग का सुख पावे!

विजया : (कुछ सोचकर) तुमने सच कहा! सबको कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। चलो—।

[दोनों का प्रस्थान]

२

[भटार्क का शिविर]

(नर्तकी गाती है।)

भाव-निधि में लहरियाँ उठतीं तभी,
भूल कर भी जब स्मरण होता कभी।

मधुर मुरली फूँक दी तुमने भला,
नींद मुझको आ चली थी बस अभी।

सब रगों में फिर रही हैं बिजलियाँ,
नील नीरद! क्या न बरसाये कभी।

एक झोंका और मलयानिल अहा!
क्षुद्र कलिका है खिली जाती अभी।

कौन मर-मर कर जियेगा इस तरह,
यह समस्या हल न होगी क्या कभी!

(कमला और देवकी का प्रवेश)

देवकी : भटार्क ! कहाँ है मेरा सर्वस्व ? बता दे—मेरे आनन्द का उत्सव, मेरी आशा का सहारा, कहाँ है?

भटार्क : कौन ?

कमला : कृतघ्न ! नहीं देखता है, यह वही देवी हैं—जिन्होंने तेरे नारकीय अपराध को क्षमा किया था—जिन्होंने तुझ-से घिनौने कीड़े को भी मरने से बचाया था, वही, वही, देव-प्रतिमा महादेवी देवकी।

भटार्क : (पहचानकर) कौन? मेरी माँ!

कमला : तू कह सकता है। परन्तु मुझे तुझको पुत्र कहने में संकोच होता है, लज्जा से गड़ी जी रही हूँ! जिस जननी की सन्तान—जिसका अभागा पुत्र—ऐसा देशद्रोही हो, उसको क्या मुँह दिखाना चाहिए?

भटार्क : राजमाता और मेरी माता!

देवकी : बता भटार्क! वह आर्यावर्त्त का रत्न कहाँ है? देश का बिना दाम का सेवक, वह जन-साधारण के हृदय का स्वामी, कहाँ है? उससे शत्रुता करते हुए तुझे.....।

कमला : बोल दे भटार्क !

भटार्क : क्या कहूँ, कुभा की क्षुब्ध लहरों से पूछो, हिमवान की गल जानेवाली बर्फ से पूछो कि वह कहाँ है। मैं नहीं.... ।

देवकी : आह! गया मेरा स्कन्द !! मेरा प्राण !!!

[गिरती है, मृत्यु!]

कमला : (उसे सम्हालती हुई) देख पिशाच! एक बार अपनी विजय पर प्रसन्नता से खिलखिला ले। नीच ! पुण्य-प्रतिमा को, स्त्रियों की गरिमा को, धूल में लोटता हुआ देखकर, एक बार हृदय खोलकर हँस ले। हा देवी!

भटार्क : क्या! (भयभीत होकर देखता है।)

कमला : इस यंत्रणा और प्रतारणा से भरे हुए, संसार की पिशाचभूमि को छोड़ कर अक्षय लोक को गई, और तू जीता रहा—सुखी घरों में आग लगाने, हाहाकार मचाने और देश को अनाथ बनाकर उसकी दुर्दशा करने के लिए—नरक के कीड़े! तू जीता रह!!

भटार्क : माँ, अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था; केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैंने यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट् होगा।

कमला : अरे मूर्ख! अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूलकर, मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है! पामर! तू सम्राटों का नियामक बन गया? मैंने भूल की; सूतिका-गृह में ही तेरा गला घोंटकर क्यों न मार डाला! आत्महत्या के अतिरिक्त अब कोई प्रायश्चित्त नहीं।

भटार्क : माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। (तलवार डाल देता है)

देवकी : भटार्क! कहाँ है मेरा सर्वस्व

कमला : नरक के कीड़े! तू जीता रह!!

कमला : तूने विलम्ब किया भटार्क! महादेवी...एक दिन जिसके नाम पर गुप्त-साम्राज्य नतमस्तक होता था, आज उसकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए कोई उपाय नहीं!..हाँ दुर्दैव!

भटार्क : (ताली बजाता है, सैनिक आते हैं) महादेवी की अन्त्येष्टि क्रिया राजसम्मान से होनी चाहिए। चलो, शीघ्रता करो!

[देवकी के शव को एक ऊँचे स्थान पर दोनों मिलकर रखते हैं।]

कमला : भटार्क! इस पुण्यचरण के स्पर्श से, सम्भव है तेरा पाप छट जाय।

[भटार्क और कमला पर तीव्र आलोक]

३

(काश्मीर)

(न्यायाधिकरण में मातृगुप्त, एक स्त्री और दण्डनायक)

मातृगुप्त : नन्दीग्राम के दण्डनायक देवनन्द! यह क्या है?

देवनन्द : कुमारामात्य की जय हो! बहुत परिश्रम करने पर भी मैं इस रमणी के अपहृत धन का पता न लगा सका। इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है।

मातृगुप्त : फिर किसका है? तुम गुप्त-साम्राज्य का विधान भूल गये! प्रजा की रक्षा के लिए 'कर' लिया जाता है। यदि तुम उसकी रक्षा न कर सके, तो वह अर्थ तुम्हारी भृति से कट कर इस रमणी को मिलेगा।

देवनन्द : परन्तु वह इतना अधिक है कि मेरे जीवन-भर की भृति से भी उसका भरना असम्भव है

मातृगुप्त : तब राज-कोष उसे देगा, और तुम उसका फल भोगोगे।

देवनन्द : परन्तु मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ, इसमें मेरा अपराध अधिक नहीं है। यह श्रीनगर की सबसे अधिक समृद्धिशाली वेश्या है। यह अपने अन्तरंग लोगों का परिचय भी नहीं बताती; फिर मैं कैसे पता लगाऊँ? गुप्तचर भी थक गये!

मातृगुप्त : हाँ, इसका नाम मैं भूल गया।

देवनन्द : मालिनी।

मातृगुप्त : क्या! मालिनी? **(कुछ सोचता हुआ)** अच्छा, जाओ कोषाध्यक्ष को भेज दो।

[देवनन्द का प्रस्थान]

मातृगुप्त : मालिनी! अवगुण्ठन हटाओ, सिर ऊँचा करो, मैं अपना भ्रम निवारण करना चाहता हूँ।

[अवगुंठन हटाकर मालिनी मातृगुप्त की ओर देखती है, मातृगुप्त चकित होकर उसको देखता है]

मातृगुप्त : तुम कौन हो–मालिनी? छलना! नहीं-नहीं, भ्रम है!

मालिनी : नहीं मातृगुप्त, मैं ही हूँ! अवगुंठन केवल इसलिए था कि मैं तुम्हें मुख नहीं दिखला सकती थी। मातृगुप्त! मैं वही हूँ।

मातृगुप्त : तुम? नहीं मेरी मालिनी! मेरे हृदय की आराध्य देवता एक वेश्या! असम्भव। परन्तु नहीं, वही है मुख! यद्यपि विलास ने उस पर अपनी मलिन छाया डाल दी है–उस पर अपने अभिशाप की छाप लगा दी है; पर तुम वही हो। हा दुर्दैव!

मालिनी : दुर्दैव!

मातृगुप्त : मैं आज तक तुम्हें पूजता था। तुम्हारी पवित्र स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति छिपाये रहा। मूर्ख मैं...आह मालिनी! मेरे शून्य भाग्याकाश के मन्दिर का द्वार खोलकर तुम्ही ने उनींदी उषा के सदृश झाँका था, और मेरे भिखारी संसार पर स्वर्ण बिखेर दिया था। तुम्हीं मालिनी! तुमने सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम बेच डाला। जाओ मालिनी! राज-कोष से अपना धन ले लो।

मालिनी : **(मातृगुप्त के पैरों पर गिरती हुई)** एक बार क्षमा कर दो मातृगुप्त!

मातृगुप्त : मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊँ। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुआँ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुँधली होकर आवेगी! जाओ!

[मालिनी का प्रस्थान, चर का प्रवेश]

चर : कुमारामात्य की जय हो!

मातृगुप्त : क्या समाचार है? सम्राट् का पता लगा?

चर : नहीं। पंचनद हूणों के अधिकार में है, और वे काश्मीर पर भी आक्रमण किया चाहते हैं।

(चर का प्रस्थान)

मातृगुप्त : तो सब गया! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मो से समस्त पाप-पंक धो जायँगे; हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य सद्‌गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर सन्तुष्ट करेंगी; और आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र-ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमाचल की भाँति सिर ऊँचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य-सिन्धु में शेष-पर्यंक-शायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे; सिन्धु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्यावर्त्त की बेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाये, हृदय के उद्‌गार सुनाये, परन्तु पासा पलटकर भी न पलटा! प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त, कहाँ हैं? तब, काश्मीर! तुझसे विदा।

[प्रस्थान]

४

[नगर प्रान्त में पथ]

(धातुसेन और प्रख्यातकीर्ति)

प्रख्यातकीर्ति : प्रिय वयस्य! आज तुम्हें आये तीन दिन हुए, क्या सिंहल का राज्य तुम्हें भारत-पर्यटन के सामने तुच्छ प्रतीत होता है?

धातुसेम : भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय–भारत–किस मूर्ख को प्यारा नहीं है? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने, और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है? एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रक्खा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा स्र्वस्व अर्पित है। किन्तु देखता हूँ, बौद्ध जनता और संघ भी साम्राज्य के विरुद्ध हैं। महाबोधि-विहार के संघ महास्थ-विर ने निर्वाण-लाभ किया है, उस पद के उपयुक्त भारत-भर में केवल प्रख्यातकीर्ति हैं। तुमसे संघ की मलिनता बहुत-कुछ धुल जायगी।

प्रख्यातकीर्ति : राजमित्र! मुझे क्षमा कीजिये। मैं धर्म-लाभ करने के लिए भिक्षु हुआ हूँ, महास्थविर बनने के लिए नहीं।

धातुसेन : मित्र! मैं मातृगुप्त से मिलना चाहता हूँ।

प्रख्यातकीर्ति : वह तो विरक्त हो कर घूम रहा है!

धातुसेन : तुमको मेरे साथ काश्मीर चलना होगा।

प्रख्यातकीर्ति : पर अभी तो कुछ दिन ठहरोगे?

धातुसेन : जहाँ तक सम्भव हो, शीघ्र चलो।

[एक भिक्षु का प्रवेश]

भिक्षु : आचार्य! महान् अनर्थ!

प्रख्यातकीर्ति : क्या है? कुछ कहो भी!

भिक्षु : विहार के समीप जो चतुष्पथ का चैत्य है, वहाँ कुछ ब्राह्मण बलि किया चाहते हैं ! इधर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित है।

धातुसेन : चलो, हम लोग भी चलें, उस उत्तेजित लोगों को शान्त करने का प्रयत्न करें।

[सब जाते हैं]

५

[विहार के समीप चतुष्पथ : एक ओर ब्राह्मण लोग बलि का उपकरण लिये, दूसरी ओर भिक्षु और बौद्ध जनता उत्तेजित। दंडनायक का प्रवेश]

दंडनायक : नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं है। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है, और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो।

ब्राह्मण : इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त शत्रुओं को कृतघ्नता का उचित दण्ड मिलना चाहिए।

श्रमण : ठीक है। गंगा, यमुना और सरयू के तट पर गड़े हुए यज्ञयूथ सद्धर्मियों की छाती में ठुकी हुई कीलों की तरह अब भी खटकते हैं। हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म की रक्षा हो। राष्ट्र और समाज मनुष्य के द्वारा बनते हैं–उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शान्ति में बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा। इन संस्थाओं का उद्देश्य है–मानवों की सेवा। यदि वे हमीं से अवैध सेवा लेना चाहें और हमारे कष्टों को न हटावें, तो हमें उसकी सीमा के बाहर जाना ही पड़ेगा।

ब्राह्मण : ब्राह्मणों को इतनी हीन अवस्था में बहुत दिनों तक विश्वनियन्ता नहीं देख सकते। जो जाति विश्व के मस्तिष्क का शासन करने का अधिकार लिये उत्पन्न हुई है, वह कभी चरणों के नीचे न बैठेगी। आज यहाँ बलि होगी–हमारे धर्माचरण में स्वयं विधाता भी बाधा नहीं डाल सकते।

श्रवण : निरीह प्राणियों के बध में कौन-सा धर्म है, ब्राह्मण? तुम्हारी इसी हिंसा-नीति और अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन तथागत ने किया था। उस समय तुम्हारा ज्ञान-गौरव कहाँ था? क्यों नतमस्तक होकर समग्र जम्बूद्वीप ने उस ज्ञान-रणभूमि के प्रधान मल्ल के समक्ष हार स्वीकार की? तुम हमारे धर्म पर अत्याचार किया चाहते हो, यह नहीं हो सकेगा। इन पशुओं के बदले हमारी बलि होगी। रक्त-पिपासु दुर्दांत ब्राह्मणदेव! तुम्हारी पिपासा हम अपने रुधिर से शांत करेंगे।

धातुसेन : (प्रवेश करके) अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वासत्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी? उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा-प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ, व्यक्तिरूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है। वह एक सुधार था, उसके लिए रक्तपात क्यों?

दण्डनायक देखो, यदि ये हठी लोक कुछ तुम्हारे समझाने से मान जायँ, अन्यथा यहाँ बलि न होने दूँगा।

ब्राह्मण क्यों न होने दोगे? अधार्मिक शासक! क्यों न होने दोगे? आज गुप्त कुचक्रों से गुप्त-साम्राज्य शिथिल है। कोई क्षत्रिय राजा नहीं जो ब्राह्मण के धर्म की रक्षा कर सके—जो धर्माचरण के लिए अपने राजकुमारों को तपस्वियों की रक्षा में नियुक्त करे। आह धर्मदेव! तुम कहाँ हो?

धातुसेन सप्तसिन्धु प्रदेश नृशंस हूणों से पादाक्रान्त है। जाति भीत और त्रस्त है, और उसका धर्म असहाय अवस्था में पैरों से कुचला जा रहा है। क्षत्रिय राजा, धर्म का पालन करानेवाला राजा, पृथ्वी पर क्यों नहीं रह गया? आपने इसे विचारा है? क्यों ब्राह्मण टुकड़ों के लिए अन्य लोगों की उपजीविका छीन रहे है? क्यों एक वर्ण के लोग दूसरों की अर्थकारी वृत्तियाँ ग्रहण करने लगे हैं? लोभ ने तुम्हारे धर्म का व्यवसाय चला दिया। दक्षिणाओं की योग्यता से—स्वर्ग, पुत्र, धन, यश, विजय और मोक्ष तुम बेचने लगे। कामना से अन्धी जनता के विलासी-समुदाय के ढोंग के लिए तुम्हारा धर्म आवरण हो गया है। जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जम-साधारण की सम्पत्ति नहीं! धर्मवृक्ष के चारों और स्वर्ण के कँटिदार जाल फैलाये गये हैं। और व्यवसाय की ज्वाला से वह दग्ध हो रहा है। जिन धनवानों के लिए तुमने धर्म को सुरक्षित रखा, उन्होंने समझा कि धर्म धन से खरीदा जा सकता है; इसलिए धनोपार्जन मुख्य हुआ और धर्म गौण। जो पारस्यदेश की मूल्यवान मदिरा रात को पी सकता है, वह धार्मिक बने रहने के लिए प्रभात में एक गो-निष्क्रिय भी कर सकता है। धर्म को बचाने के लिए तुम्हें राजशक्ति की आवश्यकता हुई। धर्म इतना निर्बल है कि वह पाशव बल के द्वारा सुरक्षित होगा?

ब्राह्मण तुम कौन हो? मूर्ख उपदेशक! हट जाओ। तुम नास्तिक प्रच्छन्न बौद्ध! तुमको अधिकार क्या है कि हमारे धर्म की व्याख्या करो?

धातुसेन ब्राह्मण क्यों महान् हैं। इसीलिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे, और वे तपस्वी ऋत और अमृत वृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे–

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्।।

---आप लोग उन्हीं ब्राह्मणों की सन्तान हैं, जिन्होंने अनेक यज्ञों को एक बार ही बन्द कर दिया था। उनका धर्म समयानुकूल प्रत्येक परिवर्तन को स्वीकार करता हैः क्योंकि मानव बुद्धि ज्ञान का–जो वेदों के द्वारा हमें मिला है–प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

प्रख्यातकीर्ति : धर्म के अन्धभक्तो! मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय! प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य परम्पराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत हो रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठधर्मी से उन आगन्तुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करनेवाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं। आओ हम दोनों विचार के फूलों से दुःखदग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।

बहुत-से लोग : ठीक तो है, ठीक तो है, हम लोग व्यर्थ आपस में ही झगड़ते हैं और आततायियों को देखकर घर में घुस जाते हैं। हूणों के सामने तलवारें लेकर इसी तरह क्यों नहीं अड़ जाते?

दंडनायक : यही तो बात है नागरिक!

प्रख्यातकीर्ति मैं इस विहार का आचार्य हूँ, और मेरी सम्मति धार्मिक झगड़ों में बौद्धों को माननी चाहिए। मैं जानता हूँ कि भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है, और जीव-रक्षा इसलिए धर्म है। किन्तु जब तुम लोग स्वयं इसके लिए युद्ध करोगे, तो हत्या की संख्या बढ़ेगी ही। अतः यदि तुम में कोई सच्चा धार्मिक हो तो वह आगे आवे और ब्राह्मणों से

पूछे कि आप मेरी बलि देकर इतने जीवों को छोड़ सकते हैं। क्योंकि इन पशुओं से मनुष्यों का मूल्य ब्राह्मणों की दृष्टि में भी विशेष होगा। आइए, कौन आता है, किसे बोधिसत्व होने की इच्छा है।

[बौद्धों में से कोई नहीं हिलता]

प्रख्यातकीर्ति : **(हँसकर)** यही आपका धर्मोन्माद था? एक युद्ध करनेवाली मनोवृत्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अधर्म करना और धर्माचरण की दुन्दुभी बजाना– यही आपकी करुणा की सीमा है? जाइए, घर लौट जाइए। **(ब्राह्मण से)** आओ रक्त-पिपासु धार्मिक! लो, मेरा उपहार देकर अपने देवता को सन्तुष्ट करो! **(सिर झुका लेता है।)**

ब्राह्मण : **(तलवार फेंककर)** धन्य हो महाश्रमण! मैं नहीं जानता था कि तुम्हारे ऐसे-धार्मिक भी इसी संघ में हैं। मैं बलि नहीं करूँगा।

[जनता में जय-जयकार; सब धीरे-धीरे जाते हैं]

६

[पथ में विजया और मातृगुप्त]

विजया : नहीं कविवर! ऐसा नहीं।

मातृगुप्त : कौन, विजया?

विजया : आश्चर्य और शोक का समय नहीं है। सुकवि-शिरोमणि! गा चुके मिलन-संगीत, गा चुके कोमल कल्पनाओं के लचीले गान, रो चुके प्रेम के पचड़े? एक बार वह उद्बोधन-गीत गा दो कि भारतीय अपनी नश्वरता पर विश्वास करके अमर भारत की सेवा के लिए सन्नद्ध हो जायँ।

मातृगुप्त : कौन, विजया?

विजया : हाँ मातृगुप्त! एक प्राण बचाने के लिए जिसने तुम्हारे हाथ में काश्मीर-मंडल दे दिया था, आज तुम उसी सम्राट को खोजते हो? एक नहीं, ऐसे सहस्र स्कन्दगुप्त, ऐसे सहस्रों देव-तुल्य उदार युवक, इस जन्मभूमि पर उत्सर्ग हो जायँ। सुना दो वह संगीत—जिससे पहाड़ हिल जाय और समुद्र काँप कर रह जाय; अँगड़ाइयाँ लेकर मुचकुन्द की मोह-निद्रा से भारतवासी जाग पड़ें। हम-तुम गली-गली, कोने-कोने पर्यटन करेंगे, पैर पड़ेंगे, लोगों को जगावेंगे!

मातृगुप्त : वीर बाले! तुम धन्य हो। आज से मैं यही करूँगा (देखकर) वह लो—चक्रपालित आ रहा है।

[चक्रपालित का प्रवेश]

चक्रपालत लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिन्दु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला-मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है, जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्ज्वलित, दूसरे क्षण-में विलीन होनेवाली! भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है!

मातृगुप्त : बन्धु चक्रपलित!

चक्रपालित : कौन, मातृगुप्त?

भीमवर्मा : (सहसा प्रवेश करके) कहाँ है मेरा भाई, मेरे हृदय का बल, भुजाओं का तेज, वसुन्धरा का शृंगार, वीरता का वरणीय बन्धु, मालव-मुकुट आर्य बन्धुवर्मा?

[प्रख्यातकीर्ति और श्रमण का प्रवेश]

प्रख्यातकीर्ति सब पागल, लूटे गये-से, अनाथ और आश्रयहीन–यही तो हैं! आर्यराष्ट्र के कुचले हुए अंकुर, भग्न साम्राज्य-पोत के टूटे हुए पटरे और पतवार, ऐसे वीर हृदय! ऐसे उदार!!

मातृगुप्त : तुम कौन हो?

प्रख्यातकीर्ति : सम्भवतः तुम्हीं मातृगुप्त हो!

मातृगुप्त : (शंका से देखता हुआ) क्यों अहेरी कुत्तों के समान सूँघते हुए यहाँ भी! परन्तु तुम...!

प्रख्यातकीर्ति : सन्देह मत करो मातृगुप्त। शैशव-सहचर कुमार धातुसेन की आज्ञा से मैं तुम लोगों को खोज रहा हूँ। यह लो प्रमाण-पत्र।

मातृगुप्त : (पढ़कर) धन्य सिंहल के युवराज श्रमण! कर देना, मैं आज्ञानुसार चलूँगा, और कनिष्क-चैत्य के समीप भेंट होगी।

प्रख्यातकीर्ति : कल्याण हो! (जाता है)

विजया : कहाँ चलें हम लोग?

मातृगुप्त : उसी जंगल में।

[सब लोग जाते हैं]

७

[कमला की कुटी]

(विचित्र अवस्था में स्कन्दगुप्त का प्रवेश)

स्कन्दगुप्त : बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की-सी सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए। चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है—उसी खिलवाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है। तेरा मुकुट श्रमजीवी की टोकरी से भी तुच्छ है?

करुणा-सहचर! क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो? नाथ! मुझे दुखों से भय नहीं संसार के संकोचपूर्ण संकेतों की लज्जा नहीं। वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है, और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है! परन्तु...यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था! आर्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था! हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय वृक्ष—गुप्त-साम्राज्य—हरा-भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो। ओह! जाने दो, गया, सब कुछ गया! मन बहलाने को कोई वस्तु न रही। कर्तव्य—विस्मृत; भविष्य—अन्धकार-पूर्ण, लक्ष्यहीन दौड़ और अनन्त सागर का संतरण है!

बजा दो वेणु मनमोहन! बजा दो!
हमारे सुप्त जीवन को जगा दो।
विमल स्वातंत्र्य का बस मंत्र फूँको।
हमें सब भीति-बन्धन से छुड़ा दो।

सहारा उन अँगुलियों का मिले हाँ?
रसीले राग में मन को मिला दो।
तुम्हीं सब हो इसी की चेतना हो?
इसे आनन्दमय जीवन बना दो।

[प्रार्थना में झुकता है; उन्मत्त भाव से शर्वनाग का प्रवेश]

शर्वनाग : छीन लिया, गोद से छीन लिया; सोने के लोभ से मेरे लालों को शूल के मांस की तरह सेंकने लगे! जिन पर विश्व-भर का भांडार लुटाने को मैं प्रस्तुत था, उन्हीं गुदड़ी के लालों को राक्षसों ने–हूणों ने–लुटेरों ने–लूट लिया! किसने आहों को सुना?–भगवान् ने? नहीं, उस निष्ठुर ने नहीं सुना। देखते हुए भी न देखा। आते थे कभी एक पुकार पर, दौड़ते थे कभी आधी आह पर, अवतार लेते थे कभी आर्यों की दुर्दशा से दुखी होकर; अब नहीं। देश के हर कानन चिता बन रहे हैं। धधकती हुई नाश की प्रचंड ज्वाला दिग्दाह कर रही है। अपने ज्वालामुखियों को बर्फ की मोटी चादर से छिपाये हिमालय मौन है, पिघलकर क्यों नहीं समुद्र से जा मिलता? अरे जड़, मूक, बधिर, प्रकृति के टीले!

[उन्मत्त भाव से प्रस्थान]

स्कन्दगुप्त : कौन है? यह शर्वनाग है क्या? क्या अन्तर्वेद भी हूणों से पादाक्रान्त हुआ? अरे आर्यावर्त्त के दुर्दैव, बिजली के अक्षरों से क्या भविष्यत् लिख रहा है? भगवान्! यह अर्धोन्मत्त शर्व! आर्यसाम्राज्य की हत्या का कैसा भयानक दृश्य है? कितना बीभत्स है! सिंहों की बिहार-स्थली में शृगाल-वृन्द सड़ी लोथ नोच रहे हैं!

[पगली रामा का प्रवेश; स्कन्द को देखकर]

रामा : लुटेरा है तू भी! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ? तेरे दाँतों से टूटेंगी? देख तो–(हाथ बढ़ाती है)

स्कन्दगुप्त : कौन? रामा!

रामा : (आश्चर्य से) मैं रामा हूँ! हाँ, जिसकी सन्तान को हूणों ने पीस डाला! (ठहरकर) मेरी? मेरी सन्तान। इन अभागों की-सी वे नहीं थीं। वे तो तलवार की बारीक धार पर पैर फैलाकर सोना जानती थीं! धधकती हुई ज्वाला में हँसती हुई कूद पड़ती थीं। तुम (देखती हुई) लुटेरे भी नहीं, उहूँ, कायर भी नहीं, अकर्मण्य बातों में भुलानेवाले तुम कौन हो? देखा था एक दिन! वही तो है जिसने अपनी प्रचण्ड हुंकार से दस्युओं को कँपा दिया था, ठोकर मारकर सोई हुई अकर्मण्य जनता को जगा दिया था, जिसके नाम से रोएँ खड़े हो जाते थे, भुजाएँ फड़कने लगती थीं। वही स्कन्द-रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और

आर्यावर्त्त की छत्रछाया। नहीं, भ्रम हुआ! तुम निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र-से तुम कौन हो?

[प्रस्थान]

स्कन्दगुप्त : **(बैठकर)** आह! मैं वही स्कन्द हूँ—अकेला, निस्सहाय!

[कमला कुटी खोलकर बाहर निकलती है]

कमला : कौन कहता है तुम अकेले हो? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। सहानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन ही समीप है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचण्ड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विन्ध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा! राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उठो स्कन्द! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोनेवालों को जगाओ और रोनेवालों को हँसाओ। आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्य-पताका के नीचे समग्र विश्व होगा। वीर!

स्कन्दगुप्त : कौन तुम? भटार्क की जननी।

[नेपथ्य से क्रन्दन—'बचाओ-बचाओ' का शब्द]

स्कन्दगुप्त : कौन? देवसेना का-सा शब्द! मेरा खड्ग कहाँ है? **(जाता है)**

[देवसेना का पीछा करते हुए हूण का प्रवेश]

देवसेना : भीम! भाई! मुझे इस अत्याचारी से बचाओ, कहाँ गये?

हूण : कौन तुझे बचाता है?
(पकड़ना चाहता है, देवसेना छुरी निकाल कर आत्महत्या किया चाहती है। पर्णदत्त सहसा एक ओर से आकर एक हाथ से हूण की गर्दन, दूसरे हाथ से देवसेना की छुरी पकड़ता है)

हूण : क्षमा हो!

पर्णदत्त : अत्याचारी! जा, तुझे छोड़ देता हूँ। आ बेटी, हम लोग चलें महादेवी की समाधि पर।

कमला : कहाँ, वहीं–कनिष्क के स्तूप के पास?

देवसेना : हाँ, कौन कमला देवी?

कमला : वही अभागिनी।

देवसेना : अच्छा, जाती हूँ; फिर मिलूँगी।

[पर्णदत्त के साथ देवसेना का प्रस्थान–स्कन्दगुप्त का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त : कोई नहीं मिला। कहाँ से वह पुकार आई थी? मेरा हृदय व्याकुल हो उठा है। सच्चे मित्र बन्धुवर्मा की धरोहर! ओह!

कमला : वह सुरक्षित है, घबराइए नहीं। कनिष्क के स्तूप के पास आपकी माता की समाधि है, वहीं पर पहुँचा दी गई है।

स्कन्दगुप्त : माँ! मेरी जननी! तू भी न रही! हा!

[मूर्च्छित होता है; कमला उसे कुटी में उठा ले जाती है।]

[पटाक्षेप]

पंचम अंक

१

[पथ में मुद्गल]

मुद्गल : राजा से रंक और ऊपर से नीचे; कभी दुर्वृत्त दानव, कभी स्नेह संबलित मानव; कहीं वीणा की झनकार, कहीं दीनता का तिरस्कार। **(सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है)** भाग्यचक्र! तेरी बलिहारी! जयमाला यह सुनकर कि बन्धुवर्मा वीरगति को प्राप्त हुए, सती हो गई, और देवसेना को लेकर बूढ़ा पर्णदत्त देवकुलिक का-सा महादेवी की समाधि पर जीवन व्यतीत कर रहा है। चक्रपालित, भीमवर्मा और मातृगुप्त राजाधिराज को खोज रहे हैं। सब विक्षिप्त! सुना है कि विजया का मन कुछ फिरा है, वह भी इन्हीं लोगों के साथ मिली है, परन्तु उस पर विश्वास करने को मन नहीं करता। अनन्तदेवी ने पुरगुप्त के साथ हूणों से सन्धि कर ली है; मगध में महादेवी और परम भट्टारक बनने का अभिनय हो रहा है। सम्राट् की उपाधि है 'प्रकाशादित्य' परन्तु प्रकाश के स्थान पर अँधेरा है! आदित्य में गर्मी नहीं। सिंहासन के सिंह सोने के हैं! समस्त भारत हूणों के चरणों में लोट रहा है, और भटार्क मूर्ख की बुद्धि के समान अपने कर्मों पर पश्चात्ताप कर रहा है। **(सामने देखकर)** वह विजया आ रही है! तो हट चलूँ।

[उठकर जाना चाहता है]

विजया : अरे मुद्गल! जैसे पहचानता ही न हो। सच है, समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

मुद्गल : तुम कौन हो जी? बेजान-पहचान की छेड़-छाड़ अच्छी नहीं लगती; और तिस पर मैं हूँ ज्योतिषी। जहाँ देखो वहीं यह प्रश्न होता है; मुझे उन बातों के सुनने में भी संकोच होता है—मुझसे रूठे हुए हैं? किसी दूसरे पर

उनका स्नेह है? वह सुन्दरी कब मिलेगी? मिलेगी या नहीं?–इस देश के छबीले छैलों और रसीली छोकरियों ने यही प्रश्न गुरुजी से पाठ में पढ़ा है। अभिसार के लिए, मुहूर्त्त पूछे जाते हैं!

विजया : क्या मुद्‌गल! मुझे पहचान लेने का भी तुम्हें अवकाश नहीं है?

मुद्‌गल : अवकाश हो या नहीं, मुझे आवश्यकता नहीं।

विजया : क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करे? सच है, आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है! परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है मुद्‌गल !

मुद्‌गल : उसका नाम न लो। जिस हृदय में अखण्ड वेग है, तीव्र तृष्णा से जो पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भांडार है, जो अपने सुख–अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसे मनुष्यता से क्या सम्बन्ध है?

विजया : न सही, परन्तु इतना तो बता सकोगे, सम्राट् स्कन्दगुप्त से कहाँ भेंट होगी? क्योंकि यह पता चला है कि वे जीवित हैं।

मुद्‌गल : क्या तुम महाराज से भेंट करोगी, किस मुँह से? अवन्ती में एक दिन यह बात सब जानते थे कि विजया महादेवी होगी!

विजया : उसी एक दिन के बदले मुद्‌गल आज मैं फिर कुछ कहना चाहती हूँ। वही एक दिन का अतीत आज तक का भविष्य छिपाये था।

मुद्‌गल : तुम्हारा साहस तो कम नहीं है।

विजया : मुद्‌गल! बता दोगे?

मुद्‌गल : तुम विश्वास के योग्य नहीं। अच्छा अब और तुम क्या कर लोगी ? देवसेना के साथ जहाँ पर्णदत्त रहते हैं, आज कमला देवी के कुटीर से सम्राट् वहीं अपनी जननी की समाधि पर जानेवाले हैं, उसी कनिष्क-स्तूप के पास। अच्छा, मैं जाता हूँ। देखो विजया! मैंने बता दिया, पर सावधान!

(जाता है)

विजया : उसने ठीक कहा। मुझे स्वयं अपने पर विश्वास नहीं। स्वार्थ में ठोकर लगते ही मैं परमार्थ की ओर दौड़ पड़ी; परन्तु क्या यह सच्चा परिवर्तन है? क्या मैं अपने को भूलकर देश-सेवा कर सकूँगी? क्या देव-सेना..ओह! फिर मेरे सामने वही समस्या। आज तो स्कन्दगुप्त सम्राट् नहीं हैं; प्रतिहिंसे, सो जा। क्या कहा? नहीं, देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था; परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी। देश-सेवा तो होगी ही, यदि मैं अपनी भी कामना पूरी कर सकती! मेरा रत्न-गृह अभी बचा है, उसे सेना-संकलन करने के लिए सम्राट् को दूँगी, और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। अदृष्ट ने इसीलिए उस रक्षित रत्न-गृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ! तो आज वही करूँगी, और इसमें दोनों होंगे—स्वार्थ और परमार्थ।

[प्रस्थान]

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क : अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा; परन्तु परिणाम मे मधुर होता है। ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया। आज भी वे शब्द सामने आ जाते हैं, जो उस बूढ़े अमात्य ने कहे थे–'भटार्क, सावधान! जिस काल-भुजंगी राष्ट्र-नीति को लेकर तुम खेल रहे हो, प्राण देकर भी उसकी रक्षा करना।' हाय! न हम उसे बस में कर सके और न तो उससे अलग हो सके। मेरी उच्च आकांक्षा, वीरता का दम्भ, पाखंड की सीमा तक पहुँच गया। अनन्तदेवी—एक क्षुद्र नारी—उसके कुचक्र में, आशा के प्रलोभन में मैंने सब बिगाड़ दिया। सुना है कि कहीं यहीं स्कन्दगुप्त भी हैं; चलूँ उस महल का दर्शन तो कर लूँ।

[पट-परिवर्तन]

२

[कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि]

(अकेला पर्णदत्त टहलते हुए)

पर्णदत्त : सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय? अक्षय निधि के समान उन पर पहरा देता हूँ। मैं रोऊँगा नहीं; परन्तु यह रक्षा क्या केवल जीवन का बोझ वहन करने के लिए है! नहीं, पर्ण! रोना मत। एक बूँद भी आँसू आँखों में न दिखाई पड़े। तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा। भगवान् यदि होंगे, तो कहेंगे कि मेरी सृष्टि में एक सच्चा हृदय था। सन्तोष कर उछलते हुए हृदय! सन्तोष कर, तू रोटियों के लिए नहीं जीता है; तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने तुझे उत्पन्न किया है। परन्तु जिस काम को कभी नहीं किया, उसे करते नहीं बनता, स्वाँग भरते नहीं बनता; देश के बहुत-से दुर्दशा-ग्रस्त वीर-हृदयों की सेवा के लिए करना पड़ेगा। मैं क्षत्रिय हूँ, मेरा यह पाप ही आपद्धर्म होगा, साक्षी रहना भगवान्!

(एक नागरिक का प्रवेश)

पर्णदत्त : बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक : और वह तुम्हारी कहाँ गई वह...**(संकेत करता है)**...

पर्णदत्त : मेरी बेटी स्नान करने गयी। बाबा! कुछ दे दो।

नागरिक : मुझे उसका गान बहुत प्यारा लगता है, अगर वह गाती, तो तुम्हें कुछ अवश्य मिल जाता। अच्छा, फिर आऊँगा। **(जाता है)**

पर्णदत्त : **(दाँत पीसकर)**—नीच, दुरात्मा, विलास का नारकीय पीड़ा! बालों को सँवारकर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है! कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है; अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई! जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज!

देवसेना : **(प्रवेश करके)** क्या है बाबा। क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया–उसने अपना; कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।

पर्णदत्त : अपना! देवसेना! अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए–हम भूखों के लिए–रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी कुटिलता! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों के लिए नहीं? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना चाहिए कि...

देवसेना : बाबा! क्षमा करो। जाने दो, कोई तो देगा।

पर्णदत्त : हमारे ऊपर सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों का भार है। बेटी! ये युद्ध में मरना जानते हैं; परन्तु भूख से तड़पते हुए उन्हें देखकर आँखों से रक्त गिर पड़ता है।

देवसेना : बाबा! महादेवी की समाधि स्वच्छ करती हुई आ रही हूँ। कई दिन से भीम नहीं आया; मातृगुप्त भी नहीं; सब कहाँ हैं?

पर्णदत्त : आवेंगे बेटी! तुम बैठो, मै अभी आता हूँ।

(प्रस्थान)

देवसेना : संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद; इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन! मेरे प्रिय गान! अब क्या गाऊँ और क्या सुनाऊँ? इन बार-बार [illegible]ाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है–क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने को ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।

(गाती है)

शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश।

हृदय! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें,
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें।

रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस।

हृदय! तू है बना जल-निधि, लहरियाँ खेलतीं तुझमें,
मिला अब कौन-सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें।

(प्रस्थान)

[वेश बदले हुए स्कन्दगुप्त का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त : जननी! तुम्हारी पवित्र स्मृति को प्रणाम!

(समाधि के समीप घुटने टेककर फूल चढ़ाता है)

माँ! अन्तिम बार आशीर्वाद नहीं मिला, इसी से यह कष्ट, यह अपमान। माँ तुम्हारी गोद में पलकर भी तुम्हारी सेवा न कर सका—यह अपराध क्षमा करो।

(देवसेना का प्रवेश)

देवसेना : **(पहचानती हुई)** कौन? अरे! सम्राट् की जय हो!

स्कन्दगुप्त : देवसेना!

देवसेना : हाँ राजाधिराज! धन्य भाग्य, आज दर्शन हुए।

स्कन्दगुप्त : देवसेना! बड़ी-बड़ी कामनाएँ थीं!

देवसेना : सम्राट्!

स्कन्दगुप्त : क्या तुमने यहाँ कोई कुटी बना ली है?

देवसेना : हाँ, यहीं गाकर भीख माँगती हूँ, और आर्य पर्णदत्त के साथ रहती हुई महादेवी की समाधि परिष्कृत करती हूँ।

स्कन्दगुप्त मालवेश-कुमारी देवसेना! तुम और यह कर्म! समय जो चाहे करा ले! कभी हमने भी तुम्हें अपने काम का बनाया था। देवसेना यह सब मेरा प्रायश्चित्त है। आज मैं बन्धुवर्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूँगा? जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा? मैं यह सब देखता हूँ और जीता हूँ।

देवसेना मैं अपने लिए ही नहीं माँगती देव! आर्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए सब रत्न एकत्र किये हैं, वे सब निरवलम्ब हैं। किसी के पास टूटी हुई तलवार ही बची है, तो किसी के जीर्ण वस्त्र-खंड। उन सबकी सेवा इसी आश्रम में होती है।

स्कन्दगुप्त वृद्ध पर्णदत्त, तात पर्णदत्त! तुम्हारी यह दशा? जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जंगल की लकड़ियाँ बटोरकर आग सुलगाता है! देवसेना! अब इसका कोई काम नहीं; चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हो, हम-तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ; वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकांतवास करूँगा।

देवसेना सो न होगा सम्राट्! मैं दासी हूँ! मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट्! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की रक्षा होनी चाहिए।

स्कन्दगुप्त देवसेना! बन्धुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना परन्तु क्षमा हो सम्राट्! उस समय आप विजया का स्वप्न देख रहे थे; अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्त्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्दगुप्त देवसेना! एकांत में, किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।

देवसेना तब तो और भी नही! मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी! सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय में...आह! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा।

अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए; उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

(पैरों पर गिरती है)

स्कन्दगुप्त (आँसू पोंछता हुआ) उठो देवसेना! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना : हैं, हैं, यह क्या किया!

स्कन्दगुप्त कल्याण का श्रीगणेश! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका, तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ जा सकूँगा।

देवसेना (निःश्वास लेकर) देवव्रत! तुम्हारी जय हो। जाऊँ आर्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ!

(प्रस्थान)

(विजया का प्रवेश)

विजया इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह–जैसे सरस्वती के शोणित जल में इन्दीवर का विकास। इसी कारण अब मैं भी मरती हूँ। मेरे स्कन्द प्राणाधार!

स्कन्दगुप्त (घूमकर) यह कौन, इन्द्रजाल मंत्र? अरे विजया!

विजया हाँ, मैं ही हूँ।

स्कन्दगुप्त तुम कैसे?

विजया तुम्हारे लिए मेरे अन्तस्तल की आशा जीवित है!

स्कन्दगुप्त : नहीं विजया! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं; यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया : नहीं, मुझे कहने दो। (सिसकती हुई) मैं अब भी...

स्कन्दगुप्त : चुप रहो विजया! यह मेरी आराधना की–तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले, तो मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ।

विजया : मेरे पास अभी दो रत्न-गृह छिपे हैं, जिससे सेना एकत्र करके तुम सहज ही उन हूणों को परास्त कर सकते हो।

स्कन्दगुप्त : परन्तु, साम्राज्य के लिए मैं अपने को नहीं बेच सकता। विजया चली जाओ; इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं। यह प्रसंग यहीं तक..।

विजया : मैंने देशवासियों को सन्नद्ध करने का संकल्प किया है, और भटार्क का संसर्ग छोड़ दिया है। तुम्हारी सेवा के उपयुक्त बनने का उद्योग कर रही हूँ। मैं मालव और सौराष्ट्र को तुम्हारे लिए स्वतन्त्र करा दूँगी; अर्थलोभी हूण-दस्युओं से उसे छुड़ा लेना मेरा काम है। केवल तुम स्वीकार कर लो।

स्कन्दगुप्त : विजया! तुमने मुझे इतना लोभी समझ लिया है? मैं सम्राट् बन कर सिंहासन पर बैठने के लिए नहीं हूँ। शस्त्र-बल से शरीर देकर भी यदि हो सका, तो जन्म-भूमि का उद्धार कर लूँगा। सुख के लोभ से, मनुष्य के भय से, मैं उत्कोच देकर क्रीत साम्राज्य नहीं चाहता।

विजया : क्या जीवन के प्रत्यक्ष सुखों से तुम्हें वितृष्णा हो गई है? आओ हमारे साथ बचे हुए जीवन का आनन्द लो।

स्कन्दगुप्त : और असहाय दीनों को, राक्षसों के हाथ, उसके भाग्य छोड़ दूँ?

विजया : कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख। फिर सब का बोझा अपने सिर पर लादकर क्यों व्यस्त होते हो?

स्कन्दगुप्त : परन्तु इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा; विश्व-नियन्ता का ऐसा ही उद्देश्य मुझे विदित होता है। फिर उसकी इच्छा क्यों न पूर्ण करूँ; विजया! मैं कुछ नहीं हूँ, उसका अस्त्र हूँ—परमात्मा का अमोघ अस्त्र हूँ। मुझे उसके संकेत पर केवल अत्याचारियों के प्रति प्रेरित होना है। किसी से मेरी शत्रुता नहीं, क्योंकि मेरी निज की कोई इच्छा नहीं। देशव्यापी हलचल के भीतर कोई शक्ति कार्य कर रही है, पवित्र प्राकृतिक नियम अपनी रक्षा करने के लिए स्वयं सन्नद्ध हैं। मैं उसी ब्रह्मचक्र का एक...

विजया : रहने दो यह थोथा ज्ञान। प्रियतम! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील-नीरद मण्डल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ। और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत् की आँखों को थोड़े काल के लिए बन्द कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनन्द, विराट् विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय!—

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से,
व्याकुलता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय घनमाला से,
आँसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
इन उदास मन की अभिलाषा अटकी रहे प्रलोभन से,
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से,
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कम्पन सम से।
इस आकुल जीवन की घड़ियाँ इन निष्ठुर आघातों से,
बजा करें अगणित यन्त्रों से सुख-दुख के अनुपातों से।
उखड़ी साँसें उछल रही हों धड़कन से कुछ परिमित हो,
अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी फिर चाहो ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ।

(स्कन्द के पैरों को पकड़ती है)

स्कन्दगुप्त : **(पैर छुड़ाकर)** विजया! पिशाची! हट जा; नहीं जानती, मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।

विजया : तो क्या मैं फिर हारी?

(भटार्क का प्रवेश)

भटार्क : निर्लज्ज हारकर भी नहीं हारता, मरकर भी नहीं मरता।

विजया : कौन, भटार्क?

भटार्क : हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्र! सुना था कि तुझे देश-सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है; परन्तु हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति-पाठ पढ़ेगी!

विजया : **(सिर नीचा करके)** अपराध हुआ।

भटार्क : फिर भी किसके साथ? जिसके ऊपर अत्याचार करके मैं भी लज्जित हूँ, जिससे क्षमा-याचना करने मैं आ रहा था। नीच स्त्री!

विजया : घोर अपमान, तो बस....

(छुरी निकालकर आत्महत्या करती है)

स्कन्दगुप्त : भटार्क! इसके शव का संस्कार करो।

भटार्क : देव! मेरी भी लीला समाप्त है।

[छुरी निकालकर अपने को मारना चाहता है, स्कन्दगुप्त हाथ पकड़ लेता है]

स्कन्दगुप्त : तुम वीर हो, इस समय देश को वीरों की आवश्यकता है। तुम्हारा यह प्रायश्चित्त नहीं। रणभूमि में प्राण देकर जननी जन्म-भूमि पर उपकार करो। भटार्क! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्म-भूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा और तुम्हारी

प्रतिज्ञा पूरी होगी, पुरगुप्त को सिंहासन देकर मैं वानप्रस्थ-आश्रम ग्रहण करूँगा। आत्म-हत्या के लिए जो अस्त्र तुमने ग्रहण किया है, उसे शत्रु के लिए सुरक्षित रक्खो।

भटार्क : **(स्कन्द के सामने घुटने टेककर)** 'श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो।' जो आज्ञा होगी, वही करूँगा!

स्कन्दगुप्त : पहले इस शव का प्रबन्ध होना चाहिए। **(प्रस्थान)**

भटार्क : **(स्वगत)** इस घृणित शव का अग्नि-संस्कार करना ठीक नहीं, लाओ, इसे यहीं गाड़ दूँ!

[भूमि खोदते समय एक भयानक शब्द के साथ रत्न-गृह का प्रकट होना और भटार्क का प्रसन्न होकर पुकारना; स्कन्दगुप्त का आकर रत्न-गृह देखना]

स्कन्दगुप्त : भटार्क! यह तुम्हारा है।

भटार्क : हाँ सम्राट्! यह हमारा है, इसीलिए देश का है। आज से मैं सेना-संकलन में लगूँगा।

स्कन्दगुप्त : वह दूर पर बड़ी भीड़ हो रही है स्तूप के पास।

भटार्क : नागरिकों का उत्सव है। **(रत्न-गृह बन्द करके)** चलिए, देखूँ।

[पट-परिवर्तन]

३

[स्तूप का एक भाग–नागरिकों का आना। उन्हीं में वेश बदले हुए मातृगुप्त, भीमवर्मा, चक्रपालित, शर्वनाग, कमला, रामा इत्यादि। दूसरी ओर से वृद्ध पर्णदत्त का हाथ पकड़े हुए देवसेना का प्रवेश]

पहला नागरिक : अरे वह छोकरी आ गई, इससे कुछ सुना जाय।

दूसरा नागरिक : हाँ रे छोकरी! कुछ गा तो।

पर्णदत्त : भीख दो बाबा! देश के बच्चे भूखे हैं, नंगे हैं, असहाय हैं, कुछ दो बाबा!

पहला नागरिक : अरे गाने भी दे बूढ़े।

पर्णदत्त : हाय रे अभागे देश!

(देवसेना गाती है)

देश की दुर्दशा निहारोगे,
डूबते को कभी उबारोगे।

हारते ही रहे, न है कुछ अब,
दाँव पर आपको न हारोगे।
कुछ करोगे कि बस सदा रोककर,
दीन हो दैव को पुकारोगे।

सो रहे तुम, न भाग्य सोता है,
आप बिगड़ी तुम्हीं सँवारोगे।
दीन जीवन बिता रहे अब तक,
क्या हुए जा रहे, विचारोगे।

पर्णदत्त : नहीं बेटी, निर्लज्ज कभी विचार नहीं करेंगे।

चक्र. और भीम. : आर्य पर्णदत्त की जय।

पर्णदत्त : मुझे जय नहीं चाहिए–भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्म-भूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए; कोई देगा भीख में?

स्कन्दगुप्त : **(भीड़ से निकलकर)** मैं प्रस्तुत हूँ तात!

भटार्क : श्री स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की जय हो!

(नागरिकों में से बहुत-से युवक निकल पड़ते हैं)

सब : हम हैं, हम आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं।

स्कन्दगुप्त : आर्य पर्णदत्त!

पर्णदत्त : आओ वत्स! सम्राट्! **(आलिंगन करता है)**

[उत्साह से जनता पूजा के फूल बरसाती है, चक्रपालित, भीमवर्मा, मातृगुप्त, शर्वनाग, कमला, रामा, सब का प्रकट होना—जयनाद]

[पट-परिवर्तन]

४

[महाबोधि विहार]

(अनन्तदेवी, पुरगुप्त, प्रख्यातकीर्ति, हूण-सेनापति)

अनन्तदेवी : इसका उत्तर महाश्रमण देंगे।

हूण-सेनापति : मुझे उत्तर चाहिए, चाहे कोई दे।

प्रख्यातकीर्ति : सेनापति! मुझ से सुनो, समस्त उत्तरापथ का बौद्ध-संघ जो तुम्हारे उत्कोच के प्रलोभन में भूल गया था, वह अब न होगा।

हूण-सेनापति : तभी बौद्ध जनता से जो सहायता हूण-सैनिकों को मिलती थी, बन्द हो गई; और उलटा तिरस्कार!

प्रख्यातकीर्ति : वह भ्रम था। बौद्धों को विश्वास था कि हूण लोग सद्धर्म का उत्थान करने में सहायक होंगे, परन्तु ऐसे हिंसक लोगों को सद्धर्म कोई आश्रय नहीं देगा। **(पुरगुप्त की ओर देखकर)** यद्यपि संघ ऐसे अकर्मण्य युवक को आर्य-साम्राज्य के सिंहासन पर नहीं देखा चाहता, तो भी बौद्ध धर्माचरण करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे।

अनन्तदेवी : भिक्षु! क्या कह रहे हो? समझकर कहना।

हूण-सेनापति : गोपाद्रि से समाचार मिला है स्कन्दगुप्त फिर जी उठा है, और सिन्धु के इस पार के हूण उसके घेरे में हैं; सम्भवतः शीघ्र ही अन्तिम युद्ध होगा। तब तक के लिए संघ की प्रतिज्ञा भंग न करनी चाहिए।

पुरगुप्त : क्या युद्ध! तुम लोगों को कोई दूसरी बात नहीं ..

अनन्तदेवी : चुप रहो।

पुरगुप्त : तब फिर एक पात्र। **(सेवक देता है)**

प्रख्यातकीर्ति : अनार्य! विहार में मद्यपान! निकलो यहाँ से।

अनन्तदेवी : भिक्षु! समझकर बोलो, नहीं तो मंडित मस्तक भूमि पर लोटने लगेगा!

हूण-सेनापति : इसी की सब प्रवंचना है। इसका तो मैं अवश्य ही वध करूँगा।

प्रख्यातकीर्ति : क्षणिक और अनात्मभव में किसका कौन बध करेगा, मूर्ख!

हूण-सेनापति : पाखण्ड! मरने के लिए प्रस्तुत हो।

प्रख्यातकीर्ति : सिंहल के युवराज की प्रेरणा से हम लोग सत्पथ पर अग्रसर हुए हैं; वहाँ से लौट सकते हैं।

(हूण-सेनापति मारना चाहता है)

धातुसेन : **(सहसा प्रवेश करके)** 'सम्राट् स्कन्दगुप्त की जय!'

(सैनिक सबको बन्दी कर लेते हैं)

धातुसेन : कुचक्रियो! अपने फल भोगने के लिए प्रस्तुत हो जाओ! भारत के भीतर की बची हुई समस्त हूण-सेना के रुधिर से यह उन्हीं की लगाई ज्वाला शान्त होगी!

अनन्तदेवी : धातुसेन! यह क्या, तुम हो?

धातुसेन : हाँ महादेवी! एक दिन मैंने समझाया था, तब मेरी अवहेलना की गई; यह उसी का परिणाम है। **(सैनिकों से)** सबको शीघ्र साम्राज्य-स्कन्धावार में ले चलो।

[सबका प्रस्थान]

५

[सम्राट् स्कन्दगुप्त, भटार्क, चक्रपालित, पर्णदत्त, मातृगुप्त, भीमवर्मा इत्यादि सेना के साथ परिभ्रमण करते हैं]

(गान)

वीरो!
हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीत।
सप्तस्वर सप्तसिन्धु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम-संगीत।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत।
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारा जातीयता विकास।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास।
सिन्धु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह।
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह।
धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बंद।
हमी ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही, धरा पर धूम।
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म-भूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का, उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर।
खड़े देखा, झेला हँसते, प्रलय में पले हुए हम वीर।
चरित थे पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव।
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान।
वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान।

जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

सब : **(समवेत स्वर में)** जय! राजाधिराज स्कन्दगुप्त की जय!!

[हूण-सेना के साथ खिंगिल का आगमन]

खिंगिल : बच गया था भाग्य से, फिर सिंह के मुख में आना चाहता है। भीषण परशु के प्रहारों से तुम्हें अपनी भूल स्मरण हो जायगी।

स्कन्दगुप्त : यह बात करने का स्थल नहीं है।

[घोर युद्ध, खिंगिल घायल होकर बन्दी होता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्ण-दत्त की मृत्यु ; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है]

स्कन्दगुप्त : धन्य वीर आर्य पर्णदत्त!

सब : आर्य पर्णदत्त की जय! आर्य साम्राज्य की जय!!

[बन्दी-वेश में पुरगुप्त और अनन्तदेवी के साथ धातुसेन का प्रवेश]

स्कन्दगुप्त : मेरी सौतेली माता! इस विजय से आप सुखी होंगी।

अनन्तदेवी : क्यों लज्जित करते हो स्कन्द! तुम भी तो मेरे पुत्र हो!

स्कन्दगुप्त : आह! यही यदि होता मेरी विमाता! तो देश की इतनी दुर्दशा न होती।

अनन्तदेवी : मुझे क्षमा करो सम्राट्!

स्कन्दगुप्त : माता का हृदय सदैव क्षम्य है। तुम जिस प्रलोभन से इस दुष्कर्म में प्रवृत्त हुई हो, वही तो कैकेयी ने किया था। तुम्हारा इसमें दोष नहीं। जब तुमने आज मुझे पुत्र कहा, तो मैं भी तुम्हें माता ही समझूँगा परन्तु कुमारगुप्त के इस अग्नितेज को तुमने अपने कुत्सित कर्मों की राख में ढँक दिया। पुरगुप्त!

पुरगुप्त : देव! अपराध हुआ। **(पैर पकड़ता है)**

स्कन्दगुप्त : भटार्क! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणभूमि में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो। **(रक्त का टीका पुरगुप्त को लगाता है)**

भटार्क : देवव्रत! अभी आपको छत्रछाया में हम लोगों को बहुत-सी विजय प्राप्त करनी है; यह आप क्या कहते हैं?

स्कन्दगुप्त : क्षत-जर्जर शरीर अब बहुत दिन नहीं चलेगा, इसी से मैंने भावी साम्राज्य-नीति की घोषणा कर दी है। इस हूण को छोड़ दो, और कह दो कि सिन्धु के पार के पवित्र देश में कभी आने का साहस न करे।

खिंगिल : आर्य सम्राट्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।

[जाता है]

६

[उद्यान का एक भाग]

देवसेना : हृदय की कोमल कल्पना! सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सबसे मैं विदा लेती हूँ।

आह! वेदना मिली विदाई!
मैंने भ्रमवश जीवन सञ्चित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छलछल थे सन्ध्या के श्रमकण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरु-छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी।
मेरी आशा आह! बावली,
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती!
विश्व! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई!

स्कन्दगुप्त : देवसेना!

देवसेना : जय हो देव! श्रीचरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कन्दगुप्त : मालवेश-कुमारी क्या आज्ञा है? आज बन्धुवर्मा इस आनन्द को देखने के लिए नहीं है। जननी जन्म-भूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बन्धुवर्मा की भगिनी मालवेशकुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है?

देवसेना : मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही; अब मुझे छुट्टी मिले!

स्कन्दगुप्त : देवी! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक-दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त श्री, इस अमरावती की शची, स्वर्ग की लक्ष्मी तुम चली जाओ– ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ? **(कुछ ठहरकर सोचते हुए)** और किस वज्र कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ? देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह!!

देवसेना : कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सम्राट्! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!!

[घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।

खण्ड तीन : कहानियाँ

मधुआ

आज सात दिन हो गये, पीने की कौन कहे छुआ तक नहीं! आज सातवाँ दिन है सरकार!

तुम झूठे हो। अभी तो तुम्हारे कपड़े से महक आ रही है।

वह...वह तो कई दिन हुए। सात दिन से ऊपर–कई दिन हुए–अँधेरे में बोतल उँड़ेलने लगा था। कपड़े पर गिर जाने से नशा भी न आया। और आपको कहने का...क्या कहूँ...सच मानिए। सात दिन–ठीक सात दिन से एक बूँद भी नहीं।

ठाकुर सरदार सिंह हँसने लगे। लखनऊ में लड़का पढ़ता था। ठाकुर साहब भी कभी-कभी वहीं आ जाते। उनको कहानी सुनने का चसका था। खोजने पर यही शराबी मिला। वह रात को, दोपहर में, कभी-कभी भी आ जाता। अपनी लच्छेदार कहानी सुनाकर ठाकुर का मनोविनोद करता।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा–तो आज पियोगे न!

झूठ कैसे कहूँ। आज तो जितना मिलेगा, सब पिऊँगा। सात दिन चने-चबेने पर बिताये हैं, किसलिए।

अद्भुत! सात दिन पेट काटकर आज अच्छा भोजन न करके तुम्हें पीने की सूझी है! यह भी....

सरकार! मौज-बहार की एक घड़ी, एक लम्बे दुखपूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रूखे दिन काट लिये जा सकते हैं।

अच्छा, आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया है?

मैंने? अच्छा सुनिये सवेरे कुहरा पड़ता था, मेरे धुआँ से कम्बल-सा वह भी सूर्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाये पड़े थे।

ठाकुर साहब ने हँस कर कहा–अच्छा तो इस मुँह छिपाने का कोई कारण?

सात दिन से एक बूँद भी गले न उतरी थी। भला मैं कैसे मुँह दिखा सकता था। और जब बारह बजे धूप निकली, तो फिर लाचारी थी। उठा, हाथ-मुँह धोने में जो दुःख हुआ, सरकार वह क्या कहने की बात है! पास में पैसे बचे थे। चना चबाने से दाँत भाग रहे थे। कट कटी लग रही थी। पराठेवाले के यहाँ पहुँचा, धीरे-धीरे खाता रहा और अपने को सेंकता भी रहा। फिर गोमती किनारे चला गया! घूमते-घूमते अँधेरा हो गया, बूँदें पड़ने लगीं तब कहीं भाग के आपके पास आ गया।

अच्छा जो उस दिन तुमने गड़रियेवाली कहानी सुनाई थी, जिसमें आसफुद्दौला ने उसकी लड़की का आँचल भुने हुए भुट्टे के दानों के बदले मोतियों से भर दिया था! वह क्या सच है?

सच! अरे वह गरीब लड़की भूख से उसे चबा कर थू-थू करने लगी! ....रोने लगी। ऐसी निर्दयी दिल्लगी बड़े लोग कर ही बैठते हैं। सुना है श्री रामचन्द्र ने भी हनुमानजी से ऐसा ही....

ठाकुर साहब ठठाकर हँसने लगे। पेट पकड़कर हँसते-हँसते लोट गये। साँस बटोरते हुए सम्हल-कर बोले–और बड़प्पन कहते किसे हैं? कंगाल तो कंगाल! गधी लड़की! भला उसने कभी मोती देखे थे, चबाने लगी होगी। मैं सच कहता हूँ, आज तक तुम ने जितनी कहानियाँ सुनाई, सब से बड़ी 'टीस' थी। शहजादों के दुखड़े, रंग-महल की अभागिन बेगमों के निष्फल प्रेम, करुण कथा और पीड़ा से भरी हुई कहानियाँ ही तुम्हें आती हैं; पर ऐसी हँसानेवाली कहानी और सुनाओ, तो मैं अपने सामने ही बढ़िया शराब पिला सकता हूँ।

सरकार! बूढ़ों से सुने हुए वे नवाबी के सोने-से दिन, अमीरों की दुखियों की दर्द-भरी आहें, रंगमहलों में घुल-मिल कर मरनेवाली बेगमें, अपने-आप सिर में चक्कर काटती रहती हैं। मैं उनकी पीड़ा से रोने लगता हूँ। अमीर कंगाल हो जाते है। बड़े-बड़ों के घमंड चूर होकर धूल में मिल जाते हैं। तब भी दुनियाँ बड़ी पागल है। मैं उसके पागलपन को भुलाने के लिए शराब पीने लगता हूँ–सरकार! नहीं तो यह बुरी बला कौन अपने गले लगाता!

ठाकुर साहब ऊँघने लगे थे। अँगीठी में कोयला दहक रहा था। शराबी सरदी से ठिठुरा जा रहा था। वह हाथ सेंकने लगा। सहसा नींद से चौंककर ठाकुर साहब ने कहा–अच्छा जाओ, मुझे नींद लग रही है। वह देखो, एक रुपया पड़ा है, उठा लो। लल्लू को भेजते जाओ।

शराबी रुपया उठा कर धीरे से खिसका। लल्लू था ठाकुर साहब का जमादार। उसे खोजते हुए जब वह फाटक पर की बगलवाली कोठरी के पास पहुँचा तो उसे सुकुमार कंठ से सिसकने का शब्द सुनाई पड़ा। वह खड़ा होकर सुनने लगा।

तो सूअर रोता क्यों है? कुँवर साहब ने दो ही लातें लगाई हैं! कुछ गोली तो नहीं मार दी? –कर्कश स्वर से लल्लू बोल रहा था; किन्तु उत्तर में सिसकियों के साथ एकाध हिचकी ही सुनाई पड़ जाती थी। अब और भी कठोरता से लल्लू ने कहा–मधुआ! जा सो रह! नखरा न कर, नहीं तो उठूँगा तो खाल उधेड़ दूँगा! समझा न?

शराबी चुपचाप सुन रहा था। बालक की सिसकी और बढ़ने लगी। फिर उसे सुनाई पड़ा– ले अब भागता है कि नहीं? क्यों मार खाने पर तुला है?

भयभीत बालक बाहर चला आ रहा था! शराबी ने उसके छोटे-से सुन्दर गोरे मुँह को देखा। आँसू की बूँदें ढुलक रही थीं। बड़े दुलार से उसका मुँह पोंछते हुए उसे लेकर वह फाटक के बाहर से चला आया। दस बज रहे थे। कड़ाके की सर्दी थी। दोनों चुपचाप चलने लगे। शराबी की मौन सहानुभूति को उस छोटे-से सरल हृदय ने स्वीकार कर लिया। वह चुप हो गया। अभी वह एक तंग गली पर रुका ही था कि बालक के फिर से सिसकने की उसे आहट लगी। वह झिड़ककर बोल उठा—

अब क्या रोता है रे छोकरे?

मैंने दिन भर से कुछ खाया नहीं।

कुछ खाया नहीं; इतने बड़े अमीर के यहाँ रहता है और दिन भर तुझे खाने को नहीं मिला?

यही कहने तो मैं गया था जमादार के पास; मार तो रोज ही खाता हूँ। आज तो खाना ही नहीं मिला। कुँवर साहब का ओवरकोट लिये खेल में दिन भर साथ रहा। सात बजे लौटा, तो और भी नौ बजे तक कुछ काम करना पड़ा। आटा रख नहीं सका था। रोटी बनती तो कैसे! जमादार से कहने गया था! भूख की बात कहते-कहते बालक के ऊपर उसकी दीनता और भूख ने एक साथ ही जैसे आक्रमण कर दिया, वह फिर हिचकियाँ लेने लगा।

शराबी उसका हाथ पकड़ कर घसीटता हुआ गली में ले चला। एक गन्दी कोठरी का दरवाजा ढकेलकर बालक को लिये हुए वह भीतर पहुँचा। टटोलते हुए सलाई से मिट्टी की ढेबरी जलाकर वह फटे कंबल के नीचे से कुछ खोजने लगा। एक पराठे का टुकड़ा मिला! शराबी उसे बालक के हाथ में देकर बोला–तब तक तू इसे चबा, मैं तेरा गढ़ा भरने के लिए कुछ और ले आऊँ–सुनता है रे छोकरे! रोना मत, रोयेगा तो खूब पीटूँगा। मुझसे रोने से बड़ा बैर है। पाजी कहीं का, मुझे भी रुलाने का...

शराबी गली के बाहर भागा। उसके हाथ में एक रुपया था।–बारह आने का एक देशी अद्धा और दो आने की चाय....दो आने की पकौड़ी नहीं-नहीं आलू मटर....अच्छा, न सही। चारों आने का मांस ही ले दूँगा, पर यह छोकरा! इसका गढ़ा जो भरना होगा, यह कितना खायगा और क्या खायगा। ओह! आज तक तो कभी मैंने दूसरों के खाने का सोच-विचार किया ही नहीं। तो क्या ले चलूँ? पहले एक अद्धा ही ले लूँ! –इतना सोचते-सोचते उसकी आँखों पर बिजली के प्रकाश की झलक पड़ी। उसने अपने को मिठाई की दूकान पर खड़ा पाया। वह शराब का अद्धा लेना भूल कर मिठाई-पूरी खरीदने लगा। नमकीन लेना भी न भूला। पूरा एक रुपये का सामान लेकर वह दूकान से हटा। जल्द पहुँचने के लिए एक तरह से दौड़ने लगा। अपनी कोठरी में पहुँच कर उसने दोनों की पाँत बालक के सामने सजा दी। उनकी सुगन्ध से बालक के गले में एक तरावट पहुँची। वह मुस्कराने लगा।

शराबी ने मिट्टी की गगरी से पानी उँड़ेलते हुए कहा-नटखट कहीं का, हँसता है, सोंधी बास नाक में पहुँची न! ले खूब ठूस कर खा ले, और फिर रोया कि पीटा!

दोनों ने बहुत दिन पर मिलनेवाले दो मित्रों की तरह साथ बैठ कर भरपेट खाया। सीली जगह में सोते हुए बालक ने शराबी का पुराना बड़ा कोट ओढ़ लिया था। जब उसे नींद आ गई, तो शराबी भी कम्बल तान कर बड़बड़ाने लगा-सोचा था आज सात दिन पर भरपेट पीकर सोऊँगा, लेकिन यह छोटा-सा रोना पाजी, न जाने कहाँ से आ धमका!

एक चिन्तापूर्ण आलोक में आज पहले शराबी ने आँख खोलकर कोठरी में बिखरी हुई दारिद्रय की विभूति को देखा उस घुटनों से ठुढडी लगाये हुए निरीह बालक को; उसने तिलमिलाकर मन-ही-मन प्रश्न किया–किसने ऐसे सुकुमार फूलों को कष्ट देने के लिए निर्दयता की सृष्टि की? आह री नियति! तब इसको लेकर मुझे घर-बारी बनना पड़ेगा क्या? दुर्भाग्य! जिसे मैंने कभी सोचा भी न था। मेरी इतनी माया-ममता–जिस पर आज तक केवल बोतल का ही पूरा अधिकार था—इसका पक्ष क्यों लेने लगी? इस छोटे-से पाजी

ने मेरे जीवन के लिए कौन-सा इन्द्रजाल रचने का बीड़ा उठाया है! तब क्या करूँ? कोई काम करूँ? कैसे दोनों का पेट चलेगा! नहीं, भगा दूँगा इसे—आँख तो खोले!

बालक अँगड़ाई ले रहा था। वह उठ बैठा। शराबी ने कहा—ले उठ कुछ खा ले, अभी रात का बचा हुआ है; और अपनी राह देख! तेरा नाम क्या है रे?

बालक ने सहज हँसी हँसकर कहा—मधुआ! भला हाथ-मुँह भी न धोऊँ! खाने लगूँ! और जाऊँगा कहाँ?

आह! कहाँ बताऊँ इसे कि चला जाय! कह दूँ कि भाड़ में जा; किन्तु वह आज तक दुःख की भट्टी में जलता ही तो रहा है। तो...वह चुपचाप घर से झल्लाकर सोचता हुआ निकला—ले पाजी, अब यहाँ लौटूँगा ही नहीं। तू ही इस कोठरी में रह!

शराबी घर से निकला। गोमती-किनारे पहुँचने पर उसे स्मरण हुआ कि वह कितनी ही बातें सोचता आ रहा था, पर कुछ भी सोच न सका। हाथ-मुँह धोने मे लगा। उजली धूप निकल आई थी। वह चुपचाप गोमती की धारा को देख रहा था। धूप की गरमी से सुखी होकर वह चिन्ता भुलाने का प्रयत्न कर रहा था, कि किसी ने पुकारा—

भले आदमी रहे कहाँ? सालों पर दिखाई पड़े। तुमको खोजते-खोजते मैं थक गया।

शराबी ने चौंककर देखा। वह कोई जान-पहचान का तो मालूम होता था; पर कौन है, यह ठीक-ठीक न जान सका।

उसने फिर कहा—तुम्हीं से कह रहे हैं। सुनते हो, उठा ले जाओ अपनी सान धरन की कल, नहीं तो सड़क पर फेंक दूँगा। एक ही तो कोठरी, जिसका मैं दो रुपये किराया देता हूँ, उसमें क्या मुझे अपना कुछ रखने के लिए नहीं है?

ओहो? रामजी तुम हो, भाई मैं भूल गया था। तो चलो आज ही उसे उठा लाता हूँ।—कहते हुए शराबी ने सोचा—अच्छी रही उसी को बेचकर कुछ दिनों तक काम चलेगा।

गोमती नहाकर रामजी पास ही अपने घर पर पहुँचा। शराबी की कल देते हुए उसने कहा—ले जाओ, किसी तरह मेरा इससे पिण्ड छूटे।

बहुत दिनों पर आज उसको कल ढोना पड़ा। किसी तरह अपनी कोठरी में पहुँच कर उसने देखा कि बालक चुपचाप बैठा है। बड़बड़ाते हुए उसने पूछा—क्यों रे, तू ने कुछ खा लिया कि नहीं?

भर पेट खा चुका हूँ, और वह देखो तुम्हारे लिए भी रख दिया है।—कहकर उसने अपनी स्वाभाविक मधुर हँसी से उस रूखी कोठरी को तर कर दिया। शराबी एक क्षण भर चुप रहा। फिर चुपचाप जल-पान करने लगा। मन-ही-मन सोच रहा था—वह भाग्य का संकेत नहीं तो और क्या है? चलूँ फिर सान देने का काम चलता करूँ। दोनों का पेट भरेगा। वही पुराना चरखा फिर सिर पड़ा। नहीं तो, दो बातें किस्सा कहानी, इधर-उधर की, कहकर अपना काम चला ही लेता था! पर अब तो बिना कुछ किये घर नहीं चलने का। जल पीकर बोला—क्यों रे मधुआ, अब तू कहाँ जायगा?

कहीं नहीं।

यह लो, तो फिर क्या यहाँ जमा गड़ी है कि मैं खोद-खोदकर तुझे मिठाई खिलाता रहूँगा।

तब कोई काम करना चाहिए।

करेगा?

जो कहो!

अच्छा तो आज से मेरे साथ-साथ घूमना पड़ेगा। यह कल तेरे लिए लाया हूँ! चल आज से तुझे सान देना सिखाऊँगा। कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं। पेड़ के नीचे रात बिता सकेगा न!

कहीं भी रह सकूँगा; पर उस ठाकुर की नौकरी न कर सकूँगा।

शराबी ने एक बार स्थिर दृष्टि से उसे देखा। बालक की आँखें दृढ़ निश्चय की सौगन्ध खा रही थीं।

शराबी ने मन-ही-मन कहा—बैठे-बैठाये यह हत्या कहाँ से लगी! अब तो शराब न पीने की मुझे भी सौगन्ध लेनी पड़ी।

वह साथ ले जानेवाली वस्तुओं को बटोरने लगा। एक गट्ठर का और दूसरा कल का, दो बोझ हुए।

शराबी ने पूछा—तू किसे उठायेगा?

जिसे कहो।

अच्छा, तेरा बाप जो मुझको पकड़े तो?

कोई नहीं पकड़ेगा, चलो भी। मेरे बाप कभी मर गये।

शराबी आश्चर्य से उसका मुँह देखता हुआ कल उठाकर खड़ा हो गया। बालक ने गठरी लादी। दोनों कोठरी छोड़कर चल पड़े।

पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश मे काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था–देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूँदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्कान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता–उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते, तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था; इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय-वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे–विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक कुमारी मधूलिका को। अहा कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली; किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्णमुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर

दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे! महाराज की भृकुटी भी ज़रा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा–

देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने से पहले ही वृद्ध ने तीखे स्वर से कहा–अबोध! क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना!

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर!.... महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है। –मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा–देव! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है। –महाराज चौंक उठे–सिंहमित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?

हाँ, देव! –सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रीवर? –महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण है। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुन कर नियमानुसार पुरस्कार स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक-वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ–वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वह रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुण्डेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगरतोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे। अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक-कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक-वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन सुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए; परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया–छि:

कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखे खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। –भद्रे! तुम्ही न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान....

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!

मेरे उस अभिनय का–मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवी! मैं मगध का राजकुमार, तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ–मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनबिहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीने वाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम हैं। मैं उसे बदलना नहीं चाहती –चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

मधूलिका ने राजा का प्रतिपादन, अनुग्रह, नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ी रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की क्रान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह,महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुरकर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ाकर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते है; परन्तु उनकी आवश्यकता और

कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं, नहीं तीन वर्ष हुए होंगे इसी मधूक के नीचे प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था? दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्रय की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रसाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में, बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कह रही थी। 'अभी वह निकल गया। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—राजकुमार!

मधूलिका? —आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों के बाद आज फिर!

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु...

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज आपकी यह क्या दशा है?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध का विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देनेवाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था; किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-मरण के साथी हैं, भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम... । भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ? —अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा। तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रसाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठी—तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगा कर मैं तुम्हें इस कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके! अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी? —मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी—नहीं, किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या?

सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना यह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो? जो कहोगे वह करूँगी—मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये है। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चांहिए।

मूर्ख ! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं मैं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी बनाना होगा।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। जिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना...

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं आमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव! —कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर घना जंगल है, आज मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब ती महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देखकर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुस कर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगी। अरुण ने कहा—चार प्रहर और विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण-कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूँगा मधूलिके!

भयानक! अरुण, तुम्हारा साहस देख मैं चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम...

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है?

अवश्य! तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा अन्धकार अधिक हो गया। अभी

तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्धरात्रि तक पूरा कर.लेना चाहिए; तब रात्रि भर के लिए विदा मधूलिके!

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में वह झोंपड़ी की ओर चली।

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय? मगध कोशल का चिर-शत्रु! ओह, उसकी विजय! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है? नहीं, नहीं। 'मधूलिका! मधूलिका!!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्ति अन्धकार में चित्रित होती जाती। सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्रायः एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके दायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता मे वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ में हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—कौन? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़ककर कहा—तू कौन है स्त्री? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बाँध लो? मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले—पगली है।

पगली नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती। सेनापति! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है स्पष्ट कह!

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है?

मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों के उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े-से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाया, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा–अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?

सेनापति की जय हो! दो सौ।

उन्हें शीघ्र ही एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। सौ को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा–जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा–सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?–क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा–मधूलिका, यह सत्य है?

हाँ, देव!

राजा ने सेनापति से कहा–सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ। सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा–सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सब के मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुंकार करते हुए कहा–'वध करो!' राजा ने सब से सहमत होकर आज्ञा दी। 'प्राण-दण्ड।'

मधूलिका, बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा–मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा—मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

गुण्डा

वह पचास से ऊपर था। तब भी युवकों से अधिक बलिष्ठ और दृढ़ था। चमड़े पर झुर्रियाँ नहीं पड़ी थीं। वर्षा की झड़ी में, पूस की रातों की छाया में कड़कती हुई जेठ की धूप में, नंगे शरीर घूमने में वह सुख मानता था। उसकी चढ़ी मूँछें बिच्छू के डंक की तरह, देखनेवालों की आँखों में चुभती थीं। उसका साँवला रंग, साँप की तरह चिकना और चमकीला था। उसकी नागपुरी धोती का लाल रेशमी किनारा दूर से ही ध्यान आकर्षित करता। कमर में बनारसी सेल्हे से फेंटा, जिसमें सीप की मूठ का बिछुआ खुँसा रहता था। उसके घुँघराले बालों पर सुनहले पल्ले के साफे का छोर उसकी चौड़ी पीठ पर फैला रहता। ऊँचे कन्धे पर टिका हुआ चौड़ी धार का गँड़ासा, यह भी उसकी धज! पंजों के बल जब वह चलता, तो उसकी नसें चटाचट बोलती थीं। वह गुण्डा था।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में वही काशी नहीं रह गयी थी, जिसमें उपनिषद् के अजातशत्रु की परिषद् में ब्रह्मविद्या सीखने के लिए विद्वान् गौतमबुद्ध और शंकराचार्य के धर्म-दर्शन के वाद-विवाद, कई शताब्दियों से लगातार मन्दिरों और मठों के ध्वंस और तपस्वियों के वध के कारण, प्रायः बन्द-से हो गये थे। यहाँ तक कि पवित्रता और छुआछूत में कट्टर वैष्णव-धर्म भी उस विशृंखलता में, नवागन्तुक धर्मोन्माद में अपनी असफलता देखकर काशी में अघोर रूप धारण कर रहा था। उसी समय समस्त न्याय और बुद्धिवाद जो शस्त्र-बल के सामने झुकते देखकर, काशी के विच्छिन्न और निराश नागरिक जीवन से एक नवीन सम्प्रदाय की सृष्टि की। वीरता जिसका धर्म था। अपनी बात पर मिटना, सिंह-वृत्ति से जीविका ग्रहण करना, प्राण-भिक्षा माँगनेवाले कायरों तथा चोट खाकर गिरे हुए प्रतिद्वन्द्वी पर शस्त्र न उठाना, सताये हुए निर्बलों को सहायता देना और प्रत्येक क्षण प्राणों को हथेली पर लिये घूमना, उसका बाना था। उन्हें काशी में गुंडा कहते थे।

जीवन की किसी अलभ्य अभिलाषा से वंचित होकर जैसे प्रायः लोग विरक्त हो जाते हैं, ठीक उसी तरह किसी मानसिक चोट से घायल होकर, एक प्रतिष्ठित जमींदार का पुत्र होने पर भी नन्हकूसिंह ने बहुत-सा रुपया खर्च करके जैसा स्वाँग खेला था, उसे काशी वाले बहुत दिनों तक नहीं भूल सके। बसन्त ऋतु में यह प्रहसनपूर्ण अभिनय खेलने के लिए उन दिनों प्रचुर धन, बल, निर्भीकता और उच्छृंखलता की आवश्यकता होती थी। एक बार नन्हकूसिंह ने भी एक पैर में नूपुर, एक हाथ में तोड़ा, एक आँख में काजल, एक कान में हज़ारों के मोती तथा दूसरे कान में फटे हुए जूतों का तल्ला लटकाकर, एक में जड़ाऊ मूठ की तलवार, दूसरा हाथ आभूषणों से लदी हुई अभिनय करनेवाली प्रेमिका के कन्धे पर रखकर गाया था–

"कहीं बैंगनवाली मिले तो बुला देना।"

प्रायः बनारस के बाहर की हरियालियों में, अच्छे पानी वाले कुओं पर, गंगा की धारा में मचलती हुई डोंगी पर वह दिखलाई पड़ता था। कभी-कभी जुआख़ाने से निकलकर जब वह चौक में आ जाता, तो काशी की रंगीली वेश्याएँ मुस्कराकर उसका स्वागत करती और उसके दृढ़ शरीर को सस्पृह देखतीं। वह तमोली की ही दूकान पर बैठकर उनके गीत सुनता, ऊपर कभी नहीं जाता था। जुए की जीत का रुपया मुट्ठियों में भर-भरकर, उनकी खिड़की में वह इस तरह उछालता कि कभी-कभी समाजी लोग अपना सिर सहलाने लगते, तब वह उठाकर हँस देता। जब कभी लोग कोठे के ऊपर चलने के लिए कहते, तो वह उदासी की साँस खींचकर चुप हो जाता।

वह अभी वंशी के जूएख़ाने से निकला था। आज उसकी क़ौड़ी ने साथ न दिया। सोलह परियों के नृत्य में उसका मन न लगा। मन्नू तमोली की दूकान पर बैठते हुए उसने कहा–"आज सायत अच्छी नहीं रही, मन्नू!"

"क्यों मालिक! चिन्ता किस बात की है। हम लोग किस दिन के लिए हैं। सब आप ही का तो है।"

"अरे, बुद्ध ही रहे तुम! नन्हकूसिंह जिस दिन किसी से लेकर जुआ खेलने लगे उसी दिन समझना वह मर गये। तुम जानते नहीं कि मैं जूआ खेलने जाता हूँ। जब मेरे पास एक पैसा नहीं रहता; उसी दिन नाल पर पहुँचते ही जिधर बड़ी ढेरी रहती है, उसी को बदता हूँ और फिर वही दॉव आता भी है। बाबा कीताराम का यह वरदान है!"

"तब आज क्यों, मालिक?"

"पहला दाँव तो आया ही, फिर दो-बार हाथ बदने पर सब निकल गया। तब भी लो, यह पाँच रुपये बचे हैं। एक रुपया तो पान के लिए रख लो और चार दे दो मलूकी को, कह दो कि दुलारी से गाने के लिए कह दे। हाँ, वही एक गीत–

"बलमि विदेश रहे।"

नन्हकूसिंह की बात सुनते ही मलूकी, जो अभी गाँजे की चिलम पर रखने के लिए अँगारा चूर कर रहा था, घबराकर उठ खड़ा हुआ। वह सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ गया। चिलम को देखता ही ऊपर चढ़ा, इसलिए चोट उसे भी लगी; पर नन्हकूसिह की भृकुटी देखने की शक्ति उसमें कहाँ! उसे नन्हकूसिंह की वह! मूर्ति न भूली थी, जब इसी पान की दूकान पर जूएख़ाने से जीता हुआ, रुपये से भरा हुआ तोड़ा लिए वह बैठा था। "दूर से बोधीसिंह की बारात का बाजा बजता हुआ आ रहा था। नन्हकू ने पूछा–"यह किसकी बारात है?"

"ठाकुर बोधीसिंह के लड़के की।"–मन्नू के इतना कहते ही नन्हकू के ओठ फड़कने लगे। उसने कहा–"मन्नू! यह नहीं हो सकता। आज इधर से बारात न जायगी। बोधीसिंह हमसे निपटकर तब बारात इधर से ले जा सकेंगे।"

मन्नू ने कहा–"तब मालिक, मैं क्या करूँ?"

नन्हकू गँड़ासा कन्धे पर और ऊँचा करके मलूकी से बोला–"मलुकिया देखता है, अभी जा ठाकुर से कह दे, कि बाबू नन्हकूसिंह आज यहीं लागने के लिए खड़े हैं।

समझकर आवे, लड़के की बारात है।"

मलुकिया काँपता हुआ ठाकुर बोधीसिंह के पास गया। बोधीसिंह और नन्हकू से पाँच वर्ष से सामना नहीं हुआ है। किसी दिन नाल पर कुछ बातों में ही कहा-सुनी होकर, बीच-बचाव हो गया था। फिर सामना नहीं हो सका। आज नन्हकू जान पर खेलकर अकेले खड़ा है। बोधीसिंह भी उस आन को समझते थे। उन्होंने मलूकी से कहा-"जा बे, कह दे कि हमको क्या मालूम कि बाबू साहब वहाँ खड़े हैं। जब वह हैं ही, तो दो समधी के जाने का क्या काम है।"

बोधीसिंह लौट गये और मलूकी के कन्धे पर तोड़ा लादकर बाजे के आगे नन्हकूसिंह बारात लेकर गये। ब्याह में जो कुछ लगा, खर्च किया। ब्याह कराकर तब दूसरे दिन इसी दूकान पर आकर रुक गये। लड़के को और उसकी बारात को उसके घर भेज दिया।

मलकी को भी दस रुपया मिला था उस दिन। फिर नन्हकूसिह की बात सुनकर बैठे रहना और बम को न्यौता देना एक ही बात थी। उसने जाकर दुलारी से कहा-"हम ठेका लगा रहे हैं, तुम गाओ, तब तक बल्लू सारंगी वाला पानी पीकर आता है।"

"बार रे, कोई आफत आयी है क्या बाबू साहब? सलाम।" -कहकर दुलारी ने खिड़की से मुस्कराकर झाँका था कि नन्हकूसिंह उसके सलाम का जवाब देकर, दूसरे एक आनेवाले को देखने लगे।

हाथ में हरौती की पतली-सी छड़ी, आँखों में सुरमा, मुँह में पान, मेंहदी लगी हुई लाल दाढ़ी, जिसकी सफ़ेद जड़ दिखलाई दे रही थीं, कुव्वेदार टोपी; छकलिया अँगरखा और साथ में लेसदार परत वाले दो सिपाही! कोई मौलवी साहब हैं। नन्हकू हँस पड़ा। नन्हकू की ओर बिना देखे ही मौलवी ने एक सिपाही से कहा-"जाओ, दुलारी से कह दो कि आज रेजीडेण्ट साहब की कोठी पर मुजरा करना होगा, अभी से चलें, देखो तब तक हम जानअली से कुछ इत्र ले रहे हैं।" सिपाही ऊपर चढ़ रहा था और मौलवी दूसरी ओर चले थे कि नन्हकू ने ललकार कर कहा-"दुलारी! हम कब तक यहाँ बैठे रहें! क्या अभी सरंगिया नहीं आया?"

दुलारी ने कहा-"वाह बाबू साहब! आप ही के लिए तो मैं यहाँ बैठी हूँ, सुनिए न! आप तो कभी ऊपर..." मौलवी जल उठा। उसने कड़ककर कहा-"चोबदार! अभी वह सूअर की बच्ची उतरी नहीं। जाओ, कोतवाल के पास मेरा नाम लेकर कहो कि मौलवी अलाउद्दीन कुबरा ने बुलाया है। आकर उसकी मरम्मत करें। देखता हूँ तो जब से नवाबी गयी, इन काफिरों की मस्ती बढ़ गयी है।"

कुबरा मौलवी! बाप रे-तमोली अपनी दूकान सम्हालने लगा। पास ही एक दूकान पर बैठकर ऊँघता हुआ बजाज चौंक कर सिर में चोट खा गया! इसी मौलवी ने तो महाराज चेतसिंह से साढ़े तीन सेर चींटी के सिर का तेल माँगा था। मौलवी अलाउद्दीन कुबरा! बाज़ार में हलचल मच गयी। नन्हकूसिंह ने मन्नू से कहा- "क्यों, चुपचाप बैठोगे नहीं!" दुलारी ने कहा-"वहीं से बाई जी! इधर-उधर हिलने का काम नहीं। तुम गाओ। हमने ऐसे

घसियारे बहुत-से देखे है। अभी कल रमल के पासे फेंककर अधेला-अधेला माँगता था, आज चला है रोब गाँठने।"

अब कुबरा ने घूमकर उसकी ओर देखकर कहा–"कौन है यह पाजी!"

"तुम्हारे चाचा बाबू नन्हकूसिंह!"–के साथ ही पूरा बनारसी झाँपड़ पड़ा। कुबरा का सिर घूम गया। लेस के परत वाले सिपाही दूसरी ओर भाग चले और मौलवी साहब चौंधिया कर जानअली की दूकान पर लड़खड़ाते, गिरते-पड़ते किसी तरह पहुँच गये।

जानअली ने मौलवी से कहा–"मौलवी साहब! भला आज भी उस गुंडे के मुँह लगने गये। यह तो कहिए कि उसने गँड़ासा नहीं तौल दिया।" कुबरा के मुँह से बोली नहीं निकल रही थी। उधर दुलारी गा रही थी "........विलमि विदेश रहे..." गाना पूरा हुआ, कोई आया-गया नहीं। तब नन्हकूसिंह धीरे-धीरे टहलता हुआ दूसरी ओर चला गया। थोड़ी देर में एक डोली रेशमी परदे से ढँकी हुई आयी। साथ में चोबदार था। उसने दुलारी को राजमाता पन्ना की आज्ञा सुनायी।

दुलारी चुपचाप डोली पर जा बैठी। डोली धूल और सन्ध्याकाल के धुएँ से भरी हुई बनारस की तंग गलियों से होकर शिवालय घाट दो ओर चली।

श्रावण का अन्तिम सोमवार था। राजमाता पन्ना शिवालय में बैठकर पूजन कर रही थीं। दुलारी बाहर बैठी कुछ अन्य गानेवालियों के साथ भजन गा रही थी। आरती हो जाने पर, फूलों की अंजलि बिखेरकर पन्ना ने भक्तिभाव से देवता के चरणों में प्रणाम किया। फिर प्रसाद लेकर बाहर आते ही उन्होंने दुलारी को देखा। उसने खड़ी होकर हाथ जोड़ते हुए कहा–"मैं पहले ही पहुँच जाती। क्या करूँ, वह कुबरा मौलवी निगोड़ा आकर रेजिडेण्ट की कोठी पर ले जाने लगा। घंटों इसी झंझट में बीत गया, सरकार!"

"कुबरा मौलवी! जहाँ सुनती हूँ, उसी का नाम। सुना है कि उसने यहाँ भी आकर कुछ..." –फिर न जाने क्या सोचकर बात बदलते हुए पन्ना ने कहा–"हाँ, तब फिर क्या हुआ? तुम यहाँ कैसे आ सकीं?"

"बाबू नन्हकूसिंह उधर से आ गये।" मैंने कहा–"सरकार की पूजा पर मुझे भजन गाने को जाना है। और यह जाने नहीं दे रहा है। उन्होंने मौलवी को ऐसा लगाया कि उसकी हेकड़ी भूल गयी। और तब जाकर मुझे किसी तरह यहाँ आने की छुट्टी मिली।"

"कौन बाबू नन्हकूसिंह!"

दुलारी ने सिर नीचा करके कहा–"अरे, क्या सरकार को नहीं मालूम? बाबू निरंजन-सिंह के लड़के! उस दिन, जब मैं बहुत छोटी थी, आपकी बारी में झूला झूल रही थी, जब नवाब का हाथी बिगड़कर आ गया था, बाबू निरंजनसिंह के कुँवर ने ही तो उस दिन हम लोगों की रक्षा की थी।"

राजमाता का मुख उस प्राचीन घटना को स्मरण करके न जाने क्यों विवर्ण हो गया। फिर अपने को सम्हालकर उन्होंने पूछा–"तो बाबू नन्हकूसिह उधर कैसे आ गये?"

दुलारी ने मुस्कराकर सिर नीचा कर लिया। दुलारी राजमाता पन्ना के पिता की जमींदारी में रहनेवाली वेश्या की लड़की थी। उसके साथ ही कितनी बार झूले-हिंडोले अपने बचपन

में पन्ना झूल चुकी थी। वह बचपन से ही गाने में सुरीली थी। सुन्दरी होने पर चंचल भी थी। पन्ना जब काशीराज की माता थी तब दुलारी काशी की प्रसिद्ध गानेवाली थी। राजमहल में उसका गाना-बजाना हुआ ही करता। महाराज बलवन्तसिंह के समय से ही संगीत पन्ना के जीवन का आवश्यक अंश था। हाँ, अब प्रेम-दुःख और दर्द-भरी विरह-कल्पना के गीत की ओर अधिक रुचि न थी। अब सात्विक भावपूर्ण भजन होता था। राजमाता पन्ना का वैधव्य से दीप्त शान्त मुख-मण्डल कुछ मलिन हो गया।

बड़ी रानी की सापत्न्य ज्वाला बलवन्तसिंह के मर जाने पर भी नहीं बुझी। अन्तःपुर कलह का रंगमंच बना रहता, इसी से प्रायः पन्ना काशी के राजमन्दिर में आकर पूजा-पाठ में अपना मन लगाती। रामनगर में उसको चैन नहीं मिलता। नयी रानी होने के कारण बलवन्तसिंह की प्रेयसी होने का गौरव तो उसे था ही, गाध में पुत्र उत्पन्न करने का सौभाग्य भी मिला, फिर भी असवर्णता का सामाजिक दोष उसके हृदय को व्यथित किया करता। उसे अपने ब्याह की आरम्भिक चर्चा का स्मरण हो आया।

छोटे-से मंच पर बैठी, गंगा की उमड़ती-हुई धारा को पन्ना अन्यमनस्क होकर देखने लगी। उस बात को, जो अतीत में एक बार, हाथ से अनजाने में खिसक जाने वाली वस्तु की तरह गुप्त हो गयी हो; सोचने का कोई कारण नहीं। उससे कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं; परन्तु मानव-स्वभाव हिसाब रखने की प्रथानुसार कभी-कभी कह ही बैठता है, "कि यदि वह बात हो गयी होती तो?" ठीक उसी तरह पन्ना भी राजा बलवन्तसिंह द्वारा बलपूर्वक रानी बनाये जाने के पहले की एक संभावना को सोचने लगी थी। सो भी बाबू नन्हकूसिंह का नाम सुन लेने पर। गेंदा मुँहलगी दासी थी। वह पन्ना के साथ उसी दिन से है जिस दिन से पन्ना बलवन्तसिंह की प्रेयसी हुई। राज्य-भर का अनुसन्धान उसी के द्वारा मिला करता। और उसे न जाने कितनी जानकारी भी थी। उसने दुलारी का रंग उखाड़ने के लिए कुछ कहना आवश्यक समझा।

"महारानी! नन्हकूसिंह अपनी सब जमींदारी स्वाँग, भैंसों की लड़ाई, घुड़दौड़ और गाने-बजाने में उड़ाकर अब डाकू हो गया है। जितने खून होते हैं, सब में उसी का हाथ रहता है। जितनी...." उसे रोककर दुलारी ने कहा–"यह झूठ है। बाबू साहब के ऐसा धर्मात्मा तो कोई है ही नहीं। कितनी विधवाएँ उनकी दी हुई धोती से अपना तन ढँकती हैं। कितनी लड़कियों को ब्याह-शादी होती है। कितने सताये हुए लोगों की उनके द्वारा रक्षा होती है।"

रानी पन्ना के हृदय में एक तरलता उद्वेलित हुई। उन्होंने हँसकर कह–"दुलारी, वे तेरे यहाँ आते है न? इसी से तू उनकी बड़ाई... ।"

"नहीं सरकार! शपथ खाकर कह सकती हूँ कि बाबू नन्हकूसिंह ने आज तक कभी मेरे कोठे पर पैर नहीं रखा।"

राजमाता न जाने क्यों इस अद्भुत व्यक्ति को समझने के लिए चंचल हो उठी थी। तब उन्होंने दुलारी को आगे कुछ न कहने के लिए तीखी दृष्टि से देखा। वह चुप हो गयी। पहले पहर की शहनाई बजने लगी। दुलारी छुट्टी माँगकर डोली पर बैठ गयी। तब गेंदा ने कहा–"सरकार! आजकल नगर की दशा बड़ी बुरी है। दिन दहाड़े लोग लूट लिये जाते

हैं। सैकड़ों जगह नाला पर जुए में लोग अपना सर्वस्व गँवाते हैं। बच्चे फुसलाये जाते हैं। गलियों में लाठियाँ और छुरा चलने के लिए टेढ़ी भौंहें कारण बन जाती है। उधर रेजीडेण्ट साहब के महाराजा की अनबन चल रही है।" राजमाता चुप रहीं।

दूसरे दिन राजा चेतसिंह के पास रेजिडेण्ट मार्कहेम की चिट्ठी आयी जिसमें नगर की दुर्व्यवस्था की कड़ी आलोचना थी। डाकुओं और गुंडों की पकड़ने के लिए, उन पर कड़ा नियंत्रण रखने की सम्मति भी थी। कुबरा मौलवी वाली घटना का उल्लेख था। उधर हेस्टिंग्ज़ के आने की भी सूचना थी। शिवालय घाट और रामनगर में हलचल मच गयी! कोतवाल हिम्मतसिंह, पागल की तरह, जिसके हाथ में लाठी, लोहाँगी, गँड़ासा, बिछुआ और करौली देखते, उसी को पकड़ने लगे।

एक दिन नन्हकूसिंह सुम्भा के नाले के संगम पर, ऊँचे-से-टीले की घनी हरियाली में अपने चुने हुए साथियों के साथ दूधिया छान रहे थे। गंगा में, उनकी पतली डोंगी बड़ की जटा से बँधी थी। कथकों का गाना हो रहा था। चार उलाँकी इक्के कसे-कसाये खड़े थे।

नन्हकूसिंह ने अकस्मात् कहा–"मलूकी! गाना जमता नहीं है। उलाँकी पर बैठकर जाओ, दुलारी को बुला लाओ।" मलूकी वहाँ मजीरा बजा रहा था। दौड़कर इक्के पर जा बैठा। आज नन्हकूसिंह का मन उखड़ा था। बूटी कई बार छानने पर भी नशा नहीं। एक घंटे में दुलारी सामने आ गयी। उसने मुस्कराकर कहा–"क्या हुक्म है बाबू साहब?"

"दुलारी! आज गाना सुनने का मन कर रहा है।"

"इस जंगल में क्यों?" –उसने सशंक हँसकर कुछ अभिप्राय से पूछा।

"तुम किसी तरह का खटका न करो।" –नन्हकूसिंह ने हँसकर कहा।

"यह तो मैं उस दिन महारानी से भी कह आयी हूँ।"

"क्या, किससे?"

"राजमाता पन्नादेवी से" –फिर उस दिन गाना नहीं जमा। दुलारी ने आश्चर्य से देखा कि तानों में नन्हकू की आँखें तर हो जाती हैं। गाना-बजाना समाप्त हो गया था। वर्षा की रात में झिल्लियों का स्वर उस झुरमुट में गूँज रहा था। मन्दिर के समीप ही छोटे-से कमरे में नन्हकूसिंह चिन्ता में निमग्न बैठा था। आँखों में नींद नहीं। और सब लोग तो सोने लगे थे, दुलारी जाग रही थी। वह भी कुछ सोच रही थी। आज उसे, अपने को रोकने के लिए कठिन प्रयत्न करना पड़ रहा था; किन्तु असफल होकर वह उठी और नन्हकू के समीप धीरे-धीरे चली आयी। कुछ आहट पाते ही चौंककर नन्हकूसिंह के पास ही पड़ी हुई तलवार उठा ली। तब तक हँसकर दुलारी ने कहा–"बाबू साहब, यह क्या? स्त्रियों पर भी तलवार चलायी जाती है!"

छोटे-से दीपक के प्रकाश में वासना-भरी रमणी का मुख देखकर नन्हकू हँस पड़ा। उसने कहा–"क्यों बाईजी! क्या इसी समय जाने की पड़ी है। मौलवी ने फिर बुलाया है क्या?" दुलारी नन्हकू के पास बैठ गयी। नन्हकू ने कहा—

"क्या तुमको डर लग रहा है?"

"नहीं, मैं कुछ कहने आयी हूँ।"

"क्या?"

"क्या,......यही कि.....कभी तुम्हारे हृदय में....."

"उसे न पूछ दुलारी! हृदय को बेकार ही समझकर तो उसे हाथ में लिये फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता—कुचलता—चीरता—उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता।"

"मरने के लिए भी कहीं खोजने जाना पड़ता है। आपको काशी का हाल क्या मालूम! न जाने घड़ी भर में क्या हो जाय। उलट-पलट होनेवाला है क्या बनारस की गलियाँ जैसे काटने दौड़ती है।"

"कोई नई बात इधर हुई है क्या?"

"कोई हेस्टिंग्स आया है। सुना है उसने शिवालयघाट पर तिलंगों की कंपनी का पहरा बैठा दिया है। राजा चेतसिंह और राजमाता पन्ना वहीं हैं। कोई-कोई कहता है कि उनको पकड़कर कलकत्ता भेजने...."

"क्या पन्ना भी....रनिवास भी वहीं है", —नन्हकू अधीर हो उठा था।

"क्यों बाबू साहब, आज रानी पन्ना का नाम सुनकर आपकी आँखों में आँसू क्यों आ गये?"

सहसा नन्हकू का मुख भयानक हो उठा! उसने कहा— "चुप रहो, तुम उसको जानकर क्या करोगी?" वह उठा खड़ा हुआ। उद्विग्न की तरह न जाने क्या खोजने लगा फिर स्थिर होकर उसने कहा—"दुलारी! जीवन में आज यह पहला ही दिन है कि एकान्त रात में एक स्त्री मेरे पलंग पर आकर बैठ गयी है। मैं चिरकुमार! अपनी एक प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए सैकड़ों असत्य, अपराध करता फिर रहा हूँ। क्यों? तुम जानती हो? मैं स्त्रियों का घोर विद्रोही हूँ, और पन्ना!....किन्तु उसका क्या अपराध! अत्याचारी बलवन्तसिंह के कलेजे में बिछुआ मैं न उतार सका। किन्तु पन्ना! उसे पकड़कर गोरे कलकत्ता भेज देंगे! वही... ।"

नन्हकूसिंह उन्मत्त हो उठा। दुलारी ने देखा, नन्हकू अन्धकार में ही वट-वृक्ष के नीचे पहुँचा और गंगा की उमड़ती हुई धारा में डोंगी खोल दी—उसी घने अन्धकार में। दुलारी का हृदय काँप उठा।

16 अगस्त सन् 1981 को काशी डावाँडोल हो रही थी। शिवालयघाट में राजा चेतसिंह लेफ्टिनेण्ट इस्टाकर के पहरे में थे। नगर में आतंक था। दुकानें बन्द थीं। घरों में बच्चे अपनी माँ से पूछते थे— "माँ, आज हलुए वाला नहीं आया।" वह कहती—'चुप बेटे!' सड़कें सूनी पड़ी थीं। तिलंगों की कम्पनी के आगे-आगे कुबरा मौलवी कभी-कभी, आता-जाता दिखाई पड़ता था। उस समय खुली हुई खिड़कियाँ बन्द हो जाती थीं। भय और सन्नाटे का राज्य था। चौक में चिथरूसिंह की हवेली अपने भीतर काशी की वीरता को बन्द किये कोतवाल का अभिनय कर रही थी। इसी समय किसी ने पुकारा—"हिम्मतसिंह!"

खिड़की से सिर निकालकर हिम्मतसिंह ने पूछा—"कौन?"

"बाबू नन्हकूसिंह!"

"अच्छा, तुम अब तक बाहर ही हो?

"पागल ! राजा क़ैद हो गये हैं। छोड़ दो इन सब बहादुरों को! हम एक बार इनको लेकर शिवालयघाट पर जाएँ।"

"ठहरो"–कहकर हिम्मतसिंह ने कुछ आज्ञा दी, सिपाही बाहर निकले। नन्हकू की तलवार चमक उठी। सिपाही भीतर भागे। नन्हकू ने कहा–"नमक-हरामो! चूड़ियाँ पहन लो।" लोगो के देखते-देखते नन्हकूसिह चला गया। कोतवाली के सामने फिर सन्नाटा हो गया।

नन्हकू उन्मत्त था। उसके थोड़े-से साथी उसकी आज्ञा पर जान देने के लिए तुले थे। वह नहीं जानता था कि राजा चेतसिह का क्या राजनैतिक अपराध है? उसने कुछ सोचकर अपने थोड़े-से साथियों को फाटक पर गड़बड़ मचाने के लिए भेज दिया। इधर अपनी डोंगी लेकर शिवालय की खिड़की के नीचे धारा काटता हुआ पहुँचा। किसी तरह निकले हुए पत्थर में रस्सी लटकाकर, उस चंचल डोंगी को उसने स्थिर किया और बन्दर की तरह उछलकर खिड़की के भीतर हो रहा। उस समय वहाँ राजमाता पन्ना और राजा चेतसिंह से बाबू मनिहार सिंह कह रहे थे–"आपके यहाँ रहने से, हम लोग क्या करें, यह समझ में नहीं आता। पूजा-पाठ समाप्त कर आप रामनगर चली गयी होती, तो यह...."

तेजस्विनी पन्ना ने कहा–"अब मैं रामनगर कैसे चली आऊँ?"

मनिहार सिह दुखी होकर बोले–"कैसे बताऊँ? मेरे सिपाही तो बन्दी है।"

इतने में फाटक पर कोलाहल मचा। राज-परिवार अपनी मन्त्रणा में डूबा था। नन्हकूसिंह का आना उन्हें मालूम हुआ। सामने का द्वार बन्द था। नन्हकू सिह ने एक बार गंगा की धारा को देखा–उसमें एक नाव घाट पर लगने के लिए लहरों से लड़ रही थी। वह प्रसन्न हो उठा। इसी की प्रतीक्षा में वह रुका था। उसने जैसे सबको सचेत करते हुए कहा–"महारानी कहाँ है?"

सबने घूमकर देखा–एक अपरिचित वीर-मूर्ति! शस्त्रों में लदा हुआ पूरा देव!

चेतसिह ने पूछा–"तम कौन हो?"

"राज-परिवार का एक बिना दाम का सेवक!"

पन्ना के मुँह से हलकी-सी एक साँस निकलकर रह गयी। उसने पहचान लिया। इतने वर्षों के बाद! वही नन्हकूसिह।

मनियारसिह ने पूछा–"तुम क्या कर सकते हो?"

"मैं मर सकता हूँ! पहले महारानी को डोंगी पर बिठाइए। नीचे दूसरी डोंगी पर अच्छे मल्लाह हैं। फिर बात कीजिए।"–मनियारसिंह ने देखा, जनानी ड्योढ़ी का दारोगा राज की एक डोंगी पर चार मल्लाहों के साथ खिड़की से नाव सटाकर प्रतीक्षा में है। उन्होंने पन्ना से कहा–"चलिए, मैं साथ चलता हूँ।"

"और..."–चेतसिंह को देखकर, पुत्रवत्सला ने संकेत से एक प्रश्न किया, उसका उत्तर किसी के पास न था। मनियारसिंह ने कहा–"तब मैं यही?" नन्हकू ने हँसकर

कहा—"मेरे मालिक, आप नाव पर बैठे। जब तक राजा भी नाव पर न बैठ जायेंगे, तब तक सत्रह गोली खाकर भी नन्हकूसिंह जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता है।"

पन्ना ने नन्हकू को देखा। एक क्षण के लिए चारों आँखें मिलीं, जिनमें जन्म-जन्म का विश्वास ज्योति की तरह जल रहा था। फाटक बलपूर्वक खोला जा रहा था। नन्हकू ने उन्मत्त होकर कहा—"मालिक! जल्दी कीजिए।"

दूसरे क्षण पन्ना डोंगी पर थी और नन्हकूसिंह फाटक पर इस्टाकर के साथ। चेतराम ने आकर एक चिट्ठी मनियारसिंह की हाथ में दी। लेफ्टिनेण्ट ने कहा—"आपके आदमी गड़बड़ मचा रहे हैं। अब मैं अपने सिपाहियों को गोली चलाने से नहीं रोक सकता।"

"मेरे सिपाही यहाँ कहाँ हैं, साहब?"—मनियारसिंह ने हँसकर कहा। बाहर कोलाहल बढ़ने लगा।

चेतराम ने कहा—"पहले चेतसिंह को क़ैद कीजिए।"

"कौन ऐसी हिम्मत करता है?" कड़ककर कहते हुए बाबू मनियारसिंह ने तलवार खींच ली। अभी बात पूरी न हो सकी थी कि कुबरा मौलवी वहाँ पहुँचा। यहाँ मौलवी साहब की क़लम नहीं चल सकती थी, और न ये बाहर ही जा सकते थे। उन्होंने कहा—"देखते क्या हो चेतराम!"

चेतराम ने राजा के ऊपर हाथ रखा ही था कि नन्हकू के सधे हुए हाथ ने उसकी भुजा उड़ा दी। इस्टाकर आगे बढ़े, मौलवी साहब चिल्लाने लगे। नन्हकू सिंह ने देखते-देखते इस्टाकर और उसके कई साथियों को धराशायी किया। फिर मौलवी साहब कैसे बचते!

नन्हकूसिंह ने कहा—"क्यों, उस दिन के झापड़ ने तुमको समझाया नहीं पाजी!" कहकर ऐसा साफ़ जनेवा मारा कि कुबरा ढेर हो गया। कुछ ही क्षणों में यह भीषण घटना हो गयी, जिसके लिए अभी कोई प्रस्तुत न था।

नन्हकूसिंह ने ललकार कर चेतसिंह से कहा—"आप क्या देखते हैं? उतरिये डोंगी पर!" —उसके घावों से रक्त के फुहारे छूट रहे थे। उधर फाटक से तिलंगे भीतर आने लगे थे। चेतसिह ने खिड़की से उतरते हुए देखा कि बीसों तिलगों की संगीनों में वह अविचल खड़ा होकर तलवार चला रहा है। नन्हकू के चट्टान-सदृश शरीर से गैरिक की तरह रक्त की धारा बह रही है। गुंडे का एक-एक अंग कटकर वहीं गिरने लगा। वह काशी का गुंडा था!

ममता

रोहतास-दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिये, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परन्तु वह विधवा थी—हिंदु-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडंबना का कहाँ अन्त था?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध था। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गये। ऐसा प्रायः होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिंता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिये हुए खड़े थे; कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूम कर देखा। मंत्री के सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गये।

ममता ने पूछा—"यह क्या है, पिताजी?"

"तेरे लिए बेटी! उपहार है।" —कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण! यह कहाँ से आया?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिए है!"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिताजी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिताजी! हमलोग ब्राह्मण है, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामंत-वंश का अन्त समीप है, बेटी! किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी!"

"हे भगवान्! तब के लिए! विपद के लिए! इतना आयोजन! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी? क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असंभव है। फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अन्धा बना रही है।"

"मूर्ख है" —कहकर चूड़ामणि चले गये।

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण-मंत्री चूड़ामणि का हृदय धक्-धक् करने लगा। वह अपने को रोक न सका। उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी और कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँड़हर था। भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईटों के ढेर से बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी। जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु गोतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

"अनन्याश्चिन्तयन्ती मां ये जनाः पर्युपासते....."

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बन्द करना चाहा। परन्तु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिए।"

"तुम कौन हो?" —स्त्री ने पूछा।

"मैं मुग़ल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से?" —स्त्री ने अपने होंठ काट लिये।

"हाँ, माता?"

"परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं है। जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ—इतना!" —कहते-कहते यह व्यक्ति धम-से बैठ गया और उसके सामने ब्राह्माण्ड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई! उसने जल दिया, जल से प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—"ये सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी!" घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुग़ल ने कहा—"माता! तो फिर मैं चला जाऊँ?"

स्त्री विचार कर रही थी—मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना-का पालन करना चाहिए। परंतु यहाँ... नहीं-नहीं, ये सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परन्तु यह दया तो नहीं......कर्तव्य करना है। तब?"

मुग़ल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल! नहीं, तब नहीं–स्त्री! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा? जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा—यहाँ कौन दुर्ग है! यहीं झोंपड़ी न; जो चाहे ले-ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुग़ल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ?" मुग़ल ने चन्द्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुखमंडल देखा, उसने मन-ही-मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर, थके पथिक ने झोंपड़ी में विश्राम किया।

प्रभात में खँड़हर की संधि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रांत में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब इस झोंपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरजा! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रांत गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन-भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ तो ममता ने सुना पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा था—"मिरजा! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में यहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।" —इसके बाद वे चले गये।

चौसा के मुग़ल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोंपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण-कंकाल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ उसे घेर कर बैठी थी; क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोंपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिये। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई!"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शहंशाह था, या साधारण मुग़ल पर एक दिन इसी झोंपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था! भगवान ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर-विश्राम-गृह में जाती हूँ।"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनन्त में उड़ गये।

वहाँ एक अष्टकोण मन्दिर बना; और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उसकी स्मृति में यह गगनचुंबी मन्दिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

आकाश-दीप

(एक)

"बंदी!"

"क्या है? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कंबल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल है।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी है।"

"शस्त्र मिलेगा?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बंदी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असंभावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा—"यह क्या? तुम स्त्री हो?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है?" —अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है–तुम्हारा नाम?"

"चंपा।"

तारक-खचित नील अम्बर और समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अन्धकार से मिलाकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आदोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए, बंदी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा—"आँधी!"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गये। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिल-खिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

(दो)

अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुधगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुधगुप्त ने कहा–"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा–नायक। अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम? जलदस्यु बुधगुप्त? कदापि नहीं।" —चौंक कर नायक ने कहा और वह अपना कृपाण टटोलने लगा! चंपा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वह स्वामी होगा।" —इतना कहकर बुधगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चंपा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुधगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चंपा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुधगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुधगुप्त की विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुधगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ! मैं विश्वासघात नहीं करूँगा।" बुधगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चंपा ने युवक जलदस्यू के समीप आकर उसके क्षतों की अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुधगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिंदु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुधगुप्त ने पूछा "हम लोग कहाँ होंगे?"

"बालीद्वीप से बहुत दूर, सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाट लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुधगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शिलाखण्ड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।"

(तीन)

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया?"

"वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जाह्नवी के तट पर। चंपा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ—अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बना दी गई।" —चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय!" —चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसको एक नई वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

बेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुधगुप्त ने कहा—"अब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चम्पा-द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

(चार)

पाँच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र की उज्ज्वल विजय पर अंतरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्चसौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप घर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीवार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भाली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थी। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय, किन्तु वैसा होना असंभव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालाएँ बन रही थीं–और वे मायाविनी छलनाएँ–अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों का वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल सकुल जल-राशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था। यह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—"जाय।"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभो-मण्डल से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुधगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थीं। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—"बुधगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनंत की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको जिसको तुमने भगवान मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भलते हैं; नहीं तो, बुधगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी!"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य के बल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव ती और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे—इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुधगुप्त! उस विजन अनंत में जब माँझी

सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे? वह नक्षत्रों की मधुर छाया–"

"ओ चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते है। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं-नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यंग्य कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मै छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भगीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती—"भगवान! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना। और जब मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जल-दस्यु! हट जाओ।" —सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या, चम्पा? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।" —कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

(पाँच)

निर्जन समुद्र के उपकूल पाँच में बेला से टकराकर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और ज्या धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गई। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसने को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी सामुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं! तो जैसे वेला में चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनंत जल में डूबकर बुझ जाऊँ? —चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में चौथाई—आधा, फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो?"

"अच्छा होता, बुधगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्रचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो! बुधगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो... । कहो, चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।" —महानाविक–जिसके नाम से बोली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था–घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में, नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील-कमलों में भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुधगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का। किन्तु परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुधगुप्त! आज मैं अपने प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डूबो देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!" —चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?" —आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछ।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुधगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है, जलदस्यु। तुम्हे प्यार करती हूँ।" —चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तमसे अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा, चम्पा! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय!"

(छ:)

चम्पा के भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। यह बहुत दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिवि-कारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक उँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ द्वीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुधगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा

था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों के कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया ने पूछ—"यह क्या है जया? इतनी बालाएँ कहाँ से बटोर लाई?"

"आज रानी का ब्याह है न?" —कहकर जया ने हँस दिया।

"बुधगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसने झकझोरकर चम्पा से पूछा--"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो यह सच भी हो सकता है, चम्पा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती में दबाये हूँ।"

"चुप रहो, महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चम्पा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती। बुधगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते!"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुधगुप्त और चम्पा एकांत में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुधगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—चम्पा, हम लोग जन्मभूमि—भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित है। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिभा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श में चन्द्रकान्तमणि की तरह द्रवित हुआ।

"चम्पा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और एकान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।

"चलोगी चम्पा? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुधगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पत्थर के लिए मेरे दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—"बुधगुप्त! मेरे लिए सब मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे, छोड़ दो इन निरीह भोले-भोले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ—इसमें सन्देह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाय।"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी इस दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल से अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

(सात)

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा–सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों में आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीपस्तम्भ में आलोक, जलाती रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, दीपनिवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने भी अपने चंचलता से गिरा दिया।

बिसाती

उद्यान की शैल-माला के नीचे एक हरा-भरा छोटा-सा गाँव है। बसंत का सुन्दर समीर उसे आलिंगन करके फूलों के सौरभ से उसके झोपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिम-शीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए है। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध-संगीत निरन्तर चल करता है, जिसके भीतर बुलबुलों का कलनाद, कंप और लहर उत्पन्न करता है।

दाड़िम के लाल फूलों की रँगीली छाया संध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई साम्हने गुलाबों की झुरमट देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे, वे समीरण के साथ छूलछुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजित कर रहे थे।

शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरन्द मुँह में भरे दो नील-भ्रमर उस गुलाब में उड़ने में असमर्थ थे, भौंरों के पद निस्पंद थे। कँटीली झाड़ियों की कुछ परवा न करते हुए बुलबुलों का उसमें घुसना और उड भागना शीरीं तन्मय होकर देख रही थी।

उसकी सखी जुलेखा के आने से उसकी एकांत भावना भंग हो गई। अपना अवगुंठन उलटते हुए जुलेखा ने कहा—"शीरीं! वह तुम्हारे हाथों पर आकर बैठ जानेवाला बुलबुल, आज-कल नहीं दिखलाई देता?"

आह खींचकर शीरीं ने कहा—"कड़े शीत में अपने दल के साथ मैदान की ओर निकल गया। वसंत तो आ गया पर वह नहीं लौट आया।"

"सुना है कि ये सब हिन्दुस्तान में बहुत दूर तक चले जाते है। क्या यह सच है, शीरीं?"

"हाँ प्यारी! उन्हें स्वाधीन विचरना अच्छा लगता है। इनकी जाति बड़ा स्वतन्त्रता-प्रिय है।"

"तूने अपनी घुँघराली अलकों के पाश में उसे क्यों न बाँध लिया?"

"मेरे पाश उस पक्षी के लिए ढीले पड़ जाते थे।"

"अच्छा लौट आवेगा—चिंता न कर। मैं घर जाती हूँ।" शीरीं ने सिर हिला दिया। जुलेखा चली गई।

जब पहाड़ी आकाश में संध्या अपने रँगीले पट फैला देती, जब विहंग केवल कलरव करते पंक्ति बाँधकर उड़ते हुए गुँजान झाड़ियाँ की ओर लौटते और अनिल में उनके कोमल परों से लहर उठती, जब समीर अपनी झोंकेदार तरंगों में बार-बार अन्धकार को खींच लाता. जब गुलाब अधिकाधिक सौरभ लुटाकर हरी चादर में मुँह छिपा लेना चाहते थे; तब शीरीं की आशा-भरी दृष्टि कालिमा से अभिभूत होकर पलकों में छिपने लगी। वह जागते हुए भी एक स्वप्न की कल्पना करने लगी।

हिन्दुस्तान के समृद्धिशाली नगर की गली में एक युवक पीठ पर गट्ठर लादे घूम रहा है। परिश्रम और अनाहार से उसका मुख विवर्ण है। थककर वह किसी के द्वार पर बैठ गया है। कुछ बेचकर उस दिन की जीविका प्राप्त करने की उत्कंठा उसकी दयनीय बातों से टपक रही है। परन्तु वह गृहस्थ कहता है—तुम्हें उधार देना हो तो दो, नहीं तो अपनी गठरी उठाओ। समझे आगा?"

युवक कहता है—"मुझे उधार देने की सामर्थ्य नहीं।"

"तो मुझे भी कुछ नहीं चाहिए।"

शीरीं अपनी इस कल्पना से चौंक उठी। काफ़िले के साथ अपनी संपत्ति लादकर खैबर के गिरि-संकट को वह अपनी भावना से पदाक्रांत करने लगी।

उसकी इच्छा हुई कि हिन्दुस्तान के प्रत्येक गृहस्थ के पास हम इतना धन रख दें कि वे अनावश्यक होने पर भी उस युवक की सब वस्तुओं का मूल्य देकर उसका बोझ उतार दें। परन्तु सरला शीरीं निस्सहाय थी। उसके पिता एक क्रूर पहाड़ी सरदार थे। उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ सोचने लगी।

संध्या का अधिकार हो गया। कलरव बंद हुआ। शीरीं की साँसों के समान समीर की गति अवरुद्ध हो उठी। उसकी पीठ शिला से टिक गई।

दासी ने आकर उसको प्रकृतिस्थ किया। उसने कहा—"बेगम बुला रही हैं। चलिए मेंहदी आ गई है।"

महीनों हो गये। शीरीं का ब्याह एक धनी सरदार से हो गया। झरने के किनारे शीरीं के बाग़ में शवरी खींची है। पवन अपने एक-एक थपेड़े में सैकड़ों फूलों को रुला देता है। मधु-धारा बहने लगती है। बुलबुल उसकी निर्दयता पर क्रन्दन करने लगते हैं। शीरीं सब सहन करती रही। सरदार का मुख उत्साहपूर्ण था। सब होने पर भी वह एक सुन्दर प्रभात था।

एक दुर्बल और लम्बा युवक पीठ पर गट्ठर लादे सामने आकर बैठ गया। शीरीं ने उसे देखा पर वह किसी ओर देखता नहीं। अपनी सामान खोलकर सजाने लगा।

सरदार अपनी प्रेयसी को उपहार देने के लिए काँच की प्याली और कश्मीरी सामान छाँटने लगा।

शीरीं चुपचाप थी, उसके हृदय-कान में कलरवों का क्रन्दन हो रहा था। सरदार ने दाम पूछा। युवक ने कहा—"मैं उपहार देता हूँ। बेचता नहीं। ये विलायती और कश्मीरी सामान मैंने चुनकर लिए हैं। इनमें मूल्य ही नहीं, हृदय भी लगा है। ये दाम पर नहीं बिकते।"

सरदार ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"तब मुझे न चाहिए। ले जाओ—उठाओ।"

"अच्छा, उठा ले जाऊँगा। मैं थका हुआ आ रहा हूँ, थोड़ा अवसर दीजिए, मैं हाथ-मुँह धो लूँ।" कहकर युवक भरभराई हुई आँखों को छिपाते उठ गया।

सरदार ने समझा, झरने की ओर गया होगा। विलम्ब हुआ पर वह न आया। गहरी चोट और निर्गम व्यथा को वहन करते कलेजा हाथ से पकड़े हुए, शीरीं गुलाब की झाड़ियों

की ओर देखने लगी। परन्तु उसकी आँसू-भरी आँखों को कुछ न सूझता था। सरदार ने प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ रखकर पूछा—"क्या देख रही हो?"

"एक मेरा पालतू बुलबुल शीत में हिन्दुस्तान की ओर चला गया था। वह लौटकर आज सवेरे दिखलाई पड़ा, पर जब वह पास आ गया और मैंने उसे पकड़ना चाहा, तो वह उधर कोहकाफ की ओर भाग गया!" —शीरीं के स्वर में कंपन था, फिर भी वे शब्द बहुत सम्हलकर निकले थे। सरदार ने हँसकर कहा—"फूल को बुलबुल की खोज? आश्चर्य है!"

बिसाती अपना सामान छोड़ गया। फिर लौटकर नहीं आया। शीरीं ने बोझ तो उतार लिया, पर दाम नहीं दिया।

आँधी

चन्दा के तट पर बहुत-से छतनारे वृक्षों की छाया है; किन्तु मैं प्रायः मुचकुन्द के नीचे ही जाकर टहलता, बैठता और कभी-कभी चाँदनी में ऊँघने भी लगता। वहीं मेरा विश्राम था। वहाँ मेरा एक सहचरी भी थी; किन्तु वह कुछ बोलती न थी। वह रहट्ठों की बनी हुई मूसदानी-सी एक झोपड़ी थी, जिसके नीचे पहले सथिया मुसहरिन का मोटा-सा काला लड़का पेट के बल पड़ा रहता था। दोनों कलाइयों पर सिर टेके हुए भगवान की अनन्त करुणा को प्रणाम करते हुए उसका चित्र आँखों के सामने आ जाता। मैं साथिया को कभी-कभी कुछ दे देता था; पर वह नहीं के बराबर। उसे तो मजूरी करके जीने में सुख था। अन्य मुसहरों की तरह अपराध करने में वह चतुर न थी। उसको मुसहरों की बस्ती से दूर रहने में सुविधा थी। वह मुचकुन्द के फूल इकट्ठे करके बेचती। सेमर की रुई बीन लेती, लकड़ी के गट्ठे बटोरकर बेचती और उसके इन सब व्यापारों में कोई और सहायक न था। एक दिन वह मर ही तो गई। तब भी कलाई पर मे सिर उठा कर, करवट बदल कर अँगड़ाई लेते हुए कलुआ ने केवल एक जँभाई ली थी। मैंने सोचा—स्नेह, माया, ममता इन सबों की भी एक घरेलू पाठशाला है, जिसमें उत्पन्न होकर शिशु धीरे-धीरे इनके अभिनय होता है सही; किन्तु, माया-ममता किस प्राणी के हृदय में न होगी। मुसहरों को पता लगा, वे कल्लू को ले गये। तब वे इस स्थान की निर्जनता पर गरिमा का एक और रंग चढ़ गया।

मैं अब भी तो वहीं पहुँच जाता हूँ। बहुत घूम-फिर कर भी जैसे मुचकुन्द की छाया की ओर खिंच जाता हूँ। आज के प्रभात में कुछ अधिक सरसता थी। मेरा हृदय हलका-हलका-सा हो रहा था। पवन में मादक सुगन्ध और शीतलता थी। ताल पर नाचती हुई लाल-लाल किरनें वृक्षों के अन्तराल से बड़ी सुहावनी लगती थीं। मैं परजाते के सौरभ में अपने सिर को धीरे-धीरे हिलाता हुआ कुछ गुनगुनाता चला जा रहा था। सहसा मुचकुन्द के नीचे मुझे धुआँ और कुछ मनुष्यों को चहल-पहल का अनुमान हुआ। मैं कुतूहल से उसी ओर बढ़ने लगा।

वहाँ कभी एक सराय भी थी, अब उसका ध्वंस बच रहा था। दो-एक कोठरियाँ थी, किन्तु पुरानी प्रथा के अनुसार अब भी वहीं पर पथिक ठहरते।

मैंने देखा कि मुचकुन्द के आस-पास दूर तक एक विचित्र जमावड़ा है। अद्‌भुत शिविरों की पाँति में वहाँ पर कानन-चरों, बिना घरवालों की बस्ती बसी हुई है।

सृष्टि को आरम्भ हुए कितना समय बीत गया, किन्तु इन अभागों को कोई पहाड़ की तलहटी या नदी की घाटी बसाने के लिए प्रस्तुत न हुई ओर न इन्हें कहीं घर बनाने की सुविधा ही मिली। वे आज भी अपने चलते-फिरते घरों को जानवरों पर लादे हुए घूमते ही रहते हैं! मैं सोचने लगा—ये सभ्य मानव-समाज के विद्रोही हैं, तो भी इनका एक समाज है। सभ्य संसार के नियमों को कभी न मानकर भी इन लोगों ने अपने लिए नियम बनाये हैं। किसी भी तरह जिनके पास कुछ है उनसे ले लेना और स्वतंत्र होकर रहना। इनके साथ सदैव आज

के संसार के लिए विचित्रता पूर्ण संग्रहालय रहता है। ये अच्छे घुड़सवार और भयानक व्यापारी है। अच्छा, ये लोग कठोर परिश्रमी और संसार-यात्रा के उपयुक्त प्राणी है; फिर इन लोगों ने कहीं बसना, घर बनाना क्यों नहीं पसन्द किया?—मैं मन-ही-मन सोचता हुआ धीरे-धीरे उनके पास होने लगा। कुतूहल ही तो था। आज तक इन लोगों के सम्बन्ध में कितनी ही बातें सुनता आया था। जब निर्जन चन्दा का ताल मेरे मनोविनोद की सामग्री हो सकती है, तब आज उसका बसा हुआ तट मुझे क्यों न आकर्षित करता। मैं धीरे-धीरे मुचकुन्द के पास पहुँच गया. उसकी एक डाल से बाँध हुआ एक सुन्दर बछेड़ा हरी-हरी दूब खा रहा था और लहँगा-कुरता पहने, रूमाल सिर से बाँधे हुए एक लकड़ी उसकी पीठ सूखे घास के मुट्ठे से मल रही थी। मैं रुककर देखने लगा। उसने पूछा—घोड़ा लोगे बाबू?

नहीं—कहते हुए मैं आगे बढ़ा था, कि एक तरुणी ने झोपड़े से सिर निकलकर देखा। वह बाहर निकल आई। उसने कहा—आप पढ़ना जानते हैं?

हाँ, जानता तो हूँ।

हिन्दुओं की चिट्ठी आप पढ़ लेंगे।

मैं उसके सुन्दर मुख को कला की दृष्टि से देख रहा था। कला की दृष्टि; ठीक तो बौद्ध-कला, गान्धार-कला, द्रविड़ों की कला इत्यादि नाम से भारतीय मूर्ति-सौन्दर्य के अनेक विभाग जो हैं; जिससे गढ़न का अनुमान होता है। मेरे एकान्त जीवन को बिताने की सामग्री में इस तरह का जड़ सौन्दर्य-बोध भी एक स्थान रखता है। मेरा हृदय सजीव प्रेम से कभी आप्लुत नहीं हुआ था। मैं इस मूक सौन्दर्य से ही कभी-कभी अपना मनोविनोद कर लिया करता। चिट्ठी पढ़ने की बात पूछने पर भी मैं अपने मन में निश्चय कर रहा था, कि यह वास्त्तविक गान्धार प्रतिमा है, या ग्रीस और भारत का इस सौन्दर्य में समन्वय है।

वह झुँझला कर बोली—क्या नहीं पढ़ सकोगे?

चश्मा नहीं है—मैंने सहसा कह दिया। यद्यपि मैं चश्मा नहीं लगाता, तो भी स्त्रियों से बोलने में न जाने क्यों मेरे मन में हिचक होती है। मैं उनसे डरता भी था, क्योंकि सुना था कि वे किसी वस्तु को बेचने के लिए प्रायः इस तरह तंग करती है कि उनसे दाम पूछनेवाले को लेकर ही छूटना पड़ता है। इनमें उनके पुरुष लोग भी सहायक हो जाते हैं, तब वह बेचारा ग्राहक और भी झंझट में फँस जाता। मेरी सौन्दर्य की अनुभूति विलीन हो गई। मैं अपने दैनिक जीवन के अनुसार टहलने का उपक्रम करने लगा; किन्तु वह सामने अचल प्रतिमा की तरह खड़ी हो गई। मैंने कहा—क्या है?

चश्मा चाहिए? मैं ले आती हूँ।

ठहरो, ठहरो, मुझे चश्मा न चाहिए।

कह-कह मैं सोच रहा था कि कही मुझे ख़रीदना न पड़े। उसने पूछा-तब तुम पढ़ सकोगे कैसे?

मैंने देखा कि बिना पढ़े मुझे छुट्टी न मिलेगी। मैंने कहा—ले आओ, देखूँ? सम्भव है कि पढ़ सकूँ। —उसने अपनी जेब से एक बुरी तरह मुड़ा हुआ पत्र निकाला। मैं उसे लेकर मन-ही-मन पढ़ने लगा।

लैला...!

तुमने जो मुझे पत्र लिखा था, उसे पढ़ कर मैं हँसा भी और दुःख तो हुआ ही। हँसा इसलिए कि तुमने दूसरे से अपने मन का ऐसा खुला हुआ हाल क्यों कह दिया? तुम कितनी भोली! क्या तुमको ऐसा पत्र दूसरे से लिखवाते हुए हिचक न हुई। तुम्हारा घूमनेवाला परिवार ऐसी बातों को सहन करेगा? क्या इन प्रेम की बातों में तुम गम्भीरता का तनिक भी अनुभव नहीं करती हो? और दुखी इसलिए हुआ कि तुम मुझसे प्रेम करती हो। यह कितनी भयानक बात है। मेरे लिए भी और तुम्हारे लिए भी। तुमने मुझे निमंत्रित किया है, प्रेम के स्वतंत्र साम्राज्य में घूमने के लिए, किन्तु तुम नहीं जानती हो कि मुझे जीवन के ठोस झंझटों से छुट्टी नहीं। घर में मेरी स्त्री है, तीन-तीन बच्चे है, उन सबों के लिए मुझे खटना पड़ता है, काम करना पड़ता है। यदि वैसा न भी होता तो भी क्या मैं तुम्हारे जीवन को अपने साथ घसीटने में समर्थ होता! तुम स्वतंत्र वनविहंगिनी और मैं एक हिन्दू गृहस्थ, अनेकों रुकावटें, बीसों बन्धन। यह सब असम्भव है, तुम भूल जाओ जो स्वप्न तुम देख रही हो, उसमें केवल हम और तुम हैं। संसार का आभास भी नहीं। मैं संसार में एक दिन और जीर्ण सुख लेते हुए जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का समन्वय करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। न-मालूम कब से मनुष्य इस भयानक सुख का अनुभव कर रहा है। मैं उन मनुष्यों में अपवाद नहीं हूँ। क्योंकि यह सुख भी तुम्हारे स्वतंत्र सुख की सन्तति है। वह आरम्भ है, यह परिणाम है। फिर भी घर बसाना पड़ेगा। फिर वही समस्याएँ सामने आवेंगी। तब तुम्हारा यह स्वप्न भंग हो जायगा। पृथ्वी ठोस और कँकरीली रह जायगी। फूल हवा में बिखर जायेंगे। आकाश का विराट मुख समस्त आलोक को पी जायगा। अन्धकार केवल अन्धकार में झुँझलाहट भरा पश्चात्ताप, जीवन को अपने डंकों से क्षत-विक्षत कर देगा। इसलिए लैला! भूल जाओ। तुम चारयारी बेचती हो। उस से सुना है, चोर पकड़े जाते हैं। किन्तु अपने मन का चोर पकड़ना कहीं अच्छा है। तुम्हारे भीतर जो तुमको चुरा रहा है, उसे निकाल बाहर करो। मैंने तुमसे कहा था कि बहुत-से ऐसे पुराने सिक्के खरीदूँगा। तुम अबकी बार पश्चिम जाओ तो खोजकर ले आना। मैं उन्हें अच्छे दामों पर ले लूँगा। किन्तु तुमको ख़रीदना अपने को बेचना है। इसलिए मुझसे प्रेम करने की भूल तुम न करो।

हाँ, अब कभी इस तरह पत्र न भेजना क्योंकि वह सब व्यर्थ है।

—रामेश्वर

मैं एक साँस में पत्र पढ़ गया, तब तक लैला मेरा मुँह देख रही थी। मेरा पढ़ना कुछ ऐसा ही हुआ, जैसे लोग सपने में बर्राते है। मैंने उसकी ओर देखते हुए वह काग़ज़ उसे लौटा दिया।

उसने पूछा —इसका मतलब।

मतलब! वह फिर किसी समय बताऊँगा। अब मुझे जलपान करना है। मैं जाता हूँ।-- कहकर मैं मुड़ा ही था कि उसने पूछा—आपका घर बाबू! —मैंने चन्दा के किनारे अपने सफ़ेद बँगले को दिखा दिया। लैला पत्र हाथ में लिये वहीं खड़ी रही। मैं अपने बँगले की ओर चला। मन में सोचता जा रहा था। रामेश्वर! वही तो रामेश्वरनाथ वर्मा! क्यूरियो मर्चेंट! उसी की लिखावट है। वह तो मेरा परिचित है। मित्र मान लेने में मेरे मन को एक तरह की अड़चन है। इसलिए मैं प्रायः अपने कहे जानेवाले मित्रों को भी जब अपने मन में सम्बोधन करता हूँ, परिचित ही कहकर! सो भी जब इतना माने बिना काम नहीं चलता। मित्र मान लेने पर मनुष्य उससे शिव के समान आत्मत्याग, बोधिसत्व के सदृश सर्वस्व-समर्पण की जो आशा करता है और उसकी शक्ति की सीमा को तो प्रायः अतिरञ्जित देखता है। वैसी स्थिति में अपने को डालना मुझे पसन्द नहीं। क्योंकि जीवन का हिसाब-किताब उस काल्पनिक गणित के आधार पर रखने का मेरा अभ्यास कहीं, जिसके द्वारा मनुष्य सबके ऊपर अपना पावना ही निकाल लिया करता है।

अकेले जीवन के नियमित व्यय के लिए साधारण पूँजी का ब्याज मेरे लिए पर्याप्त है। मैं सुखी विचरता हूँ! हाँ, मैं जलपान करके कुरसी पर बैठा हुआ अपनी डाक देख रहा था। उसमें एक लिफ़ाफ़ा ठीक उन्हीं अक्षरों में लिखा हुआ—जिसमें लैला का पत्र था—निकला। मैं उत्सुकता से खोलकर पढ़ने लगा—

भाई श्रीनाथ!

तुम्हारा समाचार बहुत दिनों से नहीं मिला। तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हम लोग दो सप्ताह के भीतर तुम्हारे अतिथि होंगे। चन्दा की वायु हम लोगों को खींच रही है। मिन्ना तो तंग कर ही रहा है उसकी माँ की और भी उत्सुकता है। उन सबों को यही सूझी है कि दिन भर ताल में डोंगी पर भोजन न करके हवा खायेंगे और पानी पियेंगे। तुम्हें कष्ट तो न होगा?

तुम्हारा —रामेश्वर

पत्र पढ़ लेने पर जैसे एक कुतूहल मेरे सामने नाचने लगा। रामेश्वर के परिवार का स्नेह, उनके मधुर झगड़े; मान-मनौबल—समझौता और अभाव में भी सन्तोष; कितना सुन्दर! मैं कल्पना करने लगा। रामेश्वर एक सफल कदम्ब है, जिसके ऊपर मालती की लता अपनी सैकड़ों उलझनों से, आनन्द की छाया और आलिंगन का स्नेह-सुरभि ढाल रही है।

रामेश्वर का ब्याह मैंने देखा था रामेश्वर के हाथ के ऊपर मालती की पीली हथेली, जिसके ऊपर जलधारा पड़ रही थी। सचमुच यह सम्बन्ध कितना शीतल हुआ। उस समय मैं हँस रहा था, बालिका मालती और किशोर रामेश्वर! हिन्दू-समाज का वह परिहास—यह भीषण मनोविनोद! तो भी मैंने देखा, कहीं भूचाल नहीं हुआ—कहीं ज्वालामुखी नहीं

फूटा। वहिया ने कोई गाँव बहाया नहीं। रामेश्वर और मालती अपने सुख की फ़सल हर साल काटते है। ....मैंने जो सोचा—अभी-अभी जो विचार मेरे मन में आया, वह न लिखूँगा। मेरी क्षुद्रता जलन के रूप में प्रकट होगी.... । किन्तु मैं सच कहता हूँ मुझे रामेश्वर से जलन नहीं तो भी मेरे उस विचार का मिथ्या अर्थ लोग लगा ही लेगें। आज-कल मनोविज्ञान का युग है न। प्रत्येक मनोवृत्तियों के लिए हृदय को कबूतर का दरबा बना डाला है। उतनी प्रकार की मनोवृत्तियों को गिनकर वर्गीकरण कर लेने का साहस भी होने लगा है।

तो भी मैंने उस बात को सोच ही लिया। मेरे साधारण जीवन में एक लहर उठी। प्रसन्नता की स्निग्ध लहर! पारिवारिक सुखों से लिपटा हुआ, प्रणय-कलह देखूँगा; मेरे दायित्व-विहीन जीवन का वह मनोविनोद होगा। मैं रामेश्वर को पत्र लिखने लगा—

भाई रामेश्वर!

तुम्हारे पत्र ने मुझ पर प्रसन्नता की वर्षा की है। मेरे शून्य जीवन को आनन्द-कोलाहल से, कुछ ही दिनों के लिए सही, भर देने का तुम्हारा प्रयत्न, मेरे लिए विशेष सुख का कारण होगा। तुम अवश्य आओ और सबको साथ लेकर आओ!

तुम्हारा—श्रीनाथ

पुनश्चः-

बंबई से आते हुए सूरन अवश्य लेते आना! यहाँ वैसा नहीं मिलता। सूरन की तरकारी की गरमी में ही तुम लोग चन्दा की ठंडी हवा झेल सकोगे और साथ-साथ अपनी चलती-फिरती दूकान का एक बक्स! जिस पर हम लोगों की बातचीत की परम्परा लगी रहे।

श्रीनाथ

दोपहर का भोजन कर लेने के बाद मैं थोड़ी देर अवश्य लेटता हूँ, तो कह देता हूँ कि यह निद्रा नहीं भाई तन्द्रा है। स्वास्थ्य को मैं उसे अपने आराम से चलने देता हूँ। चिकित्सकों से सलाह पूछ कर उसमें छेड़-छाड़ करना मुझे ठीक नहीं जँचता। सच बात तो यह है, कि मुझे वर्तमान युग की चिकित्सा में वैसा ही विश्वास है, जैसे पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञों की खोज पर। जैसे वे साँची और अमरावती के स्तम्भ तथा शिल्प के चिन्हों में वस्त्र पहनी हुई मूर्त्तियों को देख कर, ग्रीक शिल्प-कला का आभास पा जाते हैं और कल्पना कर बैठते हैं, कि भारतीय बौद्ध-कला ऐसी हो ही नहीं सकती, क्योंकि वे कपड़ा पहनना जानते ही न थे। फिर चाहे आप त्रिपिटक से ही प्रमाण क्यों न दें, कि बिना अन्तर्वासक चीवर इत्यादि के भारत का कोई भिक्षु भी नहीं रहता था; पर वे कब माननेवाले हैं। वैसे ही चिकित्सक के पास सिर में दर्द होने की दवा खोजने गये, कि वह पेट से उसका सम्बन्ध जोड़कर कोई रोचक औषधि दे ही देगा। बेचारा कभी न सोचेगा कि कोई गम्भीर विचार करते हुए, जीवन की किसी कठिनाई से टकराते रहने से भी सिर में पीड़ा हो सकती है। तो भी मैं हल्की-सी तन्द्रा केवल तबीयत बनाने के लिए ले ही लेता।

शरद्-काल की उजली धूप ताल के नीचे जल पर फैल रही थी। आँखों में चकाचौंध लग रही थी। मैं कमरे में पड़ा अँगड़ाई ले रहा था। दुलारे ने आकर कहा—ईरानी—नहीं-नहीं बलूची आये हैं। मैंने पूछा–कैसे ईरानी और बलूची?

वही जो मूँगा, फीरोजा, चारयारी बेचते हैं, सिर में रूमाल बाँधे हुए।

मैं उठ खड़ा हुआ, दालान में आकर देखता हूँ, तो एक बीस बरस के युवक के साथ लैला? गले में चमड़े का बैग, पीठ पर चोटी, छींट का रूमाल। एक निराला आकर्षक चित्र! लैला ने हँसकर पूछा–बाबू चारयारी लोगे?

चारयारी?

हाँ बाबू! चारयारी! इसके रहने से इसके पास सोना, अशर्फी रहेगा। थैली कभी ख़ाली न होगी। और बाबू! इससे चोरी का माल बहुत जल्द पकड़ा जाता है।

साथ ही युवक ने कहा–ले लो बाबू! असली चारयारी; सोना का चारयारी। एक बाबू के लिए लाया था। वह मिला नहीं।

मैं अब तक उन दोनों की सुरमीली आँखों को देख रहा था। सुरमे का घेरा गोरे-गोरे मुँह पर आँख की विस्तृत सत्ता का स्वतन्त्र साक्षी था। पतली लंबी गर्दन पर खिलौने-सा मुँह टपाटप बोल रहा था। मैंने कहा—मुझे तो चारयारी नहीं चाहिए।

किन्तु वहाँ सुनता कौन है, दोनों सीढ़ी पर बैठ गये थे और लैला अपना बैग खोल रही थी। कई पोटलियाँ निकली, सहसा लैला के मुँह का रंग उड़ गया। वह घबराकर कुछ अपनी भाषा में कहने लगी। युवक उठ खड़ा हुआ। मैं कुछ समझ सका। वह चला गया। अब लैला ने मुस्कराते हुए, बैग में से वही पत्र निकाला। मैंने कहा–इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ।

इसका मतलब!

वह तुम्हारी चारयारी खरीदने फिर आवेगा। यही इसमें लिखा है—

मैंने कहा।

बस! इतना ही?

और भी कुछ है।

क्या बाबू?

और जो उसने लिखा है, वह मैं नहीं कह सकता—

क्यों बाबू? क्यों न कह सकोगे? बोलो।

लैला की वाणी में पुचकार, दुलार, झिड़की और आज्ञा थी।

यह सब बात मैं नहीं....

बीच में ही बात काट कर उसने कहा—नहीं क्यों? तुम जानते हो, नहीं बोलोगे?

उसने लिखा है, मैं तुमको प्यार करता हूँ।

लिखा है बाबू! —लैला की आँखों में स्वर्ग हँसने लगा! वह फुरती से पत्र मोड़कर रखती हुई हँसने लगी। मैंने अपने मन में कहा—अब यह पूछेगी, वह कब आवेगा? कहाँ मिलेगा? —किन्तु लैला ने यह सब कुछ नहीं पूछा। वह सीढ़ियों पर अर्द्ध शयनावस्था

में जैसे कोई सुन्दर सपना देखती हुई मुस्करा रही थी। युवक दौड़ता हुआ आया; उसने अपनी भाषा में कुछ घबराकर कहा—पर लैला लेटे-ही-लेटे कुछ बोली। युवक भी बैठ गया। लैला ने मेरी ओर देखकर कहा—तो बाबू! वह आवेगा। मेरी चारयारी खरीदेगा। गुल से भी कह दो। —मैंने समझ लिया, कि युवक का नाम गुल है। मैंने कहा—हाँ, वह तुम्हारी चारयारी खरीदने आवेंगे। गुल ने लैला की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखा।

परन्तु मैं, जैसे भयभीत हो गया। अपने ऊपर सन्देह होने लगा। लैला सुन्दरी थी, पर उसके भीतर भयानक राक्षस की आकृति थी या देवमूर्ति! यह बिना जाने मैंने क्या कह दिया! इसका परिणाम भीषण भी हो सकता है। मैं सोचने लगा। रामेश्वर को मित्र तो मानता नहीं, किन्तु मुझे उससे शत्रुता करने का क्या अधिकार है?

चन्दा के दक्षिणी तट पर ठीक मेरे बँगले के सामने एक पाठशाला थी। उसमें एक सिंहाली सज्जन रहते थे। न जाने कहाँ-कहाँ से उनको चन्दा मिलता था। वे पास-पड़ोस के लड़कों को बुलाकर पढ़ाने के लिए बिठाते थे। दो मास्टरों को वेतन देते थे। उनका विश्वास था कि चन्दा का तट किसी दिन तथागत के पवित्र चरण-चिह्न से अंकित हुआ था, वे आज भी उन्हें खोजते थे। बड़े शान्त प्रकृति के जीव थे। उनका श्यामल शरीर, कुंचित केश, तीक्ष्ण दृष्टि, सिंहली विशेषता से पूर्ण विनय, मधुर वाणी और कुछ-कुछ मोटे अधरों में चौबीसों घंटे बसनेवाली हँसी आकर्षण से भरी थी। मैं भी कभी-कभी जब जीभ में खुजलाहट होती, वहाँ पहुँच जाता। आज की वह घटना मेरे गम्भीर विचार का विषय बनकर मुझे व्यस्त कर रही थी। मैं अपनी डोंगी पर बैठ गया। दिन अभी घन्टे-डेढ़-घन्टे बाकी था। उस पार खेकर डोंगी ले जाते बहुत देर नहीं हुई। मैं पाठशाला और ताल के बीच के उद्यान को देख रहा था। खजूर और नारियल के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों को जिसमें निराली छटा थी। एक नया पीपल अपने चिकने पत्तों की हरियाली में झूम रहा था। उसके नीचे शिला पर प्रज्ञासारथि बैठे थे। नाव को अटका कर मैं उनके समीप पहुँच। अस्त होनेवाले सूर्यबिम्ब की रंगीली किरणें उनके प्रशांत मुखमण्डल पर पड़ रही थीं। दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले का चित्र दिखाई पड़ा, जब भारत की पवित्रता हज़ारों कोस से लोगों को वासना-दमन करना सीखने के लिए आमन्त्रित करती थी। आज भी आध्यात्मिक रहस्यों के उस देश में उस महती साधना का आशीर्वाद बचा है। अभी भी बोधि-वृक्ष पनपते हैं! जीवन की जटिल आवश्यकता को त्यागकर जब काषाय पहने सन्ध्या के सूर्य के रंग में रंग मिलाते हुए ध्यान-स्तिमित लोचन मूर्तियाँ अभी देखने में आती हैं, तब जैसे मुझे अपनी सत्ता का विश्वास होता है, और भारत की अपूर्वता का अनुभव होता है। अपनी सत्ता का इसलिए कि मैं भी त्याग का अभिनय करता हूँ न! और भारत के लिए तो मुझे पूर्ण विश्वास है, कि इसकी विजय धर्म में है।

अधरों में कुंचित हँसी, आँखों में प्रकाश भरे प्रज्ञासारथि ने मुझे देखते हुए कहा—आज मेरी इच्छा थी कि आपसे भेंट हो।

मैंने हँसते हुए कहा—अच्छा हुआ, कि मैं प्रत्यक्ष ही आ गया। नहीं तो ध्यान में बाधा पड़ती।

श्रीनाथजी! मेरे ध्यान में आपके आने की सम्भावना न थी। तो भी आज एक विषय पर आपकी सम्मति की आवश्यकता है।

मैं भी कुछ कहने के लिए ही यहाँ आया हूँ। पहले कि कहूँ कि आप ही आरम्भ करेंगे?

सथिया के लड़के कल्लू के सम्बन्ध में तो आपको कुछ नहीं कहना है? मेरे बहुत कहने पर मुसहरों ने उसे पढ़ने के लिए मेरी पाठशाला में रख दिया है और उसके पालन के भार से अपने को मुक्त कर लिया। अब वह सात बरस का हो गया है। अच्छी तरह खाता-पीता है। साफ़-सुथरा रहता है। कुछ-कुछ पढ़ता भी है, फिर भी न जाने क्यों कल्लू का ध्यान आ ही जाता है। —मैंने कहा।

तब तो अच्छी बात है, आप इस कृत्रिम विरक्ति से ऊब चले हैं, तो कुछ काम करने लगिए। मैं भी घर जाना चाहता हूँ। न हो तो पाठशाला ही चलाइए। —कहते हुए प्रज्ञासारथि ने मेरी ओर गम्भीरता से देखा।

मेरे मन में हलचल हुई। मैं एक बकवादी मनुष्य! किसी विषय पर गम्भीरता का अभिनय करके थोड़ी देर तक सफल वाद-विवाद चला देना और फिर विश्वाम करना: इतना ही तो मेरा अभ्यास था। काम करना किसी दायित्व को सिर पर लेना, असम्भव! मैं चुप रहा। वह मेरा मुँह देख रहे थे। मैं चतुरता से निकल जाना चाहता था। यदि मैं थोड़ी देर और भी उसी तरह सन्नाटा रखता, तो मुझे हाँ या नहीं कहना ही पड़ता। मैंने विवाहवाला चुटकुला छेड़ ही तो दिया।

आप तो विरक्त भिक्षु हैं। अब घर की आवश्यकता कैसे आ पड़ी?

भिक्षु! —आश्चर्य से प्रज्ञासारथि ने कहा —मैं तो ब्रह्मचर्य में हूँ। विद्याभ्यास और धर्म का अनुशीलन कर रहा हूँ। यदि मैं चाहूँ तो प्रव्रज्या ले सकता हूँ, नहीं तो गृही बनने में कोई धार्मिक आपत्ति नहीं। सिहल में तो यही प्रथा प्रचलित है। मेरे विचार से यह प्राचीन आर्य-प्रथा भी थी! मैं गार्हस्थ-जीवन से परिचित होना चाहता हूँ।

तो आप ब्याह करेंगे?

क्यों नहीं; वही करने तो जा रहा हूँ।

देखता हूँ, स्त्रियों पर आपको पूर्ण विश्वास है।

अविश्वास करने का कारण ही क्या है? इतिहास में, आख्यायिकाओं में कुछ स्त्रियों और पुरषों का दुष्ट चरित्र पढ़कर मुझे अपने और अपनी भावी सहधर्मिणी पर अविश्वास कर लेने का कोई अधिकार नहीं? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परीक्षा देनी चाहिए।

विवाहित जीवन! सुखदायक होगा? —मैंने पूछा।

किसी धर्म को करने के पहले उसमें सुख की ही खोज करना क्या अत्यन्त आवश्यक है? सुख तो धर्माचरण से मिलता है। अन्यथा संसार तो दुखमय है ही! संसार के कर्मों को धार्मिकता के साथ करने में सुख की ही संभावना है।

किन्तु ब्याह-जैसे कर्म से तो सीधा-सीधा स्त्री से सम्बन्ध है। स्त्री! कितनी विचित्र पहेली है। इसे जानना सहज नहीं। बिना जाने ही उस से अपना सम्बन्ध जोड़ लेना, कितनी बड़ी भूल है, ब्रह्मचारीजी! —मैंने हँस कर कहा।

भाई, तुम बड़े चतुर हो। खूब सोच-समझकर परख कर सब सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो न; किन्तु मेरी समझ में सम्बन्ध हुए बिना परखने का दूसरा उपाय नहीं। —प्रज्ञासारथि ने गंभीरता से कहा। मैं चुप होकर सोचने लगा। अभी-अभी जो मैंने एक काण्ड का बीजारोपण किया है, वह क्या लैला के स्वभाव से परिचित होकर! मैं अपनी मूर्खता पर मन-ही-मन तिलमिला उठा। मैंने कल्पना से देखा, लैला प्रतिहिंसा भरी एक भयानक राक्षसी है, यदि वह अपने जाति-स्वभाव के अनुसार रामेश्वर के साथ बदला लेने की प्रतिज्ञा कर बैठे, तब क्या होगा?—

प्रज्ञासारथि ने फिर कहा—मेरा जाना निश्चित है। ताम्रपर्णी की तरंग-मालाएँ मुझे बुला रही हैं! मेरी एक प्रार्थना है। आप कभी-कभी आकर इसका निरीक्षण कर लिया कीजिए।

मुझे एक बहाना मिला, मैंने कहा—मैंने बैठे-बिठाये एक झंझट बुला ली है। मैं देखता हूँ, कि कुछ दिनों तक तो मुझे उसमें फँसना ही पड़ेगा।

प्रज्ञासारथि ने पूछा ----वह क्या ?

मैंने लैला का पत्र पढ़ने और उसके बाद का सब वृत्तान्त कह सुनाया।प्रज्ञासारथि चुप रहे, फिर उन्होंने कहा----आपने इस काम को खूब सोच-समझकर करने की आवश्यकता पर तो ध्यान न दिया होगा, क्योंकि इसका फल दूसरे को भोगने की सम्भावना है न!

मुझे प्रज्ञासारथि का यह व्यंग्य अच्छा न लगा। मैंने कहा---सम्भव है कि मुझे तो कुछ भोगना पड़े।

भाई मैं तो देखता हूँ संसार में बहुत-से ऐसे काम मनुष्य को करने पड़ते हैं, जिन्हें वह स्वप्न में भी नहीं सोचता। अकस्मात् वे प्रसंग सामने आकर गुर्राने लगते हैं, जिनमें भागकर जान बचाना ही उसका अभीष्ट होता है। मैं भी इसी तरह ब्याह करने के लिए सिंहल जा रहा हूँ।

अन्धकार को भेदकर शरद् का चन्द्रमा नारियल और खजूर के वृक्षों पर दिखाई देने लगा था। चन्दा का ताल लहरियों में प्रसन्न था। मैं क्षण भर के लिए प्रकृति की उस सुन्दर चित्रपटी को तन्मय होकर देखने लगा।

कलुआ ने जब प्रज्ञासारथि को भोजन करने की सूचना दी, मुझे स्मरण हुआ, कि मुझे उस पार जाना है। मैंने दूसरे दिन आने को कहकर प्रज्ञासारथि से छुट्टी माँगी।

डोंगी पर बैठकर मैं धीरे-धीरे डाँड़ चलाने लगा।

मैं अनमना-सा डाँड़ चलाता हुआ कभी चन्द्रमा को और कभी चन्दा ताल को देखता। नाव सरल आन्दोलनों में तिर रही थी। बार-बार सिंहाली प्रज्ञासारथि की बात सोचता जाता था। मैंने घूमकर देखा, तो कुंज से घिरा हुआ पाठशाला का भवन चन्दा के शुभ्रजल में

प्रतिबिम्बित हो रहा था! चन्दा का वह तट समुद्र-उपकूल का एक खंड-चित्र था। मन-ही-मन सोचने लगा—मैं करता ही क्या हूँ, यदि मैं पाठशाला का ही निरीक्षण करूँ तो हानि क्या? मन भी लगेगा और समय भी कटेगा। —अब मैं बहुत दूर चला आया था। सामने मुचकुन्द-वृक्ष की नील आकृति दिखलाई पड़ी। मुझे लैला का फिर स्मरण आ गया। कितनी सरल, स्वतंत्र और साहसिकता से भरी हुई रमणी है। सुरमीली आँखों में कितना नशा है और अपने मादक उपकरणों से भी रामेश्वर को अपनी ओर आकर्षित करने में वह असमर्थ है। रामेश्वर पर मुझे क्रोध आया और लैला को फिर अपने विचारों से उलझते देखकर मैं झुँझला उठा। अब किनारा समीप हो चला था। मैं मुचकुन्द की ओर से नाव घुमाने को था, कि मुझे उस प्रशान्त जल में दो शिर तैरते हुए दिखाई पड़े। शरद्-काल की शीतल रजनी में उन तैरनेवालों पर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने डाँड़ चलाना बन्द कर दिया। दोनों तैरनेवाले डोंगी के पास आ चले थे। मैंने चन्द्रिका के आलोक में पहचान लिया, वह लैला का सुन्दर मुख था। कुमुदिनी की तरह प्रफुल्ल चाँदनी में हँसता हुआ लैला का मुख! मैंने पुकारा—लैला! वह बोलने ही को थी, कि उसके साथवाला मुख गुर्रा उठा। मैंने समझा, कि उसका साथी गुल होगा; किन्तु लैला ने कहा—चुप, बाबूजी हैं। —अब मैंने पहचाना कि वह एक भयानक पाजी कुत्ता है, जो लैला के साथ तैर रहा था। लैला ने कहा—बाबूजी आप कहाँ? —मेरी डोंगी के एक ओर लैला का हाथ था और दूसरी ओर कुत्ते के दोनों अगले पंजे। मैंने कहा—यों ही घूमने आया था और तुम रात को तैरती हो? लैला।

दिन भर काम करने के बाद अब तो छुट्टी मिली है, बदन ठंडा कर रही हूँ। — लैला ने कहा।

वह एक अद्भुत दृश्य था। इतने दिनों तक मैं जीवन के अकेले दिनों को काट चुका हूँ। अनेक अवसर विचित्र घटनाओं से पूर्ण और मनोरंजक मिले हैं; किन्तु ऐसा दृश्य तो मैंने कभी न देखा। मैंने पूछा—आज की रात तो बहुत ठंडी है, लैला।

उसने कहा—नहीं, बड़ी गर्म।

दोनों ने अपनी रुकावट हटा ली। डोंगी चलने को स्वतन्त्र थी। लैला और उसका साथी दोनों तैरने लगे। मैं फिर अपने बँगले की ओर डोंगी खेने लगा। किनारे पर पहुँचकर देखता हूँ, कि दुलारे खड़ा है। मैंने पूछा—क्यों रे! तू कब से यहाँ है?

उसने कहा, आपको आने में देर हुई, इसलिए मैं आया हूँ। रसोई ठंडी हो रही है।

मैं डोंगी से उतर पड़ा और बँगले की ओर चला। मेरे मन में न जाने क्यों सन्देह हो रहा था कि दुलारे जान-बुझकर परखने आया था। लैला से बातचीत करते हुए उसने मुझे अवश्य देखा है। तो क्या वह मुझ पर कुछ सन्देह करता है? मेरा मन दुलारे को सन्देह करने का अवसर देकर जैसे कुछ प्रसन्न ही हुआ। बँगले पर पहुँचकर मैं भोजन करने बैठ गया। स्वभाव के अनुसार शरीर तो अपना नियमित सब काम करता ही रहा, किन्तु सो जाने पर भी मैं वही सपना देखता रहा।

आज बहुत विलम्ब से सोकर उठा। आलस से कहीं घूमने-फिरने की इच्छा न थी। मैंने अपनी कोठरी में ही आसन जमाया। मेरी आँखों में वह रात्रि का दृश्य अभी भी घूम रहा था। मैंने लाख चेष्टा की किन्तु लैला और वह सिंहाली भिक्षु दोनों ही ने मेरे हृदय को अखाड़ा बना लिया था। मैंने विरक्त होकर विचार-परम्परा को तोड़ने के लिए बाँसुरी बजाना आरम्भ किया। आसावरी के गम्भीर विलम्बित आलापों में फिर भी लैला की प्रेम–पूर्ण आकृति जैसे बनने लगती। मैंने बाँसुरी बजाना बन्द किया और ठीक विश्रामकाल में ही मैंने देखा कि प्रज्ञासारथि सामने खड़े हैं। मैंने उन्हें बैठाते हुए पूछा–आज आप इधर कैसे भूल पड़े?

यह प्रश्न मेरी विचार-विश्रृंखलता के कारण हुआ था, क्योंकि वे तो प्रायः मेरे यहाँ आया ही करते थे। उन्होंने हँसकर कहा–मेरा आना भूलकर नहीं, किन्तु कारण से हुआ है। कहिये, आपने उस विषय में कुछ स्थिर किया?

मैंने अनजान बनकर पूछा–किस विषय में ?

प्रज्ञासारथि ने कहा—वही पाठशाला की देख-रेख करने के लिए, जैसा मैंने उस दिन आपसे कहा था।

मैंने बात उड़ाने के ढंग से कहा–आप तो सोच-विचार का काम करने में विश्वास ही नहीं रखते। आपका तो यही कहना है न कि मनुष्य प्रायः अनिच्छावश बहुत-से काम करने के लिए बाध्य होता है, तो फिर मुझे उस पर सोचने-विचारने की क्या आवश्यकता थी? जब वैसा अवसर आवेगा, तब देखा जायगा।

कृपया मेरी बातों का अपने मनोनुकूल अर्थ न लगाइए। यह तो मैं जानता हूँ, कि आप अपने ढंग से विचार करने के लिए स्वतंत्र है; किन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप न देने के समय आपकी स्वतंत्रता में मेरा विश्वास संदिग्ध हो जाता है। प्रायः देखा जाता है हम लोग क्या करने जाकर क्या कर बैठते हैं, तो भी हम उसकी ज़िम्मेदारी से छूटते नहीं। मान लीजिए कि लैला के हृदय में एक दुराशा उत्पन्न करके आपने रामेश्वर के जीवन में अड़चन डाल दी है। संभव है यह घटना साधारण न रहकर कोई भीषण काण्ड उपस्थित कर सकती है और आपका मित्र अपने अनिष्ट करनेवाले को न भी पहचान सके, तो क्या आप अपने ही मन के सामने इसके अपराधी न ठहरेंगे?

प्रज्ञासारथि की ये बातें मुझे बेढंगी-सी जान पड़ीं। क्योंकि उस समय मुझे उनका आना और मुझे उपदेश देने का ढोंग रचना असह्य होने लगा। मेरी इच्छा होती थी कि वे किसी तरह भी यहाँ से चले जाते; तो भी मुझे उन्हें उत्तर देने के लिए इतना तो कहना ही पड़ा कि –आप कच्चे अदृष्टवादी है। आपके जैसा विचार रखने पर मैं तो इसे इस तरह सुलझाऊँगा कि अपराध करने में और दंड देने में मनुष्य एक दूसरे का सहायक होता है। हम आज जो किसी को हानि पहुँचाते है, या कष्ट देते हैं, वह इतने ही के लिए नहीं कि उसने मेरी कोई बुराई की हो। हो सकता है कि मैं उसके किसी अपराध का यह दंड समाज-व्यवस्था के किसी मौलिक-नियम के अनुसार दे रहा हूँ। फिर चाहे मेरा यह दण्ड देना भी अपराध बन जाय और उसका फल भी मुझे भोगना पड़े। मेरे इस कहने पर प्रज्ञासारथि ने हँस दिया

और कहा—श्रीनाथजी, मैं आपकी दंड-व्यवस्था ही तो करने आया हूँ। आप अपने बेकार जीवन को मेरी बेगार में लगा दीजिए। —मैंने पिण्ड छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा तीन दिन सोचने का अवसर दीजिए।

प्रज्ञासारथि चले गये और मैं चुपचाप सोचने लगा। मेरे स्वतन्त्र जीवन में माँ के मर जाने के बाद यह दूसरी उलझन थी। निश्चिन्त जीवन की कल्पना का अनुभव मैंने इतने दिनों तक कर लिया था। मैंने देखा कि मेरे निराश जीवन में उल्लास का छींटा भी नहीं। यह ज्ञान मेरे हृदय को और भी स्पर्श करने लगा। मैं जितना ही विचारता था, उतना ही मुझे निश्चिन्तता और निराश का अभेद दिखलाई पड़ता था। मेरे आलसी जीवन में सक्रियता की प्रतिध्वनि होने लगी। तो भी काम न करने का स्वभाव मेरे विचारों के बीच में जैसे व्यंग्य से मुस्करा देता था।

तीन दिनों तक मैंने सोचा और विचार किया। अन्त में प्रज्ञासारथि से जाकर कह दिया कि मैं पाठशाला का निरीक्षण करूँगा, किन्तु मेरे मित्र आनेवाले हैं और वे जब तक यहाँ रहेंगे, तब तक तो मैं अपना बँगला न छोड़ूँगा। क्योंकि यहाँ उन लोगों के आने से आपको असुविधा होगी। फिर जब वे लोग चले जायेंगे, तब मैं यही आकर रहने लगूँगा।

मेरे सिंहाली मित्र ने हँसकर कहा—अभी तो एक महीने यहाँ मैं अवश्य रहूँगा। यदि आप अभी से यहाँ चले आवें तो बड़ा अच्छा हो, क्योंकि मेरे रहते यहाँ का सब प्रबन्ध आपकी समझ में आ जायगा। रह गई मेरी असुविधा की बात, सो ते केवल आपकी कल्पना है। मैं आपके मित्रों को यहां देखकर प्रसन्न ही होऊँगा। जगह की कमी भी नहीं।

मैं 'अच्छा' कह कर उनसे छुट्टी लेने के लिए उठ खड़ा हुआ; किन्तु प्रज्ञासारथि ने मुझे फिर से बैठाते हुए कहा—देखिए श्रीनाथजी, यह पाठशाला का भवन पूर्णतः आपके अधिकार में रहेगा। भिक्षुओं के रहने के लिए तो संघाराम का भाग अलग है ही और उसमें जो कमरे अभी अधूरे है, उन्हें शीघ्र ही पूरा कराकर तब मैं जाऊँगा और अपने संघ से मैं इसकी पक्की लिखा-पढ़ी कर रहा हूँ कि आप पाठशाला के आजीवन अवैतनिक प्रधानाध्यक्ष रहेंगे और उसमें किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा।

मैं उस युवक बौद्ध मिशनरी की युक्तिपूर्ण व्यावहारिता देखकर मन-ही-मन चकित हो रहा था। एक क्षण भर के लिए सिहाली की व्यवहारकुशल बुद्धि से मैं भीतर-ही-भीतर ऊब उठा। मेरी इच्छा हुई कि मैं स्पष्ट अस्वीकार कर दूँ; किन्तु न जाने क्यों मैं वैसा न कर सका। मैंने कहा—तो आपको मुझ में इतना विश्वास है कि मैं आजीवन आपकी पाठशाला चलाता रहूँगा!

प्रज्ञासारथि ने कहा—शक्ति की परीक्षा दूसरों हो पर होती है, यदि मुझे आपकी शक्ति का अनुभव हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। और आप तो जानते है कि धार्मिक मनुष्य विश्वासी होता है। सूक्ष्म रूप से कल्याण-ज्योति मानवता में अन्तर्निहित है, मैं तो उसमें अधिक-से-अधिक श्रद्धा करता हूँ। विपथगामी होने पर, वही संकेत कर के मनुष्य का अनुशासन करती है, यदि उसकी पशुता ही प्रबल न हो गई हो तो।

मैंने प्रज्ञासारथि की आँख मिलाते हुए देखा, उसमें तीव्र संयम की ज्योति चमक रही थी, मैं प्रतिवाद न कर सका, और यह कहते हुए उठ खड़ा हुआ कि- अच्छा जैसे आप कहते हैं वैसा ही होगा!

मैं धीरे-धीरे बँगले की ओर लौट रहा था। रास्ते में अचानक देखता हूँ कि दुलारे दौड़ा हुआ चला आ रहा है। मैंने पूछा—क्या है रे?

उसने कहा—बाबूजी घोड़ागाड़ी पर बहुत-से आदमी आये हैं। वे लोग आपको पूछ रहे हैं।

मैंने समझ लिया कि रामेश्वर आ गया। दुलारे से कहा कि—तू दौड़ जा, मैं यहीं खड़ा हूँ! उन लोगों को सामान सहित यहीं लिवा आ!

दुलारे तो बँगले की ओर भागा किन्तु मैं उसी जगह अविचल भाव से खड़ा रहा, मन में विचारी की आँधी उठने लगी। रामेश्वर तो आ गया और वे ईरानी भी यही हैं। ओह, मैंने कैसी मूर्खता की। तो भी मेरे मन को जैसे ढाढ़स हुआ कि रामेश्वर मेरे बँगले में नहीं ठहरता है। इस बौद्ध पाठशाला तक लैला क्यों आने लगी? जैसा लैला को वहाँ आने में कोई दैवी बाधा हो। फिर मेरा सिर चकराने लगा। मैंने कल्पना की आँखों से देखा कि लैला अबाधगति से चलनेवाली एक निर्झरिणी है। पश्चिम की सर्राटे से भरी हुई वायुतरंग भला ही तो नहीं, उसकी स्त्री भी उसके साथ है। अपनी मूर्खतापूर्ण करनी से मेरा ही दम घुटने लगा। मैं खड़ा-खड़ा झील की ओर देख रहा था। उसमें छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं, जिसमें सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित होकर आँखों को चौंधिया देती थीं। मैंने आँखें बन्द कर लीं। अब मैं कुछ नहीं सोचता था। गाड़ी की घरघराहट ने मुझे सजग किया। मैंने देखा कि रामेश्वर गाड़ी का पल्ला खोलकर वहीं सड़क में उतर रहा है।

मैं उससे गले मिल शीघ्रता से कहने लगा— गाड़ी पर बैठ जाओ। मैं भी चलता हूँ। यहीं पास ही तो चलना है। —उसने गाड़ीवान से चलने के लिए कहा। हम दोनों साथ-साथ पैदल ही चलें। पाठशाला के समीप प्रज्ञासारथि अपनी रहस्यपूर्ण मुस्कराहट के साथ अगवानी करने के लिए खड़े थे।

दो दिनों में हम लोग अच्छी तरह वहाँ रहने लगे। घर का कोना-कोना आवश्यक चीज़ों से भर गया। प्रज्ञासारथि इसमें बराबर हम लोगों के साथी हो रहे थे और सब से अधिक आश्चर्य मुझे मालती को देख कर हुआ। वह मानो इस जीवन की सम्पूर्ण गृहस्थी यहाँ सजा कर रहेगी। मालती एक स्वस्थ युवती थी; किन्तु दूर से देखने में अपनी छोटी-सी आकृति के कारण वह बालिका-सी लगती थी। उसकी तीनों सन्तानें बड़ी सुन्दर थीं। मित्रा छः बरस का, रञ्जन चार का और कमलो दो की थी। कमलो सचमुच एक गुड़िया थी, कल्लू का उस से इतना घना परिचय हो गया कि दोनों को एक दूसरे बिना चैन नहीं। मैं सोचता था कि प्राणी क्या स्नेहमय ही उत्पन्न होता है। अज्ञात प्रदेशों से आकर वह संसार में जन्म लेता है। फिर अपने लिए कितने स्नेहमय सम्बन्ध बना लेता है; किन्तु मैं सदैव इन बुरी बातों से भागता ही रहा। इसे मैं अपना सौभाग्य कहूँ, या दुर्भाग्य?

इन्हीं कई दिनों में रामेश्वर के प्रति मेरे हृदय में इतना स्नेह उमड़ा, कि मैं उसे एक क्षण छोड़ने के लिए प्रस्तुत न था। अब हम लोग साथ बैठकर भोजन करते। साथ ही टहलने निकलते। बातों का तो अन्त ही न था। कल्लू तीनों लड़कों को बहलाये रहता। दुलारे खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेता। रामेश्वर से मेरी बातें होतीं और मालती चुपचाप सुना करती। कभी-कभी बीच में कोई अच्छी-सी मीठी बात बोल भी देती।

और प्रज्ञासारथि को तो मानो एक पाठशाला ही मिल गई थी। वे गार्हस्थ-जीवन का चुपचाप अच्छा-सा अध्ययन कर रहे थे।

एक दिन मैं बाज़ार से अकेला लौट रहा था। बँगले के पास मैं पहुँचा ही थी, कि लैला मुझे दिखाई पड़ी। वह अपने घोड़े पर सवार थी। मैं क्षण भर तक विचारता रहा, कि क्या करूँ! तब तक घोड़े से उतर कर वह मेरे पास चली आई। मैं खड़ा हो गया था। उसने पूछा—बाबूजी, आप कहीं चले गये थे?

हाँ!

अब इस बँगले में आप नहीं रहते?

मैं तुम से एक बात कहना चाहता हूँ, लैला! —मैंने घबराकर उससे कहा—

क्या बाबूजी?

वह चिट्ठी।

है तो मेरे ही पास, क्यों?

मैंने उसमें कुछ झूठ कहा था।

झूठ! —लैला की आँखों से बिजली निकलने लगी थी।

हाँ लैला! उसमें रामेश्वर ने लिखा था, कि मैं तुमको नहीं चाहता, मेरे बाल-बच्चे हैं।

ऐं! तुम झूठे! दग़ाबाज़! —कहती हुई, लैला अपनी छुरी की ओर देखती हुई दाँत पीसने लगी।

मैंने कहा—लैला, तुम मेरा क़सूर....।

तुम मेरे दिल से दिल्लगी करते थे। कितने रञ्ज की बात है। —वह कुछ न कह सकी। वहीं बैठकर रोने लगीं। मैंने देखा कि यह बड़ी आफ़त है। कोई मुझे इस तरह यहाँ देखेगा तो क्या कहेगा? मैं तुरन्त वहाँ से चल देना चाहता था, किन्तु लैला ने आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा—तुमने मेरे लिए दुनिया में एक बड़ी अच्छी बात सुनाई थी। वह मेरी थी। इसे जानकर आज मुझे इतना गुस्सा आता है, कि मैं तुमको मार डालूँ या आप ही मर जाऊँ। —लैला दाँत पीस रही थी। मैं काँप उठा—अपने प्राणों के भय से नहीं किन्तु लैला के साथ अदृष्ट के खिलवाड़ पर और अपनी मूर्खता पर। मैंने प्रार्थना के ढंग से कहा—लैला, मैंने तुम्हारे मन को ठेस लगा दी है—इसका मुझे बड़ा दुख है। अब तुम उसको भूल जाओ।

तुम भूल सकते हो, मैं नहीं! मैं खून करूँगी! —उसकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी। किसका लैला! मेरा?

ओह—नहीं, तुम्हारा नहीं, तुमने एक दिन मुझे सबसे बड़ा आराम दिया है। हो वह झूठा। तुमने अच्छा नहीं किया था, तो भी मैं तुमको अपना दोस्त समझती हूँ।

तब किसका खून करोगी?

उसने गहरी साँस लेकर कहा, —अपना या किसी....फिर चुप हो गई।

मैंने कहा—तुम ऐसा न करोगी लैला। मेरा और कुछ कहने का साहस नहीं होता था। उसी ने फिर पूछा –वह जो तेज़ हवा चलती है, जिसमें बिजली चमकती है, बरफ़ गिरती है, जो बड़े-बड़े पेड़ों को तोड़ सकती है। ....हम लोगों के घरों को उड़ा ले जाती है....।

आँधी। —मैंने बीच ही में कहा।

हाँ, वही मेरे यहाँ चल रही है! —कह कर लैला ने अपनी छाती पर हाथ रख दिया।

लैला! –मैंने अधीर होकर कहा।

मैं उसको एक बार देखना चाहती हूँ। –उसने भी व्याकुलता से ओर देखते हुए कहा।

मैं उसे देखा दूँगा; पर तुम उसकी कोई बुराई तो न करोगी?—

मैंने कहा।

हुश! —कहकर लैला ने अपनी काली आँखें उठाकर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा—अच्छा लैला। मैं दिखा दूँगा।

कल मुझसे यहीं मिलना—कहती हुई वह अपने घोड़े पर सवार हो गई। उदास लैला के बोझ से वह घोड़ा भी धीरे-धीरे चलने लगा और लैला झुकी हुई-सी उस पर मानो किसी तरह बैठी थी।

मैं वहीं थोड़ी देर तक खड़ा रहा। और फिर धीरे-धीरे अनिच्छापूर्वक पाठशाला की ओर लौटा। प्रज्ञासारथि पीपल के नीचे शिलाखंड पर बैठे थे। मित्रा उनके पास खड़ा उनका मुँह देख रहा था। प्रज्ञासारथि की रहस्यपूर्ण हँसी आज अधिक उदास थी। मैंने देखा कि वह उदासीन विदेशी अपनी समस्या हल कर चुका है। बच्चों का चहल-पहल ने उसके जीवन में वांछित परिवर्तन ला दिया है। और मैं?

मैं कह चुका था, इसलिए दूसरे दिन लैला से भेंट करने पहुँचा। देखता हूँ, कि वह पहले ही से वहाँ बैठी है। निराश से उदास उसका मुंह आज पीला हो रहा था। उसने हँसने की चेष्टा नहीं की और न मैंने ही। उसने पूछा–तो कब, कहाँ चलना होगा? मैं तो सूरत में उससे मिली थी! वहीं उसने मेरी चिट्ठी का जवाब दिया था। अब कहाँ चलना होगा?

मैं भौंचक-सा हो गया। लैला को विश्वास था कि सूरत, बम्बई, काश्मीर वह चाहे कहीं हो, मैं उसे लिवा कर चलूँगा ही। और रामेश्वर से भेंट करा दूँगा। सम्भवतः उसने मेरे परिहास का यह दंड निर्धारित कर लिया था। मैं सोचने लगा–क्या कहूँ!

लैला ने फिर कहा–मैं उसकी बुराई न करूँगी, तुम डरो मत।

मैंने कहा—वह यहीं आ गया है। उसके बाल-बच्चे सब साथ है। लैला तुम चलोगी?

वह एक बार सिर से पैर तक काँप उठी! और मैं भी घबरा गया। मेरे मन में नयी आशंका हुई। आज मैं क्या दूसरी भूल करने जा रहा हूँ? उसने सम्हल कर कहा–हाँ चलूँगी बाबू!

–मैंने गहरी दृष्टि से उसके मुँह की ओर देखा तो अन्धड़ नहीं, किन्तु एक शीतल मलय का व्याकुल झोंका उसकी घुँघराली लटों के साथ खेल रहा था। मैंने कहा—अच्छा, मेरे पीछे-पीछे चली आओ!

मैं चला और वह मेरे पीछे थी। जब पाठशाला के पास पहुँचा, तो मुझे हारमोनियम का स्वर और मधुर आलाप सुनाई पड़ा। मैं ठिठककर सुनने लगा–रमणी-कण्ठ की मधुर ध्वनि! मैंने देखा कि लैला की भी आँखें उस संगीत के नशे में मतवाली हो चली हैं। उधर देखता हूँ तो कमलो की गोद में लिये प्रज्ञासारथि भी झूम रहे हैं। अपने कमरे में मालती छोटे-से सफरी बाजे पर पीलू गा रही है–और अच्छी तरह गा रही है! रामेश्वर लेटा हुआ उसके मुँह की ओर देख रहा है। पूर्ण तृप्ति! प्रसन्नता की माधुरी दोनों के मुँह पर खेल रही हैं! पास ही रंजन और मित्रा बैठे हुए अपने माता और पिता को देख रहे हैं! हम लोगों के आने की बात कौन जानता है। मैंने एक क्षण के लिए अपने को कोसा; इतने सुन्दर संसार में कलह की ज्वाला जला कर मैं तमाशा देखने लगा था! हाय रे –मेरा कुतहल! और लैला स्तब्ध अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से एकटक न जाने क्या देख रही थी। मैं देखता था कि कमलो प्रज्ञासारथि की गोद से धीरे से खिसक पड़ी और बोली–माँ! और गाना रुक गया। कमलो के साथ मित्रा और रंजन हँस पड़े। रामेश्वर ने कहा–कमलो, तू बली पाजी है ले! वा–पाजी–स्टाल–कह कर कमलों ने अपनी नन्ही-सी उँगली उठाकर हम लोगों की ओर संकेत किया। रामेश्वर तो उठकर बैठ गये। मालती ने मुझे देखते ही सिर का कपड़ा तनिक आगे की ओर खींच लिया और लैला ने रामेश्वर को देखकर सलाम किया। दोनों की आँखें मिली! रामेश्वर के मुँह पर पल भर के लिए एक घबराहट दिखाई पड़ी। फिर उसने सम्हलकर पूछा–अरे लैला! तुम यहाँ कहाँ?

चारयारी न लोगे बाबू। —कहती हुई लैला निर्भीक भाव से मालती के पास जाकर बैठ गई।

मालती लैला पर एक सलज्ज मुस्कान छोड़ती हुई, उठ खड़ी हुई। लैला उनका मुँह देख रही थी, किन्तु उस ओर ध्यान न देकर मालती ने मुझसे कहा–भाई जी आपने जलपान नहीं किया, आज तो आप ही के लिए मैंने सूरन के लड्डू बनाये है।

तो देती क्यों नहीं पगली, मैं सवेरे से ही भूखा भटक रहा हूँ—मैंने कहा। मालती जलपान ले आने गई। रामेश्वर ने कहा—चारयारी ले आई हो! लैला ने हाँ कहते हुए अपना बेग खोला। फिर रुककर उसने अपने गले में एक ताबीज निकाला। रेशम से लिपटा हुआ चौकोर ताबीज की सीवन खोलकर उसने यह चिट्ठी निकाली। मैं स्थिर भाव से देख रहा था। लैला ने कहा—पहले बाबूजी इस चिट्ठी को पढ़ दीजिए। —रामेश्वर ने कंम्पित हाथों से उसको खोला, वह उसी का लिखा हुआ पत्र था। उसने घबरा कर लैला की ओर देखा। लैला ने शान्त स्वरों मे कहा—पढ़िए बाबू! मैं आप ही के मुँह से सुनना चाहती हूँ।

रामेश्वर ने दृढ़ता से पढ़ना आरम्भ किया। जैसे उसने अपने हृदय का समस्त बल आनेवाली घटनाओं का सामना करने के लिए एकत्र कर लिया हो; क्योंकि मालती जलपान लिये आ रही थी। रामेश्वर ने पूरा पत्र पढ़ लिया। केवल नीचे अपना नाम नहीं पढ़ा।

मालती खड़ी सुनती रही और मैं सूरन के लड्डू खाता रहा। बीच-बीच में मालती का मुँह देख लिया करता था! उसने बड़ी गम्भीरता से पूछा—भाईजी लड्डू कैसे हैं, यह तो आपने बताया नहीं, धीरे-से खा गये।

जो वस्तु अच्छी होती है; वही तो गले में धीरे-से उतार ली जाती है। नहीं तो कड़वी वस्तु के लिए थू-थू न करना पड़ता। —मैं कही रहा था, कि लैला ने रामेश्वर से कहा—ठीक तो! मैंने सुन लिया। अब आप उसको फाड़ डालिए। तब आपको चारयारी दिखाऊँ।

रामेश्वर सचमुच पत्र फाड़ने लगा। चिन्दी-चिन्दी उस कागज के टुकड़े की उड़ गई और लैला ने एक छिपी हुई गहरी साँस ली, किन्तु मेरे कानों ने उसे सुन ही लिया। वह तो एक भयानक आँधी से कम न थी। लैला ने सचमुच एक सोने की चारयारी निकाली। उसके साथ एक सुन्दर मूँगे की माला। रामेश्वर ने चारयारी लेकर देखा। उसने मालती से पचास के नोट देने के लिए कहा। मालती अपने पति के व्यवसाय को जानती थी, उसने तुरन्त नोट दे दिये। रामेश्वर ने जब नोट लैला की ओर बढ़ाये तभी कमलो सामने आकर खड़ी हो गई—वा...लाल...। रामेश्वर ने पूछा, क्या है रे कमली?

पुतली-सी सुन्दर बालिका ने रामेश्वर के गालों को अपने छोटे-से हाथों से पकड़कर कहा—लाला-लाल....

लैला ने नोट ले लिये थे। उसने पूछा—बाबूजी! मूँगे की माला न लीजिएगा?

नहीं।

लैला ने माला उठाकर कमलों को पहना दी। रामेश्वर नहीं-नहीं कर ही रहा था किन्तु उसने सुना नहीं! कमलो ने अपनी माँ को देख कर कहा—माँ....लाल....वह हँस पड़ी और कुछ नोट रामेश्वर को देते हुए बोली—तो ले न लो, इसका भी दाम दे दो।

लैला ने तीव्र दृष्टि से मालती को देखा; मैं तो सहम गया था। मालती हँस पड़ी। उसने कहा—क्या दाम न लोगी?

लैला, कमलो का मुँह चूमती हुई उठ खड़ी हुई। मालती अवाक्, रामेश्वर स्तब्ध, किन्तु मैं प्रकृतिस्थ था।

लैला चली गई।

मैं विचारता रहा, सोचता रहा। कोई अन्त न था—ओर-छोर का पता नहीं! लैला! प्रज्ञासारथि? —रामेश्वर और मालती सभी मेरे सामने बिजली के पुतलों-से चक्कर काट रहे थे। सन्ध्या हो चली थी, किन्तु मैं पीपल के नीचे से उठ न सका। प्रज्ञासारथि अपना ध्यान समाप्त करते उठे। उन्होंने मुझे पुकारा—श्रीनाथजी! मैंने हँसने की चेष्टा करते हुए कहा—कहिए!

आज तो आप भी समाधिस्थ रहे।

तब भी इसी पृथ्वी पर था! जहाँ लालसा क्रंदन करती है। दुःखानुभूति हँसती है और नियति अपने मिट्टी के पुतलों के साथ अपना क्रूर मनोविवाद करती है; किन्तु आप तो बहुत ऊँचे किसी स्वर्गीय भावना में....

ठहरिए श्रीनाथजी! सुख और दुःख, आकाश और पृथ्वी, स्वर्ग और नरक के बीच में ही वह सत्य है, जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

मुझे क्षमा कीजिए! अन्तरिक्ष में उड़ने की मुझमें शक्ति नहीं है।

—मैंने परिहासपूर्वक कहा।

साधारण मन की स्थिति को छोड़कर जब मनुष्य कुछ दूसरी बात सोचने के लिए प्रयास करता है, तब क्या वह उड़ने का प्रयास नहीं? हम लोग कहने के लिए द्विपद हैं किन्तु देखिए तो जीवन में हम लोग कितनी बार उचकते हैं, उड़ान भरते हैं। वही तो उन्नति की चेष्टा, जीवन के लिए संग्राम और भी क्या-क्या नाम से प्रशंसित नहीं होती? तो मैं भी इसकी निन्दा नहीं करता; उठने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु....

आप यही न कहेंगे, कि समझ-बूझकर एक बार उचकना चाहिए; किन्तु उस एक बार को–उस अचूक अवसर को-जानना सहज नहीं। इसीलिए तो मनुष्य को, जो सबसे बुद्धिमान प्राणी है, बार-बार धोखा खाना पड़ता है। उन्नति को उसने विभिन्न रूपों में अपनी आवश्यकताओं के साथ इतना मिलाया है, कि उसे सिद्धान्त बना लेना पड़ा है कि उन्नति का द्वन्द्व पतन ही है।

संयम का वज्र-गम्भीर नाद प्रकृति से नहीं सुनते हो! शारीरिक कर्म तो गौण है, मुख्य संयम तो मानसिक है। श्रीनाथजी, आज लैला का वह मन का संयम क्या किसी महानदी की प्रखर धारा के अचल बाँध से कम था। मैं तो देखकर अवाक् था। आपकी उस समय विचित्र परिस्थिति रही। फिर भी कैसे सब निर्विघ्न समाप्त हो गया। उसे सोचकर तो मैं अब भी चकित हो जाता हूँ; क्या यह इस भयानक प्रतिरोध के धक्के को सम्हाल लेगी?

लैला के वक्षस्थल में कितना भीषण अन्धड़ चल रहा होगा, इसका अनुभव हमलोग नहीं कर सकते! मैं अब भी इससे भयभीत हो रहा हूँ।

प्रज्ञासारथि चुप रहकर धीरे-धीरे कहने लगे–मैं तो कल जाऊँगा। यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो रामेश्वर को भी साथ चलने के लिए कहूँ। बम्बई तक हम लोगों का साथ रहेगा और मालती इस भयावनी छाया से शीघ्र ही दूर हट जायगी! फिर तो सब कुशल ही है।...

मेरे त्रस्त मन को शरण मिली। मैंने कहा–अच्छी बात है। प्रज्ञासारथि उठ गये। मैं वहीं बैठा रहा और भी बैठ रहता, यदि मिन्ना और रंजन की किलकारी और रामेश्वर की डाँट-डपट, मालती की कलछी की खट-खट का कोलाहल ज़ोर न पकड़ लेता और कल्लू सामने आकर खड़ा हो जाता।

प्रज्ञासारथि, रामेश्वर और मालती को गये एक सप्ताह से ऊपर हो गया। अभी तक उस वास्तविक संसार का कोलाहल सुदूर से जाती हुई मधुर संगीत की प्रतिध्वनि के समान मेरे कानों में गूँज रहा था। मैं अभी तक उस मादकता को उतार न सका था। जीवन में पहले की-सी निश्चिन्तता का विराग नहीं, न तो यह बे-परवाही रही। मैं सोचने लगा कि अब मैं क्या करूँ?

कुछ करने की इच्छा क्यों? मन के कोने से चुटकी लेते कौन पूछ बैठा?

किये बिना तो रहा नहीं जाता।

करा भी, पाठशाला से क्या मन ऊब चला?

उतने से संतोष नहीं होता।

और क्या चाहिए?

यही तो नहीं समझ सका, नहीं तो यह प्रश्न ही क्यो करती कि—अब मैं क्या करूँ—मैंने झुँझलाकर कहा। मेरी बातों का उत्तर लेने-देने वाला मुस्कराकर हट गया। मैं चिन्ता के अन्धकार में डूब गया! वह मेरी ही गहराई थी जिसकी मुझे थाह न लगी। मैं प्रकृतिस्थ हुआ कब, जब एक उदास और ज्वालामुखी तीव्र दृष्टि मेरी आँखो मे घुसने लगी। अपने उस अन्धकार में मैंने ज्योति देखी।

मैं स्वीकार करूँगा कि वह लैला थी, इस पर हँसने की इच्छा हो तो हँस लीजिए, किन्तु मैं लैला को पा जाने के लिए विकल नहीं था, क्योंकि लैला जिसको पाने की अभिलाषा करती थी, रही, उसे न मिला। और परिणाम ठीक मेरी आँखों के सामने था। तब? मेरी सहानुभूति क्यों जगी। हाँ, वह सहानुभूति थी। लैला जैसे दीर्घ पथ पर चलनेवाले मुझ पथिक की चिरसंगिनी थी।

उस दिन इतना ही विश्वास करके मुझे संतोष हुआ।

रात को कलुआ ने पूछा—बाबूजी! आप घर न चलिएगा। मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा। उसने हठ भरी आँखों से फिर वही प्रश्न किया। मैंने हँसकर कहा—मेरा घर तो यही है रे कलुआ!

नहीं बाबूजी! जहाँ मित्रा गये हैं। जहाँ रंजन और जहाँ कमलो भाई हैं, वहीं तो घर है।

जहाँ बहूजी गई हैं—जहाँ बाबूजी....हठात् प्रज्ञासारथि का मुझे स्मरण हो आया। मुझे क्रोध में कहना पड़ा—कलुआ, मुझे और कहीं घर-घर नहीं है। फिर मन-ही-मन कहा—इस बात को वह बौद्ध समझता था—

"हूँ, सबको घर है, बाबाजी को, बहूजी को—मित्रा को सबको है आपको नहीं है?" उसने ठुनकते हुए कहा।

किन्तु मैं अपने ऊपर झुँझला रहा था! मैंने कहा—बकवाद न कर, जा सो रह, आजकल तू पढ़ता नहीं।

कलुआ सिर झुकाये....व्यथा-भरे वक्षस्थल दो दबाये अपने बिछौने पर जा पड़ा। और मैं उस निस्तब्ध रात्रि में लगता रहा! खिड़की में से झील का आन्दोलित जल दिखाई पड़ रहा था। और मैं आश्चर्य से अपना ही बनाया हुआ चित्र उसमें देख रहा था। चन्दा के प्रशान्त जल में एक छोटी-सी नाव है, जिस पर मालती, रामेश्वर बैठे थे और मैं डाँड़ चला रहा था। प्रज्ञासारथि तीर पर खड़े बच्चों को बहला रहे थे। हम लोग उजली चाँदनी में नाव खेते हुए चले जा रहे थे। सहसा उस चित्र में एक और मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ। वह थी लैला! मेरी आँखें तिलमिला गईं।

मैं जागता था—सोता था।

सवेरा हो गया था। नींद से भरी आँखें नहीं खुलती थीं, तो भी बाहर के कोलाहल ने मुझे जगा ही दिया। देखता हूँ, तो ईरानियों का एक झुंड खड़ा है।

मैंने पूछा—क्या है?

गुल ने कहा—यहाँ का पीर कहाँ है?

पीर! —मैंने आश्चर्य से पूछा।

हाँ वही, जो पीला-पीला कपड़ा पहनता था।

मैं समझ गया, वे लोग प्रज्ञासारथि को खोजते थे। मैंने कहा—वह तो यहाँ नहीं हैं, अपने घर गये। काम क्या है?

एक लड़की को हवा लगी है, यहीं का कोई आसेब है। पीर को दिखलाना चाहती हूँ, —एक अधेड़ स्त्री ने बड़ी व्याकुलता से कहा।

मैंने पूछा—भाई! मैं तो यह सब कुछ नहीं जानता। वह लड़की कहाँ है?

पड़ाव पर, बाबूजी! आप चलकर देख लीजिए।

....आगे वह कुछ न बोल सकी। किन्तु गुल ने कहा—बाबू! तुम जानते हो वही लैला!

आगे मैंने सुना सका। अपनी ही अन्तर्ध्वनि से मैं व्याकुल हो गया। यही तो होता है, किसी के उजड़ने से ही दूसरा बसता है। यदि यही विधि-विधान है, तो बसने का नाम उजड़ना ही है। यदि रामेश्वर, मालती ओर अपने बाल-बच्चों की चिन्ता छोड़कर लैला को ही देखता तभी...किन्तु वैसा हो कैसे सकता है! मैंने कल्पना की आँखों से देखा, लैला का विवर्ण सुन्दर मुख—निराशा की झुलस से दयनीय मुख!

उन ईरानियों से फिर बात न कर मैं भीतर चला गया और तकिये में अपना मुँह छिपा लिया। पीछे सुना, कलुआ डाँट बताता हुआ कह रहा है—जाओ-जाओ यहाँ बाबाजी नहीं रहते!

मैं लड़कों को पढ़ाने लगा। कितना आश्चर्यजनक भयानक परिवर्तन मुझमें हो गया। उसे देखकर मैं ही विस्मित होता। कलुआ इन्हीं कई महीनों में मेरा एकान्त साथी बन गया। मैंने उसे बार-बार समझाया, किन्तु वह बीच-बीच में मुझसे घर चलने के लिए कह बैठता ही था। मैं हताश हो गया। अब वह जब घर चलने की बात कहता, तो मैं सिर हिलाकर कह देता-अच्छा अभी चलूँगा।

दिन इसी तरह बीतने लगा। बसन्त के आगमन से प्रकृति सिहर उठी। वनस्पतियों की रोमावली पुलकित थी! मैं पीपल के नीचे उदास बैठा हुआ ईषत् शीतल पवन से अपने शरीर में फुरहरी का अनुभव कर रहा था। आकाश की आलोक-माला चन्दा की वीचियों में डुबकियाँ लगा रही थी। निस्तब्ध रात्रि का आगमन बड़ा गम्भीर था।

दूर से एक संगीत की —नहीं, करुण वेदना की तान सुनाई पड़ रही थी। उस भाषा को में नहीं समझता था। मैंने समझा, यह भी कोई छलना होगी। फिर सहसा मैं विचारने लगा कि नियति भयानक वेग से चल रही है। आँधी की तरह उसमें असंख्य प्राणी तृण-तूलिका

के समान इधर-उधर बिखर रहे हैं। कहीं से लाकर किसी को वह मिला ही देती है, और ऊपर से कोई बोझे की वस्तु भी लाद देती है कि वे चिरकाल तक एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। सचमुच! कल्पना प्रत्यक्ष हो चली। दक्षिण का आकाश धूसर हो चला—एक दानव ताराओं को निगलने लगा। पक्षियों का कोलाहल बढ़ा। अन्तरिक्ष व्याकुल हो उठा! वह संगीत की ध्वनि समीप आ रही थी। वज्रनिर्घोष को भेद कर कोई कलेजे से गा रहा था। अन्धकार के साम्राज्य में तृण, लता, वृक्ष सचराचर कम्पित हो रहे थे।

कलुआ की चीत्कार सुनकर भीतर चला गया। उस भीषण कोलाहल में भी वही संगीत-ध्वनि पवन के हिंडोले पर झूल रही थी, मानों पाठशाला के चारों और लिपट रही थी। सहसा एक भीषण अर्राहट हुई। अब मैं टार्च लिये बाहर आ गया।

आँधी रुक गई थी। मैंने देखा कि पीपल की बड़ी-सी डाल फटी पड़ी है और लैला उसके नीचे दबी हुई अपनी भावनाओं की सीमा पार कर चुकी है।

मैं अब भी चन्दा-तट की बौद्ध पाठशाला का अवैतनिक अध्यक्ष हूँ। प्रज्ञासारथि के नाम को कोसता हुआ दिन बिताता हूँ। कोई उपाय नही। वही जैसे मेरे जीवन का केन्द्र है।

आज भी मेरे हृदय में आँधी चला करती है और उसमें लैला का मुख बिजली की तरह कौंधा करता है।

खण्ड चार : निबन्ध

यथार्थवाद और छायावाद

हिंदी के वर्त्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं। साहित्य के पुररुद्धार-काल में श्री हरिचंद्र ने प्राचीन नाट्य-रसानुभूति का महत्त्व फिर से प्रतिष्ठित किया और साहित्य की भाव-धारा को वेदना तथा आनंद में नये ढंग से प्रयुक्त किया। नाटकों में 'चंद्रावली' में प्रेम-रहस्य की उज्ज्वल नीलमणि वाली रस-परंपरा स्पष्ट थी और साथ ही 'सत्य हरिश्चंद्र' में प्राचीन फल-योग की आनंदमयी पूर्णता थी, किंतु 'नीलदेवी' और 'भारत-दुर्दशा' इत्यादि में राष्ट्रीय अभावमयी वेदना भी अभिव्यक्त हुई।

श्री हरिचंद्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरंभ किया था। 'प्रेम-योगिनी' हिंदी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमसरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी का समझता हूँ। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय प्रारंभ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। अव्यवस्था वाले युग में देव-व्यज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ। 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाला सिद्धांत कुछ निर्बल हो चला। इसी का फल है कि पिछले काल में सुधारक कृष्ण, राधा तथा रामचंद्र का चित्रण वर्त्तमान युग के अनुकूल हुआ। यद्यपि हिंदी में पौराणिक युग की भी पुनरावृत्ति हुई और साहित्य की समृद्धि के लिए उत्सुक लेखकों ने नवीन आदर्शों से भी उसे सजाना आरंभ किया, किंतु श्री हरिश्चंद्र का आरंभ किया हुआ यथार्थावाद भी पल्लवित होता रहा।

यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है कि साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। भारत के तरुण आर्य्य-संघ में सांस्कृतिक नवीनता का आंदोलन करनेवाला दल उपस्थित हो गया था। वह पौराणिक युग के पुरुषों के चरित्र को अपनी क्षुद्रता तथा मानवता में विश्वास होना, संकीर्ण संस्कारों के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक था। इस रुचि के प्रत्यावर्त्तन को श्री हरिचंद्र की युगवाणी में प्रकट होने का अवसर मिला। इसका सूत्रपात उसी दिन हुआ जब गवर्नमेंट से प्रेरित राजा शिवप्रसाद ने सरकारी ढंग की भाषा का समर्थन किया और भारतेंदु जी को उनका विरोध करना पड़ा। उन्हीं दिनों हिंदी और बँगला के महाकवियों में परिचय भी हुआ। श्री हरिचंद्र और श्री हेमचंद्र ने हिंदी और बँगला में आदान-प्रदान किया। हेमचंद्र ने बहुत-सी हिंदी की

प्राचीन कविताओं का अनुवाद किया और हरिश्चंद्र ने 'विद्या-सुंदर' आदि का अनुवाद किया।

जाति में जो धार्मिक और सांप्रदायिक परिवर्त्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है। फलतः आरंभिक साहसपूर्ण और विचित्रता से भरी आख्यायिकाओं के स्थान पर –जिनकी घटनाएँ राजकुमारों से ही संबद्ध होती थीं—मनुष्य के वास्तिक जीवन का साधारण चित्रण आरंभ होता है। भारत के लिए उस समय दोनों ही वारतविक थे–यहाँ के दरिद्र जन-साधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किंतु जन-साधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलतः उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेकदंभपूर्ण आंडबरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्त्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।

आरंभ में जिस आधार पर साहित्यिक न्याय की स्थापना होती है–जिसमें राम की तरह आचरण करने के लिए कहा जाता है, रावण की तरह नहीं–उसमें रावण की पराजय निश्चित है। साहित्य में ऐसे प्रतिद्वंद्वी पात्र का पतन आदर्शवाद के स्तंभ में किया जाता है, परंतु यथार्थवादियों के यहाँ कदाचित् यह भी माना जाता है कि मनुष्य में दुर्बलताएँ होती ही हैं। और, वास्तविक चित्रों में पतन का भी उल्लेख आवश्यक है। और फिर पतन के मुख्य कारण क्षुद्रता और निंदनीयता भी–जो सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा निर्धारित रहती हैं–अपनी सत्ता बनाकर दूसरे रूप में अवतरित होती हैं। वास्तव में कर्म, जिनके संबंध में देश, काल और पात्र के अनुसार कहा जा सकता है कि वे संपूर्ण रूप से न तो भले हैं और न बुरे हैं, कभी समाज के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, कभी त्याज्य होते हैं। दुरुपयोग से माननता के प्रतिकूल होने पर अपराध कहे जाने वाले कर्मों से जिस युग के लेखक समझौता कराने का प्रयत्न करते हैं, वे ऐसे कर्मों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। व्यक्ति की दुर्बलता के कारण की खोज में व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों को पकड़ा जाता है। और इस विषमता को ढूँढ़ने पर वेदना ही प्रमुख होकर सामने आती है। साहित्यिक न्याय की व्यावहारिकता में वह संदिग्ध होता है। तथ्यवादी पतन और स्खलन का भी मूल्य जानता है। और वह मूल्य है–स्त्री नारी है और पुरुष नर है–इनका परस्पर केवल यही संबंध है।

वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धांत बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का

प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरंभ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्मनिरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है। और, यह सब व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के संबंध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख होकर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब संबंधों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब इन्हीं सामाजिक बंधनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इस बंधनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगता है। यथार्थवाद क्षुद्रों का ही नहीं, अपितु महानों का भी है। वस्तुतः यथार्थवाद का मूल भाव है—वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृति आवश्यक हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं—साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है। और, यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थावाद इतिहास की सपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था, किंतु साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र है। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समय की वास्तविक न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र है। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य, समय की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है; इसीलिए अरात्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, इसीलिए असत्य अघटित घटना पर कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य-पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्वमंगल की भावना ओत-प्रोत रहती है।

सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखलाई पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमांतों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म-अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिंदी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य-साहित्य ही बना।

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेशो की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना[१], के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब

१. बोध की बहिरंग-प्रत्यंतभूमि वेदना (Awareness) अपनी स्वभाव-निरपेक्षता में शून्यपदा है—आकाशवाची 'ख' मात्र है। 'सु' और 'दु' के उपसर्ग-योग उसके अनुकूल वेदनीयत्व (सु + ख) एवं प्रतिकूल वेदनीयत्व (दु + ख) के द्योतन करते हैं। किंतु व्यवहारतः —जो समाज की दशा और प्रतिक्रिया के योगफल की व्यंजना है—शब्दों के वर्त्तमान अर्थबोध प्राचीनों से सर्वथा भिन्न हैं। सुतराम् सामाजिक दुखातिशयता-वश व्यवहार में आज वेदना से दुख का ही तात्पर्य रूढ़ हो उठा है। वस्तुतः वेदना के उभय बाहु सुखावेदना और दुखावेदना है। (सं०)

हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परंपरा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यंतर सूक्ष्म भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करते सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। भवभूति के शब्दों के अनुसार—

व्यतिषजति पदार्थानांतरः कोपि हेतुः।
न खलु बहिरुपाधीन प्रीतयः संश्रयंते।।

बाह्य उपाधि से हटकर आंतरहेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिंदी में पहले वे कम समझे जाते थे; किंतु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है—'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।'

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतंत्र लावण्य रखता है। इसके लिए प्राचीनों ने कहा—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवांतरा
प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है, वैसी ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। कुंतक ने वक्रोक्ति-जीवित में कहा है—

प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता
शब्दाभिधेययोरंतः स्फुरतीव विभाव्यते।

शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध-भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। '(शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थनम्—लोचन, २०८)' कुंतक के मत में ऐसी भणिति 'शास्त्रादिप्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबंधव्यतिरेकी' होती है। यह रम्यच्छा-यांतरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबंध तक होती है। कुंतक के शब्दों में यह 'उज्ज्वला छायातिशयरमणीयता' (१३३) वक्रता की उद्भासिनी है।

परस्परस्य शोभायै बहवः पतिताः क्वचित् ।
प्रकारा जनयन्त्येतां चित्रच्छायामनोहराम्।।३४।।–वक्रोक्तिजीवित २ उन्मेष।

कभी-कभी स्वानुभव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुंदर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता हैं–वे आँखें कुछ कहती हैं।' अथवा–

निद्रानि-मीलितदृशो मदमंथराया
नाप्यर्थवंति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे वरतनोर्मधुरणि तस्या–
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनंति।।

किंतु ध्वनिकार ने इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुंदरता से किया।

यस्त्वलक्ष्यक्रमो व्यंग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च सप्रबंधेपि दीप्यते।। ध्वन्यालोक, ६३-२

यह ध्वनि प्रबंध, वाक्य, पद, और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। आनंदवर्धन के शब्दों में–

मुख्या महाकवि गिराममलंकृति भृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषाभूषा लज्जेव योषिता।। –ध्वन्यालोक ३-३७

कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है, वह नहीं हैं, किंतु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री की बहिन ही है –घूँघटवाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है। अभिनवगुप्त ने लोचन में एक स्थान पर लिखा है–परां दुर्लभा छायां आत्मरूपतां यांति।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किंतु आंतर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आंतर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था। 'निरहंकार मृगांक, पृथ्वी गतयौवना, संवेदनमिवाम्बरं,' मेघ के लिए 'जनपदबधूलोचनैःपीयमानः' या कामदेव के कुसुम-शर के लिए 'विश्वसनीयमायुधं' ये सब प्रयोग बाह्य सादृश्य से अधिक आंतर सादृश्य को प्रकट करनेवाले हैं। और भी–'आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमम्मि, मधुनक्तमुतोषसि मधुमत् पार्थिवं रजः' इत्यादि श्रुतियों में इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ बहुत मिलती हैं। प्राचीनों ने भी प्रकृति की चिर-निःशब्दता का अनुभव किया था–

शुचिशीतलचंद्रिकाप्लुताश्चिरनिशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि तस्याप्यथ हेतुतां ययुः।।

इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक है। कदाचित ऐसे प्रयोगों के आधार पर जिन अलंकारों का निर्माण होता था, उन्हीं के लिए आनंदवर्धन ने कहा है–'तेऽलंकाराः परां छायां यांति ध्वन्यंगतां गताः' (ध्वन्यालोक, २-२८)।

प्राचीन साहित्य में छायावाद अपना स्थान बना चुका हैं। हिंदी में जब इस तरह के प्रयोग आरंभ हुए, तो कुछ लोग चौंके सही, परंतु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यंत आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रवृत्ति आंतर की ओर चल पड़ी थी।

जब 'वहति विकलं कायो न मुञ्चति चेत नाम् ' की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ में बाँध देती है, तब वह आत्मस्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आंतर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है–उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिंदी ने आरंभ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया। कुंतक के शब्दों में 'अतिक्रांत-प्रसिद्धव्यवहारसरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति से पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विश्रृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परंतु सिद्धांत में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-मात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किंतु प्रकृति से संबंध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया _ भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श कर के भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति–छाया कांतिमयी होती है।

रंगमंच

भरत के नाट्य-शास्त्र में रंगशाला के निर्माण के संबंध में विस्तृत रूप से बताया गया है। जिस ढंग के नाट्य-मंदिरों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में मिलता है, उससे जान पड़ता है कि पर्वतों की गुफाओं में खोदकर बनाये जानेवाले मंदिरों के ढंग पर ही नगर की रंगशालाएँ बनती थीं।

'कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्यमंडपः' से यह कहा जा सकता है कि नाट्य-मंदिर दो खंड के बनते थे, और वे प्रायः इस तरह के बनाये जाते थे, जिससे उनका प्रदर्शन विमान का-सा हो। शिल्प-संबंधी शास्त्रों में प्रायः द्विभूमिक, दोखंडे या तीन-खंडे प्रासादों को, जो कि स्तंभों के आधार पर अनेक आकारों के बनते थे, विमान कहते हैं। यहाँ 'द्विभूमिः से ऐसा भी अर्थ लगाया जा सकता है कि एक भाग दर्शकों के लिए और दूसरा भाग अभिनय के लिए बनता था। किंतु खुले हुए स्थानों में अभिनय करने के लिए जो काठ के रंगमंच रामलीला में विमान के नाम से व्यवहार में ले आये जाते हैं, उनकी ओर संकेत करना मैं आवश्यक समझता हूँ। रंगशाला में शिल्प का या वस्तु-निर्माण का प्रयोग किस तरह होता था, यह बताना सरल नहीं, तो भी नाट्य-मंडप तीन तरह के होते थे–विकृष्ट, चतुरस्र और व्यस्य। विकृष्ट नाट्य-मंडप की चौड़ाई से लंबाई दूनी होती थी। उस भूमि के दो भाग किये जाते थे। पिछले आधे के फिर दो भाग होते थे। आधे में रंगशीर्ष और रंगपीठ और आधे में पीछे नेपथ्यगृह बनाया जाता था।

> पृष्ठतो यो भवेत् भागो द्विधा भूतो भावेत् च सः
> तस्यार्धेन विभागेन रंगशीर्षम् प्रयोजयेत्।
> पश्चिम तु पुनर्भागे नेपथ्यगृहमादिशेत्। (नाट्य शास्त्र, २ अ०)

आगे के बड़े आगे भाग में बैठने के लिए, जिससे दर्शकों को रंगशाला का अभिनय अच्छी तरह दिखलाई पड़े, ऐसा—सोपान की आकृति का–बैठक बनाया जाता था। कदाचित वह आज की 'गैलरी' की तरह होता था।

> स्तम्भानाम् बाह्यतः स्थाप्यम् सोपानाकृतिपीठकम्।
> इष्टका दारुभिः कार्यम् प्रेक्षकाणाम् निवेशनम्।।

ईंटों और लकड़ियों से ये सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची बनाई जाती थीं। इसी प्रसंग में मत्तवारणी का भी उल्लेख है। अभिनवगुप्त के समय में भी मत्तवारणी का स्थान निर्दिष्ट करने में संदेह और मतभेद हो गया था। नाट्य-शास्त्र में लिखा है–

> रंगपीठस्य पार्श्वे तु कर्त्तव्या मत्तवारणी।
> चतुःस्तंभासमायक्ता रंगपीठप्रमाणतः।।
> अध्यर्धहस्तोत्स्येधे न कर्त्तव्या मत्तवारणी।

मत्तवारणी के कई तरह के अर्थ लगाये गये हैं। अभिनव-भारती में मत्तवारणी के संबंध में किसी का यह मत भी संग्रह किया गया है कि वह देवमंदिर की प्रदक्षिणा की तरह

रंगशाला के चारों ओर बनाई जाती थी। 'मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीय भित्तिनिवेशन देवप्रासादाट्टालिका प्रदक्षिणासदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये, उपरि मंड-पांतर निवेशनादित्यपरे' ; किंतु मेरी समझ में यह मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर केवल एक ही ओर चार खंभों से रुकावट के लिए बनाई जाती थी। मत्तवारणी शब्द से भी यही अर्थ निकलता है कि वह मतवालों को वारण करे। यह डेढ़ हाथ ऊँची रंगपीठ के अगले भाग में लगा दी जाती थी।

रंगमंच में भी दो भाग होते थे। पिछले भाग को रंग-शीर्ष कहते थे और सबसे आगे का भाग रंगपीठ कहा जाता था। इन दोनों के बीच में जवनिका रहती थी। अभिनवगुप्त कहते है— यत्र जवनिका रंगपीठतच्छिरसोर्मध्ये। रंगमंच की इस योजना से जान पड़ता है कि अपटी तिरस्करिणी और प्रतिसीरा आदि जो पटों के भेद हैं, वे जवनिका के भीतर के होते थे। रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर के दो द्वार होते थे। रंगशीर्ष यंत्र-जाल, गवाक्ष, शालभंजिका आदि काठ की बनी नाना प्रकार की आकृतियों से सुशोभित होता था, जो दृश्योपयोगी होते थे। संभवतः यही मुख्य अभिनय का स्थान होता था।

पिंडीबंध आदि नृत्य-अभिनय के साधारण अंश, चेटी आदि के द्वारा प्रवेशक की सूचना, प्रस्तावना आदि जवनिका के बाहर ही रंगपीठ पर होते थे। रंगपूजा रंगशीर्ष पर जवनिका के भीतर होती थी। सरगुजा के गुहा-मंदिर की नाट्यशाला दो हज़ार वर्ष की मानी जाती है। कहा जाता है कि भोज ने भी कोई ऐसी रंगशाला बनवाई थी, जिसमें पत्थरों पर संपूर्ण शाकुंतल नाटक उत्कीर्ण था। आधुनिक रामलीला के अभिनयों में प्रचलित विमान यह प्रमाणित करते हैं कि भारत में दोनों तरह के रंगमंच होते थे। एक तो वे, जिनके बड़े-बड़े नाट्य-मंदिर बने थे और दूसरे चलते हुए रंगमंच, जो काठ के विमानों से बनाये जाते थे और चतुष्पथ तथा अन्य प्रशस्त खुले स्थानों में आवश्यकतानुसार घुमा-फिरा कर अभिनयोपयोगी कर लिए जाते थे।

नाट्य-मंदिरों के भीतर स्त्रियों और पुरुषों के सुंदर चित्र भीत पर लिखे जाते थे और उसमें स्थान-स्थान पर वातायनों का भी समावेश रहता था। नाट्य मंडप में कक्षाएँ बनाई जातीं थीं, जिनमें अभिनय के दर्शनीय गृह, नगर, उद्यान, जंगल, पर्वत और समुद्र का दृश्य बनाया जाता था। आधुनिक काल के रंगमंचों से कुछ भिन्न उनकी योजना अवश्य होती थी, किंतु—

> कक्ष्याविभागे ज्ञेयानि गृहाणि नगराणि च
> उद्यानारामसहितो देशो ग्रामोऽटवी तथा।(नाट्यशास्त्र १४ अ०)

इत्यादि से यह मालूम होता है कि दृश्यों का विभाग करके नाट्य-मंडप के भीतर उनकी इस तरह से योजना की जाती थी कि उनमें सब तरह के स्थानों का दृश्य दिखलाया जा सकता था, और जिस स्थान की वार्त्ता होती थी, उसका दृश्य भिन्न कक्ष्या में दिखाने का प्रबंध किया जाता था। स्थान की दूरी इत्यादि का भी संकेत कक्ष्याओं में उनकी दूरी से किया जाता था।

बाह्यम् वा मध्यमम् वापि तथैवाभ्यंतरम् पुनः
दूरम् वा सन्निकृष्टम् वा देशाश्च परिकल्पयेत।
यत्र वार्त्ता प्रवत्तेत तत्र कक्ष्याम् प्रवर्त्तते।।

रंगमंच में आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के भी दृश्य दिखलाये जाते थे। यदि मृच्छकटिक और शाकुंतल तथा विक्रमोर्वशी नाटक खेलने ही के लिए बने थे, जैसा कि उनकी प्रस्तावनाओं से प्रतीत होता है, तो यह मानना पड़ेगा कि रंगमंच इतना पूर्ण और विस्तृत होता था कि उसमें बैलों से जुते हुए रथ और घोड़ों के रथ तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराएँ दिखलाई जा सकती थी। इन दृश्यों के दिखलाने में मोम, मिट्टी, तृण, लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, वस्त्र और बाँस के फंठों से काम लिया जाता था।

प्रतिपादौ प्रतिशिरः प्रतिहस्तौ प्रतित्वचम्
तृणजैः कीलजैर्माण्डैः सरूपाणीह कारयेत्।
यद्यस्य यादृश रूपं सारूप्यगुणसंभवम्
मृण्मयं गात्रकृत्स्नं तु नाना रूपास्तु कारयेत्।
भांडवस्त्रमधूच्छिष्टैः लाक्षयाभ्रदलेन च
नगास्तु विविधा कार्याः चमत्रर्मध्वजास्तथा। (नाट्यशास्त्र, २४ अ०)

ऊपर के उद्धरणों से जान पड़ता है कि सरूप अर्थात् मुखौटों का भी प्रयोग दैत्य-दानवों के अंगों की विचित्रता के लिए होता था। कृत्रिम हाथ और पैर तथा मुखौटे मिट्टी, मोम, लाख और अभ्रक के पत्रों से बनाये जाते थे।

कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में 'यवनिका' यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गयी है, किंतु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप से व्यवहृत 'जवनिका' भी मिला। अमरकोष में–प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करिणी च सा; तथा हलायुध में–अपटी कांडपटः स्यात् प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी। इसमें 'य' से नहीं किंतु 'ज' से ही जवनिका का उल्लेख है।

जवनिका से शीघ्रता का द्योतन होता है। जव का अर्थ वेग और त्वरा से है तब। जवनिका उस पट को कहते हैं, जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके। कांड पट भी एक इसी तरह का अर्थ ध्वनित करता है, जिसमें पट अर्थात् वस्त्र के साथ कांड अर्थात् डंडे का संयोग हो। प्रतिसीरा और तिरस्करिणी भी साभिप्राय शब्द मालूम होते हैं। प्रतिसीरा तो नहीं, किन्तु तिरस्करिणी का प्रयोग विक्रमोर्वशी में एक जगह आता है। द्वितीय अंक में जब राजा प्रमोद-वन में आते हैं, तो वहीं पर आकाश मार्ग में उर्वशी और चित्रलेखा का भी आगमन होता है। उर्वशी चित्रलेखा से कहता है–'प्रतिच्छना पार्श्ववर्त्तिनी भूत्वा श्रोष्ये तावत्।' और फिर आगे चलकर उसी अंक में–'तिरस्करिणीम् अपनीय'– तिरस्करिणी को हटाकर प्रकट होती है। प्रतिसीरा का भी प्रयोग संभव है खोजने से मिल जाय; किंतु अपटी शब्द अत्यंत संदेहजनक है। मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशी के आदि में 'ततः प्रविशत्यपटी-क्षेपेण' कई स्थानों पर मिलता है। विक्रमोर्वशी के टीकाकार रंगनाथ ने कहा है– 'यतः नासूचितस्य पात्रस्य प्रवेशो नाटके मतः' इतिनाटकसमयप्रसिद्धेर्यत्रासूचित पात्र प्रवेशस्तत्राकस्मिक

प्रवेशेऽ पटीक्षेपेणेति वचन युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनांते सूचितानामेवाप्सरसां प्रवेश इति। केचित्पुनः– न पटीक्षेपोऽटीक्षेपे इति विग्रहं विधाय पटीक्षेप विनैव प्रविशंतीति समर्थयंते तदप्यापाद्य कुचोद्यमात्रमित्यास्तां तावत्।" (विक्रमोर्वशी–प्रथम अंक)

इससे जान पड़ता है कि प्रवेशक की सूचना अत्यंत आवश्यक होती थी और यह कार्य अंकों के आरंम्भ में चेटी, दासी या अन्य ऐसे ही पात्रों के द्वारा सूचित किया जाता था। उसके बाद अभिनय के वास्तविक पात्र रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। विक्रमोर्वशी की प्रस्तावना में ही अप्सराओं की पुकार सुनाई पड़ती है और सूत्रधार रंगमंच से प्रस्थान कर जाता है और अप्सराएँ प्रवेश करती हैं। किंतु ऐसी प्रतीत होता है कि पटी अभी तक उठी नहीं है और अप्सराओं का प्रवेश हो गया है। रंगमंच के उसी अगले भाग पर वे आ गई हैं, जहाँ कि सूत्रधार ने प्रस्तावना की है। इसके बाद अपटीक्षेप होता है अर्थात् पर्दा उठता है तब पुरुरवा का प्रवेश होता है और सामने हेमकूट का भी दृश्य दिखाई पड़ता है। संभवतः अपटीक्षेप उन स्थानों पर किया जाता था, जहाँ सहसा पात्र उपस्थित होता था। उसी अंक में अन्य पात्रों के द्वारा कथावस्तु के अन्य विभाग का अभिनय करने में अपटीक्षेप का प्रयोग होता था। यह निश्चय है कि कालिदास और शूद्रक इत्यादि प्राचीन नाटककार रंगमंच के पटीक्षेप से परिचित थे और दृश्यांतर (ट्रांस्फ़र सीन) उपस्थित करने में उनका प्रयोग भी करते थे। यद्यपि वे प्राचीन रंगमंच आधुनिक ढंग से पूर्ण रूप से विकसित नहीं थें, फिर भी रंगमंचों के अनुकूल कक्ष्या-विभाग और उनमें दृश्यों के लिए शैल, विमान और यान तथा कृत्रिम प्रासाद-यंत्र और पटों का उपयोग होता था।

नाट्य-मंदिर में नर्त्तकियों का विशेष प्रबंध रहता था। जान पड़ता है कि रेचक, अंगहार, करण और चारियों के साथ पिंडी-बंध अथवा सामूहिक नृत्य का आयोजन रंगमंच में होता था। अति प्राचीन काल में भारतवर्ष के रंगमंच में स्त्रियाँ नाटकों को सफल बनाने के लिए आवश्यक समझी गयीं। केवल पुरुषों के द्वारा अभिनय असफल होने लगे, तब रंगोपजीवना अप्सराएँ रंगमंच पर आयीं। कहा गया है–

> कौशिकीश्लक्षणनेपथ्या शृंगाररससंभवा।
> अशक्याः पुरुषैसातु प्रयोक्तुम स्त्रीजनादृते।
> ततोसृजन्महातेजा मनसाप्सरसो विभुः।

रंगमंच पर काम करनेवाली स्त्रियों को अप्सरा, रंगोपजीवना इत्यादि कहते थे। मालविकाग्निमित्र में स्त्रियों के अभिनय की शिक्षा देनेवाले आचार्यों का भी उल्लेख है, उनका मत है कि पुरुष और स्त्री के स्वभावानुसार अभिनय उचित है; क्योंकि 'स्त्रीणां स्वभावमधुरः कंठो नृणां बलत्वंच'— स्त्रियों का कंठ स्वभाव से ही मधुर होता है, पुरुष में बल है; इसलिए रंगमंच पर गान स्त्रियाँ करें; पुरुष का गाना रंगमंच पर उतना शोभन नहीं माना जाता था—एवं स्वभावसिद्धं स्त्रीणां गानं नृणां च पाठ्यविधिः।

सामूहिक पिंडीबंध आदि चित्रनृत्यों का रंगमंच पर अच्छा प्रयोग होता था। पिंडीबंध चार तरह का होता था—पिंडी, शृंखलिका, लताबंध और भेद्यक। कई नर्त्तकियों के द्वारा नृत्य में अंगहारों के साथ परस्पर विचित्र बाहुबंध और संबंध करके अनेक आकार बनाये

जाते थे। अभिनय में रंगमंच पर इनकी भी आवश्यकता होती थी। और पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी रंगमंच-शाला की उच्च कोटि की शिक्षा मिलती थी। नाटकोपयोगी दृश्यों के निर्माण-वस्त्र तथा आयुधों के साथ कृत्रिम केश-मुकुटों और दाढ़ी—इत्यादि का भी उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है। केश-मुकुट भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए कई तरह से बनते थे।

रक्षो दानवदैत्यानां पिककेशकृतानि तु
हरिश्मश्रृणि च तथा मुखशीर्षाणि कारयेत्। (नाट्यशास्त्र, २३-१४३)

कोयल के पंखों से दैत्य-दानवों की दाढ़ी और मूँछ भी बनाई जाती थी। मुकुट अभिनय के लिए भारी न हों, इसलिए अभ्रक और ताम्र के पतले पत्रों से हलके बनाये जाते थे। कंचुक इत्यादि वस्त्रों का भी नाट्य-शास्त्र में विस्तृत वर्णन है। इन वस्तुओं के उपयोग में इस बात का भी विचार किया जाता था कि नाटक के अभिनय में सुविधा हो। नाटक के अभिनय में दो विधान माननीय थे, और उन्हें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी कहते थे। भरत के समय में ही रंगमंचों में स्वाभाविकता पर ध्यान दिया जाने लगा था। रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। इस लोकधर्मी अभिनय में रंगमंच पर ऐसे अभिनय को लोकधर्मी कहते थे। 'इव लोकधर्मी तु नाट्यधर्मी विकारतः' (नाट्यशास्त्र, १३-१९३)

स्वाभाविकता का अधिक ध्यान केवल उपकरणों में ही नहीं; किंतु आंगिक अभिनय में भी अभीष्ट था। उसमें बहुत अंग-लीला वर्जित थी।

अतिसत्व क्रियाएँ असाधारण कर्म, अतिभाषित लोकप्रसिद्ध द्रव्यों का उपयोग अर्थात् शैल, यान और विमान आदि का प्रदर्शन और ललित अंगहार जिसमें प्रयुक्त होते थे—रंगमंच के ऐसे नाटकों को नाट्यधर्मी कहते थे। स्वगत, आकाश-भाषित इत्यादि को तब भी अस्वाभाविक माना जाता था, और उनका प्रयोग नाट्यधर्मी अभिनय में ही रंगमंच पर किया जाता था।

आसन्नोक्तं च यद वाक्यम् न शृण्वंति परस्परम्
अनुक्तं श्रूयते वाक्यम् नाट्यधर्मी तु सा स्मृता।

प्राचीन रंगमंच में स्वगत की योजना, जिसमें कि समीप का उपस्थित व्यक्ति सुनी बात का अनसुनी कर जाता है, नाट्यधर्मी अभिनय के ही अनुकूल होता था; और 'भाण' में आकाश-भाषित का प्रयोग भी नाट्यधर्मी के ही अनुकूल है। व्यंजना-प्रधान अभिनय का भी विकास प्राचीन रंगमंच पर हो गया था। भावपूर्ण अभिनय में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। नाट्यशास्त्र के छब्बीसवें अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन है। पक्षियों का रेचक से, सिंह आदि पशुओं का गतिप्रचार से, भूत-पिशाच और राक्षसों का अंगहार से अभिनय किया जाता था। इस भावाभिनय का पूर्ण स्वरूप अभी भी दक्षिण के कथकलि नृत्य में वर्त्तमान है।

रंगमंच में नटों के गति-प्रचार (मूवमेंट), वस्तु-निवेदन (डिलीवरी) संभाषण (स्पीच) इत्यादि पर भी अधिक सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता था। और इन पर नाट्यशास्त्र में अलग-अलग अध्याय ही लिखे गये हैं। रंगमंच पर जिन कथा का अवतरण किया जाता

था, उसका विभाग भी समय के अनुसार और अभिनय की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए किया जाता था।

ज्ञात्वा दिवसांस्तान्क्षणयाममुहूर्त्तलक्षणोपेतान्।
विभजेत् सर्वमशेषम् पृथक् , पृथक् काव्यमंकेषु।।

प्रायः एक दिन का कार्य एक अंक में पूरा हो जाना चाहिए और यदि न हो सके, तो प्रवेशक और अंकावतार के द्वारा उसकी पूर्ति होनी चाहिए। एक वर्ष से अधिक का समय तो एक अंक में आना नहीं चाहिए। प्रवेशक, अंकावतार और अपटीक्षेप का प्रयोग आजकल की तरह दृश्य या स्थान को प्रधानता देकर नहीं किया जाता था, किंतु वे कथावस्तु के विभाजन-स्वरूप ही होते थे। पाँच अंक नाटक रंगमंच के अनुकूल इसलिए माने जाते थे कि उनमें कथा-वस्तु की पाँचों संधियों का विकास होता था। और कभी-कभी हीन संधि नाटक भी रंगमंच पर अभिनीत होते थे, यद्यपि वे नियम-विरुद्ध माने जाते थे। दूसरी, तीसरी, चौथी संधियों का अर्थात् बीज और कार्य का रहना आवश्यक माना गया है। आरंभ और फलयोग का प्रदर्शन रंगमंच पर आवश्यक माना गया है।

रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जायगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है क्योंकि रसानुभूति के अनंत प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किये जा सकते और रंगमंच ने सुविधानुसार काव्यों के अनुकूल समय-समय पर अपना स्वरूप परिवर्तन किये हैं।

मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व-साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मांध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मंडपों में छोटे-छोटे अभिनय सर्वसाधारण के लिए सुलभ रह गये। उत्तरी भारत में तो औरंगज़ेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाज़ा निकाला जा चुका था; किंतु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं। इनमें मुख्यतः नौटंकी (नाटकी?) और भाँड़ ही थे। रामलीला और यात्राओं का भी नाम लिया जा सकता है। सार्वजनिक रंगमंचों के विनष्ट हो जाने पर यह खुले मैदानों में तथा उत्सवों के अवसर पर खेले जाते थे। रामलीला और यात्रा तो देवता-विषयक अभिनय थे; किंतु नाटकी और भाँड़ों में शुद्ध मानव-संबंधी अभिनय होते थे। मेरा निश्चित विचार है कि भाँड़ों की परिहास की अधिकता संस्कृत-भाण मुकुंदानंद और रससदन आदि की परंपरा में है, और नाटकी या नौटंकी प्राचीन राग-काव्य अथवा गीति-नाट्य की स्मृतियाँ हैं। जैसे रामलीला पाठ्य-काव्य रामायण के आधार पर वैसी ही होती है, जैसा प्राचीन महाभारत और वाल्मीकि के पाठ्यकाव्यों के साथ अभिनय होता था। दक्खिन में अब भी कथकलि अभिनय उस प्रथा को सजीव किये है। प्रवृत्ति वही पुरानी है; परंतु उत्तरी भारत में बाह्यप्रभाव की अधिकता

के कारण इनमें परिवर्त्तन हो गया है और अभिनय की वह बात नहीं रही। हाँ एक बात अवश्य इन लोगों ने की है और वह है चलते-फिरते रंगमंचों की या विमानों की रक्षा।

वर्त्तमान रंगमंच अन्य प्रभावों से अछूता न रह सका, क्योंकि विप्लव और आतंक के कारण प्राचीन विशेषताएँ नष्ट हो चुकी थीं। मुग़ल-दरबारो में जो थोड़ी-सी संगीत-पद्धति तानसेन की परंपरा से बच रही थी, उसमें भी बाह्य प्रभाव का मिश्रण होने लगा था। अभिनयों में केवल भाण ही मुग़ल-दरबार में स्वीकृत हुआ था; वह भी केवल मनोरंजन के लिए।

पारसी व्यवसायियों ने पहले-पहले नये रंगमंच की आयोजना की। भाषा मिश्रित थी—इंद्र-सभा, चित्रा-बकावली, चंद्रावली, हरिश्चंद्र आदि के अभिनय होते थे, अनुकरण था रंगमंच में 'शेक्सपीरियन स्टेज' का; क्योंकि वहाँ भी 'विक्टोरियन' युग की प्रेरणा ने रंगमंच में विशेष परिवर्तन कर लिया था। १९वीं शताब्दी के मध्य में कीथ की सहायता से अंग्रेजी रंगमंच में पुरावृत्त की खोजों के आधार पर शेक्सपीयर के नाटकों के अभिनय की नई योजना हुई, और तभी हेनरी, इर्विंग-सदृश चतुर नट भी आये। किंतु साथ ही सूक्ष्म तथा गंभीर प्रभाव डालनेवाली इब्सन की प्रेरणा भी पश्चिम में स्थान बना रही थी, जो नाटकीय यथार्थवाद का मूल है।

भारतीय रंगमंच पर इस पिछली धारा का प्रभाव पहले-पहले बंगाल पर हुआ। किंतु इन दोनों प्रभावों के बीच में दक्षिण में भारतीय रंगमंच निजी स्वरुप में अपना आस्तित्व रख सका। कथकलि-नृत्य मंदिरों की विशाल संख्याओं में मर नहीं गया था। भावाभिनय अभी होते रहते थे। कदाचित संस्कृत-नाटकों का अभिनय भी चल रहा था, बहुत दबे-दबे। आंध्र ने आचार्यों का द्वारा जिस धार्मिक संस्कृति का पुनरावर्त्तन किया था, उसके परिणाम में संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुद्वार और तत्संबंधी साहित्य और कला की भी पुनरावृत्ति हुई थी। संस्कृत के नाटकों का अभिनय भी उसी का फल था। दक्षिण में वे सब कलाएँ सजीव थीं; उनका उपयोग भी हो रहा था। हाँ, बाली और जावा इत्यादि के मंदिरों में इसी प्रकार के अभिनय अधिक सजीवता से सुरक्षित थे। तीस बरस पहले जब काशी में पारसी रंगमंच की प्रबलता थी, तब भी मैंने किसी दक्षिणी नाटक-मंडली द्वारा संस्कृत मृच्छकटिक का अभिनय देखा था। उसकी भारतीय विशेषता अभी मुझे भूली नहीं है। कदाचित उसका नाम 'ललित-कलादर्शमंडली'[१] था।।

दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी-स्टेज ने पश्चिमी 'ट्यूनों' का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया। उसके इस काम में बंगाल ने साथ भी दिया, किंतु उतने भद्दे ढंग से नहीं। बंगाल ने जितना पश्चिमी ढंग का मिश्रण किया, वह सुरुचि से बहुत आगे बढ़ा। चित्रपटों में सरलता उसने रक्खी; किंतु पारसी स्टेज ने अपना भयानक ढंग बंद नहीं किया। पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है।

---

१. यह लेख १९३६ के अंत में लिखा गया और जुलाई १९३७ में हिंदुस्तानी एकेडेमी की पत्रिका 'हिंदुस्तानी' के भाग ७ अंक ३ में प्रकाशित हुआ है। मृच्छकटिक का वह अभिनय लेखक ने १९०६ में देखा होगा। (सं०)

वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो; किंतु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिये–कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भँड़ैती से ही काम चल जायगा।

हिंदी के कुछ अकाल-पक्व आलोचक, जिनका पारसी स्टेज से पिंड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद! अभी वे इतने भी सहनशील नहीं कि फूहड़ परिहास के बदले— जिससे वह दर्शकों को उलझा लेता है—तीन-चार मिनट के लिए काला परदा खींचकर दृश्यांतर बना लेने का अवसर रंगमंच को दें। हिंदी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था, तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्त्तमान सिनेमा में बोलनेवाले चित्रपटों का अभ्युदय हो गया और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं-सा हो गया। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का संपूर्ण अवसर मिल गया है। उन पर भी पारसी स्टेज की गहरी छाप है। हाँ, पारसी स्टेज के आरंभिक विनय-सूत्रों में एक यह भी था कि वे लोग प्राचीन इंगलैंड के रंगमंचों की तरह स्त्रियों का सहयोग नहीं पसंद करते थे। अठारहवीं शताब्दी में धीरे-धीरे स्त्रियाँ रंगमंच पर इंगलैंड में आईं; किंतु सिनेमा ने स्त्रियों को, रंगमंच पर अबाध अधिकार दिया। बालकों को स्त्री-पात्र के अभिनय की अवांछनीय प्रणाली से छुटकारा मिला; किंतु रंगमंचों की असफलता का प्रधान कारण है स्त्रियों का उनमें अभाव; विशेषतः हिंदी-रंगमंच के लिए। बहुत-से नाटक मंडलियों द्वारा इसलिए नहीं खेले जाते कि उनके पास स्त्री-पात्र नहीं हैं, रंगमंच की तो अकाल मृत्यु हिंदी में दिखाई पड़ रही है। कुछ मंडलियाँ कभी-कभी साल में एकाध बार वार्षिकोत्सव मनाने के अवसर पर कोई अभिनय कर लेती है। पुकार होती है आलोचकों की, हिंदी में नाटकों के अभाव की। रंगमंच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता। क्योंकि दोषदर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा कीथ ने किया था। युग के पीछे हम चलने का स्वांग भरते हैं, हिंदी में नाटकों का यथार्थ अभिनीत देखना चाहते हैं और यह नहीं देखते—कि पश्चिम में अब भी प्राचीन नाटकों का फिर से सवाक् चित्र बनाने के लिए प्रयत्न होता रहता है। ऐतिहासिक नाटकों के सवाक्-चित्र बनाने के लिए उन ऐतिहासिक व्यक्तियों की स्वरूपता के लिए टनों मेकअप का मसाला एक-एक पात्र पर लग जाता है। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत नवीनतम की खोज में इब्सनिज़्म का भूत वास्तविकता का भ्रम दिखाता है। समय का दीर्घ अतिक्रमण करके जैसा पश्चिम में नाट्यकला में अपनी सब वस्तुओं को स्थान दिया है, वैसा क्रम विकास कैसा किया जा सकता है यदि हम पश्चिम के 'आज' को ही सब जगह खोजते रहेंगे? और यह भी विचारणीय है कि क्या हम लोगों का सोचने का, निरीक्षण का दृष्टिकोण सत्य और वास्तविक है? अनुकरण में फैशन की तरह बदलते रहना साहित्य में ठोस अपनी वस्तु का निमंत्रण नहीं करता। वर्त्तमान और प्रतिक्षण का वर्त्तमान सदैव दूषित रहता है, भविष्य के सुंदर निर्माण के लिए। कलाओं का अकेले प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटक के लिए तो ऐसी जल्दबाजी बहुत ही अवांछनीय है। यह रस की भावना से अस्पृष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य की यथार्थवादिता ही का आकर्षण है, जो नाटक के संबंध में

विचार करनेवालों को उद्विग्न कर रहा है। प्रगतिशील विश्व है; किंतु अधिक उछलने में पदस्खलन का भी भय है। साहित्य में युग की प्रेरणा भी आदरणीय है, किंतु इतना ही अलम् नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि कला को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए हमको वर्त्तमान सभ्यता का—जो सर्वोत्तम है—अनुसरण करना चाहिए तो हमारा दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण हो जाता है। अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखने चाहिए। जिस तरह हम वास्तविक या प्राचीन शब्दों मे लोकधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाटयधर्मी अभिनय की आवश्यकता समझते हैं, ठीक उसी प्रकार से नाट्यधर्मी अभिनय को भी देश, काल, पात्र के अनुसार रंगमंच में संगृहीत रहना चाहिए। पश्चिम ने भी अपना सब कुछ छोड़कर 'नये' को नहीं पाया है।

श्री भारतेंदु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देखकर जिस हिंदी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी, उसमें इन सबका समन्वय था। उस पर सत्य-हरिचंद्र मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशी, प्रेमयोगिनी सबका सहयोग था। हिंदी-रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नयी पश्चिमीय प्रेरणाएँ हमारी पथ-प्रदर्शिका न बन जायँ। हाँ, इन सब साधनों से जो वर्त्तमान विज्ञान द्वारा उपलब्ध हैं, हमको वंचित भी न होना चाहिए। आलोचकों का कहना है कि "वर्तमान युग की रंगमंच की प्रवृत्ति के अनुसार भाषा सरल हो और वास्तविक हो।" वास्तविकता का प्रच्छन्न अर्थ इब्सनिज्म के आधार पर कुछ और भी है। वे छिपकर कहते हैं—हमको अपराधियों से घृणा नहीं, सहानुभूति रखनी चाहिए इसका उपयोग चरित्र-चित्रण में वैचित्र्य के समर्थन में भी किया जाता है। रंगमंच पर ऐसे वस्तु-विन्यास समस्या बनकर रह जायेंगे। प्रभाव का असंबद्ध स्पष्टीकरण भाषा की क्लिष्टता से भी भयानक है। रेडियो ड्रामा के संवाद भी लिखे जाने लगे हैं, जिनमें दृश्यों का संपूर्ण लोप है। दृश्य वस्तु श्रव्य बनकर संवाद में आती है; किन्तु साहित्य में एक प्रकार के एकांकी नाटक भी लिखने का प्रयास हो रहा है। वे यही समझकर तो लिखे जाते हैं कि उनका अभिनय सुगम है। किंतु उनका अभिनय होता कहाँ है? यह पाठ्य छोटी कहानियों का ही प्रतिरूप नाट्य है। दृश्यों की योजना साधारण होने पर भी खिड़की के टूटे हुए काँच, फटा परदा और कमरे के कोने में मकड़ी का जाला दृश्यों में प्रमुख होते हैं—वास्तविकता के समर्थन में।

भाषा की सरलता की पुकार भी कुछ ऐसी है। दर्शकों और सामाजिकों का अभाव नहीं; किंतु प्रचुरता है, जो पारसी स्टेज पर गायी गयी ग़ज़लों के शब्दार्थों से अपरिचित रहने पर भी तीन बार तालियाँ पीटते हैं। क्या हम नहीं देखते कि बिना भाषा के अबोल-चित्रपटों के अभिनय में भाव सहज ही समझ में आते हैं और कथकलि के भावाभिनय भी शब्दों की व्याख्या ही है? अभिनय तो सुरुचिपूर्ण शब्दों को समझाने का काम रंगमंच से अच्छी तरह करता है। एक मत यह भी है कि भाषा स्वाभाविकता के अनुसार पात्रों की अपनी होनी चाहिए और इस तरह कुछ देहाती पात्रों से उनकी अपनी भाषा का प्रयोग कराया जाता है। मध्यकालीन भारत में जिस प्राकृत का संस्कृत से सम्मेलन रंगमंच पर कराया गया था, वह

बहुत कुछ परिमार्जित और कृत्रिम-सी थी। सीता इत्यादि भी संस्कृत बोलने में असमर्थ समझी जाती थीं! वर्तमान युग की भाषा-संबंधी प्रेरणा भी कुछ-कुछ वैसी ही है? किंतु आज यदि कोई मुग़लकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुग़लों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। फिर राजपूतों की राजस्थानी भाषा भी आनी चाहिए। यदि अन्य असभ्य पात्र है, तो उनकी जंगली भाषा भी रहनी चाहिए। और इतने पर भी क्यों वह नाटक हिंदी का ही रह जायेगा? वह विपत्ति कदाचित हिंदी नाटकों के लिए ही है।

मैं तो कहूँगा कि सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किंतु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट कर के कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिंदी-नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है। देश-काल की प्रवृत्तियों का समुचित अध्ययन भी आवश्यक है। फिर तो पात्र रंगमंच पर अपना कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। इन सबके सहयोग से ही हिंदी-रंगमंच का अभ्युत्थान संभव है।

काव्य और कला

हिंदी में साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण बदला हुआ-सा दिखाई पड़ता है। प्राचीन भारतीय साहित्य के आलोचकों की विचारधारा जिस क्षेत्र में काम कर रही थी, वह वर्त्तमान आलोचनाओं के क्षेत्र से कुछ भिन्न था। इस युग की ज्ञान-संबंधिनी अनुभूति में भारतीयों के हृदय पर पश्चिम की विवेचन शैली का व्यापक प्रभुत्व क्रियात्मक रूप में दिखाई देने लगा है; किंतु साथ-ही-साथ ऐसी विवेचनाओं में प्रतिक्रिया के रूप में भारतीयता की भी दुहाई सुनी जाती है, परिणाम में मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है। काव्य की विवेचना में प्रथम विचारणीय विषय उसका वर्गीकरण कला के अंतर्गत किया जाने लगा है। यह वर्गीकरण परंपरागत विवेचनात्मक जर्मन दार्शनिक शैली का वह विकास है, जो पश्चिम में ग्रीस की विचारधारा और उसके अनुकूल सौंदर्य-बोध के सतत् अभ्यास से हुआ है। यहाँ उसकी परीक्षा करने के पहले यह देखना आवश्यक है कि इस विचार-धारा और सौंदर्य-बोध का कोई भारतीय मौलिक उद्‌गम है या नहीं।

यह मानते हुए कि ज्ञान सौंदर्य-बोध विश्वव्यापी वस्तु हैं, इनके केंद्र देश, काल और परिस्थितियों से तथा प्रधानतः संस्कृति के कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं। खगोलवर्त्ती ज्योति-केंद्रों की तरह आलोक के लिए इनका परस्पर संबंध हो सकता है। वही आलोक शुक्र की उज्ज्वलता और शनि की नीलिमा में सौंदर्य-बोध के लिए अपनी अलग-अलग सत्ता बना लेता है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होनेवाले सौंदर्य-संबंधी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौंदर्य-अनुभूति की तुला बन जाती है, इसी से हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसी के द्वारा हम अपने रहन-सहन, अपनी अभिव्यक्ति का सामूहिक रूप से संस्कृत रूप में प्रदर्शन कर सकते है। यह संस्कृति विश्ववाद की विरोधिनी नहीं; क्योंकि इसका उपयोग तो मानव-समाज में, आरंभिक प्राणित्व-धर्म में सीमित मनोभावों को सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनाने के लिए होता है। सांस्कृतिक-मंदिर, गिरजा और मसजिद विहीन प्रांतों में अंतःप्रतिष्ठित होकर सौंदर्य-बोध की बाह्य सत्ताओं का सृजन करती है। संस्कृति का सामूहिक चेतनता से, मानसिक शील और शिष्टाचारों से, मनोभावों से मौलिक संबंध है। धर्मों पर भी इसका चमत्कारपूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। ईरानी ख़लीफ़ाओं के ही कला और विद्या-प्रेम तथा सौंदर्यानुभूति ने—जो उनकी मौलिक संस्कृति द्वारा उनमें विद्यमान थी—मरुभूमि के एकेश्वरवाद को सौंदर्य से सजा कर स्पेन और ईजिप्ट तक उसका प्रचार किया, जिससे वर्त्तमान यूरोपीय सौंदर्य-बोध अपने को अछूता न रख सका। संस्कृति सौंदर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।

इसलिए साहित्य के विवेचन में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौंदर्य्यानुभूति की खोज अप्रासंगिक नहीं, किंतु आवश्यक है। साहित्य में सौंदर्य-बोध-संबंधी रुचि-भेद का वह उदाहरण बड़ा मनोरंजक है, जिसमें जहाँगीर ने शराब पीते हुए खुसरो के उस पद्य के गाने पर कव्वाल को पिटवा दिया था, जिसका तात्पर्य एक खंडिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालंभ था। जहाँगीर ने उस उक्ति को प्रेमिका के प्रति समझकर अपना क्रोध प्रकट किया था। मौलाना ने समझाया कि खुसरो भारतीय कवि है, भारतीय साहित्यिक रुचि के अनुसार उसने यह स्त्री का उपालंभ पुरुष के प्रति वर्णन किया है, तब जहाँगीर का क्रोध ठंडा हुआ। यह रुचि-भेद सांस्कृतिक है। यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना है कि ऐसा उपालंभ पुरुष को स्त्री के प्रति देना चाहिए या स्त्री को पुरुष के प्रति; किंतु यह स्पष्ट देखा जाता है कि भारतीय साहित्य में पुरुष-विरह विरल है और विरहिणी का ही वर्णन अधिक है। इसका कारण है भारतीय दार्शनिक संस्कृति। पुरुष सर्वथा निर्लिप्त और स्वतंत्र है। प्राकृति या माया उसे प्रवृत्ति या आवरण में लाने की चेष्टा करती है; इसलिए आसक्ति का आरोपण स्त्री में ही है। नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायम् नपुंसक: मानने पर भी व्यवहार में ब्रह्म पुरुष है, माया स्त्री-धार्मिणी। स्त्रीत्व में प्रवृत्ति के कारण नैसर्गिक आकर्षण मानकर उसे प्रार्थिनी बनाया गया है।

•

यदि हम भारतीय रुचि-भेद को लक्ष्य में न रखकर साहित्य की विवेचना करने लगेंगे, तो जहाँगीर की ही तरह प्रमाद कर बैठने की आशंका है। तो भी इस प्रसंग में यह बात न भूलनी चाहिए कि भारतीय संस्कृत वाङ्मय में समय-चक्र के प्रत्यावर्त्तनों के द्वारा इस रुचि-भेद में परिवर्त्तनों का अभास मिलता है। ऊपर की कही हुई संभावना या साहित्यिक सिद्धांत मायावाद के प्रबलता प्राप्त करने के पीछे का भी हो सकता है; क्योंकि कालिदास ने रति का करुण विप्रलंभ वर्णन करने के साथ-साथ अज का भी विरह-वर्णन किया है और मेघदूत तो विरही यक्ष की करुण-भाव व्यंजना से परिपूर्ण एक प्रसिद्ध अमर कृति है।

इस प्रकार काल-चक्र के महान् प्रत्यावर्तनों से पूर्ण भारतीय वाङ्मय की सुरुचि संबंधी विचित्राओं के निदर्शन बहुत-से मिलेंगे। उन्हें बिना देखे ही अत्यंत शीघ्रता में आजकल अमुक वस्तु अभारतीय है अथवा भारतीय संस्कृति सुरुचि के विरुद्ध है, कह देने की परिपाटी चल पड़ी है। विज्ञ समालोचक भी हिंदी की आलोचना करते-करते 'छायावाद' 'रहस्यवाद' आदि वादों की कल्पना करके उन्हें विजातीय, विदेशी तो प्रमाणित करते ही हैं, यहाँ तक कहते हुए लोग सुने जाते हैं कि वर्त्तमान हिंदी-कविता में अचेतनों में, जड़ों में, चेतनता का आरोप करना हिंदी-वालों ने अँगरेजी से लिया है; क्योंकि अधिकतर आलोचकों के गीत का टेक यही रहा है कि हिंदी में जो कुछ नवीन विकास हो रहा है, वह सब बाह्य वस्तु (Foreign element) है। कहीं अँगरेजी में उन्होंने देखा कि 'गाड इज़ लव'। फिर क्या? कहीं भी हिंदी में ईश्वर के प्रेम-रूप का वर्णन देख कर उन्हें अँगरेज़ी के अनुवाद या अनुकरण की घोषणा करनी पड़ती है। उन्हें क्या मालूम कि प्रसिद्ध वेदांत ग्रंथ पंचदशी में कहा हैं 'अयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः'। वे भूल जाते हैं कि आनंदवर्द्धन ने हज़ारों वर्ष पहले लिखा है–

भावानचेतनानपि चेतनवच्चेनानचेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया।

ऐसे ही कुछ सिद्धांत पिछले काल के अलंकार और रीति-ग्रंथों के अस्पष्ट अध्ययन के द्वारा और भी बन रहे हैं। कभी यह सुना जाता है कि भारतीय साहित्य में दुःखांत और तथ्यवादी साहित्य अत्यंत तिरस्कृत है। शुद्ध आदर्शवाद का सुखांत प्रबंध ही भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। तब मानो ये आलोचकगण भारतीय संस्कृति के साहित्य-संबंधी दो आलोक स्तंभों, महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता और प्रधानतः अपनी स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न है। सांस्कृतिक सुरुचि का समय-समय पर हुए विशेष परिवर्तनों के साथ, विस्तृत और पूर्ण विवरण देना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है।

हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ। काव्य-मीमांसा से पता चलता है कि भारत के दो प्राचीन महानगरों में दो तरह की परीक्षाएँ अलग-अलग थीं। काव्यकार-परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार-परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी। इस तरह भारतीय ज्ञान दो उपविद्या में था। कलाओं का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है, उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओं के साथ-साथ काव्य-समस्या-पूरण भी एक कला है, किंतु वह समस्यापूर्ति (श्लोकस्य समस्यापूरणम् क्रीड़ार्थम् वादार्थम् च) कौतुक और वादविवाद के कौशल के लिए होती थी। साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल-मात्र समझी जाती थी। कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

ज्ञान के वर्गीकरण में पूर्व और पश्चिम का सांस्कृतिक रुचि-भेद विलक्षण है। प्रचलित शिक्षा के कारण आज हमारी चिंतनधारा के विकास में पाश्चात्य प्रभाव ओतप्रोत है, और इसलिए हम बाध्य हो रहे है अपने ज्ञान-संबंधी प्रतीकों को उसी दृष्टि से देखने के लिए। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के विवेचन में हम केवल निरुपाय होकर ही प्रवृत्त नहीं होते, किंतु विचार-विनिमय के नये साधनों की उपस्थिति के कारण संसार की विचार-धारा से कोई भी अपने को अछूता नहीं रख सकता। इस सचेतनता के परिणाम में हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्त्तन करना चाहिए, क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल नहीं है।

हिंदी में आलोचना कला के नाम से आरंभ होती है। और साधारणतः हेगेल के मतानुसार मूर्त्त और अमूर्त्त विभागों के द्वारा कलाओं में लघुत्व और महत्त्व जाता है। इस विभाग में सुगमता अवश्य है, किन्तु इसका ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विवेचन होने की संभावना जैसी पाश्चत्य साहित्य में है, वैसी भारतीय साहित्य में नहीं। उनके पास अरस्तू से लेकर वर्त्तमान काल तक की सौंदर्य्यानुभूति संबंधिनी विचार-धारा क्रमविकास और प्रतीकों के साथ-साथ उनका इतिहास तो है ही, सबसे अच्छा साधन उनकी अविच्छिन्न सांस्कृतिक एकता भी है। हमारी भाषा के साहित्य में वैसा सामंजस्य नहीं है। बीच-बीच में इतने अभाव या अंधकार काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थल पर अवतीर्ण

और लुप्त होती दिखाई देती हैं, जिन्होंने हमारी सौंदर्य्यानुभूति के प्रतीकों को अनेक प्रकार से विकृत करने का ही उद्योग किया है।

यों तो पाश्चात्य वर्गीकरण में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल में ग्रीस का दार्शनिक प्लेटो कविता का संगीत के अंतर्गत वर्णन करता है, किंतु वर्त्तमान विचार-धारा मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं का भेद करते हुए भी कविता को अमूर्त्त संगीत-कला से ऊँचा स्थान देती है। कला के इस तरह विभाग करनेवालों का कहना है कि मानव-सौंदर्य-बोध की सत्ता का निदर्शन तारतम्य के द्वारा दो भागों में किया जा सकता है। एक स्थूल और बाह्य तथा भौतिक पदार्थों के आधार पर ग्रथित होने के कारण निम्न कोटि की, मूर्त्त होती है। जिसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके, वह मूर्त्त है। गृह-निर्माण-विद्या, मूर्त्तिकला और चित्रकारी, ये कला के मूर्त्त विभाग हैं और क्रमशः अपनी कोटि से ही सूक्ष्म होते-होते अपना श्रेणी-विभाग करती हैं।

संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ है। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त्त कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलाई देती है वह महत्त्व उसकी परंपरा के कारण है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है; क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्त्तिमती है। वर्णमातृका की विशद कल्पना तंत्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गई है। 'अ' से प्रारंभ होकर 'ह' तक के ज्ञान का ही प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ है, जितने ज्ञान हैं, अहं के—आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के संबंध में अनेक प्राचीन देशों की आरंभिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव में चित्र-लिपि हैं। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्रकला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ है। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्यकला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।

संभव है कि इसी अमूर्त्त संबंधिनी महत्ता से प्रेरित होकर प्लेटो ने प्राचीन काल में कविता को संगीत के अंतर्गत माना हो। उनकी विचार-पद्धत्ति में कविता की आवश्यकता संगीत के लिए है। संभवतः अमूर्त्त संगीत आभ्यंतर और मूर्त्त शरीर बाह्य इन्हीं दोनों आधारों पर कला की नींव ग्रीस के विचारकों ने रक्खी ; सो भी बिल्कुल भौतिक दृष्टि से अध्यात्म का उसमें संपर्क नहीं। इसीलिए प्लेटों का शिष्य अरस्तु कला को अनुकरण (Imitation) मानता है। लोकोत्तर आनंद के सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रक्खा गया।

कौटिल्य की तरह लोकोपयोगी राजशास्त्र को प्रधान मानते हुए व्यक्तिगत जीवन के स्वास्थ्य के लिए प्लेटो संगीत और व्यायाम को मुख्य उपादेय विद्या की तरह ग्रहण करता है। संगीत का मन से और व्यायाम का शरीर से सीधा संबंध जोड़कर वह लोक-यात्रा की उपयोगी वस्तुओं का संकलन करता है।

वर्त्तमान-काल में सौंदर्य-बोध की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपना अलग विचार-विस्तार करने लगा है! इसके आविर्भावक हेगेल के मतानुसार कला ऊपर धर्म-शास्त्र का और उससे भी ऊपर दर्शन का स्थान है। इस विचार-धारा का सिद्धांत है कि मानव सौंदर्य-बोध के द्वारा ईश्वर की सत्ता का अनुभव करता है। फिर धर्म-शास्त्र के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति-लाभ करता है। फिर शुद्ध तर्क ज्ञान से उससे एकीभूत होता है।

यह भी विचार का एक कोटिक्रम हो सकता है; परंतु भारतीय विचार-धारा इस संबंध में जो अपना मत रखती है, वह विलक्षण और अभूतपूर्व है। काव्य के संबंध में यहाँ की प्रारंभिक और मौलिक मान्यता कुछ दूसरी थी। उपनिषद् में कहा है–तदेतत् सत्यम् मंत्रेषु कर्माणि कवयों यान्यपशयंस्तानि त्रेतापयाम् बहुधासंतानि। कवि और ऋषि इस प्रकार पर्यायवाची शब्द प्राचीन काल में माने जाते थे। ऋषियो मंत्रद्रष्टारः। ऋषि लोक या मंत्रों के कवि उन्हें देखते थे। यही 'देखना' या दर्शन कवि की महत्ता थी।

इतना विराट वाङ्मय और वचनों की वर्णमाला में स्थायी रूप रखते हुए भी कविता शुद्ध अमूर्त्त नहीं कही जा सकती। मूर्त्त और अमूर्त्त के संबंध में उपनिषद् में कहा है— द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च–(बृहदारण्यक–२ अ. –३ ब्रा.।)

मूर्त्त, नश्वर और अमूर्त्त, अविनश्वर दोनों ही ब्रह्म के रूप है। वायु और आकाश अमूर्त्त, अविनश्वर हैं; इनसे मूर्त्त और नश्वर (परिवर्तनशील) हैं। इस तरह मूर्त्त और अमूर्त्त का भौतिक भेद मानते हुए भी रूप दोनों में ही माना गया है। तब यह विश्वास होता है कि हमारे यहाँ रूप की साधारण परिभाषा से विलक्षण कल्पना है। क्योंकि बृहदारण्यक में लिखा है :–

> –स आदित्यः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठित-मिति रूपोष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठता-नीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि–(३अ. ९ब्रा. २०)

वह आदित्य आलोक-पुंज आँखों में प्रतिष्ठित है। आँखों की प्रतिष्ठता रूप में और रूप-ग्रहण का सामर्थ्य, उसकी स्थिति, हृदय में है। यह निर्वचन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों में रूपत्व का आरोप करता है; क्योंकि चाक्षुप प्रत्यक्ष से इतर जो वायु और अंतरिक्ष अमूर्त्त रूप हैं, उनका भी रूपानुभव हृदय ही करता है। इस दृष्टि से देखने से मूर्त्त और अमूर्त्त की सौंदर्य-बोध संबंधी दो धारणाएँ अधिक महत्त्व नहीं रखतीं। सीधी बात तो यह है कि सौंदर्य-बोध बिना रूप के हो ही नहीं सकता। सौंदर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए, उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य है। इसलिए अमूर्त्त सौंदर्य-बोध कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

ग्रीक लोगों के सौंदर्य-बोध में जो एक क्रम-विकास दिखलाई पड़ता है, उसका परिपाक सभवतः पश्चिम में इस विचार-प्रणाली पर हुआ है कि मानव-स्वभाव सौंदर्या-नुभूति के द्वारा क्रमविकास करता है और स्थूल से परिचित होते-होते सूक्ष्म की ओर जाता है। इसमें स्वर्ग और नरक का, जगत् की जटिलता से परे एक पवित्रता और महत्त्व की

स्थापना का मानसिक उद्योग दिखलाई देता है। और, इसमें ईसाई धार्मिक संस्कृति ओत-प्रोत है। कलुषित और मूर्त्त संसार निम्नकोटि में, अमूर्त्त और पवित्र ईश्वर का स्वर्ग इससे परे उच्च कोटि में।

भारतीय उपनिषदों का प्राचीन ब्रह्मावाद इस मूर्त्त विश्व को ब्रह्मा से अलग निकृष्ट स्थिति में नहीं मानता। वह विश्व को ब्रह्म का स्वरूप बताता है–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्मा पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।। मुण्डकोपनिषद् .२

आगमों में भी शिव को शक्ति-विग्रही मानते है। और यही पक्की अद्वैत-भावना कही गई है; अर्थात्–पुरुष का शरीर प्रकृति है। कदाचित् अर्द्धनारीश्वर की संश्लिष्ट-कल्पना का मूल भी यही दार्शनिक विवेचन है। संभवतः पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतार की जननी है। संभवतः पिछले काल में मनुष्य की सत्ता को पूर्ण मानने की प्रेरणा ही भारतीय अवतार की जननी है। कला के ईसाई आलोचक हेवेल ने संभवतः इसीलिए कहा है कि –The Hindu draws no distinction between what is sacred and profane.

भारत से पश्चिम का यह मौलिक मतभेद है। यही कारण है कि पश्चिम स्वर्गीय साम्राज्य की घोषणा करते हुए भी अधिकतर भौतिक या Materialistic बना हुआ है और भारत मूर्त्ति-पूजा और पंच-महायज्ञों के क्रिया-कांड में भी अध्यात्म-भाव से अनुप्राणित है।

यही कारण है कि ग्रीस द्वारा प्रचलित पश्चिमी सौंदर्यानुभूति बाह्य को, मूर्त्त और अमूर्त्त भेद संबंधी कल्पना विवेचन की रीढ़ बन रही है। जब यह मूर्त्त के साथ सौंदर्य्य-शास्त्र का संबंध ठहराती है, तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि सद्भावात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त्त सौंदर्य कहकर घोषित करते हैं, जो सौंदर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेय तक पहुँच पाते हैं। श्रेय, आत्म-कल्याण-कल्पना अधूरी रह जाती है।

सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान की साधना आरंभ होती है। स्वाध्याय बुद्धि का यज्ञ है। कहा भी है–सत्यं च स्वाध्यायप्रवचन च–स्वाध्याय प्रवचन में सत्य का अन्वेषण करो। स्वाध्याय के द्वारा मानव सत् को प्राप्त होता है। हमारे सब बौद्धिक व्यापारों का सत्य की प्राप्ति के लिए सतत उद्योग होता रहता है। वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में जो परिवर्त्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती है, ओत-प्रोत है। कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके केवल सहृदयता ही पा सकते है; किंतु सत्य केवल १ + १ = २ में ही नहीं सीमित है। अनृत को प्रायः बढ़ाकर देखने से लघु कर दिया गया है ; किंतु सत्य विराट् है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओत-प्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं—श्रेय और प्रेय। इसीलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है—काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। शास्त्र मानव-समाज में व्यवहृत सिद्धांतों के संकलन है। उपयोगिता उनकी सीमा

है। काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। अयमात्मा वाङ्मयः प्राणमयः (बृहदारण्यक)। उपविज्ञात प्राण विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है।

इसलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गई निर्वचन करने की वाक्-शक्ति और उनके सामंजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवता अविज्ञात प्राणशक्ति, ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियाएँ हैं।

मन संकल्प और विकल्पात्मक है। विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ही द्वारा जो सिद्धांत बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और इसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेय की कमी हो जाती है। शास्त्र-संबंधी ज्ञान को इसीलिए विज्ञान मान सकते हैं कि उसके मूल में परीक्षात्मक तर्कों की प्रेरणा है और उसका कोटि-क्रम स्पष्ट रहता है।

काव्य-आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका संबंध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसंदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।

इसी कारण हमारे साहित्य का आरंभ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुंदर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संकल्पात्मक मन की सब अनुभूतियाँ श्रेय और प्रेय दोनों ही से पूर्ण होती हैं, इसमें क्या प्रमाण हैं? किंतु इसीलिए साथ-ही-साथ असाधारण अवस्था का भी उल्लेख किया गया है। असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अंतर्निहित रहती हैं; क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान-धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केंद्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुंदर और ऊर्ज्जस्वित बनाती है।

ज्ञान की जिस मनन-धारा का विकास पिछले काल में परंपरागत तर्कों के एक दूसरे के रूप में दिखाई देत है, उसे हेतु विद्या कहते हैं। किंतु वैदिक साहित्य के स्वरूप में उषा-सूक्त और नासदीय-सूक्त इत्यादि तथा उपनिषदों में अधिकांश संकल्पात्मक प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति है। इसीलिए कहा है—तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।

कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या मानने का जो प्रसंग आता है और उससे यह प्रकट होता है कि यह विज्ञान से अधिक संबंध रखती है। उसकी रेखाएँ निश्चित सिद्धांत तक पहुँचा देती हैं। संभवतः इसीलिए काव्य-समस्या-पूर्ण इत्यादि भी छंद-शास्त्र और पिंगल के नियमों के द्वारा बनने के कारण उपविद्या-कला के अंतर्गत माना गया है। छंद-शास्त्र काव्योपजीवी कला का शास्त्र है। इसलिए यह भी विज्ञान का अथवा शास्त्रीय विषय है। वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शास्त्रीय दृष्टि से शिल्प कहे जाते हैं और इन सबकी विशेषता भिन्न-भिन्न होने पर भी, ये सब एक ही वर्ग की वस्तुएँ हैं।

भवन्ति शिल्पिनो लोके चतुर्धा स्व स्व कर्मभिः।

स्थपितः सूत्रगाही च वर्धकिस्तक्षकस्तथा।। (मयमयतम्, ५ अध्याय)

चित्र के संबंध में भी—

चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्पविशारदैः (शिल्परत्न, अध्याय १६)

इस तरह वास्तुनिर्माण, मूर्त्ति और चित्र शिल्प-शास्त्र के अंतर्गत है।

काव्य के प्राचीन आलोचक दंडी ने कला के संबंध में लिखा हैं—नृत्यगीत-प्रभृतयः कलाकामार्थसंश्रयाः (३-१६२) नृत्य-गीत आदि कलाएँ कामाश्रय कलाएँ हैं। और इन कलाओं की संख्या भी वे चौसठ बताते हैं, जैसा कि काम-शास्त्र या तंत्रों में कहा गया है। इत्थ कला चतु: षष्ठि विरोधः साधु नीयताम् (३-१७१)। काव्यादर्श में दंडी ने कला-शास्त्र के माने हुए सिद्धांतों में प्रमाद न करने लिए कहा है, अर्थात्—काव्य में यदि इन कलाओं का कोई उल्लेख हो तो उसी कला के मतानुसार। इससे प्रकट हो जाता है कि काव्य और कला भिन्न वर्ग की वस्तु है। न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला(१-१७१, भरत नाट्यम) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं–कला गीत-वाद्यादिका। इसी से गाने-बजानेवालों को अब भी कलावंत कहते हैं।

भामह ने भी जहाँ काव्य का विषय संबंधी विभाग किया हैं, वहाँ वस्तु के चार भेद मानते हैं–देव चरित शंसि, उत्पाद्य, कलाश्रय और शास्त्राश्रय। यहाँ भामह का तात्पर्य है कि कला संबंधी विषयों को लेकर भी काव्य का विस्तार होता है। काव्य का एक विषय कला भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कला का वर्गीकरण हमारे यहाँ भिन्न रूप से हुआ है।

कलाओं में संगीत को लोग उत्तम मानते हैं क्योंकि इसमें आनंदांश व तल्लीनता की मात्रा अधिक है, किंतु है यह शुद्ध ध्वन्यात्मक। अनुभूति का ही वाङ्मयः अस्फुट रूप है। इसलिए इसका काव्य के वाहन रूप में किया गया है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आकर्षक है।

संगीत के द्वारा मनोभावों की अभिव्यक्ति केवल ध्वन्यात्मक होती है। वाणी का संभवतः वह आरंभिक स्वरूप है। वाणी के चार भेद प्राचीन ऋषियों ने माने है। चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणि निहितानेङ्गयंति, तुरीया वाचं मनुष्या वदंति (ऋग्वेद)। वाणी के ये चार भेद आगे चलकर स्पष्ट कर दिये गये, और क्रमशः इनका नाम परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी आगम शास्त्रों में मिलता है। परा, पश्यंती और मध्ममा गुहा निहित है। वैखरी वाणी मनुष्य बोलते हैं। शास्त्रों में परावाणी को नाद-रूपा

शुद्ध अहं परामर्शमयी शक्ति माना है। पश्यंती वाच्य और वाचक के अस्फुट विभाग, चैतन्यप्रधान द्रष्टा रूपवाली है। मध्यमा वाच्य और वाचक का विभाग होने पर भी बुद्धिप्रधान दर्शन-स्वरूप द्रष्टा और दृश्य के अंतराल में रहती हैं। वैखरी स्थान, करण और प्रयत्न के बल से स्पष्ट होकर वर्ण की उच्चारण-शैली को ग्रहण करनेवाली दृश्य-प्रधान होती है।

बृहदारण्यक में कहा है—यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणोह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वाऽवति। प्राण-शक्ति संपूर्ण अज्ञात वस्तु को अधिकृत करती है। वह अविज्ञात रहस्य है। इसीलिए उसकी नित्य नूतन रूप दिखाई पड़ता है। फिर यत किञ्च विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्धि विज्ञाता वागेनं तद्भत्वाऽवति, जो कुछ जाना जा सका, वही वाणी है, वाणी उसका स्वरूप धारण करके, उस ज्ञान की रक्षा करती है।

ज्ञान-संबंधी करणों का विवेचन करने में भारतीय पद्धति ने परीक्षात्मक प्रयोग किया है। स्वप्रमितिक के ज्ञान के लिए पाँच इंद्रियाँ प्रत्यक्ष है। उन्हीं के द्वारा संवेदन होता है, उनमें तन्मात्रा के क्रम से ब्राह्य पदार्थों के भी पाँच विभाग माने गये हैं। 'आकाशाद् वायुः' वाले सिद्धात के अनुसार आकाश का गुण शब्द ही इधर ज्ञान के आरंभ में है। जो कुछ हम अनुभव करते हैं, वाणी उसका रूप है। यह वाणी का विकास वर्णों में पूर्ण होता है और वर्णों के लिए आभ्यंतर और बाह्य दो प्रयत्न माने गये हैं। अभ्यान्तर प्रयत्न उसे कहते है जो वर्णों की उत्पत्ति से प्राग्भावी वायु-व्यापार हैं। और वर्णोत्पत्तिकालिक व्यापार को बाह्य प्रयत्न कहा जा सकता है। यह वाङ्मय-अभिव्यक्ति, मनन की प्राणमयी क्रिया, आत्मानुभूति की प्रकट होने की चेष्टा है। इसीलिए उपनिषदों में कहा गया है–'य एकोवर्णो बहुधा शक्तियो-गात् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाती विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।' भावों को व्यक्त करने का मौलिक साधन वाणी है। इसलिए यह प्रकृत है।

आर्य-साहित्य में उन वर्णों के संगठन के तीन रूप माने गये हैं–ऋक् = पद्यात्मक, यजु = गद्यात्मक और साम = संगीतात्मक। 'वैदिकाश्च द्विविधाः प्रगीता अप्रगी-ताश्च। तत्र प्रगीताः सामानि, अप्रगीताश्चद्विविधाः छन्दोबद्धास्तद्विलक्षणाश्च। तत्र प्रथमा ऋचःद्वितीया यजूंषि' (सर्वदर्शनसंग्रह)। यही आर्य्य-वाणी की आरंभिक उच्चारण शैली है, जो दूसरों के आस्वाद के लिए श्रव्य कही जाती है।

काव्य को इन आरंभिक तीन भागों में विभक्त कर लेने पर उसकी आध्यात्मिक या मौलिक सत्ता का हम स्पष्ट आभास पा जाते हैं, और यही वाणी–जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं–आत्मनुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है।

वाणी के द्वारा अनुभूतियों को व्यक्त करने के बाद एक अन्य प्रकार का भी प्रयत्न आरंभ होता है। दूर रहनेवाले, चाहे यह देश-काल के कारण से ही हो, केवल व्यष्टि का आश्रय लेनेवाली उच्चारणात्मक वाणी का आनंद नहीं ले सकते। इसलिए वह व्यक्ति-द्वारा प्रकट हुई आत्मानुभूति सामूहिक या समष्टिभाव से विस्तार करने का प्रयत्न करती है। और तब चित्र, तक्षण इत्यादि संबंधी अपनी बाह्य सत्ता को बनाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है। आगमों के अनुशीलन से, कला को अन्य रूप से भी बताया जा सकता है। शैवागमों में छत्तीस तत्त्व माने गये हैं, उनमें कला भी एक तत्त्व है। ईश्वर की कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्ति के स्वरूप कला, विद्या, राग, नियति और काल माने जाते हैं। शक्ति-संकोच के कारण जो इंद्रिय-द्वार से शक्ति का प्रसार एवं आकुंचन होता है, इन व्यापक शक्तियों का वही संकुचित रूप बोध के लिए है। कला संकुचित कर्त्तव्य शक्ति कही जाती है। भोजराज ने भी अपने तत्त्वप्रकाश में कहा है—'व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा।'

शिव-सूत्र-विमर्शिनी में क्षेमराज ने कला के संबंध में अपना विचार यो व्यक्त किया है—

> कलयति स्वस्वरूपाविशेन तत्तद् परिच्छिनत्तीति कलाव्यापारः।
>
> इस पर टिप्पणी है—कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला अर्थात् नव-नव स्वरूप-प्रथोल्लेख-शालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व का, आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।

'स्व' को कलन करने का उपयोग —आत्म-अनुभुति की व्यंजना में —प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया जाता है; अनुकूल, प्रतिकूल और अद्‌भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो —यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल अर्थात् ऐसा नहीं, यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं। अद्‌भुत —आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल। इन तीन प्रकार के प्रतीक विधानों में आदर्शवाद, यथातथ्यवाद और व्यक्तिवाद इत्यादि साहित्यिक वादों के मूल सन्निहित हैं जिनकी विस्तृत आलोचना की यहाँ आवश्यकता नहीं। कला को तो शास्त्रों में उपविद्या माना है। फिर उसका साहित्य में या आत्मानुभूति में कैसा विशेष अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय यह बात ध्यान में रखनी होगी कि कला की आत्मानुभूति के साथ विशिष्ट भिन्न सत्ता नहीं। अनुभूति के लिए शब्द-विन्यास-कौशल तथा छंद आदि भी अत्यंत आवश्यक नहीं।

व्यंजना वस्तुतः अनुभूतमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुंदर अनुभूति का विकास सौंदर्य्यपूर्ण होगा ही। कवि की अनुभूति को उसके परिणाम में हम अभिव्यक्त देखते हैं। और अभिव्यक्ति के अंतरालवर्ती संबंध को जोड़ने के लिए हम चाहें तो कला का नाम ले सकते हैं, और कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किंतु मेरा मत है कि यह सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं।

प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।

हाँ, फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की?

काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौंदर्य्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जा सकता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गये हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्द-विन्यास-पटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके।

किंतु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छंद में अंतर्भावों के प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता संसार में विरल है। फिर क्या कारण है कि रामचंद्र के वात्सल्य-रस अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्ध-काल की प्रेरणा सूरदास के हृदय के उतने समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृंदावन की लीलाएँ। रामचंद्र के वात्सल्य-रस का उपयोग प्रबंधकाव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रम-परंपरा बनाने के लिए। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचंद्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है। न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप-पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद्र की शिशु-मूर्त्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं।

दोनों कवियों के शब्द-विन्यास कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है— वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है— वहीं कौशल या विशिष्ट पद रचना-युक्त काव्य-शरीर सुंदर हो सका है।

इसलिए, अभिव्यक्ति सहृदयों के लिए अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती, जितनी कि अनुभूति। श्रोता, पाठकों और दर्शकों के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है, उसे सहृदयों में अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भाव-साम्य का कारण होने से लौटकर कवि की अनुभूतिवाली मौलिक वस्तु की सहानुभूतिमात्र ही रह जाती है। इसलिए व्यापकता आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की

खण्ड पाँच : उपन्यास

कं का ल

कंकाल

प्रथम खण्ड

१

प्रतिष्ठान के खँड़हर में और गंगा-तट की सिकता-भूमि में अनेक शिविर और फूस के झोंपड़े खड़े हैं। माघ की अमावस्या की गोधूली में प्रयोग के बाँध पर प्रभात का-सा जनरव और कोलाहल तथा धर्म लूटने की धूम कम हो गई है; परन्तु बहुत-से घायल और कुचले हुए अर्धमृतकों की आर्त्त ध्वनि उस पावन प्रदेश को आशीर्वाद दे रही है। स्वयं-सेवक उन्हें सहायता पहुँचाने में व्यस्त हैं। यों तो प्रतिवर्ष यहाँ पर जन-समूह एकत्र होता है, पर अबकी बार कुछ विशेष पर्व की घोषणा की गई थी इसीलिए भीड़ आधिकता से हुई।

कितनों के हाथ टूटे, कितनों का सिर फूटा और कितने ही पसलियों की हड्डियाँ गँवाकर, अधेमुख होकर त्रिवेणी को प्रणाम करने लगे। एक नीरव अवसाद, संध्या में गंगा के दोनों तट पर खड़े झोंपड़ों पर अपनी कालिमा बिखेर रहा था। नंगी पीठ घोड़ों पर नंगे साधुओं के चढ़ने का जो उत्साह था, जो तलवार की फिकैती दिखलाने की स्पर्धा थी, दर्शक-जनता पर बालू की वर्षा करने का जो उन्माद था, बड़े-बड़े कारचोबी झंडों को आगे से चलने का जो आतंक था, वह सब अब फीका हो चला था।

एक छायादार डोंगी, जमुना के प्रशान्त वक्ष को आकुलित करती हुई गंगा की प्रखर धारा को काटने लगी– उस पर चढ़ने लगी। माझियों ने कसकर डाँडे लगाये। नाव झूँसी के तट पर जा लगी। एक सम्भ्रान्त सज्जन और युवती, साथ में एक नौकर, उस पर से उतरे। पुरुष यौवन में होने पर भी कुछ खिन्न -सा था, युवती हँसमुख थी; परन्तु नौकर बड़ा ही गंभीर बना था। यह सम्भवतः उस पुरुष की प्रभावशालिनी शिष्टता की शिक्षा थी। उसके हाथ में एक बाँस की डोलची थी, जिसमें कुछ फल और मिठाइयाँ थीं। साधुओं के शिविरों की पंक्ति सामने थी, वे लोग उस ओर चले।

सामने से दो मनुष्य बातें करते आ रहे थे–
ऐसी भव्य मूर्ति इस मेले भर में दूसरी नहीं है।
जैसे साक्षात भगवान का अंश हो।
अजी ब्रह्मचर्य का तेज है।
अवश्य महात्मा हैं।

वे दोनों चले गये।

यह दल भी उसी शिविर की ओर चल पड़ा, जिधर से दोनों बातें करते आ रहे थे। पट-मण्डप के समीप पहुँचने पर देखा, बहुत -से दर्शक खड़े हैं। एक विशिष्ट आसन पर एक बीस वर्ष का युवक हलके रंग का काषाय वस्त्र अंग पर डाले बैठा है। जटा-जूट नहीं था,

कंधे तक बाल बिखरे थे। आँखे सयम के मद से भरी थी। पुष्ट भुजाएँ, और तेजोमय मुख-मण्डल से आकृति बड़ी प्रभावशालिनी थी। सच-मुच वह युवक तपस्वी भक्ति करने योग्य था। आगन्तुक और उसकी युवती स्त्री ने विनम्र होकर नमस्कार किया और नौकर के हाथ से लेकर उपहार सामने रक्खा। महात्मा ने सस्नेह मुस्करा दिया। वे सामने बैठे हुए भक्त लोग कथा कहने वाले एक साधु की बातें सुन रहे थे। वह एक पद की व्याख्या कर रहा था–'तासों चुप है रहियें' गूँगा गुड़ का स्वाद कैसे बतावेगा; नमक की पुतली जब लवण-सिन्धु में गिर गई, फिर वह अलग होकर क्या अपनी सत्ता बतावेगी। ब्रह्म के लिए भी वैसे ही 'इदमित्थं' कहना असम्भव है, इसीलिए महात्मा ने कहा–'तासों चुप है रहियें'।

उपस्थित साधु और भक्तों ने एक-दूसरे का मुँह देखते हुए प्रसन्नता प्रकट की। सहसा महात्मा ने कहा—ऐसा ही उपनिषदों में भी कहा है–'अवचनेन प्रोवाच!' भक्त-मण्डलीने इस विद्वत्ता पर आश्चर्य प्रकट किया और 'धन्य-धन्य' के शब्द से पट-मण्डप गूँज उठा।

सम्भ्रान्त पुरुष सुशिक्षित था। उसके हृदय में यह बात समा गई कि महात्मा वास्तविक ज्ञान-सम्पन्न माहापुरुष हैं। उसने अपने साधु- दर्शन की इच्छा की सराहना की और भक्तिपूर्वक बैठकर 'सत्संग' सुनने लगा।

रात हो गई ; जगह-जगह पर अलाव धधक रहे थे शीत की प्रबलता थी। फिर भी धर्म-संग्राम के सेनापति लोग शिविरों में डटे रहे। कुछ ठहरकर आगन्तुक ने जाने की आज्ञा चाही। महात्मा ने पूछा–आप लोगों का शुभ नाम और परिचय क्या है?

हम लोग अमृतसर के रहनेवाले हैं, मेरा नाम श्रीचन्द्र है और यह मेरी धर्मपत्नी हैं। कहकर श्रीचन्द्र ने युवती की ओर संकेत किया। महात्मा ने भी उसकी ओर देखा। युवती ने उस दृष्टि से यह अर्थ निकाला कि महात्माजी मेरा भी नाम पूछ रहे हैं। वह जैसे किसी पुरस्कार पाने की प्रत्याशा और लालच से प्रेरित होकर बोल उठी–दासी का नाम किशोरी है।

महात्मा की दृष्टि में जैसे एक आलोक घूम गया। उसने सिर नीचा कर लिया, और बोला– अच्छा विलम्ब होगा, जाइए। भगवान का स्मरण रखिए।

श्रीचन्द्र किशोरी के साथ उठे। प्रणाम किया और चले।

साधुओं का भजन-कोलाहल शान्त हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड़ में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र, गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देख रहे थे। शीत पवन का झोंका सबको आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था। महात्मा के हृदय में हलचल थी। वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिन्ता से मलिन, शिविर छोड़कर कम्बल डाले, बहुत दूर गंगा की जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिरसञ्चित पुण्यों को पुकारने लगा।

वह अपने विराग को उत्तेजित करता; परन्तु मन की दुर्बलता प्रलोभन बनकर विराग की प्रतिद्वन्द्विता करने लगती और इसमें उसके अतीत की स्मृति भी उसे धोखा दे रही थी। जिन-जिन सुखों को वह त्यागने के लिए चिन्ता करता, वे ही उसे धक्का देने का उद्योग

करते। दूर सामने दीखनेवाली कालिन्दजा की गति का अनुकरण करने के लिए वह मन को उत्साह दिलाता; परन्तु गम्भीर अर्द्धनिशीथ के पूर्ण उज्ज्वल नक्षत्र बालकाल की स्मृति के सदृश मानस-पटल पर चमक उठते थे। अनन्त आकाश में जैसे अतीत की घटनाएँ रजताक्षरों से लिखी हुई उसे दिखाई पड़ने लगीं--

झेलम के किनारे एक बालिका और एक बालक अपने प्रणय के पौधे को अनेक क्रीड़ा-कुतूहलों के जल से सींच रहे हैं। बालिका के हृदय में असीम अभिलाषा और बालक के हृदय में अदम्य उत्साह। बालक रंजन आठ वर्ष का हो गया और किशोरी सात की। एक दिन अकस्मात रंजन को लेकर उसके माता-पिता हरिद्वार चल पड़े। उस समय किशोरी ने उससे पूछा–रंजन, कब आओगे?

उसने कहा–बहुत ही जल्द। तुम्हारे लिए अच्छी अच्छी गुड़ियां ले आऊंगा।

रंजन चला गया। जिस महात्मा की कृपा और आशीर्वाद से उसने जन्म लिया था, उसी के चरणों में चढ़ा दिया गया। क्योंकि उसकी माता ने सन्तान होने के लिए ऐसी ही मनौती की थी।

निष्ठुर माता-पिता ने अन्य सन्तानों के जीवित रहने की आशा से अपने ज्येष्ठ पुत्र को महात्मा का शिष्य बना दिया। बिना उसकी इच्छा के वह संसार से–जिसे उसने अभी देखा भी नहीं था–अलग कर दिया गया। उसका गुरुद्वारे का नाम देवनिरंजन हुआ। वह सचमुच आदर्श ब्रह्मचारी बना। वृद्ध गुरुदेव ने उसकी योग्यता देखकर उसे उन्नीस वर्ष की ही अवस्था में गद्दी का अधिकारी बनाया। वह अपने संघ की संचालना अच्छे ढंग से करने लगा।

हरिद्वार में उस नवीन तपस्वी की सुख्याति पर बूढ़े-बूढ़े बाबा लोग ईर्षा करने लगे। और इधर निरंजन के मठ को भेंट-पूजा बढ़ गई; परन्तु निरंजन सब चढ़े हुए धन का सदुपयोग करता था। उसके सदनुष्ठान का गौरव-चित्र आज उसकी आँखों के सामने खिच गया और वह प्रशंसा और सुख्याति के लोभ दिखाकर मन को इन नई कल्पनाओ से हटाने लगा; परन्तु किशोरी के नाम ने उसे बारह वर्ष की प्रतिमा का स्मरण दिला दिया। उसने हरिद्वार आतेहुएकहा था–किशोरी, तेरे लिए गुड़ियाँ ले आऊँगा।क्या यह वही किशोरी है? अच्छा यदि है, तो इसे संसार में खेलने के लिए गुड़िया मिल गई।उसका पति है, वह उसे बहलायेगा। मुझ तपस्वी को इससे क्या! जीवन का बुल्ला विलीन हो जायेगा। ऐसी कितनी ही किशोरियाँ अनन्त समुद्र में तिरोहित हो जाएँगी। मैं क्यों चिन्ता करूँ?

परन्तु प्रतिज्ञा! ओह वह स्वप्न था, खिलवाड़ था। मैं कौन हूँ किसी को देने वाला, वही अन्तार्यामी सबको देता है। मूर्ख निरंजन ! सम्हल!! कहाँ मोह के थपेड़े में झूमना चाहता है? परन्तु यदि वह कल फिर आई तो?— भागना होगा। भाग निरंजन, इस माया से हारने के पहले युद्ध होने का अवसर ही मत दे।

निरंजन धीरे-धीरे अपने शिविर को बहुत दूर छोड़ता हुआ, स्टेशन की ओर विचरता हुआ चल पड़ा। भीड़ के कारण बहुत-सी गाड़ियाँ बिना समय भी आ-जा रही थीं। निरंजन ने एक कुली से पूछा–यह गाड़ी कहाँ जायगी?

सहारनपुर–उसने कहा।

देवनिरंजन गाड़ी में चुपचाप बैठ गया।

दूसरे दिन जब श्रीचन्द्र और किशोरी साधु-दर्शन के लिए फिर उसी स्थान पर पहुँचे, तब वहाँ अखाड़े के साधुओं को बड़ा व्यग्र पाया। पता लगाने पर मालूम हुआ कि महात्माजी समाधि के लिए हरिद्वार चले गए। यहाँ उनकी उपासना में कुछ विघ्न होता था। वे बड़े त्यागी हैं। उन्हें गृहस्थों की बहुत झंझट पसन्द नहीं। यहाँ धन और पुत्र माँगनेवालों तथा कष्ट से छुटकारा पानेवालों की प्रार्थना से वे ऊब गए थे।

किशोरी ने कुछ तीखे स्वर से अपने पति से कहा—मैं पहले ही कहती थी कि तुम कुछ न कर सकोगे। न तो स्वयं कहा और न मुझे प्रार्थना करने दी।

विरक्त होकर श्रीचन्द्र ने कहा—अच्छा तो तुमको किसने रोका था। तुम्हीं ने क्यों न सन्तान के लिए प्रार्थना की! कुछ मैंने बाधा तो दी न थी।

उत्तेजित किशोरी ने कहा—अच्छा तो हरिद्वार चलना होगा।

चलो, मैं तुम्हें वहाँ पहुँचा दूँगा। और, अमृतसर आज तार दे दूँगा कि मैं हरद्वार होता हुआ आता हूँ; क्योंकि मैं व्यवसाय इतने दिनों तक यों ही नहीं छोड़ सकता।

अच्छी बात है; परन्तु मैं हरिद्वार अवश्य जाऊँगी।

सो तो मैं जानता हूँ—कहकर श्रीचन्द्र ने मुँह भारी कर लिया; परन्तु किशोरी को अपनी टेक रखनी थी। उसे पूर्ण विश्वास हो गया था कि उन महात्मा से मुझे अवश्य सन्तान मिलेगी।

उसी दिन श्रीचन्द्र के लिए प्रस्थान किया। और अखाड़े के भण्डारी ने भी जमात लेकर हरिद्वार जाने का प्रबन्ध किया।

हरिद्वार के समीप ही जाह्नवी के तट पर तपोवन का स्मरणीय दृश्य है। छोटे-छोटे कुटीरों की श्रेणी बहुत दूर तक चली गई है। खरस्रोता जाह्नवी की शीतल धारा उस पावन प्रदेश को अपने कल-नाद से गुंजरित करती है। तपस्वी अपनी योग-चर्या साधन के लिए उन छोटे-छोटे कुटीरों में रहते हैं। बड़े-बड़े मठों से अन्नसत्र का प्रबन्ध है। वे अपनी भिक्षा ले आते हैं और इसी निभृत स्थान में बैठकर अपने पाप का प्रक्षालन करते हुए ब्रह्मानन्द का सुख भोगते हैं। सुन्दर पक्षियों का कोमल कलरव वहाँ एक अदभुत शान्ति का सृजन करता है। आरण्यक-पाठ के उपयुक्त स्थान हैं।

गंगा की धारा जहाँ घूम गई है वह छोटा-सा कोना अपने सब साथियों को छोड़कर आगे निकल गया है। वहाँ एक सुन्दर कुटी है, जो नीची पहाड़ी की पीठ पर जैसे आसन जमाए बैठी है। उसी की दालान में निरंजन गंगा की धारा की ओर मुँह किए ध्यान में निमग्न है। यहाँ रहते हुए कई दिन बीत गए। आसन और दृढ़ धारणा से अपने मन को संयम में ले आने का प्रयत्न लगातार करते हुए भी शान्ति नहीं लौटी। विक्षेप बराबर होता था। जब ध्यान करने का समय होता, एक बालिका की मूर्ति सामने आ खड़ी होती।वह उसे माया-आवरण कहकर तिरस्कार करता; परन्तु वह छाया जैसे ठोस हो जाती। अरुणोदय की रक्त किरणें आँखों में घुसने लगती थीं। घबराकर तपस्वी ने ध्यान छोड़ दिया। देखा कि पगडण्डी से

एक रमणी उस कुटीर के पास आ रही है। तपस्वी को क्रोध आया। उसने समझा कि देवताओं को तप में प्रत्यूह डालने का क्यों अभ्यास होता है? क्या वे मनुष्यों के समान ही द्वेष आदि दुर्बलताओं से पीड़ित हैं?

रमणी चुपचाप समीप चली आई। साष्टांग प्रणाम किया। तपस्वी चुप था, वह क्रोध से भरा था; परन्तु न जाने क्यों उसे तिरस्कार करने का साहस न हुआ। उसने कहा—उठो, तुम यहाँ क्यों आई?

किशोरी ने कहा—महाराज, अपना स्वार्थ ले आया—मैंने आज तक संतान का मुँह नहीं देखा।

निरंजन ने गम्भीर स्वर में पूछा—अभी तो तुम्हारी अवस्था अठारह-उन्नीस से अधिक नहीं, फिर इतनी दुश्चिन्ता क्यों?

किशोरी के मुख पर लज्जा की लाली थी; वह अपनी वयस की ताप-तोल से संकुचित हो रही थी। परन्तु तपस्वी का विचलित हृदय इसे व्रीड़ा समझने लगा। वह जैसे लड़खड़ाने लगा। सहसा सम्हल कर बोला—अच्छा। तुमने यहाँ आकर ठीक नहीं किया। जाओ मेरे मठ में आना—अभी दो दिन ठहरकर । यह एकांत योगियों की स्थली है, यहाँ से चली जाओ।—तपस्वी अपने भीतर किसी से लड़ रहा था ।

किशोरी ने अपनी स्वाभाविक तृष्णा भरी आँखों से एक बार उस सूखे यौवन का तीव्र आलोक देखा; वह बराबर देख न सकी, छलछलाई आँखें नीची हो गई। उन्मत्त के समान निरंजन ने कहा—बस जाओ!

किशोरी लौटी और अपने नौकर के साथ, जो थोड़ी ही दूर पर खड़ा था, 'हर की पैड़ी' की ओर चल पड़ी। चिन्ता और अभिलाषा से उसका हृदय नीचे-ऊपर हो रहा था।

रात एक पहर गई होगा, 'हर की पैड़ी' के पास ही एक घर की खुली खिड़की के पास किशोरी बैठी थी। श्रीचन्द्र को यहाँ आते ही तार मिला कि तुम तुरन्त चले आओ। व्यवसाय-वाणिज्य के काम अटपटे होते हैं; वह चला गया। किशोरी नौकर के साथ रह गई। नौकर विश्वासी और पुराना था। श्रीचन्द्र की लाडली स्त्री किशोरी मनस्विनी थी ही।

ठंड का झोंका खिड़की से आ रहा था; परन्तु अब किशोरी के मन में बड़ी उलझन थी—कभी वह सोचती, मैं क्यों यहाँ रह गई, क्यों न उन्हीं के संग चली गई। फिर मन में आता, रुपये-पैसे तो बहुत हैं, जब उन्हें भोगनेवाली ही कोई नहीं, फिर उसके लिए उद्योग न करना भी मूर्खता है। ज्योतिषी ने भी कह दिया है संतान बड़े उद्योग से होगी। फिर मैंने क्या बुरा किया?

अब शीत की प्रबलता हो चली थी। उसने चाहा, खिड़की का पल्ला बन्द कर ले। सहसा किसी के रोने की ध्वनि सुनाई दी। किशोरी को उत्कंठा हुई, परन्तु क्या करे, 'बलदाऊ' बाज़ार गया था। चुप रही। थोड़े ही समय में बलदाऊ आता दिखाई पड़ा।

आते ही उसने कहा—बहूरानी, कोई ग़रीब स्त्री रो रही है। यहीं नीचे पड़ी है।

किशोरी भी दुःखी थी। संवेदना से प्रेरित होकर उसने कहा—उसे लिवाते क्यों नहीं आए, कुछ उसे दे दिया जाता।

बलदाऊ सुनते ही फिर नीचे उतर गया। उसे बुला लाया। वह एक विधवा युवती थी। बिलख-बिलखकर रो रही थी। उसके मलिन वसन का अंचल तर हो गया था। किशोरी के आश्वासन देने पर वह सम्हली और बात पूछने पर उसने अपनी कथा सुना दी—विधवा का नाम रामा है, बरेली की एक ब्राह्मण-वधू है। दुराचार का लांछन लगाकर उसके देवर ने उसे यहाँ लाकर छोड़ दिया। उसके पति के नाम की कुछ भूमि थी, उस पर अधिकार जमाने के लिए उसने यह कुचक्र रचा है।

किशोरी ने उसके एक-एक अक्षर पर विश्वास किया, क्योंकि वह देखती है कि परदेश में उसके पति ने ही उसे छोड़ दिया और स्वयं चला गया। उसने कहा—तुम घबराओ मत, मैं तुम्हें बहन के समान रक्खूँगी।

रामा कुछ प्रसन्न हुई। उसे आश्रय मिल गया। किशोरी शैया पर लेटे-लेटे सोचने लगी—पुरुष बड़े निर्मोही होते हैं, देखो वाणिज्य-व्यवसाय का इतना लोभ कि मुझे छोडकर चले गए। अच्छा, जब तक वे स्वयं नहीं आवेंगे, मैं भी नहीं जाऊँगी। मेरा भी नाम 'किशोरी' है। यही करते करते किशोरी सो गई।

दो दिन तक तपस्वी ने मन पर अधिकार जमाने की चेष्टा की, परन्तु वह असफल रहा। विद्वता के जितने तर्क जगत को मिथ्या प्रमाणित करने के लिए थे, उन्होंने उग्र रूप धारण किया। वे अब समझते थे—जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं, वे भी माया हैं। प्रमाता जीव भी प्रकृति है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है। जब विश्व मात्र प्रकृत है, तब इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ। यही खेल यदि जगत बनानेवाले का है, तो वह मुझे खेलना ही चाहिए। वास्तव में गृहस्थ न होकर भी मैं वही सब तो करता हूँ जो एक संसारी करता है—वही आय-व्यय का निरीक्षण और उसका उपयुक्त व्यवहार; फिर यह सहज उपलब्ध सुख क्यों छोड़ दिया जाए?

त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता जब किसी ज्ञानाभास को स्वीकार कर लेती है, तब उसका धक्का सम्हालना मनुष्य का काम नहीं।

उसने फिर सोचा—मठधारियों , साधुओं के लिए वे सब पथ खुले होते हैं। यद्यपि प्राचीन आर्यों की धर्मनीति में इसीलिए कुटीचर और एकान्तवासियों का ही अनुमोदन किया है; परन्तु संघबद्ध होकर बौद्धधर्म ने जो यह अपना कूड़ा छोड़ दिया है, उसे भारत के धार्मिक सम्प्रदाय अभी भी फेंक नहीं सकते । तो फिर चले संसार अपनी गति से ।

देवनिरंजन अपने विशाल मठ में लौट आया। और महन्ती नये ढंग से देखी जाने लगी। भक्तों की पूजा और चढ़ावे का प्रबन्ध होने लगा। गद्दी और तकिए की देखभाल चली। दो ही दिन में मठ का रूप बदल गया।

एक चाँदनी रात थी। गंगा के तट पर अखाड़े से मिला हुआ उपवन था। विशाल वृक्ष की विरल छाया में चाँदनी उपवन की भूमि पर अनेक चित्र बना रही थी। वसंत-समीर ने

कुछ रंग बदला था। निरंजन मन के उद्वेग से वहीं टहल रहा था। किशोरी आई। निरंजन चौंक उठा। हृदय में रक्त दौड़ने लगा।

किशोरी ने हाथ जोड़कर कहा--महाराज , मेरे ऊपर दया न होगी?

निरंजन ने कहा-किशोरी, तुम मुझको पहचानती हो?

किशोरी ने उस धुँधले प्रकाश में पहचानने की चेष्टा की · परन्तु वह असफल होकर चुप रही।

निरंजन ने फिर कहना प्रारम्भ किया--झलम के तट पर रंजन और किशोरी नाम के दो बालक और बालिका खेलते थे।उनमें बड़ा स्नेह था। रंजन जब अपने पिता के साथ हरिद्वार जाने लगा, तब उसने कहा था कि-किशोरी, तेरे लिए मैं गुड़िया ले आऊँगा: परन्तु वह झूठा बालक अपनी बाल-संगिनी के पास फिर न लौटा। क्या तुम वही किशोरी हो?

उसका बाल-सहचर इतना बड़ा महात्मा । -किशोरी की समस्त धमनियो में हलचल मच गई। वह प्रसन्नता से बोल उठी-"और क्या तुम वही रंजन हो?"

लड़खड़ाते हुए निरंजन ने उसका हाथ पकड़कर कहा-"हाँ किशोरी, मैं वही रंजन हूँ। तुमको पाने के लिए ही जैसे आज तक तपस्या करता रहा, यह संचित तप तुम्हारे चरणों में निछावर है; संतान, ऐश्वर्य और उन्नति देने की मुझमें जो शक्ति है, वह सब तुम्हारी है।"

अतीत की स्मृति ,वर्तमान की कामनाएँ, किशोरी को भुलावा देने लगीं। माथे पर पसीना बहने लगा। दुर्बल हृदय किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वक्ष पर अपना सिर टेक दिया।

कई महीने बीत गये। बलदाऊ ने स्वामी को पत्र लिखा कि-आप आइए, बिना आपके आये बहूरानी नहीं जातीं और मैं अब यहाँ एक घड़ी भी रहना अच्छा नहीं समझता।

श्रीचन्द्र आये। हठीली किशोरी ने बड़ा रूप दिखलाया। फिर मान-मनाव हुआ। देवनिरंजन को समझा-बुझाकर किशोरी फिर आने की प्रतिज्ञा करके पति के साथ चली गयी। किशोरी का मनोरथ पूर्ण हुआ।

रामा वहाँ रह गयी। हरिद्वार जैसे पुण्यतीर्थ में क्या विधवा को स्थान और आश्रय की कमी थी!

पन्द्रह बरस बाद--

काशी में ग्रहण था। रात में घाटों पर नहाने का बड़ा सुन्दर प्रबन्ध था। चन्द्रग्रहण हो गया। घाट पर बड़ी भीड़ थी। आकाश में एक गहरी नीलिमा फैली। नक्षत्रों में चौगुनी चमक थी; परन्तु खगोल में कुछ प्रसन्नता न थी। देखते-देखते एक अच्छे चित्र के समान पूर्णमासी का चन्द्रमा आकाश-पट पर से धो दिया गया। धार्मिक जनता में कोलाहल मच गया। लोग नहाने, गिरने तथा भूलने भी लगे। कितनों का साथ छूट गया।

विधवा रामा अब सधवा होकर अपनी कन्या तारा के साथ भण्डारीजी के साथ आई थी। भीड़ के एक ही धक्के में तारा अपनी माता तथा साथियों से अलग हो गई। यूथ से बिछड़ी

हुई हरिनी के समान बड़ी-बड़ी आँखों से वह इधर-उधर देख रही थी। कलेजा धक-धक करता था, आँखें छलछला रही थीं, और उसकी पुकार उस महा कोलाहल में विलीन हुई जाती थी। तारा अधीर हो गई, अब फूट-फूट रोने लगी। एक अधेड़ स्त्री पास में खड़ी हुई तारा को ध्यान से देख रही थी। उसने पास आकर पूछा—बेटी, तुम किसको खोज रही हो?

तारा का गला रुँध गया, वह उत्तर न दे सकी।

तारा सुन्दरी थी। होनहार सौन्दर्य उसके प्रत्येक अंग में छिपा था। वह युवती हो चली थी; परन्तु अनाघ्रात कुसुम के रूप में पंखुड़ियाँ विकसी न थीं। अधेड़ स्त्री ने स्नेह से उसे छाती से लगा लिया, और कहा—मैं अभी तेरी माँ के पास पहुँचा देती हूँ, वह तो मेरी बहन है, मैं तुझे भली-भाँति जानती हूँ। तू घबड़ा मत।

हिन्दू स्कूल का एक स्वयं-सेवक पास आ गया। उसने पूछा—क्या तुम भूल गई हो?

तारा रो रही थी। अधेड़ स्त्री ने कहा—मैं जानती हूँ, यही इसकी माँ है, वह भी खोजती थी। मैं लिवा जाती हूँ।

स्वयंसेवक मंगलदेव चुप रहा। युवक छात्र एक युवती बालिका के लिए हठ न कर सका। वह दूसरी ओर चला गया, और तारा उसी स्त्री के साथ चली।

२

लखनऊ, संयुक्तप्रान्त में एक निराला नगर है। बिजली की प्रभा से आलोकित सन्ध्या 'शाम-अवध' की सम्पूर्ण प्रतिमा है। पाण्य मे क्रय-विक्रय चल रहा है; नीचे और ऊपर से सुन्दरियों का कटाक्ष है। चमकीली वस्तुओं का झलमला, फूलों के हारों का सौरभ और रसिकों के वसन में लगे हुए गन्ध से खेलता हुआ मुक्त पवन, —यह सब मिलकर एक उत्तेजित करनेवाला मादक वायुमण्डल बन रहा है।

मंगलदेव अपने साथी खिलाड़ियों के साथ मैच खेलने लखनऊ आया था। उसका स्कूल आज विजयी हुआ है। कल वे लोग बनारस लौटेंगे। आज सब चौक में अपना विजयोल्लास प्रकट करने के लिए और उपयोगी वस्तु क्रय करने के लिए एकत्र हुए हैं।

छात्र सभी तरह के होते हैं। उनके विनोद भी अपने-अपने ढंग के; परन्तु मंगल इनमें निराला था। उसका सहज सुन्दर अंग ब्रह्मचर्य और यौवन से प्रफुल्ल था। निर्मल मन का आलोक उसके मुख-मण्डल पर तेज बना रहा था। वह अपने एक साथी को ढूँढ़ने के लिए चला था; परन्तु वीरेन्द्र ने उसे पीछे से पुकारा। वह लौट पड़ा।

वीरेन्द्र—मंगल, आज तुमको मेरी एक बात माननी होगी!

मंगल—क्या बात है, पहले सुनूँ भी।

वीरेन्द्र—नहीं, पहले तुम स्वीकार करो।

मंगल—यह नहीं हो सकता; क्योंकि फिर उसे न करने से मुझे कष्ट होगा।

वीरेन्द्र—बहुत बुरी बात है; परन्तु मेरी मित्रता के नाते तुम्हें करना ही होगा।

मंगल—यही तो ठीक नहीं।

वीरेन्द्र—अवश्य ठीक नहीं, तो भी तुम्हें मानना होगा।

मंगल—वीरेन्द्र, ऐसा अनुरोध न करो।

वीरेन्द्र—यह मेरा हठ है। और तुम जानते हो कि मेरा कोई भी विनोद तुम्हारे बिना असम्भव है, निस्सार है। देखो, तुमसे स्पष्ट कहता हूँ। उधर देखो—वह एक बाल वेश्या है, मैं उसके पास जाकर एक बार केवल नयनाभिराम रूप देखना चाहता हूँ। इससे विशेष कुछ नहीं।

मंगल—यह कैसा कुतूहल ! छिः !

वीरेन्द्र—तुम्हें मेरी सौगन्ध; पाँच मिनट से अधिक नहीं लगेगा, हम लौट आवेंगे। चलो, तुम्हें अवश्य चलना होगा। मंगल, क्या तुम जानते हो, मैं तुम्हें क्यों ले जा रहा हूँ?

मंगल—क्यों?

वीरेन्द्र—जिसमें तुम्हारे भय से मैं विचलित न हो सकूँ! मैं उसे देखूँगा अवश्य, परन्तु आगे के डर से बचानेवाला साथ रहना चाहिए। मित्र, तुमको मेरी रक्षा के लिए साथ चलना ही चाहिए।

मंगल ने कुछ सोचकर कहा—चलो। परन्तु , क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गई थीं।

वह वीरेन्द्र के साथ चल पड़ा। सीढ़ियों से ऊपर कमरे में दोनों जा पहुँचे। एक षोडशी युवती सजे हुए कमरे में बैठी थी। पहाड़ी रूखा सौन्दर्य उसके गेहुएँ रंग में ओत-प्रोत है! सब भरे हुए अंगों में रक्त का वेगवान संचार कहता है कि इसका तारुण्य इससे कभी न छूटेगा। बीच से मिली हुई घनी भौंहों के नीचे न जाने कितना अंधकार खेल रहा था! सहज नुकीली नाक उसकी आकृति की स्वतन्त्र सत्ता बनाये थी। नीचे सिर किए हुए उसने जब इन लोगों को देखा, तब उस समय उसकी बड़ी-बड़ी आँखों के कोने और भी खिंचे हुए जान पड़े। घने काले बालों के गुच्छे दोनों कानों के पास के कन्धों पर लटक रहे थे। बायें कपोल पर एक तिल उसके सरल सौन्दर्य को बाँका बनाने के लिए पर्याप्त था। शिक्षा के अनुसार उसने सलाम किया; परन्तु यह खुल गया कि अन्यमनस्क रहना उसकी स्वाभाविकता थी।

मंगलदेव ने देखा कि यह तो वेश्या का-सा रूप नहीं है।

वीरेन्द्र ने पूछा—आपका नाम?

उसके 'गुलेनार' कहने में कोई बनावट न थी।

सहसा मंगल चौंक उठा, उसने पूछा—क्या हमने तुमको कहीं और भी देखा है?

यह अनहोनी बात नहीं है।

कई महीने हुए, काशी में ग्रहण की रात को जब मैं स्वयंसेवक का काम कर रहा था, मुझे स्मरण होता है, जैसे तुम्हें देखा हो: परन्तु तुम तो मुसलमानी हो।

हो सकता है कि आपने मुझे देखा हो; परन्तु उस बात को जाने दीजिए, अभी अम्मा आ रही हैं।

मंगलदेव कुछ कहना ही चाहता था कि 'अम्मा' आ गई। वह विलासजीर्ण दुष्ट मुखाकृति देखते ही घृणा होती थी।

अम्मा ने कहा–आइये, बाबू साहब, कहिये क्या हुक्म है?

कुछ नहीं, गुलेनार को देखने के लिए चला आया था–कहकर वीरेन्द्र मुस्करा दिया।

आपकी लौंडी है, अभी तो तालीम भी अच्छी तरह नहीं लेती, क्या कहूँ बाबू साहब, बड़ी बोदी है। इसकी किसी बात पर ध्यान न दीजिएगा।–अम्मा ने कहा।

नहीं-नहीं, इसकी चिन्ता न कीजिए। हम लोग तो परदेशी हैं। यहाँ घूम रहे थे, तब तक इनकी मनमोहिनी छवि दिखाई पड़ी; चले आये। –वीरेन्द्र ने कहा।

अम्मा ने भीतर की ओर देखकर पुकारते हुए कहा–अरे इलायची ले आ, क्या कर रहा है?

अभी आया। कहता हुआ एक मुसलमान युवक चाँदी की थाली में पान-इलायची ले आया। वीरेन्द्र ने इलायची ले ली और उसमें दो रुपये रख दिये। फिर मंगलदेव की ओर देखकर कहा–चलो भाई, गाड़ी का भी समय देखना होगा, फिर कभी आया जाएगा। प्रतिज्ञा भी पाँच मिनट की है।

अभी बैठिए भी,क्या आये और क्या चले–फिर सक्रोध गुलेनार को देखती हुई अम्मा कहने लगी–क्या कोई बैठे और क्यों आये! तुम्हें तो कुछ बोलना ही नहीं है और न कुछ हँसी-खुशी की बातें ही करनी है, कोई क्यों ठहरे?–अम्मा की त्यौरियाँ बहुत ही चढ़ गई थीं। गुलेनार सिर झुकाये चुप थी।

मंगलदेव जो अब तक चुप था, बोला–मालूम होता है, आप दोनों में बनती बहुत कम है; इसका क्या कारण है?

गुलेनार कुछ बोलना ही चाहती थी कि अम्मा बीच में बोल उठी–अपने-अपने भाग्य होते हैं बाबू साहब, एक ही बेटी, इतने दुलार से पाला-पोसा, फिर भी न जाने क्यों रूठी ही रहती है–कहती हुई बुड्ढी के दो बूँद आँसू भी निकल पड़े। गुलेनार की वाक्-शक्ति जैसे बन्दी होकर तड़फड़ा रही थी। मंगलदेव ने कुछ-कुछ समझा। कुछ उसे सन्देह हुआ। परन्तु वह सम्भलकर बोला–सब आप ही ठीक हो जाएगा, अभी अल्हड़पन है। अच्छा फिर जाऊँगा।

वीरेन्द्र और मंगलदेव उठे, सीढ़ी की ओर चले। गुलेनार ने झुककर सलाम किया; परन्तु उसकी आँखें पलकों का पल्ला पसारकर करुणा की भीख माँग रही थीं। मंगलदेव ने –चरित्रवान मंगलदेव ने –जाने क्यों एक रहस्यपूर्ण संकेत किया। गुलेनार हँस पड़ी, दोनों नीचे उतर गये।

मंगल! तुमने तो बड़े लम्बे हाथ-पैर निकाले–कहाँ तो आते ही न थे, कहाँ ये हरकतें!–वीरेन्द्र ने कहा।

वीरेन्द्र! तुम मुझे जानते हो; परन्तु मैं सचमुच यहाँ आकर फँस गया। यही तो आश्चर्य की बात है।

आश्चर्य काहे का, यही तो काजल की कोठरी है।

हुआ करे, चलो ब्यालू करके सो रहें। सवेरे की ट्रेन पकड़नी होगी।

नहीं वीरेन्द्र, मैंने तो कैनिंग कालेज में नाम लिखा लेने का निश्चय-सा कर लिया है, कल मैं नहीं चल सकता।–मंगल ने गम्भीरता से कहा।

वीरेन्द्र जैसे आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा–मंगल तुम्हारा इसमें कोई गूढ़ उद्देश्य होगा। मुझे तुम्हारे ऊपर इतना विश्वास है कि मैं कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि तुम्हारा पद-स्खलन होगा; परन्तु फिर भी मैं कम्पित हो रहा हूँ।

सिर नीचा किये मंगल ने कहा– और मैं तुम्हारे विश्वास की परीक्षा करूँगा। तुम तो बचकर निकल आए; परन्तु गुलेनार को बचाना होगा। वीरेन्द्र मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि यह वही बालिका है, जिसके सम्बन्ध में मैं ग्रहण के दिनों में तुमसे कहता था कि मेरे देखते ही एक बालिका कुटनी के चंगुल में फँस गई और मैं कुछ न कर सका।

ऐसी बहुत-सी अभागिनी इस देश में हैं। फिर कहाँ-कहाँ तुम देखोगे?

जहाँ-जहाँ देख सकूँगा।

सावधान!

मंगल चुप रहा।

वीरेन्द्र जानता था कि मंगल बड़ा हठी है, यदि इस समय मैं इस घटना को बहुत प्रधानता न दूँ, तो सम्भव है कि वह इस कार्य से विरक्त हो जाय, अन्यथा मंगल अवश्य वही करेगा, जिससे वह रोका जाय; अतएव वह भी चुप रहा। सामने ताँगा दिखाई दिया। उस पर दोनों बैठ गये।

दूसरे दिन सबको गाड़ी पर बैठाकर अपने एक आवश्यक कार्य का बहाना कर मंगल स्वयं लखनऊ रह गया। कैनिंग कालेज के छात्रों को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मंगल वहीं पढ़ेगा। इसके लिए स्थान का भी प्रबन्ध हो गया। मंगल वहीं रहने लगा।

दो दिन बाद मंगल अमीनाबाद की ओर गया। वह पार्क की हरियाली में घूम रहा था कि उसे अम्मा दिखलाई पड़ी और वही पहले बोली –बाबू साहब, आप तो फिर नहीं आये।

मंगल दुविधा में पड़ गया। उसकी इच्छा हुई कि कुछ उत्तर न दे। फिर सोचा– अरे मंगल, तू तो इसीलिए यहाँ रह गया है! उसने कहा– हाँ-हाँ, कुछ काम में फँस गया था। आज मैं अवश्य आता ; पर क्या करूँ, मेरे एक मित्र साथ में हैं। वह मेरा आना-जाना नहीं जानते । यदि वे चले गये, तो आज ही आऊँगा, नहीं तो फिर किसी दिन।

नहीं,नहीं, आपको गुलेनार की क़सम, चलिए वह तो उसी दिन से बड़ी उदास रहती है।

अच्छा देखो, वे चले जायें तो आता हूँ।

आप मेरे साथ चलिए, फिर जब आइएगा, तो उनसे कह दीजिएगा – मैं तो तुम्हीं को ढूँढ़ता रही, इसीलिए इतनी देर हुई और तब तक तो दो बातें करके चले आयेंगे ।

कर्त्तव्यनिष्ठ मंगल ने विचार किया– ठीक तो है। उसने कहा– अच्छी बात है।

मंगल गुलेनार की अम्मा के पीछे-पीछे चला।

गुलेनार बैठी हुई पान लगा रही थी। मंगलदेव को देखते ही मुस्कराई; पर जब उसके पीछे अम्मा की मूर्ति दिखलाई पड़ी, वह जैसे भयभीत हो गई। अम्मा ने कहा– बाबू साहब

बहुत कहने-सुनने से आये है, इनसे बातें करो। मैं अभी मीर साहब से मिलकर आती हूँ, देखूँ क्यों बुलाया है?

गुलेनार ने कहा– कब तक आओगी?

आध घण्टे में –कहती हुई अम्मा सीढ़ियाँ उतरने लगी।

गुलेनार ने सिर नीचे किये हुए पूछा– आपके लिए तो पान बाज़ार से मँगवाना होगा न?

मंगल ने कहा– उसकी आवश्यकता नहीं, मैं तो केवल अपना कुतूहल मिटाने आया हूँ–क्या सचमुच तुम वही हो, जिसे मैंने ग्रहण की रात काशी में देखा था?

जब आपको केवल पूछना ही है तो मैं क्या बताऊँ? जब आप जान जायेंगे कि वही हूँ, तो फिर आपको आने की कोई आवश्यकता ही न रह जायेगी।

मंगल ने सोचा, संसार कितनी शीघ्रता से मनुष्य को चतुर बना देता है।

अब तो पूछने का काम भी नहीं है।

क्यों?

आवश्यकता ने सब परदा खोल दिया, तुम मुसलमानी कदापि नहीं हो।

परन्तु अब मैं मुसलमानी हूँ।

हाँ, यही तो एक भयानक बात है।

और यदि मैं न होऊँ?

तब की तो बात ही दूसरी है।

अच्छा तो मैं वही हूँ, जिसका आपको भ्रम है।

तुम किस प्रकार यहाँ आ गई हो।

वह बड़ी कथा है। यह कह गुलेनार ने लम्बी साँस ली, उसकी आँखें आँसू से भर गईं।

क्या मैं सुन सकता हूँ?

क्यों नहीं, पर सुनकर क्या कीजिएगा। अब इतना ही समझ लीजिए कि मैं एक मुसलमानी वेश्या हूँ।

नहीं गुलेनार, तुम्हारा नाम क्या है, सच-सच बताओ।

मेरा नाम तारा है। मैं हरिद्वार की रहनेवाली हूँ। अपने पिता के साथ काशी में ग्रहण नहाने गई थी। बड़ी कठिनता से मेरा विवाह ठीक हो गया था। काशी से लौटते ही मैं एक कुल की स्वामिनी बनती; परन्तु दुर्भाग्य.... !- उसकी भरी आँखों से आँसू गिरने लगे।

धीरज धरो तारा! अच्छा यह तो बताओ, यहाँ कैसी कटती है?

मेरा भगवान जानता है कि कैसी कटती है! दुष्टों के चंगुल में पड़कर मेरा आहार -व्यवहार तो नष्ट हो चुका, केवल सर्वनाश होना बाक़ी है। उसमें कारण है अम्मा का लोभ। और मेरा कुछ आनेवालों से ऐसा व्यवहार भी होता है कि अभी वह जितना रुपया चाहती है, नहीं मिलता, बस इसी प्रकार बची जा रही हूँ; परन्तु कितने दिन!–गुलेनार सिसकने लगी।

मंगलदेव ने कहा–तारा, तुम यहाँ से क्यों नहीं निकल भागतीं ?

निकलकर कहाँ जाऊँ?

मंगलदेव चुप रह गया। वह सोचने लगा– मूढ़ समाज इसे शरण देगा?

गुलेनार ने पूछा– चुप क्यों हो गये, आप ही बताइए, निकलकर कहाँ जाऊँ और क्या करूँ?

अपने माता-पिता के पास। मैं पहुँचा दूँगा, इतना मेरा काम है।

बड़ी भोली दृष्टि से देखते हुए गुलेनार ने कहा– आप जहाँ कहें मैं चल सकती हूँ।

अच्छा पहले यह तो बताओ कि कैसे तुम काशी से यहाँ पहुँच गई हो?

किसी दूसरे दिन सुनाऊँगी, अम्मा आती होगी।

अच्छा, तो आज मैं जाता हूँ।

जाइए; पर इस दुखिया का ध्यान रखिए। हाँ, अपना पता तो बताइए, मुझे कोई अवसर निकलने का मिला , तो मैं कैसे सूचित करूँगी?

मंगल ने एक चिट पर पता लिखकर दे दिया, और मंगल उठ खड़ा हुआ। उसके आते ही उसने पाँच रुपये हाथ पर धर दिये।

अम्मा ने कहा– बाबू साहब, चले कहाँ! बैठिए भी।

नहीं, फिर किसी दिन आऊँगा, तुम्हारी बेगम साहब तो कुछ बोलती ही नहीं, इनके पास बैठकर क्या करूँगा!

मंगल चला गया। अम्मा क्रोध से दाँत पीसती हुई गुलेनार को घूरने लगी।

दूसरे-तीसरे मंगल गुलेनार के यहाँ जाने लगा; परन्तु वह बहुत सावधान रहता। एक दुश्चरित्र युवक इन्हीं दिनों गुलेनार के यहाँ आता। कभी-कभी मंगल की उससे मुठभेड़ हो जाती; परन्तु मंगल ऐसे कैंडे से बात करता कि वह मान गया। अम्मा ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए इन दोनों में प्रतिद्वन्द्विता चला दी। युवक शरीर से हृदय-पुष्ट कसरती था। उसके ऊपर के होंठ मसूड़ों के ऊपर ही रह गये थे। दाँतों की श्रेणी सदैव खुली रहती, उसकी लम्बी नाक और लाल आँखें बड़ी डरावनी और रोबीली थीं; परन्तु मंगल की मुस्कराहट पर वह भौंचक-सा रह जाता और अपने व्यवहार से मंगल को मित्र बनाये रखने की चेष्टा किया करता। गुलेनार अम्मा को यह दिखलाती कि वह मंगल से बहुत बोलना नहीं चाहती।

एक दिन दोनों गुलेनार के पास बैठे थे। युवक ने, जो अभी अपने एक मित्र के साथ दूसरी वेश्या के यहाँ से आया था, अपनी डींग हाँकते हुए मित्र के लिए कुछ अपशब्द कहे, फिर उसने मंगल से कहा– वह न जाने क्यों उस चुड़ैल के यहाँ जाता है। और क्यों कुरूप स्त्रियाँ वेश्या बनती हैं, जब उन्हें मालूम है कि उन्हें तो रूप के बाज़ार में बैठना है।–फिर अपनी रसिकता दिखाते हुए हँसने लगा।

परन्तु मैं तो आज तक यही नहीं समझता कि सुन्दरी स्त्रियाँ क्यों वेश्या बनें! संसार का सबसे सुन्दर जीव क्यों सबसे बुरा काम करे? –कहकर मंगल ने सोचा कि यह स्कूल की विवाद-सभा नहीं है। वह अपनी मूर्खता पर चुप हो गया। युवक हँस पड़ा। अम्मा अपनी

जीविका को बहुत बुरा सुनकर तन गई। गुलेनार सिर नीचा किये हँस रही थी। अम्मा ने कहा—फिर ऐसी जगह बाबू साहब आते ही क्यों हैं?

मंगल ने उत्तेजित होकर कहा—ठीक है, यह मेरी मूर्खता है?

युवक अम्मा को लेकर बातें करने लगा, वह प्रसन्न हुआ कि प्रतिद्वन्द्वी अपनी ही ठोकर से गिरा, धक्का देने की आवश्यकता ही न पड़ी। मंगल की ओर देखकर धीरे से गुलेनार ने कहा—अच्छा हुआ; पर जल्द... ।

मंगल उठा और सीढ़ियाँ उतर आया।

शाह मीना की समाधि पर गायकों की भीड़ है। सावन की हरियाली क्षेत्र पर और नील मेघमाला आकाश के अंचल में फैल रही है। पवन के आन्दोलन से बिजली के आलोक में बादलों का हटना-बढ़ना गगन-समुद्र में तरंगों का सृजन कर रहा है। कभी फूही पड़ जाती है, समीर का झोंका गायकों को उन्मत्त बना देता है। उनकी इकहरी तानें तिहरी हो जाती हैं। सुननेवाले झूमने लगते हैं। वेश्याओं का दर्शकों के लिए आकर्षक समारोह है। एक घण्टे रात बीत गई है।

अब रसिकों के समाज में हलचल मची, बूँदे लगातार पड़ने लगीं। लोग तितर-बितर होने लगे। गूलेनार, युवक और अम्मा के साथ आई थी। वह युवक से बातें करने लगी। अम्मा भीड़ में अलग हो गई ,दोनों और आगे बढ़ गये। सहसा गुलेनार ने कहा— आह! मेरे पाँव में चटक हो गई , अब मैं एक पग चल नहीं सकती, डोली ले आओ, वह बैठ गई, युवक डोली लेने चला।

गुलेनार ने कहा—किधर? चलो! —दोनों हाथ पकड़कर बढ़े। चक्कर देकर दोनों बाहर आ गये, ताँगे पर बैठे और वह ताँगे वाला क़व्वालों की तान— 'जिस जिस को दिया चाहें' को दुहराता हुआ चाबुक लगाता घोड़े को उड़ा ले चला। चारबाग़ स्टेशन पर देहरादून जानेवाली गाड़ी खड़ी थी। ताँगे वाले को पुरस्कार देकर मंगल सीधे गाड़ी में जाकर बैठ गया। सीटी बजी, सिगनल हुआ, गाड़ी खुल गई।

तारा, थोड़े भी विलम्ब से गाड़ी न मिलती।

ठीक समय से पानी आ गया। हाँ, यह तो कहो, मेरा पत्र कब मिला?

आज नौ बजे। मैं सामान ठीक करके संध्या की बाट देख रहा था। टिकट ले लिये थे और ठीक समय पर तुमसे भेंट हुई।

कोई पूछे तो क्या कहा जाएगा?

अपने वेश्यापन के दो -तीन आभूषण उतार दो और किसी के पूछने पर कहना —अपने पिता के पास जा रही हूँ, ठीक पता बताना।

तारा ने फुरती से वैसा ही किया। वह एक साधारण गृहस्थ बालिका बन गई।

वहाँ पूरा एकान्त था, दूसरे यात्री न थे। देहरादून एक्सप्रेस वेग से जा रही थी।

मंगल ने कहा— तुम्हें सूझी अच्छी । उस तुम्हारी दुष्टा अम्मा को यही विश्वास होगा कि कोई दूसरा ही ले गया। हमारे पास तक तो उसका संदेह भी न पहुँचेगा।

भगवान की दया से नरक से छुटकारा मिला। आह कैसी नीच कल्पनाओं से हृदय भरा जाता था—सन्ध्या में बैठकर मनुष्य-समाज की अशुभ कामना करना, उसे नरक के पथ की ओर चलाने का संकेत बताना, फिर उसी से अपनी जीविका!

तारा, फिर भी तुमने अपने धर्म की रक्षा की। आश्चर्य!

यही कभी-कभी मैं भी विचारती हूँ कि संसार दूर से, नगर, जनपद, सौधश्रेणी, राजमार्ग और अट्टालिकाओं से जितना शोभन दिखाई पड़ता है, वैसा ही सरल और सुन्दर भीतर नहीं है। जिस दिन मैं अपने पिता से अलग हुई, ऐसे -ऐसे निर्लज्ज और नीच मनोवृत्तियों के मनुष्यों से सामना हुआ, जिन्हें पशु भी कहना उन्हें महिमान्वित करना है!

हाँ-हाँ, यह तो कहो, तुम काशी से लखनऊ कैसे आ गई?

तुम्हारे सामने जिस दुष्टा ने मुझे फँसाया, वह स्त्रियों का व्यापार करने वाली एक संस्था की कुटनी थी। मुझे ले जाकर उन सबों ने घर में रक्खा, जिसमें मेरी ही जैसी कई अभागिनें थी; परन्तु उनमें सब मेरी जैसी रोनेवाली न थीं। बहुत-सी स्वेच्छा से आई थीं और कितनी ही कलंक लगने पर अपने घरवालों से मेले में छोड़ दी गई थीं! मैं अलग बैठी रोती रहती थी। उन्हीं में से कई मुझे हँसाने की उद्योग करती, कोई समझाती, कोई झिड़कियाँ सुनाती और कोई मेरी मनोवृत्ति के कारण मुझे बनाती! मैं चुप होकर सुना करती; परन्तु कोई पथ निकलने का न था। सब प्रबन्ध ठीक हो गया था, हम लोग पंजाब भेजी जानेवाली थीं। रेल पर बैठने का समय हुआ, मैं सिसक रही थी। स्टेशन के विश्राम-गृह में एक भीड़-सी लग रही थी; परन्तु मुझे कोई न पूछता था। यही दुष्टा अम्मा वहाँ आई और बड़े दुलार से बोली —चल बेटी, मैं तुझे तेरी माँ के पास पहुँचा दूंगी । मैंने उन सबों को ठीक कर लिया है— मैं प्रसन्न हो गई । मैं क्या जानती थी कि मैं चूल्हे से निकलकर भाड़ में जाऊँगी। बात भी कुछ ऐसी थी। मुझे उपद्रव मचाते देखकर उन लोगों ने अम्मा से कुछ रुपया लेकर मुझे उसके साथ कर दिया, मैं लखनऊ पहुँची।

हाँ-हाँ, ठीक है; मैंने भी सुना है कि पंजाब में स्त्रियों की कमी है; इसीलिए और प्रान्तों से वहाँ स्त्रियाँ भेजी जाती हैं, जो अच्छे दामों पर बिकती हैं। क्या तुम भी उन्हीं के चंगुल में....?

हाँ, दुर्भाग्य से !

स्टेशन पर गाड़ी रुक गई। रजनी की गहरी नीलिमा में नभ के तारे चमक रहे थे। तारा उन्हें खिड़की से देखने लगी। इतने में उस गाड़ी में एक पुरुष यात्री ने प्रवेश किया। तारा घूँघट निकालकर बैठ गई। और वह पुरुष अपना गट्ठर रखकर सोने का प्रबन्ध करने लगा। दो-चार क्षण में गाड़ी चली। तारा ने घूमकर देखा कि वह पुरुष मुँह फेरकर सो गया है; परन्तु अभी जगे रहने की संभावना थी। बातें आरम्भ न हुई। कुछ देर तक दोनों चुपचाप थे। फिर झपकी आने लगी। तारा ऊँघने लगी। मंगल भी झपकी लेने लगा। गंभीर रजनी के अंचल से उस चलती हुई गाड़ी पर पंखा चल रहा था। आमने -सामने बैठे हुए मंगल और तारा निद्रावश होकर झूम रहे थे। मंगल का सिर टकराया। उसकी आँखें खुलीं। तारा का घूँघट उलट गया था। देखा, तो गले का कुछ अंश, कपोल, पाली और निद्रानिमीलित

पद्मपलाशलोचन, जिस पर भौंहों की काली सेना का पहरा था! वह न जाने क्यों उसे देखने लगा? सहसा गाड़ी रुकी और धक्का लगा। तारा मंगलदेव के अंक में आ गई । मंगल ने उसे सम्हाल लिया। वह आँखें खोलती हुई मुस्कुराई और फिर सहारे से टिककर सोने लगी। यात्री, जो अभी दूसरे स्टेशन पर चढ़ा था, सोते-सोते वेग से उठ पड़ा और सिर खिड़की से बाहर निकालकर वमन करने लगा। मंगल स्वयंसेवक था। उसने जाकर उसे पकड़ा और तारा से कहा–लोटे में पानी होगा, दो मुझे! –तारा ने जल दिया, मंगल ने यात्री का मुँह धुलाया। वह आँखों को जल से ठंडक पहुँचाते हुए मंगल के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना ही चाहता था कि तारा और उसकी आँखें मिल गईं। तारा पैर पकड़कर रोने लगी। यात्री ने निर्दयता से झिटकार दिया। मंगल अवाक् था।

बाबूजी, मेरा क्या अपराध? मैं तो आप ही लोगों की खोज कर रही थी।

अभागिनी! खोज रही थी मुझे या किसी और को --

किसको बाबूजी? बिलखते हुए तारा ने कहा।

जो पास बैठा है। क्या मुझे खोजना चाहती, तो एक पोस्टकार्ड न डाल देती? कलंकिनी! दुष्टा! मुझे जल पिला दिया, प्रायश्चित्त करना पड़ेगा!

अब मंगल की समझ में आया कि वह यात्री तारा का पिता है; परन्तु उसे विश्वास न हुआ कि यही तारा का पिता है। क्या पिता भी इतना निर्दय हो सकता है? उसे अपने ऊपर किए गए व्यंग्य का भी बड़ा दुःख हुआ, परन्तु क्या करे, इस कठोर अपमान को तारा का भविष्य सोचकर वह पी गया। उसने धीरे से सिसकती हुई तारा से पूछा –क्या यही तुम्हारे पिता हैं?

हाँ, परन्तु मैं अब क्या करूँ। बाबूजी, मेरी माँ होती, तो इतनी कठोरता न करती। मैं उन्हीं की गोद में जाऊँगी।--तारा फूट-फूटकर रो रही थी।

तेरी नीचता से दुखी होकर महीनों हुए, वह मर गई, तू न मरी – कालिख पोतने के लिए जीती रही? –यात्री ने कहा।

मंगल से रहा न गया, उसने कहा– महाशय, आपका क्रोध व्यर्थ है। यह स्त्री कुचक्रियों के फेर में पड़ गई थी; परन्तु इसकी पवित्रता में कोई अन्तर नहीं पड़ा, बड़ी कठिनता से उद्धार करके मैं इसे आप ही के पास पहुँचाने के लिए जा रहा था। भाग्य से आप यहीं मिल गए।

भाग्य नहीं, दुर्भाग्य से ! –घृणा और क्रोध से यात्री के मुँह का रंग बदल रहा था।

तब यह किसकी शरण में जाएगी? अभागिनी की कौन रक्षा करेगा? मैं आपको प्रमाण दूँगा कि तारा निरपराधिनी है। आप इसे .... बीच ही में यात्री ने रोककर कहा– मूर्ख युवक! ऐसी स्वैरिणी को कौन गृहस्थ अपनी कन्या कहकर सिर नीचा करेगा? तुम्हारे-जैसे इसके बहुत-से संरक्षक मिलेंगे। बस अब मुझ से कुछ न कहो– यात्री का दम्भ उसके अधरों में स्फुरित हो रहा था। तारा अधीर होकर रो रही थी और युवक इस कठोर उत्तर को अपने मन में तोल रहा था।

गाड़ी बीच के छोटे स्टेशन पर नहीं रुकी। स्टेशन की लालटेनें जल रही थीं। तारा ने देखा, एक सजा-सजाया घर भागकर छिप गय। तीनों चुप रहे। तारा क्रोध और ग्लानि से फूल रही थी। निराशा और अन्धकार में विलीन हो रही थी। गाड़ी दूसरे स्टेशन पर रुकी। सहसा यात्री उतर गया।

मंगलदेव कर्त्तव्य-चिन्ता में व्यस्त था। तारा भविष्य की कल्पना कर रही थी। गाड़ी अपनी धुन में गम्भीर तम का भेदन करती हुई चलने लगी।

३

हरिद्वार की बस्ती से अलग गंगा के तट पर एक छोटा-सा उपवन है। दो-तीन कमरे और दालानों का उसी से लगा हुआ छोटा-सा घर है। दालान में बैठी हुई तारा माँग सँवार रही है। अपनी दुबली -पतली लम्बी काया की छाया प्रभात के कोमल आतप में डालती हुई तारा एक कुलवधू के समान दिखाई पड़ती है। बालों से लपेटकर बँधा हुआ जूड़ा, छलछलाई आँखें, नमित और ढीली अंग -लता , पतली -पतली लम्बी उँगलियाँ, जैसे चित्र सजीव होकर काम कर रहा है। पखवारों में ही तारा के कपोलों के ऊपर और भवों के नीचे श्याम मण्डल पड़ गया है। वह काम करते हुए भी, जैसे अन्यमनस्क-सी है। अन्यमनस्क रहना ही उसकी स्वाभाविकता है। आजकल उसकी झुकी हुई पलकें काली पुतलियों को छिपाए रखती हैं। आँखें संकेत से कहती हैं कि हमें कुछ न कहो, नहीं बरसने लगेंगी।

पास ही तून की छाया में पत्थर पर बैठा हुआ मंगल एक पत्र लिख रहा है। पत्र समाप्त करके उसने तारा की ओर देखा और पूछा —मैं पत्र छोड़ने जा रहा हूँ, कोई काम बाज़ार का हो, तो करता आऊँ।

तारा ने पूर्ण गृहिणी-भाव से कहा- थोड़ा कड़वा तेल चाहिए, और सब वस्तुएँ हैं। मंगलदेव जाने के लिए उठ खड़ा हुआ। तारा ने फिर पूछा– और नौकरी का क्या हुआ?

नौकरी मिल गई है। उसी की स्वीकृति-सूचना लिखकर पाठशाला के अधिकारी के पास भेज रहा हूँ। आर्य-सभाज की पाठशाला में व्यायाम-शिक्षक का काम करूँगा।

वेतन तो थोड़ा ही मिलेगा। यदि मुझे भी कोई काम मिल जाए, तो देखना, मैं तुम्हारा हाथ बँटा लूँगी।

मंगलदेव ने हँस दिया और कहा– स्त्रियाँ बहुत शीघ्र उत्साहित हो जाती हैं और उतने ही अधिक परिमाण में निराशवादिनी भी होती हैं। भला मैं तो पहले टिक जाऊँ! फिर तुम्हारी देखी जायगी। —मंगलदेव चला गया। तारा ने उस एकान्त उपवन की ओर देखा- शरद का निरभ्र आकाश छोटे-से उपवन पर अपने उज्ज्वल आतप के मिस हँस रहा था। तारा सोचने लगी—

यहाँ से थोड़ी दूर पर मेरा पितृ-गृह है; पर मैं वहाँ नहीं जा सकती। पिता समाज धर्म के भय से त्रस्त हैं। और, निष्ठुर पिता! अब उनकी भी पहली-सी आय नहीं, महन्तजी प्रायः

बाहर, विशेषकर काशी रहा करते हैं। मठ की अवस्था बिगड़ गई है। इस दासवृत्ति से जीवन बिताने से क्या वह बुरा था, जिसे मैं छोड़कर आई। किस आकर्षण ने यह उत्साह दिलाया और अब वह क्या हुआ, जो मेरा मन ग्लानि का अनुभव करता है, परतन्त्रता से। नहीं, मैं भी स्वावलम्बिनी बनूँगी; परन्तु मंगल! वह निरीह – निष्पाप हृदय!

तारा और मंगल –दोनों में मन के संकल्प -विकल्प चल रहे थे। समय अपने मार्ग चल रहा था। दिन पीछे छूटते जाते थे। मंगल की नौकरी लग गई। तारा गृहस्थी जमाने लगी।

धीरे-धीरे मंगल के बहुत -से कार्य मित्र बन गए। और कभी-कभी देवियाँ भी तारा से मिलने लगी। आवश्यकता से विवश होकर मंगल और तारा ने आर्य-समाज का साथ दिया था। मंगल स्वतन्त्र विचार का युवक था। उसके धर्म सम्बन्धी विचार निराले थे; परन्तु बाहर से वह पूर्ण आर्य -समाजी था। तारा की सामाजिकता बनाने के लिए उसे दूसरा मार्ग न था।

एक दिन कई मित्रों के अनुरोध से उसने अपने यहाँ प्रीतिभोज दिया। श्रीमती प्रकाशदेवी, सुभद्रा, अम्बालिका, पीलोमी आदि नामांकित कई देवियाँ; अभिमन्यु, वेदस्वरूप, ज्ञानदत्त और वरुणप्रिय, भीष्मव्रत आदि कई आर्यसभ्य एकत्रित हुए।

वृक्ष के नीचे कुर्सियाँ पड़ी थी। सब बैठे थे। बातचीत हो रही थी। तारा अतिथियों के स्वागत में लगी थी। सब बैठे थे। भोजन बनकर प्रस्तुत था। ज्ञानदत्त ने कहा– अभी ब्रह्मचारीजी नहीं आए!

अरुण –आते ही होंगे।

वेद– तब तक हम लोग संध्या कर लें।

इन्द्र– यह प्रस्ताव ठीक है; परन्तु लीजिए वह ब्रह्मचारीजी आ रहे हैं।

एक घुटनों से नीचा लम्बा कुरता डाले, लम्बे बाल और छोटी दाढ़ी वाले गौरवर्ण युवक को देखते ही नमस्ते की धूम मच गई। ब्रह्मचारीजी बैठे। मंगलदेव का परिचय देते हुए वेदस्वरूप ने कहा– आपका ही शुभ नाम मंगलदेव है! इन्होंने ही देवी का यवनों के चंगुल से उद्धार किया है।–तारा ने नमस्ते किया, ब्रह्मचारी ने पहले हँसकर कहा– सो तो होना चाहिए, ऐसे ही नवयुवकों से भारतवर्ष को आशा है। इस सत्साहस के लिए मैं धन्यवाद देता हूँ। आप समाज में कब से प्रविष्ट हैं?

अभी तो मैं सभ्यों में नहीं हूँ– मंगल ने कहा।

बहुत शीघ्र हो जाइए, बिना भित्ति के कोई घर नहीं टिकता और बिना नींव की कोई भित्ति नहीं। उसी प्रकार सद्विचार के बिना मनुष्य की स्थिति नहीं और धर्म-संस्कारों के बिना सद्विचार टिकाऊ नहीं होते। इसके सम्बन्ध में मैं विशेष रूप से फिर कहूँगा। आइए हम लोग सन्ध्या-वन्दन कर लें।

सन्ध्या और प्रार्थना के समय मंगलदेव केवल चुपचाप बैठा रहा।

थालियाँ परसी गईं। भोजन करने के लिए लोग आसन पर बैठे। वेदस्वरूप ने कहना आरम्भ किया– हमारी जाति में धर्म के प्रति इतनी उदासीनता का कारण है एक कल्पित ज्ञान, जो इस देश के प्रत्येक प्राणी के लिए सुलभ हो गया है। वस्तुतः उन्हें ज्ञानाभाव होता

है और वे अपने साधारण नित्यकर्म से वंचित होकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने में असमर्थ होते हैं।

ज्ञानदत्त– इसीलिए आर्यों का कर्मवाद संसार के लिए विलक्षण कल्याण- दायक है; ईश्वर के प्रति विश्वास करते हुए भी उसे स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाता है। यह ऋषियों का दिव्य अनुसंधान है।

ब्रह्मचारी ने गंभीर स्वर से प्रणवाद किया और दन्त-अन्न का युद्ध प्रारम्भ हुआ।

मंगलदेव ने कहा– परन्तु संसार की अभाव- आवश्यकताओं को देखकर यह कहना पड़ता है कि कर्मवाद का सृजन करके हिन्दू जाति ने अपने लिए असन्तोष और दौड़-धूप, आशा और संकल्प का फन्दा बना लिया है।

कदापि नहीं, ऐसा समझना भ्रम है महाशयजी! मनुष्यों को पाप-पुण्य की सीमा में रखने के लिए इससे बढ़कर कोई उपाय जगत् को नहीं मिला।–सुभद्रा ने कहा।

श्रीमती! मैं पाप-पुण्य की परिभाषा नहीं समझता; परन्तु यह कहूँगा कि मुसलमान- धर्म इस ओर बड़ा दृढ़ है। वह सम्पूर्ण निराशावादी होते हुए, भौतिक कुल शक्तियों पर अविश्वास करते हुए, केवल ईश्वर की अनुकम्पा पर अपने को निर्भर करता है। इसीलिए उनमें इतनी दृढ़ता होती है। उन्हें विश्वास होता है कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता— बिना परमात्मा की आज्ञा के। और केवल इसी एक विश्वास के कारण वे संसार में संतुष्ट हैं।

परसनेवाले ने कहा– मूँग का हलवा ले आऊँ। खीर में तो अभी कुछ विलम्ब है।

ब्रह्मचारी ने कहा– भाई, हम जीवन को सुख के अच्छे उपकरण ढूँढ़ने में नहीं बिताना चाहते। जो कुछ प्राप्त है, उसी में जीवन सुखी होकर बीते, इसी की चेष्टा करते हैं। इसीलिए जो प्रस्तुत हो, ले आओ।

सब लोग हँस पड़े।

फिर ब्रह्मचारी ने कहा– महाशयजी, आपने एक बड़े धर्म की बात कही हैं। मैं उसका कुछ निराकरण कर देना चाहता हूँ। मुसलमान- धर्म निराशावादी होते हुए भी क्यों इतना उन्नतिशील है, इसका कारण तो आपने स्वयं कहा है कि 'ईश्वर में विश्वास' परन्तु इसके साथ उनकी सफलता का एक और भी रहस्य है। वह है उनकी नित्य-क्रिया की नियम-बद्धता; क्योंकि नियमित रूप से परमात्मा की कृपा का लाभ उठाने के लिए प्रार्थना करना आवश्यक है। मानव-स्वभाव दुर्बलताओं का संकलन है,सत्कर्म विशेष हो पाते नहीं, क्योंकि नित्य-क्रियाओं द्वारा उनका अभ्यास नहीं। दूसरी ओर ज्ञान की कमी से ईश्वर -निष्ठा भी नहीं। इसी अवस्था को देखते हुए ऋषि ने यह सुगम आर्य-पथ बनाया है। प्रार्थना नियमित रूप से करना, ईश्वर में विश्वास करना, यही तो आर्य-समाज का संदेश है। यह स्वावलम्बपूर्ण है; यह दृढ़ विश्वास दिलाता है कि हम सत्कर्म करेंगे, तो परमात्मा की कृपा अवश्य होगी।

सब लोगों ने उन्हें धन्यवाद दिया। ब्रह्मचारी ने हँसकर सबका स्वागत किया। अब एक क्षणभर के लिए विवाद स्थगित हो गया और भोजन में सब लोग दत्तचित्त हुए। कुछ भी

परसने के लिए जब पूछा जाता तो वे 'हूँ' कहते। कभी-कभी न लेने के लिए भी उसी का प्रयोग होता। परसनेवाला घबरा जाता और भ्रम से उनकी थाली में कुछ-का-कुछ डाल देता; परन्तु वह सब यथास्थान पहुँच जाता। भोजन समाप्त करके सब लोग यथास्थान बैठे। तारा भी देवियों के साथ हिल-मिल गई।

चाँदनी निकल आई थी। समय सुन्दर था। ब्रह्मचारी ने प्रसंग छेड़ते हुए कहा– मंगलदेवजी! आपने एक आर्य-बालिका का यवनों से उद्धार करके बड़ा पुण्यकर्म किया है। इसके लिए आपको हम सब लोग बधाई देते हैं।

वेदस्वरूप– और इस उत्तम प्रीतिभोज के लिए धन्यवाद।

विदुषी सुभद्रा ने कहा– परमात्मा की कृपा से तारादेवी के शुभ पाणि-ग्रहण के अवसर पर हम लोग फिर इसी प्रकार सम्मिलित हों।

मंगलदेव ने, जो अभी तक अपनी प्रशंसा का बोझ सिर नीचे किये उठा रहा था, कहा– जिस दिन इतना हो जाए, उसी दिन मैं अपने कर्त्तव्य को पूरा कर सकूँगा।

तारा सिर झुकाये रही। उसके मन में इन सामाजिकों की सहानुभूति ने एक नई कल्पना उत्पन्न कर दी। वह एक क्षण भर के लिए अपने भविष्य से निश्चिन्त-सी हो गई।

उपवन के बाहर तक तारा और मंगलदेव ने अतिथियों को पहुँचाया। ये लोग बिदा हो गये। मंगलदेव अपनी कोठरी मे चला गया और तारा अपने कमरे में जाकर पलंग पर लेट गई। उसने एक बार आकाश के सुकुमार शिशु को देखा। छोटे-से चन्द्र की हलकी चाँदनी में वृक्षों की परछाई उसकी कल्पनाओं को रंजित करने लगी। वह अपने उपवन का मूक दृश्य खुली आँखों से देखने लगी। पलकों में नींद न थी, मन में चैन न था, न जाने क्यों उसके हृदय में धड़कन बढ रही थी। रजनी के नीरव संसार में वह उसे साफ़ सुन रही थी। जगते-जगते रात दो पहर से अधिक चली गई। चन्द्रिका के अस्त हो जाने से उपवन में अँधेरा फैल गया। तारा उसी में आँख गड़ाकर न जाने क्या देखना चाहती थी। उसका भूत, वर्तमान और भविष्य– तीनों अन्धकार में कभी छिपते और कभी ताराओं के रूप में चमक उठते। वह एक बार अपनी उस वृत्ति को आवाहन करने की चेष्टा करने लगी, जिसकी शिक्षा उसे वेश्यालय से मिली थी। उसने मंगल को तब नहीं; परन्तु अब खींचना चाहा। रसीली कल्पनाओं से हृदय भर गया। रात बीत चली। उषा का आलोक प्राची में फैल रहा था। उसने खिड़की से झाँककर देखा, तो उपवन में चहल-पहल थी। जूही की प्यालियों में मकरन्द-मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थी, और दक्षिणपवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। कमर से झुकी हुई अलबेली बेलियाँ नाच रही थी। मन की हार-जीत हो रही थी।

मंगलदेव ने पुकारा–नमस्कार।

तारा ने मुस्कराते हुए पलंग पर बैठकर दोनों हाथ सिर से लगाते हुए कहा–नमस्कार!

मंगल ने देखा– कविता में वर्णित नायिका जैसे प्रभात की शैया पर बैठी है।

समय के साथ-साथ तारा अधिकाधिक गृहस्थी में चतुर और मंगल परिश्रमी होता जाता था। सवेरे जलपान बनाकर तारा मंगल को देती, समय पर भोजन और ब्यालू। मंगल

के वेतन में सब प्रबन्ध हो जाता, कुछ बचता न था। दोनों को बचाने की चिंता भी न थी; परन्तु इन दिनों एक बात नई हो चली। तारा मंगल के अध्ययन में बाधा डालने लगी। वह प्रातः उसके पास ही बैठ जाती। उसकी पुस्तकों को उलटती, यह प्रकट हो जाता कि तारा मंगल से अधिक बातचीत करना चाहती है और मंगल कभी-कभी इससे घबरा उठता।

वसन्त का प्रारम्भ था, पत्ते देखते-ही-देखते ऐंठते जाते थे और पतझड़ के बीहड़ समीर से वे झड़कर गिरते थे। दोपहर था। कभी-कभी बीच में कोई पक्षी वृक्षों की शाखों में छिपा हुआ बोल उठता। फिर निस्तब्धता छा जाती। दिवस विरस हो चले थे। अँगड़ाई लेकर तारा ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए मंगल से कहा–आज मन नहीं लगता है।

मेरा भी मन उचाट हो रहा है। इच्छा होती है कहीं घूम आऊँ; परन्तु तुम्हारा ब्याह हुए बिना मैं कहीं जा नही सकता।

मैं तो ब्याह न करूँगी।

क्यों?

दिन तो बिताना ही है; कहीं नौकरी कर लूँगी। ब्याह करने की क्या आवश्यकता है?

नहीं तारा, यह नहीं हो सकता। तुम्हारा निश्चित लक्ष्य बनाये बिना कर्त्तव्य मुझे धिक्कार देगा।

मेरा लक्ष्य क्या है, अभी मैं स्वयं स्थिर नहीं कर सकी।

मैं स्थिर करूँगा।

क्यों यह भार अपने ऊपर लेते हो? मुझे अपनी धारा में बहने दो।

सो नहीं हो सकेगा।

मैं कभी-कभी विचारती हूँ कि छायाचित्र-सदृश जनस्रोत में नियति के पवन की थपेड़ें लग रही हैं, वह तरंग-संकुल होकर झूम रहा है। और मैं, एक तिनके के सदृश उसी में इधर-उधर बह रही हूँ। कभी भँवरों में चक्कर खाती हूँ, कभी लहरों में नीचे-ऊपर होती हूँ। कहीं कूल-किनारा नहीं!– कहते-कहते तारा की आँखें छलछला उठीं।

न घबड़ाओ तारा, भगवान सबके सहायक हैं– मंगल ने कहा। और जी बहलाने के लिए कहीं घूमने का प्रस्ताव किया।

दोनों उतरकर गंगा के समीप के शिला-खण्डों से लगकर बैठ गये। जाह्नवी के स्पर्श से पवन अत्यन्त शीतल होकर शरीर में लगता है। यहाँ धूप कुछ भली लगती थी। दोनों विलम्ब तक बैठ चुपचाप निसर्ग सुन्दर दृश्य देखते थे। संध्या हो चली। मंगल ने कहा–तारा चलो, घर चलें। तारा चुपचाप उठी। मंगल ने देखा, उसकी आँखें लाल हैं। मंगल ने पूछा– क्या सिर में दर्द है?

नहीं तो।

दोनों घर पहुँचे। मंगल ने कहा– आज ब्यालू बनाने की आवश्यकता नहीं, जो कहो बाज़ार से लेता आऊँ।

इस तरह कैसे चलेगा। मुझे हुआ क्या है, थोड़ा दूध ले आओ, तो खीर बना दूँ। कुछ पूरियाँ बची हैं।

मंगलदेव दूध लेने चला गया।

तारा सोचने लगी—मंगल मेरा कौन है, जो मैं इतनी आज्ञा देती हूँ! क्या वह मेरा कोई है?—मन में सहसा बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ उदित हुईं और गंभीर आकाश के शून्य में ताराओं के समान डूब गईं। वह चुप बैठी रही।

मंगल दूध लेकर आया। दीपक जला। भोजन बना। मंगल ने कहा—तारा, आज तुम मेरे ही साथ बैठकर भोजन करो।

तारा को कुछ आश्चर्य न हुआ, यद्यपि मंगल ने कभी ऐसा प्रस्ताव न किया था; परन्तु वह उत्साह के साथ सम्मिलित हुई।

दोनों भोजन करके अपने-अपने पलंग पर चले गये। तारा की आँखों में नींद न थी। उसे कुछ शब्द सुनाई पड़ा। पहले तो उसे भय लगा, फिर साहस करके उठी। आहट लगा कि मंगल का-सा शब्द है। वह उसके कमरे में जाकर खड़ी हो गई। मंगल सपना देख रहा था, बर्रा रहा था—कौन कहता है कि तारा मेरी नहीं है? मैं भी उसी का हूँ। तुम्हारे हत्यारे समाज की मैं चिन्ता नहीं करता.....वह देवी है। मैं भी उसकी सेवा करूँगा.....नहीं-नहीं, उसे मुझसे न छीनो।

तारा पलंग पर झुक गई थी। वसन्त की लहरीली समीर उसे पीठ से ढकेल रही थी। रोमांच हो रहा था, जैसे कामना-तरंगिनी में छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं। कभी वक्षस्थल में कभी कपोलों पर स्वेद हो जाते थे। प्रकृति प्रलोभन से सजी थी। विश्व एक भ्रम बनकर तारा के यौवन की उमंग में डूबना चाहता था।

सहसा मंगल ने उसी प्रकार सपने में बर्राते हुए कहा—मेरी तारा, प्यारी तारा आओ! —उसके दोनों हाथ उठ रहे थे कि आँखें बन्द कर तारा ने अपने को मंगल के अंक में डाल दिया।

प्रभात हुआ, वृक्षों के अंक में पक्षियों का कलरव होने लगा। मंगल की आँखें खुलीं, जैसे उसने रातभर एक मनोहर सपना देखा हो। वह तारा को सोई छोड़कर बाहर निकल आया, टहलने लगा। उत्साह से उसके चरण नृत्य कर रहे थे। बड़ी उत्तेजित अवस्था में टहल रहा था। टहलते-टहलते एक बार अपनी कोठरी में गया। जँगले से पहली लाल किरणें तारा के कपोल पर पड़ रही थीं। मंगल ने उसे चूम लिया। तारा जग पड़ी। वह लजाती हुई मुस्कुराने लगी। दोनों का मन हलका था।

उत्साह में दिन बीतने लगे। दोनों के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो चला। अब तारा का वह निःसंकोच भाव न रहा। पति-पत्नी का-सा व्यवहार होने लगा। मंगल बड़े स्नेह से पूछता, वह सहज संकोच से उत्तर देती। मंगल मन-ही-मन हँसता व प्रसन्न होता। उसके लिए संसार पूर्ण हो गया था—कहीं रिक्तता नहीं, कहीं अभाव नहीं।

तारा एक दिन बैठी कसीदा काढ़ रही थी। धम-धम का शब्द हुआ। दोपहर था। आँख उठाकर देखा—एक बालक दौड़ा हुआ आकर दालान में छिप गया। उपवन के किवाड़

तो खुले ही थे, और भी दो लड़के पीछे-पीछे आये। पहला बालक सिमटकर सबकी आँखों की ओट हो जाना चाहता था। तारा कुतूहल से देखने लगी। उसने संकेत मे मना किया कि बतावे न। तारा हँसने लगी। दोनों खोजनेवाले लड़के ताड़ गये। एक ने पूछा--सच बताना, रामू यहाँ आया है? पड़ोस के लड़के थे, तारा ने हँस दिया, रामू पकड़ा गया। तारा ने तीनों को एक-एक मिठाइयाँ दीं। खूब हँसी होती रही।

कभी-कभी कुल्लू की माँ आ जाती। वह कसीदा सीखती। कभी बल्लो अपनी किताब लेकर आती, तारा उसे कुछ बताती। विदुषी सुभद्रा भी प्रायः आया करती।

एक दिन सुभद्रा बैठी थी, तारा ने कुछ उससे जलपान करने का अनुरोध किया। सुभद्रा ने कहा—तुम्हारा ब्याह जिस दिन होगा, उसी दिन जल-पान करूँगी।

और जब तक न होगा, तुम यहाँ जल न पीओगी?

जब तक क्यों? तुम क्यों विलम्ब करती हो?

मैं ब्याह करने की आवश्यकता यदि न समझूँ तो?

यह तो असम्भव है। बहन, आवश्यकता होती ही है।

सुभद्रा रुक गई। तारा के कपोल लाल हो गये। उसकी ओर कनखियों से देख रही थी। वह बोली—क्या मंगलदेव ब्याह करने पर प्रस्तुत नहीं होते।

मैंने कभी प्रस्ताव तो किया नहीं।

मैं करूँगी बहन! संसार बड़ा खराब है। तुम्हारा उद्धार इसलिए नहीं हुआ है कि तुम यों ही पड़ी रहो। मंगल में यदि साहस नहीं है, तो दूसरा पात्र ढूँढ़ा जायगा; परन्तु सावधान! तुम दोनों का इस तरह रहना कोई भी समाज हो, अच्छी आँखों से नहीं देखेगा। चाहे तुम दोनों कितने ही पवित्र हो।

तारा को जैसे किसी ने चुटकी काट ली। उसने कहा—न देखे समाज, भले हीं, मैं किसी से कुछ चाहती तो नहीं; पर मैं अपने से ब्याह का प्रस्ताव किसी से नहीं कर सकती।

भूल है प्यारी बहन! हमारी स्त्रियों की जाति इसी में मारी जाती है। वे मुँह खोलकर सीधा-सादा प्रस्ताव नहीं कर सकतीं; परन्तु संकेतों से, अपनी कुटिल अंग-भंगियों के द्वारा प्रस्ताव से अधिक करके पुरुषों को उत्साहित किया करती हैं। और बुरा न मानना, तब वे अपना सर्वस्व अनायास ही नष्ट कर देती हैं। ऐसी कितनी ही घटनाएँ जानी गई हैं।

तारा जैसे घबरा उठी। वह कुछ भारी मुँह किये बैठी रही। सुभद्रा भी कुछ समय बीतने पर चली गई।

मंगलदेव पाठशाला से लौटा। आज उसके हाथ में एक भारी गठरी थी। तारा उठ खड़ी हुई। पूछा—आज यह क्या लाये?

हँसते हुए मंगल ने कहा—देख लो।

गठरी खुली—साबुन, रूमाल, काँच की चूड़ियाँ, अतर और भी कुछ प्रसाधन के उपयोगी पदार्थ थे। तारा ने हँसते हुए उन्हें अपनाया।

मंगल ने कहा—आज समाज में चलो, उत्सव है। कपड़े बदल लो।

तारा ने स्वीकार-सूचक सिर हिला दिया। कपड़े का चुनाव होने लगा। साबुन लगा, कंघी फेरी गई। मंगल ने तारा की सहायता की, तारा ने मंगल की। दोनों नई स्फूर्ति से प्रेरित होकर समाज-भवन की ओर चले।

इतने दिनों बाद तारा आज ही हरिद्वार के पथ पर बाहर निकल कर चली। उसे गलियों का, घाटों का, बाल्यकाल का दृश्य स्मरण हो रहा था—यहाँ वह खेलने आती, वहाँ दर्शन करती, वहाँ पर पिता के साथ घूमने आती। राह चलते-चलते उसे स्मृतियों ने अभिभूत कर लिया। अकस्मात् एक प्रौढ़ा स्त्री उसे देखकर रुकी और साभिप्राय देखने लगी। वह पास चली आई। उसने फिर आँखें गड़ाकर देखा—तारा तो नहीं।

हाँ, चाची।

अरी तू कहाँ?

भाग्य!

क्या तेरे बाबूजी नहीं जानते।

जानते हैं चाची, पर मैं क्या करूँ?

अच्छा तू कहाँ है?—मैं आऊँगी।

लालराम की बगीची में।

चाची चली गई। ये लोग समाज-भवन की ओर चले।

कपड़े सूख चुके थे। तारा उन्हें इकट्ठा कर रही थी। मंगल बैठा हुआ उनकी तह लगा रहा था। बदली थी। मंगल ने कहा---आज खूब जल बरसेगा।

क्यों?

बादल भाग रहे हैं, पवन रुका है। प्रेम का भी पूर्व रूप ऐसी ही होता है। तारा! मैं नहीं जानता था कि प्रेम-कादम्बिनी हमारे हृदयाकाश में कब से अड़ी थी और तुम्हारे सौन्दर्य का पवन उस पर घेरा डाले हुए था।

मैं जानती थी। जिस दिन परिचय की पुनरावृत्ति हुई, मेरे खारे आँसुओं के प्रेम-घन बन चुके थे। मन मतवाला हो गया था; परन्तु तुम्हारी सौम्यसंयत चेष्टा ने रोक रखा था। मैं मन-ही-मन मसूसकर रह जाती। और इसीलिए आज्ञा मानकर तुम्हें अपने जीवन के साथ उलझने लगी थी।

मैं नहीं जानता था, तुम इतनी चतुर हो। अजगर के श्वास में खिंचे हुए मृग के समान मैं तुम्हारी इच्छा के भीतर निगल लिया गया।

क्या तुम्हें इसका खेद है?

तनिक भी नहीं प्यारी तारा, हम दोनों इसीलिए उत्पन्न हुए थे। अब मैं उचित समझता हूँ कि हम लोग समाज के प्रचलित नियमों में आबद्ध हो जायँ, यद्यपि मेरी दृष्टि में सत्य प्रेम के सामने उसका कुछ मूल्य नहीं।

जैसी तुम्हारी इच्छा।

अभी ये लोग बातें कर रहें थे कि उस दिन की चाची दिखलाई पड़ी। तारा ने प्रसन्नता से उसका स्वागत किया। उसकी चादर उतारकर उसे बैठाया। मंगलदेव बाहर चला गया।

तारा, तुमने यहाँ आकर अच्छा नहीं किया—चाची ने कहा।

क्यों चाची! जहाँ अपने परिचित होते हैं, वहीं तो लोग जाते हैं।

परन्तु दुर्नाम की अवस्था में उस जगह से अलग रहना चाहिए।

तो क्या तुम लोग चाहती हो कि मैं यहाँ न रहूँ?

नहीं-नहीं, भला ऐसा भी कोई कहेगा।—जीभ दबाते हुए चाची ने कहा। पिताजी ने मेरा तिरस्कार किया, मैं क्या करती चाची।—तारा रोने लगी।

चाची ने सान्त्वना देते हुए कहा—न रो तारा।

समझाने के बाद फिर तारा चुप हुई; परन्तु वह फूल रही थी। फिर मंगल के प्रति संकेत करते हुए चाची ने पूछा—क्या यह प्रेम ठहरेगा? तारा, मैं इसीलिए चिन्तित हो रही हूँ। ऐसे बहुत-से प्रेमी संसार में मिलते हैं; पर निबाहने वाले कम होते हैं। मैंने तेरी माँ को ही देखा है।—चाची की आँखों में आँसू भर आये; पर तारा को अपनी माता का इस तरह का स्मरण किया जाना बहुत बुरा लगा। वह कुछ न बोली। चाची को जलपान कराना चाहा; पर वह जाने के लिए हठ करने लगी। तारा समझ गई और बोली—अच्छा चाची। मेरे ब्याह में तो आना। भला और कोई नहीं, तो तुम तो इस अकेली अभागिनी पर दया करना।

चाची को जैसे ठोकर-सी लग गई। वह सिर उठाकर कहने लगी—कब है? अच्छा अच्छा आऊँगी। फिर इधर-उधर की बातें करके वह चली गई।

तारा ने सशंक होकर एक बार उस विलक्षण चाची को देखा, जिसे पीछे से देखकर कोई नहीं कह सकता था कि चालीस बरस की स्त्री है। वह अपनी इठलाती चाल से चली जा रही थी। तारा ने मन में सोचा—ब्याह की बात करके मैंने अच्छा नहीं किया; परन्तु करती क्या, अपनी स्थिति साफ़ करने के लिए दूसरा उपाय ही न था।

मंगल जब तक लौट न आया, वह चिन्तित बैठी रही।

चाची अब प्रायः नित्य आती। तारा के विवाहोत्सव-संबंध की वस्तुओं की सूची बनाती। तारा उत्साह से भर गई थी। मंगलदेव से जो कहा जाता, वही ले आता। बहुत शीघ्रता से काम का प्रारम्भ हुआ। चाची को अपना सहायक पाकर तारा और मंगल दोनों प्रसन्न थे। एक दिन तारा गंगा-स्नान करने गई थी। मंगल चाची के कहने पर आवश्यक वस्तुओं की तालिका लिख रहा था। वह सिर नीचा किए हुए लेखनी चलाता था और आगे बढ़ने के लिए 'हूँ' कहता जाता था। सहसा चाची ने कहा—परन्तु यह ब्याह होगा किस रीति से? मैं जो लिखा रही हूँ, वह तो पुरानी चाल के ब्याह के लिए है।

क्या ब्याह भी कई चाल के होते हैं?—मंगल ने कहा।

क्यों नहीं—गम्भीरता से चाची बोली।

मैं क्या जानूँ, आर्य-समाज के कुछ लोग उस दिन निमंत्रित होंगे और वही लोग उसे करावेंगे। हाँ, उसमें पूजा का टंट-घंट वैसा न होगा, और सब तो वैसा ही होगा।

ठीक है—मुस्कुराती हुई चाची ने कहा—ऐसे वर-वधू का ब्याह और किस रीति से होगा?

क्यों! आश्चर्य से मंगल उसका मुँह देखने लगा। चाची के मुँह पर उस समय बड़ा विचित्र भाव था। विलास-भरी आँखें, मचलती हुई हँसी देखकर स्वयं मंगल को संकोच

होने लगा। कुत्सित स्त्रियों के समान वह दिल्लगी के स्वर में बोली—मंगल, बड़ा अच्छा है, ब्याह जल्द कर लो, नहीं तो बाप बन जाने के पीछे ब्याह करना ठीक नहीं होगा।

मंगल को क्रोध और लज्जा के साथ घृणा भी हुई। चाची ने अपना अंचल सँभालते हुए तीखे कटाक्षों से मंगल की ओर देखा। मंगल मर्माहत होकर रह गया। वह बोला—चाची!

और भी हँसती हुई चाची ने कहा—सच कहती हूँ, दो महीने से अधिक नहीं टले हैं।

मंगल सिर झुकाकर सोचने के बाद बोला—चाची, हम लोगों का सब रहस्य तुम जानती हो तो तुमसे बढ़कर हम लोगों का शुभ-चिन्तक और मित्र कौन हो सकता है, अब जैसा तुम कहो वैसा करें।

चाची अपनी विजय पर प्रसन्न होकर बोली—ऐसा प्रायः होता है। तारा की माँ ही कौन कहीं की भण्डारीजी की ब्याही धर्मपत्नी थी! मंगल तुम इसकी चिन्ता न करो, ब्याह शीघ्र कर लो, फिर कोई न बोलेगा। खोजने में ऐसी की संख्या भी संसार में कम न होगी।

चाची अपनी वक्तृता झाड़ रही थी। उधर मंगल तारा की उत्पत्ति के संबंध में विचारने लगा। अभी अभी उस दुष्टा चाची ने एक मार्मिक चोट उसे पहुँचाई। अपनी भूल और अपने अपराध मंगल को नहीं दिखाई पड़े; परन्तु तारा की माता भी दुराचारिणी! —यह बात उसे खटकने लगी। वह उठकर उपवन की ओर चला गया। चाची ने बहुत चाहा कि उसे फिर अपनी बातों में लगा ले; पर वह दुखी हो गया था। इतने में तारा लौट आई। बड़ा आग्रह दिखाते हुए चाची ने कहा—तारा, ब्याह के लिए परसों का दिन अच्छा है। और देखो, तुम नहीं जानती हो कि तुमने अपने पेट में एक जीव और बुला लिया है; इसलिए ब्याह का हो ज़ाना अत्यन्त आवश्यक है।

तारा चाची की गम्भीर मूर्ति देखकर डर गई। वह अपने मन में सोचने लगी—जैसा चाची कहती है वही ठीक है। तारा सशंक हो चली।

चाची के जाने पर मंगल लौट आया। तारा और मंगल दोनों का हृदय उछल रहा था। साहस करके तारा ने पूछा—कौन-सा दिन ठीक हुआ?

सिर झुकाते हुए मंगल ने कहा—परसों। फिर अपना कोट पहनते हुए वह उपवन के बाहर हो गया।

तारा सोचने लगी—क्या सचमुच मैं एक बच्चे की माँ हो चली हूँ। यदि ऐसा हुआ, तो क्या होगा? मंगल का प्रेम ऐसा ही रहेगा—वह सोचते-सोचते लेट गई। समान बिखरे रहे।

परसों के आते विलम्ब न हुआ।

घर में ब्याह का समारोह था। सुभद्रा और चाची काम में लगी हुई थीं। होम के लिए वेदी बन चुकी थी। तारा का प्रसाधन हो रहा था; परन्तु मंगलदेव स्नान करने हर की पैड़ी गया था। वह स्नान करके घाट पर आकर बैठ गया। घर लौटने की इच्छा नहीं हुई। वह सोचने लगा—तारा दुराचारिणी की संतान है, वह वेश्या के यहाँ रही, फिर मेरे साथ भाग आई, मुझसे अनुचित संबंध हुआ और अब वह गर्भवती है। मैं आज ब्याह करके कई कुकर्मों के कलुषित संतान का पिता कहलाऊँगा! मैं क्या करने जा रहा हूँ!—घड़ी भर वह इसी चिन्ता

में निमग्न था। अन्त में इसी समय उसके ध्यान में एक ऐसी बात आ गई कि उसके सत्साहस ने उसका साथ छोड़ दिया। वह स्वयं समाज की लाञ्छना सह सकता था; परन्तु भावी संतान के प्रति समाज की कल्पित लाञ्छना और अत्याचार ने उसे विचलित किया। वह जैसे एक भावी विप्लव के भय से त्रस्त हो गया। भगोड़े के समान वह बड़े स्टेशन की ओर अग्रसर हुआ। उसने देखा, गाड़ी आया ही चाहती है। उसके कोट की जेब में कुछ रुपये थे। पूछा–इस गाड़ी से बनारस पहुँच सकता हूँ?

उत्तर मिला– हाँ, लकसर में बदलकर, वहाँ दूसरी ट्रेन तैयार मिलेगी।

टिकट लेकर वह दूर से हरियाली में निकलते हुए धुएँ को चुपचाप देख रहा था, जो उड़नेवाले अजगर के समान आकाश पर चढ़ रहा था। उसके मस्तक में कोई बात जमती न थी। वह अपराधी के समान हरिद्वार से भाग जाना चाहता था। गाड़ी आते ही उस पर चढ़ गया। गाड़ी छूट गई।

इधर उपवन में मंगलदेव के आने की प्रतीक्षा हो रही थी। ब्रह्मचारीजी और देवस्वरूप तथा और दो सज्जन आये। कोई पूछता था– मंगलदेव जी कहाँ हैं? कोई कहता– समय हो गया! कोई कहता–विलम्ब हो रहा है। परन्तु मंगलदेव कहाँ?

तारा का कलेजा धक-धक कम्पे लगा। वह न जाने किस अनागत भय से डरने लगी। रोने-रोने हो रही थी। परन्तु मंगल में रोना न चाहिए-- वह खुलकर न रो सकती थी।

जो बुलाने गया, वही लौट आया। खोज हुई, पता न चला। सन्ध्या हो आई; पर मंगल न लौटा। तारा अधीर होकर रोने लगी। ब्रह्मचारीजी मंगल को भला-बुरा कहने लगे। अन्त में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि यदि मुझे यह विदित होता कि मंगल इतना भीरु है, तो मैं किसी दूसरे से यह सम्बन्ध करने का उद्योग करता। सुभद्रा तारा को एक ओर ले जाकर सान्त्वना दे रही थी। अवसर पाकर चाची ने धीरे से कहा–वह भाग न जाता तो क्या करता, तीन महीने का गर्भ वह अपने सिर पर ओढ़कर ब्याह करता?

ऐं? परमात्मन, यह भी है!—कहते हुए ब्रह्मचारीजी लम्बी डग बढ़ाते उपवन के बाहर चले गये। धीरे-धीरे सब चले गये। चाची ने यथापरवश होकर सामान बटोरना आरम्भ किया और उससे छुट्टी पाकर तारा के पास जाकर बैठ गई।

तारा सपना देख रही थी—झूले के पुल पर वह चल रही है। भीषण पर्वत श्रेणी! ऊपर और नीचे भयानक खड्ड! वह पैर सम्हाल कर चल रही है। मंगलदेव पुल के उस पार खड़ा बुला रहा है। नीचे वेग से नदी बह रही है। बर्फ के बादल घिर रहे हैं। अचानक बिजली कड़की, पुल टूटा, तारा भयानक वेग से नीचे गिर पड़ी। वह चिल्लाकर जग गई। देखा, तो चाची उसका सिर सहला रही है। वह चाची की गोद में सिर रखकर सिसकने लगी।

४

पहाड़ जैसे दिन बीतते ही न थे। दुःख की सब रातें जाड़े की रात से भी लम्बी बन जाती हैं। दुखिया तारा की अवस्था शोचनीय थी। मानसिक और आर्थिक चिन्ताओं से

वह जर्जर हो गई। गर्भ के बढ़ने से शरीर से भी कृश हो गई। मुख पीला हो चला। अब उसने उपवन में रहना छोड़ दिया। चाची के घर में जाकर रहने लगी। वहीं सहारा मिला। खर्च न चल सकने के कारण वह दो-चार दिन के बाद एक वस्तु बेचती। फिर रोकर दिन काटती। चाची ने भी उसे अपने ढंग पर छोड़ दिया। वहीं तारा टूटी चारपाई पर पड़ी कराहा करती।

अँधेरा हो चला था। चाची अभी-अभी घूमकर बाहर से आयी थी। तारा के पास आकर बैठ गई। पूछा–तारा कैसी हो?

क्या बताऊँ चाची, कैसी हूँ!– भगवान जानते हैं, कैसी बीत रही है।

यह सब तुम्हारी चाल से हुआ।

सो तो ठीक कह रही हो।

नहीं, बुरा न मानना। देखो यदि मुझे पहले ही तुम अपना हाल कह देती, तो मैं ऐसा उपाय कर देती कि यह सब विपत्ति ही न आने पाती।

कौन उपाय चाची?

वही जब दो महीने का था, उसका प्रबन्ध हो जाता। किसी को कानो-कान खबर भी न होती। फिर तुम और मंगल एक बने रहते।

पर क्या इसी के लिए मंगल भाग गया? कदापि नहीं, उसके मन से मेरा प्रेम ही चला गया। चाची जो बिना किसी लोभ के मेरी इतनी सहायता करता था वह मुझे इस निस्सहाय अवस्था में इसलिए छोड़कर कभी नहीं जाता। इसमें कोई दूसरा ही कारण है।

होगा; पर तुम्हें यह दुःख देखना न पडता और उसके चले जाने पर भी एक बार मैंने तुमसे संकेत किया; पर तुम्हारी इच्छा न देखकर मैं कुछ न बोली। नहीं तो अब तक मोहनदारा तुम्हारे पैरों पर नाक रगड़ता। वह कई बार मुझसे कह भी चुका है।

बस करो चाची, मुझसे ऐसी बातें न करो। यदि ऐसा ही करना होगा, तो मैं किसी कोठे पर जा बैठूँगी; पर यह टट्टी की ओट में शिकार करना मैं नहीं जानती।–तारा ने ये बातें कुछ क्रोध से कहीं। चाची का पारा चढ़ गया, उसने बिगड़कर कहा–देखो निगोड़ी मुझी को बातें सुनाती है! करम आप करे और आँखें दिखावे दूसरे को!

तारा रोने लगी। वह उस खुर्राट चाची से लड़ना न चाहती थी; परन्तु अभिप्राय न सधने पर चाची स्वयं लड़ गई। वह सोचती थी कि अब इसका सामान धीरे-धीरे ले ही लिया, दाल-रोटी दिन में एक बार खिला दिया करती थी। जब इसके पास कुछ बचा ही नहीं और आगे को कोई आशा भी न रही, तब इसका झंझट क्यों अपने सिर रक्खूँ। वह क्रोध से बोली–रो मत राँड कहीं की। जा हट अपना दूसरा उपाय देख। मैं सहायता भी करूँ और बातें भी सुनूँ, यह नहीं हो सकता। कल मेरी कोठरी खाली कर देना, नहीं तो झाड़ू मारकर निकाल दूँगी।

तारा चुपचाप रो रही थी, वह कुछ न बोली। रात हो चली। लोग अपने-अपने घरों में दिन भर के परिश्रम का आस्वाद लेने के लिए किवाड़े बंद करने लगे पर तारा की आँखें खुली थीं। उनमें अब आँसू भी न थे। उसकी छाती में मधुविहीन मधुचक्र-सा एक नीरस

कलेजा था, जिसमें वेदना की ममाछियों की भन्नाहट थी। संसार उसकी आँखों में घूम जाता था, वह देखते हुए भी कुछ न देखती थी।

चाची अपनी कोठरी में जाकर खा-पीकर सो रही। बाहर कुत्ते भूँक रहे थे। रात आधी बीत रही थी। रह-रहकर निस्तब्धता का झोंका आ जाता था। सहसा तारा उठ खड़ी हुई। उन्मादिनी के समान वह चल पड़ी। फटी धोती उसके अंग पर लटक रही थी। बाल बिखरे थे। बदन विकृत । भय का नाम नहीं। जैसे कोई यंत्रचालित शव चल रहा है। वह सीधे जाह्नवी के तट पर पहुँची। ताराओं की परछाई गंगा के वक्ष में खुल रही थी। स्रोत में हर-हर की ध्वनि हो रही थी। तारा एक शिलाखण्ड पर बैठ गई। वह कहने लगी–मेरा अब कौन रहा, जिसके लिए मैं जीवित रहूँ। मंगल ने मुझे निरपराध ही छोड़ दिया, पास में पाई नहीं, लाञ्छनापूर्ण जीवन, कहीं धंधा करके पेट पालने लायक भी न रही। फिर इस जीवन को रखकर क्या करूँ? हाँ, गर्भ में कुछ है, वह क्या है कौन जाने! यदि आज न सही, तो भी एक दिन अनाहार से प्राण छटपटाकर जायगा ही–तब विलम्ब क्यों?

मंगल! भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी तुम्हें छोड़कर इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया, और न तो मैं कलुषित हुई। यह तुम्हारी प्रेम-भिखारिनी पैसे की भीख नहीं माँग सकती और न पैसे के लिए अपनी पवित्रता बेच सकती है। तब दूसरा उपाय ही क्या? मरण को छोड़कर दूसरा कौन शरण देगा? भगवान! तुम यदि कहीं हो, तो मेरे साक्षी रहना!

वह गंगा में जा ही चुकी थी कि सहसा एक बलिष्ठ हाथ से उसे पकड़कर रोक लिया। उसने छटपटाकर पूछा–तुम कौन हो, जो मेरे मरने का भी सुख छीनना चाहते हो?

अधर्म होगा, आत्महत्या पाप है! –एक लम्बा संन्यासी कह रहा था।

पाप कहाँ! पुण्य किसका नाम ? मैं नहीं जानती। सुख खोजती रही, दुख मिला; दुख ही यदि पाप है, तो मैं उससे छूटकर सुख की मौत मर रही हूँ– पुण्य कर रही हूँ, करने दो!

तुमको अकेले मरने का अधिकार चाहे हो भी; पर एक जीव-हत्या तुम और करने जा रही हो, वह नहीं होगा। चलो तुम अभी, यहीं पर्णशाला है, उसमें रात भर विश्राम करो। प्रातःकल मेरा शिष्य आवेगा और तुम्हें अस्पताल ले जायगा, वहाँ तुम अन्न-चिंता से भी निश्चिन्त रहोगी। बालक उत्पन्न होने पर तुम स्वतंत्र हो, जहाँ चाहो चली जाना– संन्यासी जैसे आत्मानुभूति से दृढ़ आज्ञा भरे शब्दों में कह रहा था। तारा को बात दुहराने का साहस न हुआ। उसके मन में बालक का मुख देखने की अभिलाषा जग गई। उसने भी संकल्प कर लिया कि बालक का अस्पताल में पालन हो जाएगा : फिर मैं चली जाऊँगी।

वह संन्यासी के संकेत किये हुए कुटीर की ओर चली।

अस्पताल की चारपाई पर पड़ी हुई तारा अपनी दशा पर विचार कर रही थी। उसका पीला मुख, धँसी हुई आँखें, करुणा की चित्रपटी बन रही थीं, मंगल का इस प्रकार छोड़कर चले जाना, तब वह बड़े कष्ट से उठकर थोड़ा-सा पी लेती। दूध कभी-कभी मिलता था, क्योंकि अस्पताल जिन दीनों के लिए बनते हैं, वहाँ उनकी पूछ नहीं। उसका लाभ भी सम्पन्न ही उठाते हैं। जिस रोगी के अभिभावकों से कुछ मिलता, उसी की सेवा अच्छी तरह

होती, दूसरे के कष्टों की गिनती नहीं, दाई दाल का पानी और हल्की रोटी लेकर आई। तारा का मुँह खिड़की की ओर था।

· दाई ने कहा—लो कुछ खा लो।

अभी मेरी इच्छा नहीं—मुँह फेरे ही तारा ने कहा।

तो क्या तुम्हारी लौंडी लगी है, जो ठहर कर ले आवेगी। लेना हो, तो अभी ले लो।

मुझे भूख नहीं दाई! तारा ने करुण स्वर से कहा।

'क्यों, आज क्या है?

पेट में बड़ा दर्द हो रहा है— कहते-कहते तारा कराहने लगी। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। दाई ने पास आकर देखा, फिर चली गई। थोड़ी देर में डॉक्टर के साथ दाई फिर आई। डॉक्टर ने परीक्षा की। फिर दाई से कुछ संकेत किया। डॉक्टर चला गया। दाई ने कुछ सामान लाकर वहाँ रखा, और भी एक दूसरी दाई आ गई। तारा की व्यथा बढ़ने लगी— वही कष्ट जिसे स्त्रियाँ ही झेल सकती हैं। तारा के लिए असह्य हो उठा, वह प्रसव-पीड़ा से मूर्च्छित हो गई। कुछ क्षणों में चेतना हुई, फिर पीड़ा होने लगी। दाई ने अवस्था भयानक होने की सूचना डॉक्टर को दी। वह प्रसव कराने के लिए प्रस्तुत होकर आया । सहसा बड़े कष्ट से तारा ने पुत्र-प्रसव किया। डॉक्टर ने भीतर आने की आवश्यकता न समझी, वह लौट गया। सूतिका-कर्म में शिक्षित दाइयों ने शिशु को सँभाला।

तारा जब सचेत हुई नवजात शिशु को देखकर एक बार उसके मुँह पर मुस्कराहट आ गई।

तारा रुग्ण थी, उसका दूध नहीं पिलाया जाता। वह दिन में दो बार बच्चे को गोद में ले पाती; पर गोद में लेते ही उसे जैसे शिशु से घृणा हो जाती। मातृस्नेह उमड़ता; परन्तु उसके कारण तारा की जो दुर्दशा हुई थी, वह सामने आकर खड़ी हो जाती। तारा काँप उठती। महीनों बीत गये। तारा कुछ चलने-फिरने योग्य हुई। उसने सोचा—महात्मा ने कहा था कि बालक उत्पन्न होने पर तुम स्वतन्त्र हो, जो चाहे कर सकती हो। अब मैं अपना जीवन क्यों रखूँ, अब गंगामाई की गोद में चलूँ। इस दुःखमय जीवन से छुटकारा पाने का दूसरा उपाय नहीं।

तीन पहर बीत चुकी थी। शिशु सो रहा था, तारा जाग रही थी। उसने एक बार उसके मुख का चुम्बन किया, वह चौंक उठा, जैसे हँस रहा हो। फिर उसे थपकियाँ देने लगी। शिशु निधड़क सो गया। तारा उठी, अस्पताल से बाहर चली आई, पगली की तरह गंगा की ओर चली। निस्तब्ध रजनी थी। पवन शांत था। गंगा जैसे सो रही थी। तारा ने उसके अंग में गिरकर उसे चौंका दिया। स्नेहमयी जननी के समान गंगा ने तारा को अपने वक्ष में ले लिया।

हरिद्वार की बस्ती से कई कोस दूर गंगा-तट पर बैठे हुए एक महात्मा अरुण को अर्घ दे रहे थे। सामने तारा का शरीर दिखलाई पड़ा, अंजलि देकर तुरन्त महात्मा ने जल में उतरकर उसे पकड़ा। तारा जीवित थी। कुछ परिश्रम के बाद जल पेट से निकाला। धीरे-धीरे उसे चेतना हुई। उसने आँख खोलकर देखा कि एक झोंपड़ी में पड़ी है। तारा

की आँखों से भी पानी निकलने लगा—वह मरने जाकर भी न मर सकी। मनुष्य की कठोर करुणा को उसने धिक्कार दिया।

परन्तु महात्मा की शुश्रूषा से वह कुछ ही दिनों में स्वस्थ हो गई। अभागिनी ने निश्चय किया कि गंगा का किनारा न छोड़ूँगी—जहाँ यह भी जाकर विलीन हो जाती है, उस समुद्र में जिसका कूल-किनारा नहीं, वहाँ चलकर डूबूँगी, देखूँ कौन बचाता है। वह गंगा के क़िनारे-किनारे चली। जंगली फल, गाँवों की भिक्षा, नदी का जल और कन्दराएँ उसकी यात्रा में सहायक थे। वह दिन-दिन आगे बढ़ती जाती थी।

५

जब हरिद्वार से श्रीचन्द्र किशोरी को लिवा ले गये और छः महीने बाद एक पुत्र उत्पन्न हुआ, तभी से किशोरी के प्रति उनकी घृणा बढ़ गई। वे अपने भाव, समाज में तो प्रकट नहीं कर सके, पर मन में एक दरार पड़ गई। बहुत सोचने पर श्रीचन्द्र ने यही स्थिर किया कि किशोरी काशी जाकर अपनी जारज-संतान के साथ रहे और उसके ख़र्च के लिए वह कुछ भेजा करें।

पुत्र पाकर किशोरी पति से वंचित हुई, और वह काशी के एक सुविस्तृत गृह में रहने लगी। अमृतसर में यह प्रसिद्ध किया गया कि यहाँ माँ-बेटों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता।

श्रीचन्द्र अपने कार-बार में लग गये—वैभव का परदा बहुत मोटा होता है।

किशोरी के भी दिन अच्छी तरह बीतने लगे। देवनिरंजन भी कभी-कभी काशी आ जाते। और उन दिनों किशोरी की नई सहेलियाँ भी इकट्ठी हो जातीं।

बाबाजी की काशी में बड़ी धूम थी। प्राय: किशोरी के ही घर पर भण्डारा होता। बड़ी सुख्याति फैल चली। किशोरी की प्रतिष्ठा बढ़ी। वह काशी की एक भद्र महिला गिनी जाने लगी। ठाकुरजी की सेवा बड़े ठाट से होती—धन की कमी न थी, निरंजन और श्रीचन्द्र दोनों ही रुपये भेजते रहते।

किशोरी के ठाकुरजी जिस कमरे में रहते थे, उसके आगे दालान था। संगमर्मर की चौकी पर स्वामी देवनिरंजन बैठते। चिकें लगा दी जातीं। भक्त महिलाओं का भी समारोह होता। कीर्तन, उपासना और गीत की धूम मच जाती। उस समय निरंजन सचमुच भक्त बन जाता। उसका अद्वैत ज्ञान उसे निस्सार प्रतीत होता, क्योंकि भक्ति में भगवान् का अवलम्बन रहता है। सांसारिक सब आपदा-विपदाओं के लिए कच्चे ज्ञानी को अपने ही ऊपर निर्भर करने में बड़ा कष्ट होता है। इसलिए गृहस्थों के सुख में फँसे हुए निरंजन को बाध्य होकर भक्त बनना पड़ा। आभूषणों से लदी हुई वैभव-मूर्ति के सामने उसका कामनापूर्ण हृदय झुक जाता। उसकी अपराध से लदी हुई आत्मा अपनी मुक्ति के लिए दूसरा उपाय देखती। बड़े गर्व से निरंजन लोगों को गृहस्थ बने रहने का उपदेश देता। उसकी वाणी और भी प्रखर होती जाती। जब वह गार्हस्थ जीवन का समर्थन करने लगता, वह कहता कि 'भगवान सर्वभूत

हिते रत हैं।, संसारयात्रा—गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान की सर्वभूतहित कामना के अनुसार हो सकती है। दुखियों की सहायता करना, सुखी लोगों को देखकर प्रसन्न होना, सबकी मंगल कामना करना, यह साकार उपासना के प्रवृत्ति-मार्ग के ही साध्य हैं।—इन काल्पनिक दार्शनिकताओं से उसे अपने लिए बड़ी आशा थी। वह धीरे-धीरे हृदय से विश्वास करने लगा कि साधु-जीवन असंगत है, ढोंग है। गृहस्थ होकर लोगों का अभाव-मोचन करना ही भगवान की कृपा के लिए यथेष्ट है। प्रकट में तो नहीं, पर विजयचंद्र पर पुत्र का-सा, किशोरी पर स्त्री का-सा विचार रखने का उसे अभ्यास हो चला।

किशोरी अपने पति को भूल-सी गई। जब रुपयों का बीमा आता, तब ऐसा भासता, मानो उसका कोई मुनीम अमृतसर का कार-बार देखता हो और उसे कोठी से लाभ का अंश भेजा करता हो। घर के काम-काज में वह बड़ी चतुर थी। अमृतसर के आये हुए सब रुपये उसके बचते थे। उससे बराबर स्थावर सम्पत्ति खरीदी जाने लगी। किशोरी को किसी बात की कमी न रह गई।

विजयचन्द्र स्कूल में बड़े ठाट से पढ़ने जाता था। स्कूल के मित्रों की कमी न थी। वह आये दिन अपने मित्रों को निमंत्रण देकर बुलाता था। स्कूल में उसकी बड़ी धाक थी।

विद्यालय के सामने शस्य-स्यामल समतल भूमि पर छात्रों का झुण्ड इधर-उधर घूम रहा था। दस बजने में कुछ विलम्ब था। शीतकाल की धूप छोड़कर क्लास के कमरों में घुसने के लिए अभी विद्यार्थी प्रस्तुत न थे।

विजय ही तो है—एक ने कहा।

घोड़ा उसके वश में नहीं है, अब गिरा ही चाहता है।—दूसरे ने कहा।

पवन से विजय के बाल बिखर रहे थे, उसका मुख भय से विवर्ण था। उसे अपने गिर जाने की निश्चित आशंका थी। सहसा एक युवक दौड़ता हुआ आगे बढ़ा—बड़ी तत्परता से घोड़े की लगाम पकड़कर उसके नथुने पर उसने सबल घूँसा मारा और दूसरे क्षण वह उच्छृंखल अश्व सीधा होकर खड़ा हो गया। विजय का हाथ पकड़कर उसने धीरे-से उतार लिया। अब तो और भी कई लड़के एकत्र हो गये। युवक का हाथ पकड़े हुए विजय उसके होस्टल की ओर चला। यह एक सिनेमा का-सा दृश्य था। युवक की प्रशंसा में तालियाँ बजने लगीं।

विजय उस युवक के कमरे में बैठा हुआ बिखरे सामानों को देख रहा था। सहसा उसने पूछा—आप यहाँ कितने दिनों से हैं?

थोड़े ही दिन हुए हैं?

यह किस लिपि के लेख है?

मैंने पाली का अध्ययन किया है।

इतने में नौकर ने चाय की प्याली सामने रख दी। इस क्षणिक घटना ने दोनों को विद्यालय की मित्रता के पार्श्व में बाँध दिया; परन्तु विजय बड़ी उत्सुकता से युवक के मुख की ओर देख रहा था, उसकी रहस्यपूर्ण उदासीन मुखकान्ति विजय के अध्ययन की वस्तु बन रही थी।

चोट तो नहीं लगी?—अब जाकर युवक ने पूछा।

कृतज्ञ होते हुए विजय ने कहा—आपने ठीक समय पर सहायता की, नहीं तो आज अंग-भंग होना निश्चित था।

वाह, इस साधारण आतंक में ही तुम अपने को नहीं सम्हाल सकते थे, अच्छे सवार हो!—युवक हँसने लगा।

किस शुभनाम से आपका स्मरण करूँगा।

तुम भी विचित्र जीव हो, स्मरण करने की आवश्यकता क्या, मैं तो प्रतिदिन तुमसे मिल सकता हूँ—कहकर युवक ज़ोर से हँसने लगा।

विजय उसके स्वच्छन्द व्यवहार और स्वतन्त्र आचरण को चकित होकर देख रहा था। उसके मन में इस युवक के प्रति अकारण श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसकी मित्रता के लिए वह चंचल हो उठा। उसने पूछा—आपके यहाँ आने में कोई बाधा तो नहीं?

युवक ने कहा—मंगलदेव की कोठरी में आने के लिए किसी को भी रोक टोक नहीं, फिर तुम तो आज से मेरे अभिन्न हो गये हो!

समय हो गया था। होस्टल से निकलकर दोनों विद्यालय की ओर चले। भिन्न-भिन्न कक्षाओं में पढ़ते हुए भी दोनों का एक बार मिल जाना अनिवार्य होता। विद्यालय के मैदान में हरी-हरी दूब पर आमने-सामने लेटे हुए दोनों बड़ी देर तक प्रायः बातें किया करते। मंगलदेव कुछ कहता था और विजय बड़ी उत्सुकता से सुनते हुए अपना आदर्श संकलन करता।

कभी-कभी होस्टल से मंगलदेव विजय के घर पर जाता, वहाँ उसे घर का-सा सुख मिलता। स्नेह-सरल स्नेह ने उन दोनों के जीवन में गाँठ दे दी।

किशोरी के यहाँ शरदपूर्णिमा का शृंगार था। ठाकुरजी चन्द्रिका में रत्न-आभूषणों से सुशोभित होकर शृंगार -विग्रह बने थे। चमेली के फूलों की बहार थी। चाँदनी में चमेली का सौरभ मिला रहा था। निरंजन रास की राका-रजनी का विवरण सुना रहा था। गोपियों ने किस तरह उमंग में उन्मत्त होकर कालिन्दी-कूल में कृष्णचन्द्र के साथ रास-क्रीड़ा में आनन्द-विह्वल होकर शुल्कदासियों के समान आत्मसमर्पण किया था, उसका मादक विवरण स्त्रियों के मन को बेसुध बना रहा था। मंगल-गान होने लगा। निरंजन रमणियों के कोकिलकण्ठ में अभिभूत होकर तकिये के सहारे टिक गया। रात-भर गीत-वाद्य का समारोह चला।

विजय ने एक बार आकर देखा, दर्शन किया, प्रसाद लेकर जाना चाहता था कि सामने बैठी हुई सुन्दरियों के झुण्ड पर सहसा दृष्टि पड़ गई। वह रुक गया। उसकी इच्छा हुई कि बैठ जाय; परन्तु माता के सामने बैठने का साहस न हुआ। जाकर अपने कमरे में लेट रहा। अकस्मात् उसके मन में मंगलदेव का स्मरण हो गया। उस रहस्यपूर्ण युवक के चारों ओर उसके विचार लिपट गये; परन्तु वह मंगल के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं कर सका। केवल एक बात उसके मन में जग रही थी—मंगल की मित्रता उसे वांछित है। वह सो गया। स्कूल में पढ़नेवाला विजय इस अपने उत्सवों की प्रामाणिकता की जाँच स्वप्न

में करने लगा। मंगल से इसके सम्बन्ध में विवाद चलता रहा। वह कहता कि मन को एकाग्र करने के लिए हिन्दुओं के यहाँ यह एक अच्छी चाल है। विजय तीव्र विरोध करता हुआ कह उठा–इसमें अनेक दोष हैं, केवल एक अच्छे फल के लिए बहुत-से दोष करते रहना अन्याय है। मंगल ने कहा–अच्छा फिर किसी दिन समझाऊँगा।

विजय की आँख खुली, सवेरा हो गया था। उसके घर में हलचल मची हुई थी। उसने दासी से पूछा–क्या बात है?

दासी ने कहा–आज भण्डारा है।

विजय विरक्त होकर अपनी नित्यक्रिया में लगा। साबुन पर क्रोध निकालने लगा, तौलिये की दुर्दशा हो गई। नल का पानी बेकार गिर रहा था; परन्तु वह आज नहाने की कोठरी से बाहर निकलना ही नहीं चाहता। तो भी समय पर वह स्कूल चला गया। किशोरी ने कहा भी–आज न जा, साधुओं का भोजन हैं, उनकी सेवा—

बीच ही में बात काटकर विजय ने कहा—आज फुटबाल मैच है, मुझे शीघ्र जाना है।

विजय बड़ी उत्तेजित अवस्था में स्कूल चला गया।

मंगल के कमरे का जँगला खुला था। चमकीली धूप उसमें प्रकाश फैलाये थी। वह अभी तक चद्दर लपेटे खड़ा था। नौकर ने कहा–बाबूजी, आज भी कुछ भोजन न कीजिएगा?

बिना मुँह खोले मंगल ने कहा–नहीं।

भीतर प्रवेश करते हुए विजय ने पूछा–क्यों? क्या आज भी नहीं?–आज तीसरा दिन है।

नौकर ने कहा–देखिये बाबूजी, तीन दिन हो गये–कोई दवा भी नहीं करते, न कुछ खाते ही हैं।

विजय ने चद्दर के भीतर हाथ डालकर बदन टटोलते हुए कहा–ज्वर तो नहीं है।

नौकर चला गया। मंगल ने मुँह खोला, उसका विवर्ण मुख अभाव और दुर्बलता का क्रीड़ा -स्थल बना था। विजय उसे देखकर स्तब्ध रह गया। सहसा उसने मंगल का हाथ पकड़कर घबराते हुए स्वर में पूछा–क्या सचमुच कोई बीमारी है?

मंगलदेव ने बड़े कष्ट से आँखों में आँसू रोककर कहा–बिना बीमारी के भी कोई यों ही पड़ा रहता है?

विजय को विश्वास न हुआ। उसने कहा–मेरे सिर को सौगन्द, कोई बीमारी नहीं है। तुम उठो, आज मैं तुम्हें निमंत्रण देने आया हूँ, मेरे यहाँ चलना होगा।

मंगल ने उसके गाल पर एक चपत लगाते हुए कहा–आज तो मैं तुम्हारे यहाँ ही पथ्य लेनेवाला था। यहाँ के लोग पथ्य बनाना नहीं जानते। तीन दिन के बाद इनके हाथ का भोजन–बिल्कुल असंगत है।

मंगल उठ बैठा। विजय ने नौकर को पुकारा और कहा—बाबू के लिए जल्दी चाय ले आओ।–नौकर चाय लेने गया।

विजय ने जल लाकर मुँह धुलाया। चाय पीकर, मंगल चारपाई छोड़कर खड़ा हो गया। तीन दिन के उपवास के बाद उसे चक्कर आ गया और वह बैठ गया। विजय उसका

बिस्तर लपेटने लगा। मंगल ने कहा–क्या करते हो!–विजय ने बिस्तर बाँधते हुए कहा–अभी कई दिन तुम्हें लौटना न होगा; इसीलिए सामान बाँधकर ठिकाने से रख दूँ।

मंगल चुप बैठा रहा। विजय ने एक कुचला हुआ सोने का टुकड़ा उठा लिया और उसे मंगलदेव को दिखाकर कहा–यह क्या! –फिर साथ ही लिपटा हुआ एक भोजपत्र भी उसके हाथ लगा। दोनों को देखकर मंगल ने कहा–यह मेरा रक्षाकवच है, बाल्यकाल से उसे मैं पहनता था। आज इसे तोड़ देने की इच्छा हुई।

विजय ने उसे जेब में रखते हुए कहा–अच्छा, मैं ताँगा ले आने जाता हूँ।

थोड़ी ही देर में ताँगा लेकर विजय आ गया। मंगल उसके साथ ताँगे पर जा बैठा। दोनों मित्र हँसना चाहते थे; पर हँसने में उन्हें दुख होता था।

विजय अपने बाहरी कमरे में मंगलदेव को बिठाकर घर में गया। सब लोग व्यस्त थे। दो बज रहे थे। साधु-ब्राह्मण खा-पीकर चले गये थे। विजय अपने हाथ से भोजन का सामान ले आया। दोनों मित्र बैठकर खाने-पीने लगे।

दासियाँ जूठी पत्तल बाहर फेंक रही थीं। ऊपर की छत से पूरी और मिठाइयों के टुकड़ों से लदी हुई पत्तलें उछाल दी जाती थी। नीचे कुछ अछूत डोम और डोमनियाँ खड़ी थीं, जिनके सिर पर टोकरियाँ थीं, हाथ में डंडे थे–जिनसे वे कुत्तों को हटाते थे और आपस में मार-पीट, गाली-गलौज़ करते हुए उस उच्छिष्ट की लूट मचा रहे थे–वे पुश्त-दर-पुश्त के भूखे!

मालकिन झरोखे से अपने पुण्य का यह उत्सव देख रही थीं। और देख रही थीं–एक राह की थकी हुई भूखी दुर्बल युवती भी। उसी भूख की, जिससे वह स्वयं अशक्त हो रही थी, वह बीभत्स लीला थी! वह सोच रही थी–क्या संसार भर में पेट की ज्वाला, मनुष्य और पशुओं को एक ही समान सताती है? ये भी मनुष्य है और इसी धार्मिक भारत से मनुष्य–जो कुत्तों के मुँह के टुकड़े भी छीन कर खाना चाहते हैं। भीतर जो पुण्य के नाम पर–धर्म के नाम पर,–गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, उसमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है। भगवान! तुम अन्तर्यामी हो।

युवती निर्बलता से चल न सकती थी। वह साहस करके उन पत्तल लूटने वालों के बीच में से निकल जाना चाहती थी। वह दृश्य असह्य था; परन्तु एक डोमिन ने समझा कि यह उसी का भाग छीनने आई है। उसने गन्दी गालियाँ देते हुए उस पर आक्रमण करना चाहा, युवती पीछे हटी; परन्तु ठोकर लगते ही गिर पड़ी।

उधर विजय और मंगल में बातें हो रही थीं। विजय ने मंगल से कहा– यही तो इस पुण्य धर्म का दृश्य है! क्यों मंगल! क्या और भी किसी देश में इसी प्रकार का धर्म-संचय होता है? जिन्हें आवश्यकता नहीं, उनको बिठाकर आदर से भोजन कराया जाय, केवल इस आशा से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण-पत्र देंगे, साक्षी देंगे, और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर

बीभत्स नृत्य कर रही है,–वे मनुष्य, कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है!

मंगल भीतर जाकर बिछावन पर पड़ रहा। उसे कुछ सर्दी मालूम होने लगी। वह चद्दर ओढ़कर एकान्त का अनुभव करने लगा; परन्तु विजय वहीं खड़ा रहा। उसने सहसा देखा–एक युवती गिर पड़ी। नौकरों को ललकारा–उसे उठाने के लिए। किशोरी को भी उस स्त्री पर दया आई! वह भूख और चोट से बेहोश भीतर उठा लाई गई। जल के छींटे दिये गये। संज्ञा लौट आई। उसने आँखें खोल दीं।

किशोरी को उस पर ध्यान देते देखकर विजय अपने कमरे में चला गया। किशोरी ने पूछा–कुछ खाओगी।

युवती ने कहा–हाँ, मैं भूखी अनाथ हूँ।

किशोरी को उसकी छलछलाई आँखें देखकर दया आ गई। कहा–दुखी न हो, तुम यहीं रहा करो।

फिर मुँह छिपाकर पड़े! उठो, मैं अपने बनाये हुए चित्र दिखाऊँ।

बोलो मत विजय। कई दिन के बाद भोजन करने पर आलस्य मालूम हो रहा है।

पड़े रहने से तो और भी सुस्ती बढ़ेगी।

मैं कुछ घंटों तक सो लेना चाहता हूँ।

विजय चुप हो गया। मंगलदेव के व्यवहार पर उसे कुतूहल हो रहा था। वह चाहता था कि बातों में ही में उसके मन की अवस्था जान ले; परन्तु उसे अवसर न मिला। वह भी चुपचाप सो रहा।

नींद खुली, तब लैम्प जला दिये गये थे। दूज का चन्द्रमा पीला होकर अभी निस्तेज था, हल्की चाँदनी धीरे-धीरे फैलने लगी। पवन में कुछ शीतलता थी। विजय ने आँखें खोलकर देखा, मंगल अभी पड़ा था। उसने जगाया और हाथ-मुँह धोने के लिए कहा।

दोनों मित्र आकर पाई-बाग में पारिजात के नीचे पत्थर पर बैठ गये। विजय ने कहा–एक प्रश्न है।

मंगल ने कहा–प्रत्येक प्रश्नों के उत्तर भी हैं, कहो भी।

क्यों तुमने रक्षा-कवच तोड़ डाला? क्या उस पर से विश्वास उठ गया?

नहीं विजय, मुझे उस सोने की आवश्यकता थी।–मंगल ने बड़ी गम्भीरता से कहा।

क्यों?

इसके लिये घण्टों का समय चाहिए, तब तुम समझ सकोगे। अपनी वह राम-कहानी पीछे सुनाऊँगा, इस समय केवल इतना ही कहे देता हूँ कि मेरे पास एक भी पैसा न था, और तीन दिन इसलिए मैंने भोजन भी नहीं किया। तुमसे यह कहने में मुझे लज्जा नहीं।

यह तो बड़े आश्चर्य की बात है!

आश्चर्य इसमें कौन-सा? –अभी तुमने देखा कि इस देश की दरिद्रता कैसी विकट है–कैसी नृशंस है! कितने ही अनाहार से मरते हैं! फिर मेरे लिये आश्चर्य क्यों? इसलिए कि मैं तुम्हारा मित्र हूँ?

मंगलदेव! दुहाई है, घण्टों नहीं मैं रात भर सुनूँगा। तुम अपना रहस्यपूर्ण वृत्तांत सुनाओ। चलो कमरे में चलें। यहाँ ठंड लग रही है।

भीतर तो बैठे ही थे, फिर यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? अच्छा चलो, परन्तु एक प्रतिज्ञा करनी होगी।

वह क्या?

मेरा सोना बेचकर कुछ दिनों के लिए मुझे निश्चिन्त बना दो।

अच्छा भीतर तो चलो।

कमरे में पहुँचकर दोनों मित्र बैठते ही थे कि दरवाज़े के पास से किसी ने पूछा—विजय, एक दुखिया स्त्री आई है, मुझे आवश्यकता भी है, तू कहे तो उसे रख लूँ।

अच्छी बात है माँ! वही न जो बेहोश हो गई थी!

हाँ वही, बिल्कुल अनाथ है। उसे अवश्य रख लो।—एक शब्द हुआ, मालूम हुआ कि पूछनेवाली चली गई थी। तब विजय ने मंगलदेव से कहा—अब कहो।

मंगलदेव ने कहना प्रारम्भ किया—मुझे एक अनाथालय से सहायता मिलती थी, और मैं पढ़ता था। मेरे घर कोई है कि नहीं, यह भी मुझे नहीं मालूम; पर जब मैं सेवा-समिति के काम से पढ़ाई छोड़कर हरिद्वार चला गया, तब मेरी वृत्ति बन्द हो गई। मैं लौट आया। आर्यसमाज से भी मेरा सम्पर्क था; परन्तु मैंने देखा कि वह खंडनात्मक है; समाज में केवल इसी से काम नहीं चलता। मैंने भारतीय समाज का ऐतिहासिक अध्ययन करना चाहा और इसीलिए पाली, प्राकृत का पाठ्यक्रम स्थिर किया। भारतीय धर्म और समाज का इतिहास तब तक अधूरा रहेगा, जब तक पाली और प्राकृत का उससे सम्बन्ध न हो; परन्तु मैं बहुत चेष्टा करके भी सहायता प्राप्त न कर सका, क्योंकि सुनता हूँ कि वह अनाथालय भी टूट गया।

विजय—तुमने रहस्य की बात तो कही ही नहीं।

मंगल—विजय! रहस्य यही कि मैं निधन हूँ, मैं अपनी सहायता नहीं कर सकता? मैं विश्वविद्यालय की डिग्री के लिए नहीं पढ़ रहा हूँ। केवल कुछ महीनों की आवश्यकता है कि मैं अपनी पाली की पढ़ाई प्रोफेसर देव से पूरी कर लूँ। इसीलिए मैं यह सोना बेचना चाहता हूँ

विजय ने उस यंत्र को देखा, सोना तो उसने एक ओर रख दिया; परन्तु भूर्जपत्र के छोटे-से—बंडल को—जो उसके भीतर था—विजय ने मंगल का मुँह देखते-देखते कुतूहल से खोलना आरम्भ किया। उसका कुछ अंश खुलने पर दिखाई दिया कि उसमें लाल रंग के अष्टगंध से कुछ स्पष्ट प्राचीन लिपि है। विजय ने उसे खोलकर फेंकते हुए कहा—लो यह किसी देवी-देवता का पूरा स्तोत्र भरा पड़ा है।

मंगल ने उसे आश्चर्य से उठा लिया। वह लिपि को पढ़ने की चेष्टा करने लगा। कुछ अक्षरों को वह पढ़ भी सका; परन्तु वह प्राकृत न थी, संस्कृत थी। मंगल ने उसे समेटकर जेब में रख लिया। विजय ने पूछा—क्या है? कुछ पढ़ सके?

कल इसे प्रोफेसर देव से पढ़ाऊँगा। यह तो कोई शासन-पत्र मालूम पड़ता है।

तो क्या इसे तुम नहीं पढ़ सकते?

मैंने तो अभी प्रारम्भ किया है, यह अध्ययन मेरा गौण है, प्रोफेसर को जब छुट्टी रहती है, कुछ पढ़ा देते हैं।

अच्छा मंगल! एक बात कहूँ, तुम मानोगे? मेरी भी पढ़ाई सुधर जायगी।

क्या?

तुम मेरे ही साथ रहा करो, अपना चित्रों का रोग मैं छुड़ाना चाहता हूँ।

तुम स्वतंत्र नहीं हो विजय! क्षणिक उमंग में आकर हमें वह काम नहीं करना चाहिए, जिससे जीवन के कुछ ही लगातार दिनों के पिरोये जाने की संभावना हो, क्योंकि उमंग की उठान नीचे आया करती है।

नहीं मंगल! मैं माँ से पूछ लेता हूँ—कहकर विजय तेज़ी से चला गया। मंगल हाँ-हाँ—कहता ही रह गया। थोड़ी देर में ही हँसता हुआ लौट आया और बोला—माँ तो कहती हैं कि उसे यहाँ से मैं न जाने दूँगी।

वह चुपचाप, विजय के बनाये कलापूर्ण चित्रों को, जो उस कमरे में लगे थे, देखने लगा। इसमें विजय की प्राथमिक कृतियाँ थीं—अपूर्ण मुखाकृति, रंगों के छींटे से भरे हुए कागज तक चौखटों में लगे थे।

आज से किशोरी की गृहस्थी में दो व्यक्ति और बढ़े।

६

आज बड़ा समारोह है। निरंजन चाँदी के पात्र निकालकर दे रहा है—आरती, फूल, चंगेर, धूपदान, नैवेद्यपात्र और पंचपात्र इत्यादि माँज-धोकर साफ किए जा रहे हैं। किशोरी मेवा, फल, धूप बत्ती और फूलों की राशि एकत्र किए उसमें सजा रही है। घर की सब दास-दासियाँ व्यस्त हैं। नवागत युवती घूँघट निकाले एक ओर खड़ी है।

निरंजन ने किशोरी से कहा—सिंहासन के नीचे अभी धुला नहीं है, किसी से कह दो कि उसे स्वच्छ कर दे।

किशोरी ने युवती की ओर देखकर कहा—जा तो उसे धो डाल!

युवती भीतर पहुँच गई। निरंजन ने उसे देखा और किशोरी से पूछा—यह कौन है?

किशोरी ने कहा—वही जो उस दिन रखी गई है।

निरंजन ने झिड़ककर कहा—ठहर जा, बाहर चल।—फिर कुछ क्रोध से किशोरी की ओर देखकर कहा—यह कौन है, कैसी है, देवगृह में जाने योग्य है कि नहीं, समझ लिया है या यों ही जिसको हुआ, कह दिया।

क्यों, मैं उसे तो नहीं जानती।

यदि अछूत हो, अन्त्यज हो, अपवित्र हो?

तो क्या भगवान, उसे पवित्र नहीं कर देंगे? आप तो कहते हैं कि भगवान् पतित-पावन हैं, फिर बड़े-बड़े पापियों को जब उद्धार की आशा है, तब इसको क्यों वंचित किया जाय? कहते-कहते किशोरी ने रहस्यभरी मुसकान चलाई।

निरंजन क्षुब्ध हो गया; परन्तु उसने कहा–अच्छा शास्त्रार्थ रहने दो। इसे कहो कि बाहर चली जाय। –निरंजन की धर्म-हठ उत्तेजित हो उठी थी।

किशोरी ने कुछ कहा नहीं; पर युवती देवगृह के बाहर चली गई, और वह एक कोने में बैठकर सिसकने लगी। सब अपने कार्य में व्यस्त थे। दुखिया के रोने की किसे चिन्ता थी! वह भी जी हल्का करने के लिए खुलकर रोने लगी। उसे जैसे ठेस लगी थी। उसका घूँघट हट गया था। आँखों से आँसू की धारा बह रही थी। विजय, जो दूर से यह घटना देख रहा था, इस युवती के पीछे-पीछे चला आया था –कुतूहल से इस धर्म के क्रूर दम्भ को एक बार खुलकर देखने और तीखे तिरस्कार से अपने हृदय को भर लेने के लिए; परन्तु देखा तो वह दृश्य, जो उसके जीवन में नवीन था–एक कष्ट से सताई हुई सुन्दरी का रुदन!

विजय के वे दिन थे, जिसे लोग जीवन का वसंत कहते हैं। जब अधूरी और अशुद्ध पत्रिकाओं के टूटे-फूटे शब्दों के लिए हृदय में शब्दकोश प्रस्तुत रहता है। जो अपने साथ बाढ़ में बहुत-सी अच्छी वस्तु ले आता है और जो संसार को प्यारा देखने का चशमा लगा देता है। शैशव से अभ्यस्त सौन्दर्य को खिलौना समझकर कहते हैं–शीतकाल के छोटे दिनों में घनी अमराई पर बिछलती हुई हरियाली से तर धूप के समान स्निग्ध यौवन।

इसी समय मानव-जीवन में जिज्ञासा जगती है। स्नेह, सहानुभूति का ज्वार आता है। विजय का विप्लवी हृदय चंचल हो गया। उसने जाकर पूछा–यमुना, तुम्हें किसी ने कुछ कहा है?

यमुना निःसंकोच भाव से बोली–मेरा अपराध था।

क्या अपराध था यमुना?

मैं देव-मन्दिर में चली गई थी।

तब क्या हुआ?

बाबाजी बिगड़ गये।

रो मत, मैं उनसे पूछूँगा।

मैं उनके बिगड़ने पर नहीं रोती हूँ अपने भाग्य पर और हिन्दू-समाज की अकारण निष्ठुरता पर–जो भौतिक वस्तुओं में तो बँग लगा ही चुका है, भगवान पर भी स्वतंत्र भाग का साहस रखता है!

क्षणभर के लिए विजय विस्मय-विमुग्ध रहा-यह दासी-दीन दुखिया-इसके हृदय में इतने भाव? उसकी सहानुभूति उच्छृंखल हो उठी, क्योंकि यह बात उसके मन की थी। विजय ने कहा–न रो यमुना। जिसके भगवान सोने-चाँदी से घिरे रहते हैं– उनको रखवाली की आवश्यकता होती है।

यमुना की रोती आँखे हँस पड़ीं–उसने कृतज्ञता की दृष्टि से विजय को देखा। विजय भूलभुलैया में पड़ गया। उसने स्त्री की–एक युवती स्त्री की–सरल सहानुभूति कभी पाई

न थी। उसे भ्रम हो गया, जैसे बिजली कौंध गई हो। वह निरंजन की ओर चला, क्योंकि उसकी सब गर्मी निकालने का यही अवसर था।

निरंजन अन्नकूट के सम्भार में लगा था। प्रधान याजक बनकर उत्सव का संचालन कर रहा था। विजय ने आते ही आक्रमण आरम्भ कर दिया—बाबाजी, आज क्या है?

निरंजन उत्तेजित तो था ही, उसने कहा—तुम हिन्दू हो कि मुसलमान? नहीं जानते, आज अन्नकूट है।

क्यों, क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची—उसकी संस्कृति विडम्बना, उसकी संस्था सारहीन, और राष्ट्र—बौद्धों के शून्य के सदृश बन गया है; तब आपके इन खिलौनों से भला उसकी सन्तुष्टि होगी?

इन खिलौनों—कहते-कहते उसका हाथ देवविग्रह की ओर उठ गया था। उसके आक्षेपों का जो उत्तर निरंजन देना चाहता था, वह क्रोध के वेग में भूल गया और सहसा उसने कह दिया—नास्तिक! हट जा!

विजय की कनपटी लाल हो गई, बरौनियाँ तन गईं। वह कुछ बोला ही चाहता था कि मंगल ने सहसा आकर हाथ पकड़ लिया, और कहा, विजय!

विद्रोही विजय वहाँ से हटते-हटते भी मंगल से यह कहे बिना नही रहा—धर्म के सेनापति विभीषिका उत्पन्न करके साधारण जनता से अपनी वृत्ति कमाते हैं और उन्हीं को गालियाँ भी सुनाते हैं। यह गुरुडम कितने दिनों तक चलेगा, मंगल?

मंगल विवाद को बचाने के लिए उसे घसीटता ले चला और कहने लगा—चलो, हम तुम्हारा शास्त्रार्थ-निमंत्रण स्वीकार करते हैं।—दोनों अपने कमरे की ओर चले गए।

निरंजन पल-भर में आकाश से पृथ्वी पर आ गया। वास्तविक वातावरण में क्षोभ और क्रोध, लज्जा और मानसिक दुर्बलता ने उसे चैतन्य कर दिया। निरंजन को उद्विग्न होकर उठते देख, किशोरी—जो अब तक स्तब्ध हो रही थी—बोल उठी—लड़का है!

निरंजन ने वहाँ से जाते-जाते कहा—लड़का है तो तुम्हारा है, साधुओं को इसकी चिन्ता क्या? उसे अब भी अपने त्याग पर विश्वास था।

किशोरी निरंजन को जानती थी, उसने उन्हें रोकने का प्रयत्न नहीं किया। वह रोने लगी।

मंगल ने विजय से कहा—तुमको गुरुजनों का अपमान नहीं करना चाहिए। मैंने बहुत स्वाधीन विचारों को काम में ले आने की चेष्टा की है, उदार समाजों में घूमा-फिरा हूँ; समाज के शासन-प्रश्न पर और असुविधाओं में सब एक ही-से दीख पड़े। मैं समाज में बहुत दिनों तक रहा, उससे स्वतंत्र होकर भी रहा; पर सभी जगह संकीर्णता है, शासन के लिए; क्योंकि काम चलाना पड़ता है न! समाज में एक-से उन्नत और एक-सी मनोवृत्ति वाले मनुष्य नहीं, सबको संतुष्ट और धर्मशील बनाने के लिए धार्मिक संस्थाएँ कुछ-न-कुछ उपाय निकाला करती हैं।

पर हिन्दुओं के पास निषेध के अतिरिक्त और भी कुछ है?—यह मत करो, वह मत करो, पाप है। जिसका फल यह हुआ है कि हिन्दुओं को, पाप को छोड़कर पुण्य कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता।—विजय ने कहा।

विजय! प्रत्येक संस्थाओं का कुछ उद्देश्य है और उसे सफल करने के लिए कुछ नियम बनाए जाते हैं। नियम प्रायः निषेधात्मक होते हैं, क्योंकि मानव अपने को सब कुछ करने का अधिकारी समझता है। कुल थोड़े-से सुकर्म हैं और पाप अधिक हैं; जो निषेध के बिना नहीं रुक सकते। देखो, हम किसी भी धार्मिक संस्था मे अपना सम्बन्ध जोड़ लें, तो हमें उसकी कुछ परम्पराओं का अनुकरण करना ही पड़ेगा। मूर्ति -पूजा के विरोधियो ने भी अपने-अपने अहिन्दू सम्प्रदायों में धर्म-भावना के केन्द्र-स्वरूप कोई-न-कोई धर्म -चिह्न रख छोड़ा है। जिन्हें वे चूमते हैं, सम्मान करते हैं, और जिनके सामने सिर झुकाते हैं। हिन्दुओं ने भी अपनी भावना के अनुसार जन-साधारण के हृदय में देवभाव भरने का मार्ग चलाया है। उन्होंने मानव-जीवन में क्रम-विकास का अध्ययन किया है। वे यह नहीं मानते कि हाथ-पैर, मुंह-आँख और कान समान होने से हृदय भी एक-सा होगा। और विजय! धर्म तो हृदय से आचरित होता है न, इसीलिए अधिकार भेद है।

तो फिर उसमें उच्च विचार वाले लोगों को स्थान नहीं, क्योंकि समता और विषमता का द्वंद्व उसके मूल में वर्तमान है।

उनसे तो अच्छा है, जो बाहर से साम्य की घोषणा करके भी भीतर से घोर विभिन्न मत के हैं और वह भी स्वार्थ के कारण। हिन्दू समाज तुमको मूर्ति-पूजा करने के लिए बाध्य नहीं करता, फिर तुमको व्यंग्य करने का कोई अधिकार नहीं । तुम अपने को उपयुक्त समझते हो, तो उससे उच्चतर उपासना -प्रणाली में सम्मिलित हो जाओ। देखो, आज तुमने घर में अपने इस काण्ड के द्वारा भयानक हलचल मचा दी है। सारा उत्सव बिगड गया है।

अब किशोरी भीतर चली गई, जो बाहर खड़ी हुई दोनों की बातें सुन रही थी। वह बोली—मंगल ने ठीक कहा। विजय, तुमने अच्छा काम नहीं किया। सब लोगों का उत्साह ठण्डा पड़ गया। पूजा का आयोजन अस्त-व्यस्त हो गया। किशोरी की आँखें भर आई थीं। उसे बड़ा क्षोभ था; पर दुलार के कारण विजय को वह कुछ कहना नहीं चाहती थी।

मंगल ने कहा—माँ! विजय को साथ लेकर हम इस उत्सव को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे, आप दुख न कीजिए।

किशोरी प्रसन्न हो गई। उसने कहा—तुम तो अच्छे लड़के हो। देख तो विजय! मंगल की-सी सुबुद्धि सीख!

विजय हँस पड़ा। दोनों देव-मन्दिर की ओर चले।

नीचे गाड़ी की हरहराहट हुई, मालूम हुआ—निरंजन स्टेशन चला गया।

उत्सव में विजय ने बड़े उत्साह से भाग लिया; पर यमुना सामने न आई, तो विजय के सम्पूर्ण उत्साह के भीतर यह गर्व हँस रहा था कि मैंने यमुना का अच्छा बदला निरंजन से लिया।

किशोरी की गृहस्थी नये उत्साह से चलने लगी। यमुना के बिना वह पल भर भी नहीं रह सकती। जिसको जो कुछ माँगना होता, यमुना से कहता। घर का सब प्रबन्ध यमुना के हाथ में था। यमुना प्रबन्धकारिणी और आत्मीय दासी भी थी।

विजयचन्द्र के कमरे का झाड़-पोंछ और रखना-उठाना सब यमुना स्वयं करती थी। कोई दिन ऐसा न बीतता कि विजय को उसकी नई सुरुचि का परिचय अपने कमरे में न मिलता। विजय के पान खाने का व्यसन बढ़ चला था। उसका कारण था यमुना के लगाए स्वादिष्ट पान। वह उपवन से चुनकर फूलों की माला बना लेती। गुच्छे सजाकर फूलदान में लगा देती। विजय की आँखों में उसका छोटे-से-छोटा काम भी कुतूहल-मिश्रित प्रसन्नता उत्पन्न करता; पर वह एक बात से अपने को सदैव बचाती रही—उसने अपना सामना मंगल से न होने दिया। जब कभी परसना होता—किशोरी अपने सामने विजय और मंगल दोनों को खिलाने लगती। यमुना अपना बदन समेटकर और लम्बा घूँघट काढ़े हुए परस जाती। मंगल ने कभी उधर देखने की चेष्टा भी न की, क्योंकि वह भद्र कुटुम्ब के नियमों को भली-भाँति जानता था। इसके विरुद्ध विजयचन्द्र ऊपर से न कहकर, सदैव चाहता कि यमुना से मंगल परिचित हो जाय, और उसको यमुना की प्रतिदिन की कुशलता की प्रकट प्रशंसा करने का अवसर मिले।

विजय को इन दोनों रहस्यपूर्ण व्यक्तियों के अध्ययन का बड़ा कुतूहल होता। एक ओर सरल, प्रसन्न, अपनी अवस्था से सन्तुष्ट मंगल, दूसरी ओर सबको प्रसन्न करने की चेष्टा करनेवाली यमुना की रहस्यपूर्ण हँसी। विजय विस्मित था। उसके युवक-हृदय को दो साथी मिले थे— एक घर के भीतर, दूसरा बाहर। दोनों ही संयत भाव के और फूँक-फूँककर पैर रखनेवाले। वह इन दोनो से मिल जाने की चेष्टा करता।

एक दिन मंगल और विजय बैठे हुए थे। भारतीय इतिहास का अध्ययन कर रहे थे। कोर्स तैयार करना था। विजय ने कहा—भाई मंगल! भारत के इतिहास में यह गुप्त-वंश भी बड़ा प्रभावशाली था; पर इसके मूल पुरुष का पता नहीं चलता।

गुप्त-वंश भारत के हिन्दू इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ है। सचमुच इसके साथ बड़ी-बड़ी गौरव-गाथाओं का सम्बन्ध है।—बड़ी गम्भीरता से मंगल ने कहा।

परन्तु इसके अभ्युदय में लिच्छिवियों के नाश का बहुत कुछ अंश है। क्या लिच्छिवियो के साथ इन लोगों ने विश्वासघात तो नहीं किया?—विजय ने कहा।

हाँ, वैसा ही उनका अन्त भी तो हुआ। देखो, थानेसर के एक कोने से एक साधारण सामन्त-वंश गुप्त सम्राटों से सम्बन्ध जोड़ लेने में कैसा सफल हुआ। और, क्या इतिहास इसका साक्षी नहीं है कि मगध के गुप्त सम्राटों को बड़ी सरलता से उनके मानवीय पद से हटाकर ही हर्षवर्धन उत्तरापथेश्वर बन गया था। यह तो ऐसे ही चला करता है।—मंगल ने कहा।

तो ये उनसे बढ़कर प्रतारक थे; यह वर्धन-वंश भी—विजय कुछ और कहा ही चाहता था कि मंगल ने रोककर कहा—ठहरो विजय! वर्धनों के प्रति ऐसे शब्द कहना कहाँ तक संगत है? तुमको मालूम है कि ये अपना पाप भी छिपाना नहीं चाहते। देखो, यह वही यन्त्र

है, जिसे तुमने फेंक दिया था। जो कुछ इसका अर्थ प्रोफेसर देव ने किया है, उसे देखो तो—कहते-कहते मंगल ने जेब से निकालकर अपना यन्त्र और उसके साथ एक कागज फेंक दिया। विजय ने यंत्र तो न उठाया, कागज उठाकर पढ़ने लगा—

शकण्डलेश्वर महाराजपुत्र राज्यवर्धन इस लेख के द्वारा यह स्वीकार करते हैं कि चन्द्रलेखा का हमारा विवाह-सम्बन्ध न होते हुए भी यह परिणीता वधू के समान पवित्र और हमारे स्नेह की सुन्दर कहानी है। इसलिए इसके वंशधर साम्राज्य में वही सम्मान पावेंगे, जो मेरे वंशधारी को साधारणतः मिलता है।

विजय के हाथ से वह पत्र गिर पड़ा। विस्मय से उसकी आँखें बड़ी हो गईं। वह मंगल की ओर एकटक निहारने लगा। मंगल ने कहा—क्या है विजय?

पूछते हो क्या है! आज एक बड़ा भारी आविष्कार हुआ है, तुम अभी तक नहीं समझ सके! आश्चर्य है! क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि तुम्हारी नसों में वही रक्त है, जो हर्षवर्धन की धमनियों में प्रवाहित था?

यह अच्छी दूर की सूझी! कहीं मेरे पूर्व-पुरुषों को यह मंगल-सूचक यन्त्र समझकर बिना जाने-समझे तो नहीं दे दिया गया था? इसमें....

ठहरो, इसको यदि मैं इस प्रकार समझूँ, तो क्या बुरा है कि यह चन्द्रलेखा के वंशधरों के पास वंशानुक्रम से चला आया हो। साम्राज्य के अच्छे दिनों में इसकी आवश्यकता रही हो और पीछे यह शुभ समझकर उस कुल के सब बच्चों को ब्याह होने तक पहनाया जाता हो रहा। तुम्हारे यहाँ इसका व्यवहार भी तो इसी प्रकार रहा है।

मंगल के सिर में विलक्षण भावनाओं की गर्मी से पसीना चमकने लगा। फिर उसने हँसकर कहा—वाह विजय ! तुम भी बड़े भारी परिहास-रसिक हो! क्षण भर में सारी गम्भीरता चली गई। दोनों हँसने लगे।

७

रजनी के बालों से बिखरे हुए मोती बटोरने के लिए प्राची के प्रांगण में उषा आई और इधर यमुना उपवन में फूल चुनने के लिए पहुँची। प्रभात की फीकी चाँदनी में बचे हुए एक-दो नक्षत्र अपने को दक्षिण-पवन के झोंकों में विलीन कर देना चाहते है। कुन्द के फूल, थाले के श्यामल अंचल पर कसीदा बनाने लगे थे। गंगा के मुक्त वक्षस्थल पर से घूमती हुई मन्दिरों के खुलने की, घण्टों की प्रतिध्वनि, प्रभात की शान्त निस्तब्धता में एक संगीत की झनकार उत्पन्न कर रही थी। अन्धकार और आलोक की सीमा बनी हुई युवती के रूप को अस्त होने वाला पीला चन्द्रमा और लाली फेंकनेवाली उषा, अभी स्पष्ट न दिखला सकी थी कि वह अपनी डाली, फूलों से भर चुकी और उस कड़ी सरदी में भी यमुना मालती-कुंज की पत्थर की चौकी पर बैठी हुई, दूर से आते हुए शहनाई के मधुर स्वर में अपनी हृदयतंत्री मिला रही थी।

संसार एक अँगड़ाई लेकर आँख खोल रहा था। उसके जागरण में मुस्कान थी। नीड़ में से निकालते हुए पक्षियों के कलरव को वह आश्चर्य से सुन रही थी। वह समझ न सकती थी कि उन्हें क्यों उल्लास है! संसार में प्रवृत्त होने की इतनी प्रसन्नता क्यों? दो-दो दाने बीन कर ले जाने और जीवन को लम्बा करने के लिए इतनी उत्कंठा! इतना उत्साह! जीवन इतने सुख की वस्तु है?

टप...टप...टप...टप...!- यमुना चकित होकर खड़ी हो गई। खिलखिलाकर हँसने का शब्द हुआ। यमुना ने देखा–विजय खड़ा है! उसने कहा–यमुना, तुमने तो समझा होगा कि यह बिना बादलों की बरसात कैसी?

आप ही थे– मालती-लता से ओस की बूँदें गिराकर बरसात का अभिनय करनेवाले! यह न जानकर मैं तो चौंक उठी थी।

हाँ यमुना! आज तो हम लोगों का रामनगर चलने का निश्चय है। तुमने सामान तो सब बाँध लिए होंगे –चलोगी न?

बहूजी की जैसी आज्ञा होगी।

इस बेबसी के उत्तर पर विजय के मन में बड़ी महानुभूति उत्पन्न हुई। उसने कहा–नहीं यमुना तुम्हारे बिना तो मेरा....-कहते-कहते फिर रुककर कहा– प्रबन्ध ही न हो सकेगा– जलपान, पान, स्नान, सब अपूर्ण रहेगा।

तो मैं चलूँगी– कहकर यमुना कुंज से बाहर निकल आई। वह भीतर जाने लगी। विजय ने कहा–बजरा कब का ही घाट पर आ गया होगा, हम लोग चलते हैं। माँ को लिवाकर तुरन्त आओ।

भागीरथी के निर्मल जल पर प्रभात का शीतल पवन बालकों के समान खेल रहा था– छोटी-छोटी लहरियों के घरौंदे बनते-बिगड़ते थे। उस पार के वृक्षों की श्रेणी के ऊपर एक भारी चमकीला और पीला बिम्ब था। रेत में उसकी पीली छाया और जल में सुनहला रंग, उड़ते हुए पक्षियों के झुण्ड से आक्रान्त हो जाता था। यमुना बजरे की खिड़की में से एकटक इस दृश्य को देख रही थी और छत पर से मंगलदेव उसकी लम्बी उँगलियों से धारा का कटना देख रहा था। डाँडों का छप-छप शब्द बजरे की गति मे ताल दे रहा था। थोड़ी ही देर मे विजय माझी को हटाकर पतवार थामकर जा बैठा। यमुना सामने बैठी हुई डाली में फूल सँवारने लगी, विजय औरों की आँख बचाकर उसे देख लिया करता।

बजरा धारा पर बह रहा था। प्रकृति-चितेरी संसार का नया चिन्ह बनाने के लिए गंगा के ईषत नील में सफेदा मिला रही थी। धूप कड़ी हो चली थी। मंगल ने कहा– भाई विजय! इस नाव की सैर से तो अच्छा होगा कि मुझे उस पार की रेत में उतार दो। वहाँ जो दो-चार वृक्ष दिखाई दे रहे हैं, उन्हीं की छाया में सिर ठंडा कर लूँगा।

हम लोगों को भी तो अभी स्नान करना है, चलो वहीं नाव लगाकर हम लोग भी निबट लें।

माझियों ने उधर की ओर नाव खेना आरम्भ किया। नाव रेत से टिक गई। बरसात उतरने पर यह द्वीप बन गया था। अच्छा एकान्त था। जल भी वहाँ स्वच्छ था। किशोरी ने कहा–यमुना, चलो हम लोग भी नहा लें।

आप लोग आ जाएँ, तब मैं जाऊँगी–यमुना ने कहा! किशोरी उसकी सचेष्टता पर प्रसन्न हो गई। वह अपनी दो सहेलियाँ के साथ बजरे से उतर गई।

मंगलदेव पहले ही कूद पड़ा था। विजय भी कुछ इधर-उधर करके उतरा। द्वीप के विस्तृत किनारों पर वे लोग फैल गये। किशोरी और उसकी सहेलियाँ, स्नान की एक ऊँची टेकरी के कोने में चली गई। यह कोना एकान्त था। यमुना गंगा के जल में पैर डालकर कुछ देर तक चुपचाप बैठी हुई विस्तृत जल-धारा के ऊपर सूर्य की उज्ज्वल किरणों का प्रतिबिम्ब देखने लगी। जैसे रात के तारों की फूल–अंजली जाह्नवी के शीतल वक्ष पर किसी ने बिखेर दी हो।

पीछे निर्जन बालू का द्वीप और सामने दूर पर नगर की सौध-श्रेणी, यमुना की आँखों में निश्चेष्ट कुतूहल का कारण बन गई। कुछ देर में यमुना ने स्नान किया। ज्यों ही वह सूखी धोती पहनकर गीले बालों को समेट रही थी, मंगलदेव सामने आकर खड़ा हो गया। समान भाव से दोनों पर आकस्मिक आनेवाली विपदा को देखकर दो परस्पर शत्रुओं के समान मंगलदेव और यमुना एक क्षण के लिए स्तब्ध थे।

तारा! तुम्हीं हो! –बड़े साहस से मंगल ने कहा।

युवती की आँखों में बिजली दौड़ गई। वह तीखी दृष्टि से मंगलदेव को देखती हुई बोली–क्या मुझे अपनी विपत्ति के दिन भी किसी तरह न काटने दोगे। तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा यमुना हूँ।

मंगलदेव ने आँखें नीची कर लीं। यमुना अपनी गीली धोती लेकर चलने को उद्यत हुई। मंगल ने हाथ जोड़कर कहा–तारा मुझे क्षमा करो।

उसने दृढ़ स्वर में कहा–हम दोनों का इसी में कल्याण है कि एक-दूसरे को न पहचानें और न एक-दूसरे की राह में अड़ें। तुम विद्यालय के छात्र हो और मैं दासी यमुना –दोनों को किसी दूसरे का अवलम्ब है। पापी प्राण की रक्षा के लिए मैं प्रार्थना करती हूँ, क्योंकि इसे देकर मैं न दे सकी।

तुम्हारी यही इच्छा है तो यही सही –कहकर ज्यों ही मंगलदेव ने मुँह फिराया, विजय ने टोकरी की आड़ से निकलकर पुकारा –मंगल! क्या अभी जलपान न करोगे?

यमुना और मंगल ने देखा कि विजय की आँखें क्षण भर में लाल हो गई; परन्तु तीनों चुपचाप बजरे की ओर लौटे। किशोरी ने खिड़की से झाँककर कहा –आओ जलपान कर लो, बड़ा विलम्ब हुआ।

विजय कुछ न बोला, जाकर चुपचाप बैठ गया। यमुना ने जलपान लाकर दोनों को दिया। मंगल और लड़कों के समान चुपचाप मन लगाकर खाने लगे। आज यमुना का घूँघट कम था। किशोरी ने देखा, कुछ बेढब बात है। उसने कहा–आज न चलकर किसी दूसरे

दिन रामनगर चला गया, तो क्या हानि है? दिन बहुत बीत चुका, चलते -चलते संध्या हो जाएगी। विजय, कहो तो घर ही लौट चला जाय?

विजय ने सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति दी।
माझियों ने उसी ओर खेना आरम्भ कर दिया।

दो दिन तक मंगलदेव से और विजयचन्द्र से भेंट ही न हुई। मंगल चुपचाप अपनी किताबों में लगा रहता, और समय पर स्कूल चला जाता। तीसरे दिन अकस्मात यमुना पहले-पहल मंगल के कमरे में आई। मंगल सिर झुकाकर पढ़ रहा था, उसने देखा नहीं। यमुना ने कहा–आज तीसरा दिन है, विजय बाबू ने तकिये से सिर नहीं उठाया, ज्वर बड़ा भयानक होता जा रहा है। किसी अच्छे से डाक्टर को क्यों नहीं लिवा लाते।

मंगल ने आश्चर्य से सिर उठाकर फिर देखा–यमुना! वह चुप रह गया। फिर सहसा अपना कोट लेते हुए उसने कहा–मैं डाक्टर दीनानाथ के यहाँ जाता हूँ–और वह कोठरी से बाहर निकल गया।

विजयचन्द्र पलंग पर पड़ा करवट बदल रहा था। बड़ी बेचैनी थी। किशोरी पास ही बैठी थी। यमुना सिर सहला रही थी। विजय कभी-कभी उसका हाथ पकड़कर माथे से चिपटा लेता था।

मंगल डाक्टर को लिये हुए भीतर चला आया। डाक्टर ने देर तक रोगी की परीक्षा की। फिर सिर उठाकर एक बार मंगल की ओर देखा और पूछा–रोगी को किसी आकस्मिक घटना से दुःख तो नहीं हुआ है?

मंगल ने कहा–ऐसा तो कोई कारण नहीं है। हाँ, इसके दो दिन पहले हम लोगों ने गंगा में पहरों स्नान किया और तैरे थे।

डाक्टर ने कहा–कुछ चिन्ता नहीं। थोड़ी युडीकॉलोन सिर पर रखना चाहिए, बेचैनी हट जाएगी। और दवा लिखे देता हूँ। चार -पाँच दिन में ज्वर उतरेगा। मुझे टेम्परेचर का समाचार दोनों समय मिलना चाहिए।

किशोरी ने कहा– आप स्वयं दो बार दिन में देख लिया कीजिए तो अच्छा हो।

डाक्टर बहुत ही स्पष्टवादी और चिड़चिड़े स्वभाव का था, और नगर में अपने काम में एक ही था। उसने कहा–मुझे दोनों समय देखने का अवकाश नहीं,और आवश्यकता भी नहीं है। यदि आप लोगों से स्वयं इतना भी नहीं हो सकता, तो डाक्टर की दवा करानी व्यर्थ है।

जैसा आप कहेंगे वैसा ही होगा। आपको समय पर ठीक समाचार मिलेगा। डाक्टर साहब दया कीजिए।–यमुना ने कहा।

डाक्टर ने रूमाल निकालकर सिर पोंछा और मंगल के दिए कागज पर औषधि लिखी। मंगल ने किशोरी से रुपया लिया और डाक्टर के साथ ही वह औषधि लेने चला गया।

मंगल और यमुना की अविराम सेवा से आठवें दिन विजय उठ बैठा। किशोरी बहुत प्रसन्न हुई। निरंजन भी तारा द्वारा समाचार पाकर चले आए थे। ठाकुरजी की सेवा-पूजा की धूम एक बार फिर मच गई।

विजय अभी दुर्बल था। पन्द्रह दिनों में ही वह छः महीने का रोगी जान पड़ता था। यमुना आज-कल दिन रात अपने अन्नदाता विजय के स्वास्थ्य की रखवाली करती थी, और अब निरंजन के ठाकुरजी की ओर जाने का उसे अवसर ही न मिलता था।

जिस दिन विजय बाहर आया, वह सीधे मंगल के कमरे में गया। उसके मुख पर संकोच, और आँखों में क्षमा थी। विजय के कुछ कहने के पहले ही मंगल ने उखड़े हुए शब्दों में कहा—विजय! मेरी परीक्षा भी समाप्त हो गई और नौकरी का प्रबन्ध भी हो गया। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ। आज ही जाऊँगा, आज्ञा दो।

नहीं मंगल! यह तो नहीं हो सकता—कहते-कहते विजय की आँखें भर आईं।

विजय! जब मैं पेट की ज्वाला से दग्ध हो रहा था, जब एक दाने का कहीं ठिकाना नहीं था, उस समय मुझे तुमने अवलम्ब दिया; परन्तु मैं उस योग्य न था। मैं तुम्हारा विश्वास-पात्र न रह सका, इसलिए मुझे छुट्टी दो।

अच्छी बात है; तुम पराधीन नहीं हो। पर माँ ने देवी के दर्शन की मनौती की है, इसलिए हम लोग वहाँ तक तो साथ ही चलें। फिर जैसी तुम्हारी इच्छा।

मंगल चुप रहा।

किशोरी ने मनौती की सामग्री जुटानी आरम्भ की। शिशिर बीत रहा था। यह निश्चय हुआ कि नवरात्र में चला जाए। मंगल को तब तक चुपचाप ठहरना दुःप्सह हो उठा। उसके शान्त मन में बार-बार यमुना की सेवा और विजय की बीमारी —ये दोनों बातें लड़कर हलचल मचा देती थीं। वह न-जाने कैसी कल्पना से उन्मत्त हो उठता। हिंसक मनोवृत्ति जाग जाती। उसे दमन करने में वह असमर्थ था। दूसरे ही दिन बिना किसी से कहे-सुने मंगल चला गया।

विजय को खेद हुआ; पर दुःख नहीं। वह बड़ी द्विविधा में पड़ा था। मंगल जैसे उसकी प्रगति में बाधा स्वरूप हो गया था। स्कूल के लड़कों को जैसी लम्बी छुट्टी की प्रसन्नता मिलती है, ठीक उसी तरह विजय के हृदय में प्रफुल्लता भरने लगी। बड़े उत्साह से वह भी अपनी तैयारी में लगा। फेसक्रीम, पोमेड, टूथ पाउडर, ब्रुश आकर उसके बेग में जुटने लगे। तौलियों और सुगन्धों की भरमार से बेग ठसाठस भर गया।

किशोरी भी अपने सामान में लगी थी। यमुना कभी उसके और कभी विजय के साधनों मे सहायता करती। वह घुटनों के बल बैठकर विजय की सामग्री बड़े मनोयोग से हैंडबेग में सजा रही थी। विजय कहता—नहीं यमुना! तौलिया तो इस बेग में अवश्य रहनी चाहिए—यमुना कहती—इतनी सामग्री इस छोटे पात्र में समा नहीं सकती। वह ट्रंक में रख दी जाएगी।

विजय ने कहा—मैं अपने अत्यन्त आवश्यक पदार्थ अपने समीप रखना चाहता हूँ।

आप अपनी आवश्यकताओं का ठीक अनुमान नहीं कर सकते। संभवतः आपका चिट्ठा बढ़ा हुआ रहता है।

नहीं यमुना। वही मेरी नितान्त आवश्यकता है।

अच्छा तो सब वस्तु आप मुझसे माँग लीजिएगा, देखिए जब कुछ भी घटे।

विजय ने विचार कर देखा कि यमुना भी तो मेरी सबसे बढ़कर आवश्यकता की वस्तु है। वह हताश होकर सामान से हट गया। यमुना और किशोरी ने ही मिलकर सब सामान ठीक कर लिए।

निश्चित दिन आ गया। रेल का प्रबन्ध पहले ही ठीक कर लिया गया था। किशोरी की कुछ सहेलियाँ भी जुट गई थीं। निरंजन थे प्रधान सेनापति। वह छोटी-सी सेना पहाड़ी पर चढ़ाई करने चली।

चैत का एक सुन्दर प्रभात था। दिन आलम से भरा, अवसाद से पूर्ण फिर भी मनोरंजकता थी, प्रवृत्ति थी। पलास के वृक्ष लाल हो रहे थे। नई-नई पत्तियों के आने पर भी जंगली वृक्षों में घनापन न था। बौखलाया हुआ सबसे धक्कमधुक्की कर रहा था। पहाड़ी के नीचे एक झील-सी थी, जो बरसात में भर जाती है। आजकल खेती हो रही थी। पत्थरों के ढोकों से उसकी सीमा बनी हुई थी, वही एक नाले का भी अन्त होता था। यमुना एक ढोके पर बैठ गई। पास ही हैंडबेग धरा था। वह पिछड़ी हुई औरतों का आने की बाट जोह रही थी और विजय शैलपथ से ऊपर सबके आगे चढ़ रहा था।

किशोरी और उसकी सहेलियाँ भी आ गई। एक सुन्दर झुरमुट था, जिसमें सौंदर्य और सुरुचि का समन्वय था। शहनाई के बिना किशोरी का कोई उत्साह पूरा न होता था, बाजे-गाजे से पूजा करने की मनौती थी। वे बाजे वाले भी ऊपर पहुँच चुके थे। अब प्रधान आक्रमणकारियों का दल पहाड़ी पर चढ़ने लगा । थोड़ी ही देर से पहाड़ी पर संध्या के रंग-बिरंगे बादलों का दृश्य दिखाई देने लगा। देवी का छोटा-सा मंदिर है, वही सब एकत्र हुए। कपूरी, बादामी, फीरोजी, धानी, गुलेनार रंग के घूँघट उलट दिए गए। यहाँ परदे की आवश्यकता न थी। भैरवी के स्वर, मुक्त होकर पहाड़ी से झरनों की तरह निकल रहे थे। सचमुच वसन्त खिल पड़ा। पूजा के साथ ही, स्वतंत्र रूप से ये सुन्दरियाँ भी गाने लगीं। यमुना चुपचाप कुरैये की डाली के नीचे बैठी थी। बेग का सहारा लिए वह धूप से अपना मुख बचाए थी। किशोरी ने उसे हठ कर गुलेनार चादर ओढ़ा दी। पसीने से लगकर उस रंग ने यमुना के मुख पर अपने चिह्न बना दिए थे। वह बड़ी सुन्दर रंगसाजी थी। यद्यपि उसके भाव आँखों के नीचे की कालिमा में करुण रंग में छिप रहे थे; परन्तु इस समय विलक्षण आकर्षण उसके मुख पर था। सुन्दरता की होड़ लग जाने पर मानसिक गति दबाई न जा सकती थी। विजय जब सौंदर्य से अपने को अलग न रख सका, वह पूजा छोड़कर उसी के समीप एक विशालखण्ड पर जा बैठा। यमुना भी सम्भलकर बैठ गई थी।

क्यों यमुना ! तुमको गाना नहीं आता?—बातचीत आरम्भ करने के ढंग से विजय ने कहा।

आता क्यों नहीं; पर गाना नहीं चाहती हूँ।

क्यों?

यों ही । कुछ करने का मन नहीं करता।

कुछ भी?

कुछ नहीं, संसार कुछ करने के योग्य नहीं।

फिर क्या?

इसमें यदि दर्शक बनकर जी सके, तो मनुष्य के बड़े सौभाग्य की बात है। परन्तु मैं केवल इसे दूर से नहीं देखना चाहता।

अपनी-अपनी इच्छा। आप अभिनय करना चाहते हैं, तो कीजिए; पर यह स्मरण रखिए कि सब अभिनय सबके मनोनुकूल नहीं होते।

यमुना, आज तो तुमने रंगीन साड़ी पहनी है– बड़ी सुन्दर लगती है।

क्या करूँ विजय बाबू! जो मिलेगा वही न पहनूँगी। —विरक्त होकर यमुना ने कहा।

विजय को रुखाई जान पड़ी, उसने भी बात बदल दी। कहा–तुमने जो कहा था कि तुमको जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, मैं दूँगी, यहाँ मुझे कुछ आवश्यकता है।

यमुना भयभीत होकर विजय के आतुर मुख अध्ययन करने लगी। कुछ न बोली। विजय ने सहमकर कहा–मुझे प्यास लगी है।

यमुना ने बैग में से एक छोटी-सी चाँदी की लुटिया निकाली, जिसके साथ पतली रंगीन डोरी लगी थी। यह कुरैया की झुरमुट की दूसरी ओर चली गई। विजय चुपचाप सोचने लगा; और कुछ नहीं, केवल यमुना के स्वच्छ कपोलों पर गुलेनार रंग की छाप। उन्मत्त हृदय-किशोर हृदय स्वप्न देखने लगा—ताम्बूल राग-रञ्जित, चुम्बन अंकित कपोलों का! वह पागल हो उठा।

यमुना पानी लेकर आई, बेग से मिठाई निकालकर विजय के सामने रख दी। सीधे लड़के की तरह विजय ने जलपान किया, तब पूछा– पहाड़ी के ऊपर ही तुम्हें जल कहाँ मिला यमुना?

यहीं तो, पास ही एक कुण्ड है।

चलो मुझे दिखला दो।

दोनों कुरैये के झुरमुट की ओट में चले। वहाँ सचमुच एक चौकोर पत्थर का कुण्ड था, उसमें जल लबालब भरा था। यमुना ने कहा– मुझसे यहीं एक पंडे ने कहा है कि यह कुण्ड जाड़ा, गरमी, बरसात, सब दिनों में बराबर भरा रहता है; जितने आदमी चाहें इसमें जल पियें, ख़ाली नहीं होता। यह देवी का चमत्कार है। बहुत दूर से लोग यहाँ आते हैं।

यमुना है बड़े आश्चर्य की बात। पहाड़ी के इतने ऊपर भी यह जलकुण्ड सचमुच अदभुत है : परन्तु मैंने और भी ऐसा कुण्ड देखा है–जिसमें कितने ही जल पिएँ, वह भरा ही रहता है!

सचमुच ! कहाँ पर विजय बाबू?

सुन्दरी में रूप का कूप– कहकर विजय यमुना के मुख को उसी भाँति देखने लगा, जैसे अनजान में ढेला फेंककर बालक चोट लगनेवाले को देखता है।

वाह विजय बाबू! आजकल साहित्य का ज्ञान बढ़ा हुआ देखती हूँ–! कहते हुए यमुना ने विजय की ओर देखा– जैसे कोई बड़ी-बूढ़ी, नटखट लड़के को संकेत से झिड़कती हो।

विजय लज्जित हो उठा। इतने में 'विजय बाबू' की पुकार हुई–किशोरी बुला रही थी। वे दोनों देवी के सामने पहुँचे। किशोरी मन-ही-मन मुस्कराई। पूजा समाप्त हो चुकी थी। सबको चलने के लिए कहा गया। यमुना ने बैग उठाया। सब उतरने लगे। धूप कड़ी हो गई थी, विजय ने अपना छाता खोल लिया। उसकी बार-बार इच्छा होती कि वह यमुना से इसी की छाया में चलने के लिए कहे; पर साहस न होता। यमुना की दो-एक लटें पसीने से उसके सुन्दर भाल पर चिपक गई थीं। विजय उसी विचित्र लिपि को पढ़ते-पढ़ते पहाड़ी से नीचे उतरा।

सब लोग काशी लौट आए।

द्वितीय खण्ड

१

एक ओर तो जल बरस रहा था, पुरवाई से बूँदें तिरछी गिर रही थीं; उधर पश्चिम से चौथे पहर की पीली धूप उनमें केसर घोल रही थी। मथुरा से वृन्दावन आनेवाली सड़क पर एक घर की छत पर यमुना चादर तान रही थी। दालान में बैठा हुआ विजय एक उपन्यास पढ़ रहा था। निरंजन सेवा-कुंज में दर्शन करने गया था। किशोरी बैठी हुई पान लगा रही थी। तीर्थ-यात्रा के लिए श्रावण से ही लोग टिके थे। झूले की बहार थी; घटाओं का जमघट।

उपन्यास पूरा करते हुए विश्राम की साँस लेकर विजय ने पूछा—पानी और धूप से बचने के लिए वह पतली चादर क्या काम देगी यमुना?

बाबाजी के लिए मघा का जल संचय करना है। वे कहते हैं कि इस जल से अनेक रोग नष्ट होते हैं।

रोग नष्ट चाहे न हों; पर वृन्दावन के खारे कूप-जल से तो यह अच्छा ही होगा। अच्छा एक ग्लास मुझे भी दो।

विजय बाबू, काम वही करना, पर उसकी कड़ी समालोचना के बाद, यह तो आपका स्वभाव हो गया है। लीजिए जल—कहकर यमुना ने पीने के लिए जल दिया।

उसे पीकर विजय ने कहा—यमुना, तुम जानती हो कि मैंने कालेज में एक संशोधन समाज स्थापित किया है। उसका उद्देश्य है—जिन बातों में बुद्धिवाद का उपयोग न हो सके, उसका खण्डन करना और तदनुकूल आचरण करना। देख रही कि मैं छूत-छात का कुछ विचार नहीं करता, प्रकट रूप से होटलों तक में खाता भी हूँ। इसी प्रकार इन प्राचीन कुसंस्कारों का नाश करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, क्योंकि ये ही रूढ़ियाँ आगे चलकर धर्म का रूप धारण कर लेती हैं। जो बातें कभी देश, काल, पात्रानुसार प्रचलित हो गई थीं, वे सब माननीय नहीं, मधुर हिन्दू-समाज के पैरों में ये बेड़ियाँ हैं। —इतने में बाहर सड़क पर कुछ बालकों के स्वर सुनाई पड़े, विजय उधर चौंककर देखने लगा—

छोटे-छोटे ब्रह्मचारी दण्ड, कमण्डल और पीत वसन धारण किए, समस्वर में गाते जा रहे थे—

कम्वचित्किमपिनोहरणीयं मर्म्मवाक्यमपिनोच्चरणीयं

श्रीपतेःपदयुगस्मरणीयं लीलयाभवजलतरणीयं

उन सबों के आगे छोटी दाढ़ी और घने बालों वाला एक युवक सफ़ेद चद्दर, धोती पहने, जा रहा था। गृहस्थ लोग उन ब्रह्मचारियों की झोली में कुछ डाल देते थे। विजय ने एक दृष्टि से देखकर, मुँह फिरा कर यमुना से कहा—देखो यह बीसवीं शताब्दी में तीन

हज़ार बी. सी. का अभिनय ! समग्र संसार अपनी स्थिति रखने के लिए चंचल है, रोटी का प्रश्न सबके सामने है, फिर भी मूर्ख हिन्दू अपनी पुरानी असभ्यताओं का प्रदर्शन कराकर पुण्य-संचय किया चाहते हैं!

आप तो पाप-पुण्य कुछ मानते ही नहीं विजय बाबू!

पाप-पुण्य कुछ नहीं है यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते हैं, उन्हीं कर्मों को पाप कहते हैं; परन्तु समाज का एक बड़ा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे, तो वही कर्म हो जाता है। देखती नहीं हो, इतने विरुद्ध मत रखनेवाले संसार के मनुष्य अपने-अपने विचारों में धार्मिक बने हैं। जो एक के यहाँ पाप है, वही तो दूसरे के लिए पुण्य है।

किशोरी चुपचाप इन लोगों की बात सुन रही थी। वह एक स्वार्थ से भरी चतुर स्त्री थी। स्वतन्त्रता से रहा चाहती थी, इसलिए लड़के को भी स्वतन्त्र होने में सहायती देती थी। कभी-कभी यमुना की धार्मिकता उसे असह्य हो जाती है; परन्तु अपना गौरव बनाए रखने के लिए वह उसका खण्डन न करती, क्योंकि बाह्य धर्माचरण दिखलाना ही उसके दुर्बल चरित्र का आवरण था। वह बराबर चाहती थी कि यमुना और विजय में गाढ़ा परिचय बढ़े, और इसके लिए वह अवसर भी देती। उसने कहा–विजय इसी से तो तुम्हारे हाथ का भी खाने लगा है, यमुना?

यह कोई अच्छी बात तो नहीं है बहूजी।

क्या करूँ यमुना, विजय अभी लडका है, मानता नहीं। धीरे-धीरे समझ जाएगा–अप्रतिभ होकर किशोरी ने कहा।

इतने में एक सुन्दर तरुण बालिका अपना हँसता हुआ मुख लिए भीतर आते ही बोली–किशोरी बहू, शाहजी के मन्दिर में आरती देखने चलोगी न?

तू आ गई घण्टी! मैं तेरी प्रतीक्षा में ही थी।

तो फिर विलम्ब क्यों?– कहते हुए घण्टी ने अल्हड़पन से विजय की ओर देखा।

किशोरी ने कहा–विजय, तू भी चलेगा न?

यमुना और विजय को यहीं झाँकी मिलती है, क्यों विजय बाबू?–बात काटते हुए घण्टी ने कहा।

मैं तो जाऊँगा नहीं, क्योंकि छः बजे मुझे एक मित्र से मिलने जाना है; परन्तु घण्टी, तुम तो हो बड़ी नटखट!–विजय ने कहा।

यह ब्रज है बाबूजी! यहाँ के पत्ते-पत्ते में प्रेम भरा है। बंसीवाले की बंसी अब भी सेवा-कुंज में आधी रात को बजती है। चिन्ता किस बात की?–विजय के पास सरककर धीरे-से हँसते हुए उस चंचल छोकरी ने कहा। घण्टी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली–मतवाली आँखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं, और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़-छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती–कभी अँगड़ाई लेती, तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ छिप जातीं, तब भी भौंहें चला करतीं। तिस पर भी घण्टी एक बाल-विधवा है। विजय उसके सामने अप्रतिभ हो जाता, क्योंकि वह कभी-कभी

स्वाभाविक निःसंकोच परिहास कर दिया करती। यमुना को उसका व्यंग्य असह्य हो उठता; पर किशोरी को वह छेड़-छाड़ अच्छी लगती—बड़ी हँसमुख लड़की है!—यह कहकर बात उड़ा दिया करती।

किशोरी ने अपनी चादर ले ली थी। चलने को प्रस्तुत थी। घण्टी ने उठते-उठते कहा—अच्छा तो आज ललिता की ही विजय है, राधा लौटी जाती है! —हँसते-हँसते वह किशोरी के साथ से बाहर निकल गई।

वर्षा बन्द हो गई थी; पर बादल घिरे थे। सहसा विजय उठा और वह भी नौकर को सावधान रहने के लिए कहकर चला गया।

यमुना के हृदय में भी निरुदृष्टि पथवाले चिन्ता के बादल मँडरा रहे थे। वह अपनी अतीत-चिन्ता में निमग्न हो गई। बीत जाने पर दुखदायी घटना भी सुन्दर और मूल्यवान हो जाती है। वह एक बार तारा बनकर मन-ही -मन अतीत का हिसाब लगाने लगी, स्मृतियाँ लाभ बन गईं। जल वेग से बरसने लगा। परन्तु यमुना के मानस में एक शिशु-सरोज लहराने लगा। वह रो उठी।

कई महीने बीत गये—

किशोरी, निरंजन और विजय बैठे हुए कुछ बातें कर रहे थे। निरंजनदास का मन था कि कुछ दिन गोकुल में चलकर रहा जाय—कृष्णचंद्र की बाललीला से अलंकृत भूमि में रहकर हृदय आनन्दपूर्ण बनाया जाय। किशोरी भी सहमत थी; किन्तु विजय की इसमें कुछ आपत्ति थी।

इसी समय एक ब्रह्मचारी ने भीतर आकर प्रणाम किया। विजय चकित हो गया, और निरंजन प्रसन्न।

क्या उन ब्रह्मचारियों के साथ तुम्हीं घूमते हो मंगल।—विजय ने आश्चर्य-भरी प्रसन्नता से पूछा।

हाँ विजय बाबू! मैंने यहाँ पर एक ऋषिकुल खोल रक्खा है। यह सुनकर कि आप लोग यहाँ आए हैं, मैं कुछ भिक्षा लेने आया हूँ।

मंगल! मैंने तो समझा था कि तुमने कहीं अध्ययन का काम आरम्भ किया होगा, पर तुमने तो यह अच्छा ढोंग निकाला।

वही तो करता हूँ विजय बाबू! पढ़ाता ही तो हूँ। कुछ करने की प्रवृत्ति तो थी ही—वह भी समाज-सेवा और सुधार; परन्तु उन्हें क्रियात्मक रूप देने के लिए मेरे पास और कौन साधन था?

ऐसे काम तो आर्यसमाज करता ही था, फिर उसके जोड़ में अभिनय करने की क्या आवश्यकता थी! उसी में सम्मिलित हो जाते।

आर्यसमाज कुछ खण्डनात्मक है, और मैं प्राचीन धर्म की सीमा के भीतर ही सुधार का पक्षपाती हूँ।

यह क्यों नहीं कहते कि तुम समाज के स्पष्ट आदर्श का अनुकरण करने में असमर्थ थे, परीक्षा में ठहर न सके थे। उस विधि-मूलक व्यावहारिक धर्म का तुम्हारे समझ-बूझकर चलने वाले सर्वतोभेद हृदय ने स्वीकार न किया, और तुम स्वयं प्राचीन निषेधात्मक धर्म से प्रचारक बन गए। कुछ बातों के न करने से ही यह प्राचीन धर्म सम्पादित हो जाता है–छुओ मत, खाओ मत, ब्याहो मत, इत्यादि-इत्यादि। कुछ भी दायित्व लेना नहीं चाहते, और बात-बात में शास्त्र तुम्हारे प्रमाणस्वरूप हैं। बुद्धिवाद का कोई उपाय नहीं।–कहते-कहते विजय हँस पड़ा।

मंगल की सौम्य आकृति तन गई। वह संयत और मधुर भाषा में कहने लगा–विजय बाबू, यह और कुछ नहीं केवल उच्छृंखलता है। आत्मशासन का अभाव–चरित्र की दुर्बलता, विद्रोह कराती है। धर्म मानवीय स्वभाव पर शासन करता है, न कर सके तो मनुष्य और पशु में भेद क्या रहा जाय? आपका मत यह है कि समाज की आवश्यकता देखकर धर्म की व्यवस्था बनाई जाय, नहीं तो हम उसे न मानेंगे। पर समाज तो प्रवृत्तिमूलक है। वह अधिक-से-अधिक आध्यात्मिक बनाकर, तप और त्याग के द्वारा शुद्ध करके उच्च आदर्श तक पहुँचाया जा सकता है। इन्द्रियपरायण पशु के दृष्टिकोण से मनुष्य की सब सुविधाओं के विचार नहीं किए जा सकते, क्योंकि फिर तो पशु और मनुष्य में साधन-भेद रह जाता है। बातें वे ही हैं। मनुष्य की असुविधाओं का, अनन्त साधनों के रहते, अन्त नहीं, वह उच्छृंखल होना ही चाहता है।

निरंजन को उसकी युक्तियाँ परिमार्जित और भाषा प्राञ्जल देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, उसका पक्ष लेते हुए उसने कहा–ठीक कहते हो मंगलदेव!

विजय और भी गरम होकर आक्रमण करते हुए बोला–और उन ढकोसलों में क्या तथ्य है? —उसका संकेत मन्दिर के शिखरों की ओर था।

हमारे धर्म मुख्यतः एकेश्वरवादी हैं विजय बाबू! वह ज्ञान प्रधान है; परन्तु अद्वैतवाद की दार्शनिक युक्तियों को स्वीकार करते हुए कोई भी वर्णमाला का विरोधी बन जाय, ऐसा तो कारण नहीं दीख पड़ता। मूर्तिपूजा इत्यादि उसी रूप में है। पाठशाला में सबके लिए एक कक्षा नहीं होती, इसलिए अधिकारी-भेद है। हम लोग सर्वव्यापी भगवान की सत्ता को नदियों के जल में, वृक्षों में, पत्थरों में, सर्वत्र स्वीकार करने की परीक्षा देते हैं।

परन्तु हृदय में नहीं मानते, चाहे अन्यत्र सब जगह मान लें।–तर्क न करके विजय ने व्यंग्य किया। मंगल ने हताश होकर किशोरी की ओर देखा।

तुम्हारा ऋषिकुल कैसा चल रहा है मंगल? – किशोरी ने पूछा।

दरिद्र हिन्दुओं के ही लड़के मुझे मिलते हैं। मैं उनके साथ नित्य भीख माँगता हूँ। जो अन्न-वस्त्र मिलता है, उसी में सबका निर्वाह होता है। मैं स्वयं उन्हें संस्कृत और प्राकृत पढ़ाता हूँ। एक गृहस्थ ने अपना उजड़ा हुआ उपवन दे दिया है। उसमें एक और लम्बा-सा दालान है और पाँच-सात वृक्ष हैं; उतने में सब काम चल जाता है। शीत और वर्षा में कुछ कष्ट होता है, क्योंकि दरिद्र हैं तो क्या, हैं तो लड़के ही न!

कितने लड़के हैं मंगल?–निरंजन ने पूछा।

आठ लड़के हैं, आठ बरस से लेकर सोलह बरस तक के।

मंगल! और चाहे जो हो, तुम्हारे इस परिश्रम और कष्ट की सत्यनिष्ठा पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता। मैं भी नहीं।—विजय ने कहा।

मंगल मित्र के मुख से यह बात सुनकर प्रसन्न हो उठा। वह कहने लगा—देखिए विजय बाबू! मेरे पास एक यही धोती और अँगोछा है। एक चादर भी है। मेरा सब काम इतने से चल जाता है। कोई असुविधा नहीं होती। एक लम्बा-सा टाट है। उसी पर सब सो रहते हैं। दो-तीन बरतन हैं। और पाठ्य-पुस्तकों की एक-एक प्रतियाँ! इतनी ही तो मेरे ऋषिकुल की सम्पत्ति है।—कहते-कहते वह हँस पड़ा।

यमुना भीतर पीलीभीत के चावल बीन रही थी—खीर बनाने के लिए। उसके रोएँ खड़े हो गए। मंगल क्या है?—देवता है! उसी समय उसे अपने तिरस्कृत हृदय-पिण्ड का ध्यान आ गया। उसने मन में सोचा—पुरुष को उसकी क्या चिन्ता हो सकती है, वह तो अपना सुख विसर्जित कर देता है; जिसे अपने रक्त से उस सुख को सींचना पड़ता है, वही तो उसकी व्यथा जानेगा!—उसने कहा—मंगल ही नहीं, सब पुरुष राक्षस है; देवता कदापि नहीं हो सकते।—वह दूसरी ओर उठकर चली गई।

कुछ समय चुप रहने के बाद विजय ने कहा—जो हमारे दान के अधिकारी है, धर्म के ठेकेदार हैं, उन्हें इसीलिए तो समाज देता है कि वे उसका सदुपयोग करें; परन्तु वे मन्दिरों में, मठों में, बैठे मौज़ उड़ाते हैं—उन्हें क्या चिन्ता कि समाज के कितने बच्चे भूखे, नंगे और अशिक्षित हैं। मंगलदेव! चाहे मेरा मत तुमसे न मिलता हो, परन्तु तुम्हारा उद्देश्य सुन्दर है।

निरंजन जैसे सचेत हो गया। एक बार उसने विजय की ओर देखा; पर बोला नहीं। किशोरी ने कहा—मंगलदेव! मैं परदेश में हूँ, इसलिए विशेष सहायता नहीं कर सकती; हाँ तुम लोगों के लिए वस्त्र और पाठ्य-पुस्तकों की जितनी अत्यन्त आवश्यकता हो, मैं दूँगी।

और, शीत, वर्षा-निवारण के योग्य साधारण गृह बनवा देने का भार मैं लेता हूँ मंगल! —निरंजन ने कहा।

मंगल! मैं तुम्हारी इस सफलता पर बधाई देता हूँ। —हँसते हुए विजय ने कहा—कल मैं तुम्हारे ऋषिकुल में आऊँगा।

निरंजन और किशोरी ने कहा— हम लोग भी।

मंगल कृतज्ञता से लद गया। प्रणाम करके चला गया।

सबका मन इस घटना से हल्का था; पर यमुना अपने भारी हृदय से बार-बार यही पूछती थी—इन लोगों ने मंगल को जलपान करने तक के लिए न पूछा, इसका कारण क्या उसका प्रार्थी होकर आना है?

यमुना कुछ अनमनी रहने लगी। किशोरी से यह बात छिपी न रही। घण्टी प्रायः इन्हीं लोगों के पास रहती। एक दिन किशोरी ने कहा—विजय, हम लोगों को ब्रज आए बहुत दिन हो गए, अब घर भी चलना चाहिए। हो सके तो ब्रज की परिक्रमा भी कर लें।

विजय ने कहा—मैं तो नहीं जाऊँगा।

तू सब बातों में अड़ जाता है।

यह कोई आवश्यक बात नहीं हैं कि मैं भी पुण्य-संचय करूँ। विरक्त होकर विजय ने कहा–यदि इच्छा हो तो आप चली जा सकती है, मैं तब तक यहीं बैठा रहूँगा।

तो क्या तू यहाँ अकेला रहेगा?

नहीं, मंगल के आश्रम में जा रहूँगा। वहाँ मकान बन रहा है, उसे भी देखूँगा, कुछ सहायता भी करूँगा और मन भी बहलेगा।

वह आप ही दरिद्र है, तू उसके यहाँ जाकर उसे और भी दुख देगा। तो मैं क्या उसके सिर पर रहूँगा!

यमुना! तू चलेगी?

फिर विजय बाबू को खिलावेगा कौन? बहूजी, मैं तो चलने के लिए प्रस्तुत हूँ।

किशोरी मन-ही-मन हँसी भी, प्रसन्न भी हुई। और बोली–अच्छी बात है, तो मैं परिक्रमा कर आऊँ क्योंकि होली देखकर अवश्य घर लौट चलना है।

निरंजन और किशोरी परिक्रमा करने चले। एक दासी और जमादार साथ गया।

वृन्दावन में यमुना और विजय अकेले रहे। केवल घण्टी कभी-कभी आकर हँसी की हलचल मचा देती। विजय कभी-कभी दूर यमुना के किनारे चला जाता और दिन-दिन भर पर लौटता। अकेली यमुना उस हँसोड़ के व्यंग्य से जर्जरित हो जाती। घण्टी परिहास करने में बड़ी निर्दय थी।

एक दिन दोपहार की कड़ी धूप थी। सेठजी के मन्दिर में कोई झाँकी घण्टी थी। आई और यमुना को दर्शन के लिए पकड़ ले गई। दर्शन से लौटते हुए यमुना ने देखा, एक पाँच-सात वृक्षों का झुरमुट और घनी छाया। उसने समझा, कोई देवालय है। वह छाया के लालच से टूटी हुई दीवार लाँघकर भीतर चली गई। देखा तो अवाक् रह गई–मंगल कच्ची मिट्टी का गारा बना रहा है, लड़के ईंटें ढो रहे हैं, दो राज उस मकान की जोड़ाई कर रहे हैं। परिश्रम से मुँह लाल था। पसीना बह रहा था। मंगल की सुकुमार देह विवश थी । वह ठिठक कर खड़ी हो गई। घण्टी ने उसे धक्का देते हुए कहा–चल यमुना, यह तो ब्रह्मचारी है, डर काहे का !–फिर ठठाकर हँस पड़ी।

यमुना ने एक बार उसकी ओर क्रोध से देखा। यह चुप भी न हो सकती थी कि फरसा रखकर सिर से पसीना पोंछते हुए मंगल ने घूमकर देखा–यमुना!

ढीठ घण्टी से अब कैसे रहा जाए, वह झटककर बोली–ग्वालिनी! तुम्हें कान्ह बुलावे री!– यमुना गड़ गई, मंगल ने क्या समझा होगा? वह घण्टी को घसीटती हुई बाहर निकल आई। यमुना हाँफ रही थी। पसीने-पसीने हो गई थी। अभी वे दोनों सड़क पर पहुँची भी न थीं कि दूर से किसी ने पुकारा–यमुना।

यमुना मन में संकल्प-विकल्प कर रही थी कि मंगल पवित्रता और आलोक से घिरा हुआ पाप है कि दुर्बलताओं में लिपटा हुआ दृढ़ सत्य? उसने समझा कि मंगल पुकार रहा है, वह और लम्बे डग बढ़ाने लगी। सहसा घण्टी ने कहा– अरी यमुना! वह तो विजय बाबू हैं, पीछे-ही-पीछे आ रहे हैं।

यमुना एक बार काँप उठी–न जाने क्यों; विजय घूमकर लौटा आ रहा था। पास आ जाने पर विजय ने एक बार यमुना को नीचे से ऊपर तक देखा।

कोई कुछ बोला नहीं, तीनों घर लौट आए।

बसंत की संध्या सोने की धूल उड़ा रही थी। वृक्षों के अन्तराल से आती हुई सूर्यप्रभा उड़ती हुई गर्द को भी रँग देती थी। एक अवसाद विजय के चारों ओर फल रहा था, वह निर्विकार दृष्टि से बहुत-सी बातें सोचते हुए भी किसी पर मन स्थिर नहीं कर सकता। घण्टी और मंगल के परदे में यमुना अधिक स्पष्ट हो उठी थी। उसका आकर्षण अजगर की साँस के समान उसे खींच रहा था। विजय का हृदय प्रतिहिंसा और कुतूहल से भर गया था। उसने खिड़की से झाँककर देखा, घण्टी आ रही है। वह घर से बाहर ही उससे जा मिला।

कहाँ विजय बाबू?–घण्टी ने पूछा।

मंगलदेव के आश्रम तक; चलोगी?

चलिए।

दोनों उसी पथ पर बढ़े। अँधेरा हो चला था। मंगल अपने आश्रम में बैठा हुआ सांध्योपासना कर रहा था। पीपल के वृक्ष के नीचे शिला पर पद्मासन लगाए वह बोधिसत्व की प्रतिमूर्ति-सा दीखता था। विजय क्षण-भर तक देखता रहा, फिर मन-ही-मन कह उठा–पाखण्ड?–आँख खोलते हुए सहसा आचमन लेकर मंगल ने धुँधले प्रकाश में देखा–विजय और दूर कौन है, एक स्त्री ? यमुना तो नहीं है। वह पलभर के लिए अस्त-व्यस्त हो उठा। उसने पुकारा–विजय बाबू!

विजय ने कहा–दूर से घूमकर आ रहा हूँ, फिर आऊँगा।

विजय और घण्टी वहीं से लौट पड़े; परन्तु उस दिन मंगल के पुरुषसूक्त का पाठ न हो सका। दीपक जल जाने पर जब वह पाठशाला में बैठा, तब प्राकृत-प्रकाश के सूत्र उसे बीहड़ लगे। व्याख्या अस्पष्ट हो गई। ब्रह्मचारियों ने देखा–गुरुजी को आज क्या हो गया है!

विजय घर लौट आया। यमुना रसोई बनाकर बैठी थी। हँसती हुई घण्टी को भी उसने साथ ही आते देखा। वह डरी। और न जाने क्यों उसने पूछा–विजय बाबू, विदेश में एक विधवा तरुणी को लिए इस तरह घूरना क्या ठीक है?

यह बात आज क्यों पूछती हो यमुना ? घण्टी ! इसमें तुम्हारा क्या सम्मति है?– शान्त भाव से विजय ने कहा।

इसका विचार तो यमुना को स्वयं करना चाहिए। मैं तो ब्रजवासिनी हूँ, हृदय की बंसी को सुनने से कभी रोका नहीं जा सकता।

यमुना व्यंग्य से मर्माहत होकर बोली– अच्छा भोजन कर लीजिए।

विजय भोजन करने बैठा; पर अरुचि थी। शीघ्र उठ गया। वह लैम्प के सामने जा बैठा। सामने ही दरी के कोने पर बैठी यमुना पान लगाने लगी। पान विजय के सामने रखकर चली

गई, किन्तु विजय ने उसे छुआ भी नहीं, यह यमुना ने लौट आने पर देखा। उसने दृढ़ स्वर में पूछा–विजय बाबू, पान क्यों नहीं खाया आपने?

अब पान न खाऊँगा, आज से छोड़ दिया।

पर छोड़ने में क्या सुविधा है?

मैं बहुत जल्द ईसाई होनेवाला हूँ, उस समाज में इसका व्यवहार नहीं। मुझे यह दम्भपूर्ण धर्म बोझ के समान दबाए है, अपनी आत्मा के विरुद्ध रहने के लिए मैं बाध्य किया जा रहा हूं।

आपके लिए तो कोई रोक-टोक नहीं, फिर भी...

यह मैं जानता हूं कि कोई रोक-टोक नहीं; पर मैं यह भी अनुभव करता हूं कि मैं कुछ विरुद्ध आचरण कर रहा हूँ। इस विरुद्धता का खटका लगा रहता है। मन उत्साहपूर्ण होकर कर्त्तव्य नहीं करता। यह सब मेरे हिन्दू रहने के कारण है। स्वतन्त्रता और हिन्दू धर्म–दोनों विरुद्धवाची शब्द हैं।

पर ऐसी बातें तो अन्य धर्मानुयायी मनुष्य के जीवन में भी आ सकती है। सबका काम सब मनुष्य नहीं कर सकते।

तो भी बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो हिन्दू-धर्म में रहकर नहीं की जा सकतीं, किन्तु मेरे लिए नितान्त आवश्यक हैं।

जैसे?

तुमसे ब्याह कर लेना!

यमुना ने ठोकर लगने की दशा में पड़कर पूछा–क्यों विजय बाबू! क्या दासी होकर रहना किसी भी भद्र महिला के लिए अपमान का पर्याप्त कारण हो जाता है?

यमुना! तुम दासी हो? कोई मेरा हृदय खोलकर पूछ देखे, तुम मेरी आराध्य देवी हो–सर्वस्व हो!–विजय उत्तेजित था।

मैं आराध्य देवता बना चुकी हूँ–मैं पतित हो चुकी हूं; मुझे..

यह मैंने अनुमान कर लिया था; परन्तु इन अपवित्रताओं में भी मैं तुम्हें पवित्र उज्ज्वल और ऊर्जस्वित पाता हूँ–जैसे मलिन वसन में हृदयहारी सौन्दर्य।

किसी के हृदय की शीतलता और किसी के यौवन की उष्णता– मैं सब झेल चुकी हूं! उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही। विजय बाबू! मैं दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ–है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे सके?–कहते-कहते यमुना की आँखों से आँसू टपक पड़े।

विजय थप्पड़ खाए हुए लड़के के समान घूम पड़ा–मैं अभी आता हूँ–कहता हुआ वह घर के बाहर निकल गया।

२

कई दिन हो गए, विजय किसी से कुछ बोलता नहीं। समय पर भोजन कर लेता और सोया रहता है। अधिक समय उसका, मकान के पास ही क़रीब की झाड़ियों की टट्टी के

भीतर लगे हुए कदम्ब के नीचे बीतता है। वहाँ बैठकर वह कभी उपन्यास पढ़ता और कभी हारमोनियम बजाता है।

अँधेरा हो गया था, वह कदम्ब के नीचे बैठा हारमोनियम बजा रहा था। चंचल घण्टी चली आई। उसने कहा—बाबूजी, आप तो बड़ा अच्छा हारमोनियम बजाते हैं। —वह पास ही बैठ गई।

तुम कुछ गाना जानती हो?

ब्रजवासिनी और कुछ चाहे न जाने, किन्तु फाग गाना तो उसी के हिस्से का है।

अच्छा तो कुछ गाओ, देखूँ मैं बजा सकता हूँ!

ब्रजबाला घण्टी एक गीत गाने लगी—

'पिया के हिया में परी है गाँठ
मैं कौन जतन से खोलूँ?
सब सखियाँ मिलि फाग मनावत
मैं बावरी-सी डोलूँ!
अब की फागुन पिया भये निरमोहिया
मैं बैठी विष घोलूँ!
पिया के—'

दिल खोलकर उसने गाया। मादकता थी उसके लहरीले कण्ठ-स्वर में, और व्याकुलता थी विजय की परदों पर दौड़ने वाली उँगलियों में! वे दोनों तन्मय थे। उसी राह से जाता हुआ मंगल—धार्मिक मंगल—भी, उस हृदय-द्रावक संगीत से विमुग्ध होकर खड़ा हो गया। एक बार उसे भ्रम हुआ, यमुना तो नहीं है! वह भीतर चला गया। देखते ही चंचल घण्टी हँस पड़ी! बोली—आइए ब्रह्मचारीजी!

विजय ने कहा—बैठोगे या घर के भीतर चलूँ!

नहीं विजय! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ। घण्टी! तुम घर जा रही हो न!

भयभीत घण्टी उठकर धीरे-से चली गई।

विजय ने सहमते हुए पूछा—क्या कहना चाहते हो?

तुम इस लड़की को साथ लेकर इस स्वतन्त्रता से क्यों बदनाम हुआ चाहते हो?

यद्यपि मैं इसका उत्तर देने को बाध्य नहीं मंगल, एक बात मैं भी तुमसे पूछना चाहता हूँ– बताओ, तो, मैं यमुना के साथ भी एकान्त में रहता हूँ, तब तुमको संदेह क्यों नहीं होता!

मुझे उसके चरित्र पर विश्वास है।

इसीलिए कि तुम भीतर से उसे प्रेम करते हो! अच्छा, यदि मैं घण्टी से ब्याह करना चाहूँ, तो तुम पुरोहित बनोगे?

विजय, तुम अतिवादी हो, उद्धत हो!

अच्छा हुआ कि मैं वैसा संयतभाषी कपटाचारी नहीं हूँ, जो अपने चरित्र की दुर्बलता के कारण मित्र से भी मिलने में संकोच करता है। मेरे यहाँ प्रायः तुम्हारे न आने का यही तो कारण है कि तुम यमुना की....

चुप रहो विजय! उच्छृंखलता की भी एक सीमा होती है।

अच्छा जाने दो। घंटी के चरित्र पर विश्वास नहीं, तो क्या समाज और धर्म का यह कर्त्तव्य नहीं कि उसे किसी प्रकार अवलम्ब दिया जाए, उसका पथ सरल कर दिया जाए? यदि मैं घंटी से ब्याह करूँ, तो तुम पुरोहित बनोगे? बोलो, मैं इसे करके पाप करूँगा या पुण्य?

यह पाप हो या पुण्य, तुम्हारे लिए हानिकर होगा।

मैं हानि उठाकर भी समाज के एक व्यक्ति का कल्याण कर सकूँ तो क्या पाप करूँगा? उत्तर दो, देखें तुम्हारा धर्म क्या व्यवस्था देता है!—विजय अपनी निश्चित विजय से फूल रहा था।

वह वृन्दावन की एक कुख्यात बाल-विधवा है विजय!

सहज में पच जाने वाला और धीरे-से गले से उत्तर जाने वाले स्निग्ध पदार्थ सभी आत्मसात कर लेते हैं, किन्तु कुछ त्याग—सो भी अपनी महत्ता का त्याग—जब धर्म के आदर्श में नहीं है, तब तुम्हारे धर्म को मैं क्या कहूँ मंगल!

विजय! मैं तुम्हारा इतना अनिष्ट नहीं देख सकता। इसे त्याग तुम भले ही समझ लो; पर इसमें क्या तुम्हारी दुर्बलता का स्वार्थपूर्ण अंश नहीं है? मैं यह मान भी लूँ कि विधवा से ब्याह करके तुम एक धर्म सम्पादित करते हो, तब भी घण्टी जैसी लड़की से तुमको जीवन भर के लिए परिणय-सूत्र में बाँधने के लिए मैं एक मित्र के नाते प्रस्तुत नहीं।

अच्छा मंगल। तुम मेरे शुभचिन्तक हो; यदि मैं यमुना से ब्याह करूँ? वह तो...

तुम पिशाच हो!— कहते हुए मंगल उठकर चला गया।

विजय ने क्रूर हँसी-हँसकर अपने आप कहा—पकड़े गए। ठिकाने पर! वह भीतर चला गया।

दिन बीत रहे थे। होली पास आती जाती है। विजय का यौवन उच्छृंखल भाव से बढ़ रहा था। उसे ब्रज की रहस्यी भूमि का वातावरण और भी जटिल बना रहा था। यमुना उससे डरने लगी। वह कभी-कभी मदिरा पीकर एक बार ही चुप हो जाता। गम्भीर होकर दिन-का-दिन बिता दिया करता। घण्टी आकर उसमें सजीवता ले आने का प्रयत्न करती, परन्तु वैसे ही; जैसे एक खँड़हर की किसी भग्न प्राचीर पर बैठा हुआ पपीहा कभी बोल दे!

फाल्गुन के शुक्लपक्ष की एकादशी थी। घर के पासवाले कदम्ब के नीचे विजय बैठा था। चाँदनी खिल रही थी। हारमोनियम, बोतल और ग्लास पास ही थे। विजय कभी-कभी एक-दो-घूँट पी लेता और कभी हारमोनियम में एक तान निकाल लेता। बहुत विलम्ब हो गया था। खिड़की में से यमुना चुपचाप यह दृश्य देख रही थी। उसे अपने हरिद्वार के दिन स्मरण हो आये। निरभ्र गगन में चलती हुई चाँदनी—गंगा के वक्ष पर लेटती हुई चाँदनी—कानन की हरियाली में हरी-भरी चाँदनी! और स्मरण हो रही थी मंगल के प्रणय की पीयूष-वर्षिणी चन्द्रिका! एक ऐसी ही चाँदनी रात थी। जंगल से उस छोटी कोठरी में धवल मधुर आलोक फैल रहा था। तारा लेटी थी, उसकी लटें तकिये पर बिखर गई थीं, मंगल

उस कुन्तल-स्तबक को मुट्ठी में लेकर सूँघ रहा था। तृप्ति थी किन्तु उस तृप्ति को स्थिर रखने के लिए लालच का अन्त न था। चाँदनी खिसकती जाती थी। चन्द्रमा उस शीतल आलिंगन को देखकर लज्जित होकर भाग रहा था। मकरंद से लदा हुआ मारुत चन्द्रिका-चूर्ण के साथ सौरभ-राशि बिखेर देता था।

यमुना पागल हो उठी। उसने देखा–सामने विजय बैठा हुआ अभी पी रहा है। रात–पहर भर जा चुकी है। वृन्दावन में दूर से फगुहारों की डफ की गम्भीर ध्वनि और उन्मत्त कण्ठ से रसीले फागों की तुमुल तानें उस चाँदनी में, उस पवन में मिली थी। एक स्त्री आई, करील की झाड़ियों से निकलकर विजय के पीछे खड़ी हो गई। यमुना एक बार सहम उठी। फिर उसने देखा—उस स्त्री ने हाथ का लोटा उठाया और उसका तरल पदार्थ विजय के सिर पर उँडेल दिया।

विजय के उष्ण मस्तक को कुछ शीतलता भली लगी। घूमकर देखा, तो घण्टी खिलखिलाकर हँस रही थी। वह आज इन्द्रिय-जगत के वैद्युत् प्रवाह में चक्कर खाने लगा। चारों और विद्युत-कण चमकते दौड़ते थे। युवक विजय अपने में न रह सका, उसने घण्टी का हाथ पकड़कर पूछा–ब्रजवाले, तुम रंग उँड़ेलकर उसकी शीतलता दे सकती हो कि उस रंग की-सी ज्वाला–लाल ज्वाला! ओह जलन हो रही है घण्टी! आत्म -संयम भ्रम है। बोलो–

मैं, मेरे पास दाम न था–रंग फीका होगा विजय बाबू!

हाड़-मांस के वास्तविक जीवन का सत्य, यौवन आने पर उसका आना न जानकर बुलाने की धुन रहती है। जो चलो आने पर अनुभूत होता है–वह यौवन, आसन से दबा हुआ पंचवर्षीय चपल तुरंग के समान पृथ्वी को कुरेदने-वाला त्वरापूर्ण यौवन, अधिक न सम्हल सका, विजय ने घण्टी को अपनी मांसल भुजाओं में लपेट लिया और एक दृढ़ तथा दीर्घ चुम्बन से रंग का प्रतिवाद किया।

यह सजीव और उष्ण आलिंगन, विजय के युवाजीवन का प्रथम उपहार था–चरम लाभ था। कंगाल को जैसे निधि मिली हो! यमुना और न देख सकी, उसने खिड़की बन्द कर दी। उसके शब्द ने दोनों को अलग कर दिया। उसी समय इक्कों के रुकने का शब्द बाहर हुआ। यमुना नीचे उतर आई, किवाड़ खोलने। किशोरी भीतर आई!

अब घण्टी और विजय पास-पास बैठ गए थे। किशोरी ने पूछा–विजय कहाँ है? यमुना कुछ न बोली। डाँट कर किशोरी ने कहा–बोलती क्यों नही यमुना?

यमुना ने कुछ न कहकर खिड़की खोल दी। किशोरी ने देखा–निखरी चाँदनी में एक स्त्री और पुरुष कदम्ब के नीचे बैठे हैं। वह गरम हो उठी। उसने वहीं से पुकारा–घण्टी!

घण्टी भीतर आई। विजय का साहस न हुआ, वह वहीं बैठा रहा। किशोरी ने पूछा–घण्टी, क्या तुम इतनी निर्लज्ज हो।

मैं क्या जानूँ कि लज्जा किसे कहते हैं। ब्रज में तो सभी होली में रंग डालती हैं, मैं भी रंग डालने आई। विजय बाबू को रंग से चोट तो न लगी होगी किशोरी बहन?–फिर हँसने के ढंग से कहा–नहीं, पाप हुआ हो तो इन्हें भी ब्रज परिक्रमा करने के लिए भेज दीजिए!

किशोरी को यह बात तीर-सी लगी। उसने झिड़कते हुए कहा—चली जाओ, आज से मेरे घर कभी न आना!

घण्टी सिर नीचा किये चली गई!

किशोरी ने फिर पुकारा—विजय!

विजय लड़खड़ाता हुआ भीतर आया और विवश बैठ गया। किशोरी से मदिरा की गन्ध छिप न सकी। उसने सिर पकड़ लिया। यमुना ने विजय को धीरे-से लिटा दिया। वह सो गया।

विजय ने अपने सम्बन्ध की किम्वदन्तियों को और भी जटिल बना दिया, वह उन्हें सुलझाने की चेष्टा भी न करता था। किशोरी ने बोलना छोड़ दिया था। किशोरी कभी-कभी सोचती —यदि श्रीचन्द्र इस समय आकर लड़के को सम्हाल लेते! परन्तु वह बड़ी दूर की बात थी।

एक दिन विजय और किशोरी की मुठभेड़ हो गई। बात यह थी कि निरंजन ने इतना ही कहा-कि मद्यपों के संसर्ग में रहना, हमारे लिए असम्भव है! विजय ने हँसकर कहा—अच्छी बात है, दूसरा स्थान खोज लीजिए। ढोंग से दूर रहना मुझे भी रुचिकर है। किशोरी आ गई। उसने कहा—विजय, तुम इतने निर्लज्ज हो! अपने अपराधों को समझाकर लज्जित क्यों नहीं होते? नशे की खुमारी से भरी आँखों को उठाकर विजय ने किशोरी की ओर देखा और कहा—मैं अपने कर्मों पर हँसता हूँ लज्जित नहीं होता। जिन्हें लज्जा बड़ी प्रिय हो, वे उसे अपने कामों में ख़ोजें।

किशोरी मर्माहत होकर उठ गई, और अपना सामान बँधवाने लगी। उसी दिन काशी लौट जाने का उसका दृढ़ निश्चय हो गया। यमुना चुपचाप बैठी थी। उससे किशोरी ने पूछा—यमुना, क्या तुम न चलोगी?

बहूजी, मैं अब कहीं नहीं जाना चाहती; यहीं वृन्दावन में भीख माँगकर जीवन बिता लूँगी!

यमुना, खूब समझ लो!

मैंने कुछ रुपये इकट्ठे कर लिये हैं, उन्हें किसी मन्दिर में चढ़ा दूँगी और दो मुट्ठी भात खाकर निर्वाह कर लूँगी।

अच्छी बात है! किशोरी रूठकर उठी।

यमुना की आँखों से आँसू बह चले। वह भी अपनी गठरी लेकर किशोरी के जाने के पहले ही उस घर से निकलने के लिए प्रस्तुत थी।

सामान इक्कों पर धरा जाने लगा। किशोरी और निरंजन ताँगे पर जा बैठे। विजय चुपचाप बैठा रहा, उठा नहीं। जब यमुना भी बाहर निकलने लगी तब उससे न रहा गया; विजय ने पूछा—यमुना। तुम भी मुझे छोड़कर चली जाती हो! पर यमुना कुछ न बोली। वह दूसरी ओर चली; ताँगे और इक्के स्टेशन की ओर। विजय चुपचाप बैठा रहा। उसने देखा कि स्वयं निर्वासित है। किशोरी का स्मरण करके एक बार उसका हृदय मातृस्नेह से उमड़ आया। उसकी इच्छा हुई कि वह भी स्टेशन की राह पकड़े, पर आत्माभिमान ने रोक दिया।

उसके सामने किशोरी की मातृमूर्ति विकृत हो उठी। वह सोचने लगा—माँ मुझे पुत्र के नाते कुछ भी नहीं समझतीं, मुझे भी अपने स्वार्थ, गौरव और अधिकार-दम्भ के भीतर ही देखना चाहती हैं। संतान-स्नेह होता, तो यों ही मुझे छोड़कर चली जातीं! वह स्तब्ध बैठा रहा। फिर कुछ विचार कर अपना भी सामान बाँधने लगा। दो-तीन बैग और बण्डल हुए। उसने एक ताँगे वाले को रोककर उस पर अपना सामान रख दिया, स्वयं भी चढ़ गया और उसे मथुरा की ओर चलने के लिए कह दिया। विजय का सिर सन-सन कर रहा था। ताँगा अपनी राह पर चल रहा था; पर विजय को मालूम होता था कि हम बैठे हैं और पटरी पर के घर और वृक्ष सब हमसें घृणा करते हुए पीछे आ रहे हैं। अकस्मात् उसके कान में एक गीत का अंश सुनाई पड़ा—

"मैं कौन जतन से खोलूँ!"

उसने ताँगे वाले को रुकने के लिए कहा। घण्टी गाती जा रही थी। अँधेरा हो चला था। विजय ने पुकारा—घण्टी!

घण्टी ताँगे के पास चली आई। उसने पूछा—कहाँ विजय बाबू?

सब लोग बनारस लौट गये। मैं अकेला मथुरा जा रहा हूँ। अच्छा हुआ, तुमसे भेंट हो गई!

अहा विजय बाबू! मथुरा तो मैं भी चलने की थी; पर कल आऊँगी।

तो आज ही क्यों नहीं चलती? बैठ जाओ, ताँगे पर जगह तो है:—इतना कहते हुए विजय ने बैग ताँगे वाले के बग़ल में रख दिया। घण्टी पास जाकर बैठ गई।

३

मथुरा में चर्च के पास ही एक छोटा-सा, परन्तु साफ़-सुथरा बँगला है। उसके चारों ओर तारों से घिरी हुई ऊँची, जुरांटी की बड़ी घनी टट्टी है। भीतर कुछ फलों के वृक्ष हैं। हरियाली अपनी घनी छाया में उस बँगले को शीतल करती है। पास ही पीपल का एक बड़ा-सा वृक्ष है। उसके नीचे बेंत की कुर्सी पर बैठे हुए मिस्टर बाथम के सामने, एक टेबुल पर कुछ कागज बिखरे हैं। वह अपनी धुन में काम में व्यस्त हैं।

बाथम ने एक भारतीय रमणी से अपना ब्याह कर लिया है। वह इतना अल्पभाषी और गम्भीर है कि पड़ोस के लोग बाथम को साधु साहब कहते हैं, उससे आज तक किसी का झगड़ा नहीं हुआ, और न उसे किसी ने क्रोध करते देखा। बाहर तो अवश्य योरोपीय ढंग से रहता है, सो भी केवल वस्त्र और व्यवहार के सम्बन्ध में, परन्तु उसके घर के भीतर पूर्ण हिन्दू आचार है। उसकी स्त्री मारगरेट लतिका ईसाई होते हुए भी भारतीय ढंग से रहती है। बाथम उससे प्रसन्न है; वह कहता है कि गृहिणीत्व की जैसी सुन्दर योजना भारतीय स्त्रियों को आती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इतना आकर्षक, इतना माया-ममतापूर्ण स्त्री-हृदय-सुलभ गार्हस्थ्य जीवन और किसी समाज में नहीं। कभी-कभी अपने इन विचारों के कारण उसे

अपने योरोपीय मित्रों के सामने बहुत लज्जित होना पड़ता है; परन्तु उसके ये दृढ़ विश्वास हैं। उसका चर्च के पादरी पर भी अनन्य प्रभाव है। पादरी जॉन उसके धर्म-विश्वास का अन्यतम समर्थक है। लतिका को वह बूढ़ा पादरी अपनी लड़की के समान प्यार करता है। बाथम चालीस और लतिका तीस की होगी। सत्तर बरस का बूढ़ा पादरी इन दोनों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है।

अभी दीपक नहीं जलाये गये थे। कुबड़ी टेकता हुआ बूढ़ा जॉन आ पहुँचा। बाथम उठ खड़ा हुआ, हाथ मिलाकर बैठते हुए जॉन से पूछा—मारगरेट कहाँ है? तुम लोगों के साथ ही प्रार्थना करने की आज बड़ी इच्छा है।

हाँ पिता, हम लोग भी साथ ही चलेंगे—कहते हुए बाथम भीतर गया और कुछ मिनटों में लतिका एक सफ़ेद रेशमी धोती पहने बाथम के साथ बाहर आ गई। बूढ़े पादरी ने लतिका के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा--चलती हो मारगरेट?

बाथम और जॉन भी लतिका को प्रसन्न रखने के लिए भारतीय संस्कृति से अपनी पूर्ण सहानुभूति दिखाते। वे आपस में बात करने के लिए प्रायः हिन्दी में ही बोलते।

हाँ पिता! मुझे आज विलम्ब हुआ, अन्यथा मैं ही इनसे चलने के लिए पहले अनुरोध करती। मेरी रसोईदारिन आज कुछ बीमार है, मैं उसकी सहायता कर रही थी, इसी से आपको कष्ट करना पड़ा।

ओहो! उस दुखिया सरला की कहती हो। लतिका! इसके बपतिस्मा न लेने पर भी मैं उस पर बड़ी श्रद्धा करता हूँ। वह एक जीती-जागती करुणा है। उसके मुख पर मसीह की जननी के अंचल की छाया है। उसे क्या हुआ है बेटी?

नमस्कार पिता! मुझे तो कुछ नहीं हुआ है। लतिका रानी के दुलार का रोग कभी-कभी मुझे बहुत सताता है।—कहती हुई एक पचास बरस की प्रौढ़ा स्त्री ने बूढ़े पादरी के सामने आकर सिर झुका दिया।

ओहो, मेरी सरला! तुम अच्छी हो, यह जानकर मैं बहुत सुखी हुआ। कहो तुम प्रार्थना तो करती हो न? पवित्र आत्मा तुम्हारा कल्याण करे। लतिका के हृदय में यीशु की प्यारी करुणा है, सरला! वह तुम्हें बहुत प्यार करती है। —पादरी ने कहा।

मुझ दुखिया पर दया करके इन लोगों ने मेरा बड़ा उपकार किया है साहब! भगवान इन लोगों का मंगल करे।—प्रौढ़ा ने कहा।

तुम बपतिस्मा क्यों नहीं लेती हो सरला! इस असहाय लोक में तुम्हारे अपराधों को कौन ऊपर लेगा? तुम्हारा कौन उद्धार करेगा?—पादरी ने कहा।

आप लोगों से सुनकर मुझे यह विश्वास हो गया है कि मसीह एक दयालु महात्मा थे। मैं उनमें श्रद्धा करती हूँ। मुझे उनकी बात सुनकर ठीक भागवत के उस भक्त का स्मरण हो जाता है जिसने भगवान का वरदान पाने का संसार-भर के दुखों को अपने लिए माँगा था—अहा! वैसा ही हृदय महात्मा ईसा का भी था; परन्तु पिता! इसके लिए धर्म-परिवर्तन करना तो दुर्बलता है। हम हिन्दुओं का कर्मवाद में विश्वास है। अपने-अपने कर्मफल तो भोगने ही पड़ेंगे।

पादरी चौंक उठा। उसने कहा--तुमने ठीक नहीं समझा। पापों का पश्चात्ताप द्वारा प्रायश्चित्त होने पर शीघ्र ही उन कर्मों की यीशु क्षमा कराता है और इसके लिए उसना अपना अग्रिम रक्त जमा कर दिया है।

पिता ! मैं तो समझती हूँ कि यदि यह सत्य हो, तो भी इसका प्रचार न होना चाहिए; क्योंकि मनुष्य को पाप करने का आश्रय मिलेगा। वह अपने उत्तरदायित्व से छुट्टी पा जाएगा– सरला ने दृढ़ स्वर में कहा।

एक क्षण के लिए पादरी चुप रहा। उसका मुँह तमतमा उठा। उसने कहा—अभी नहीं सरला! कभी तुम इस सत्य को समझोगी। तुम मनुष्य के पश्चात्तापपूर्ण एक दीर्घ निश्वास का मूल्य नहीं जानती हो– प्रार्थना में झुकी हुई आँखों के आँसू की एक बूँद का रहस्य तुम नहीं समझती!

मैं संसार की सताई हूँ, ठोकर खाकर मारी-मारी फिरती हूँ। पिता! भगवान के क्रोध को, उनके न्याय को, मैं आँचल पसार कर लेती हूँ। मुझे इसमें कायरता नहीं सताती। मैं अपने कर्मफल को सहन करने के लिए वज्र के समान सबल, कठोर हूँ। अपनी दुर्बलता के लिए कृतज्ञता का बोझ लेना मेरी नियति ने मुझे नहीं सिखाया। मैं भगवान से यही प्रार्थना करती हूँ कि, यदि तेरी इच्छा पूर्ण हो गई, इस हाड़-मांस में इस चेतना को रखने के दण्ड की अवधि पूरी हो गई, तो एक बार हंस दे कि मैंने तुझे उत्पन्न करके भर पाया।–कहते-कहते सरला के मुख पर एक अलौकिक आत्म-विश्वास, एक सतेज दीप्ति नाच उठी। उसे देखकर पादरी भी चुप हो गया। लतिका और बाथम भी स्तब्ध रहे।

सरला के मुख पर थोड़े ही समय में पूर्व भाव लौट आया। उसने प्रकृतिस्थ होते हुए विनीत भाव से पूछा।–पिता! एक प्याली चाय ले आऊँ!

बाथम ने भी बात बदलने के लिए सहसा कहा–पिता! जब तक आप चाय पियें, तब तक पवित्र कुमारी का एक सुन्दर चित्र–जो संभवतः किसी पुर्तगाली चित्र की –किसी हिन्दुस्तानी मुसव्वर की बनाई प्रतिकृति है,–लाकर दिखलाऊँ; सैकड़ों बरस से कम का न होगा।

हाँ, यह तो मैं जानता हूँ कि तुम प्राचीन कला-सम्बन्धी भारतीय वस्तुओं का व्यवसाय करते हो। और, अमरीका तथा जर्मनी में तुमने इस व्यवसाय में बड़ी सुख्याति पाई है; परन्तु आश्चर्य है कि ऐसे चित्र भी तुमको मिल जाते है। मैं अवश्य देखूँगा। कहकर पादरी कुरसी से टिक गया।

सरला चाय लाने गई और बाथम चित्र। लतिका ने जैसे स्वप्न देखकर आँख खोली। सामने पादरी को देखकर वह एक बार फिर आपे में आई। बाथम ने चित्र लतिका के हाथ में देकर कहा–मैं लैम्प लेता आऊँ!

बूढ़े पादरी ने उत्सुकता दिखलाते हुए संध्या के मलिन आलोक में ही उस चित्र को लतिका के हाथ से लेकर देखना आरम्भ किया था कि बाथम ने एक लैम्प लाकर टेबुल पर रख दिया। वह ईसा की जननी मरियम का एक सुन्दर चित्र था। उसे देखते ही जॉन की

आँखें भक्ति से पूर्ण हो गईं। वह बड़ी प्रसन्नता से बोला—बाथम! तुम बड़े भाग्यवान हो, इस चित्र को बेचना मत!

सरला ने चाय लाकर टेबल पर रक्खी, और बाथम कुछ बोलना ही चाहता था कि रमणी की कातर ध्वनि उन लोगों को सुनाई पड़ी—'बचाओ! बचाओ!'

बाथम ने देखा—एक स्त्री दौड़ती-हाँफती हुई चली आ रही है, उसके पीछे दो मनुष्य भी। बाथम ने उस स्त्री को दौड़कर अपने पीछे कर लिया और घूँसा तानते हुए कड़ककर कहा—आगे बढ़े,-तो जान ले लूँगा। पीछा करनेवालों ने देखा, एक गोरा मुँह! वे उल्टे पैर लौटकर भागे। सरला ने तब तक उस भयभीत युवती को अपनी गोद में ले लिया था। युवती रो रही थी। सरला ने पूछा—क्या हुआ है! घबराओ मत, अब तुम्हारा कोई कुछ न कर सकेगा।

युवती ने कहा— विजय बाबू को इन सबों ने मारकर गिरा दिया है।—वह फिर रोने लगी।

अबकी लतिका ने बाथम की ओर देखकर कहा— रामदास को बुलाओ, लालटेन लेकर देखो कि बात क्या है!

बाथम ने पुकारा—रामदास!

वह भी इधर ही दौड़ा हुआ आ रहा था। लालटेन उसके हाथ में थी। बाथम उसके साथ चला। बँगले से निकलते ही बायीं और एक मोड़ पड़ता था। वहाँ सड़क की नाली तीन फुट गहरी है, उसी में एक युवक गिरा हुआ दिखाई पड़ा। बाथम ने उतरकर देखा कि युवक आँखें खोल रहा है। सिर में चोट आने से वह क्षण-भर के लिए मूर्च्छित हो गया था। विजय पूर्ण स्वस्थ युवक था। पीछे की आकस्मिक चोट ने उसे विवश कर दिया, अन्यथा वह दो के लिए कम न था। बाथम के सहारे वह उठकर खड़ा हुआ। अभी उसे चक्कर आ रहा था, फिर भी उसने पूछा—घण्टी कहाँ है!

—बाथम ने कहा—मेरे बँगले में है, घबराने की आवश्यकता नहीं। चलो!

विजय धीरे-धीरे बँगले में आया और एक आरामकुर्सी पर बैठ गया। इतने में चर्च का घण्टा बजा। पादरी ने चलने की उत्सुकता प्रकट की । लतिका ने कहा—पिता! बाथम प्रार्थना करने जाएँगे, मुझे आज्ञा हो, तो इन विपन्न मनुष्यों की सहायता करूँ, यह भी तो प्रार्थना से कम नहीं है।

जॉन ने कुछ न कहकर कुबड़ी उठाई, बाथम उसके साथ-साथ चला। अब लतिका और सरला, विजय और घण्टी की सेवा में लगीं। सरला ने कहा— चाय ले आऊँ, उसे पीने से स्फूर्ति आ जाएगी।

विजय ने कहा—नहीं। धन्यवाद। अब हमलोग चले जा सकते हैं।

मेरी सम्मति है कि आज की रात आप लोग इसी बँगले पर बितावें, संभव है कि वे दुष्ट फिर कहीं घात में लगे हों। —लतिका ने कहा।

सरला, लतिका के इस प्रस्ताव से प्रसन्न होकर घण्टी से बोली-क्यों बेटी! तुम्हारी क्या सम्मति है! तुम लोगों का घर यहाँ से कितनी दूर है!—कहकर रामदास को कुछ संकेत किया।

विजय ने कहा–हम लोग परदेशी हैं, यहाँ घर नहीं। अभी यहाँ आए एक सप्ताह से अधिक नहीं हुआ। आज मैं इनके साथ एक ताँगे पर घूमने निकला। दो -तीन दिन से दो-एक मुसलमान गुण्डे हम लोगों को प्रायः घूम-फिरकर देखते थे। मैंने उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया था। आज एक ताँगेवाला मेरे कमरे के पास ताँगा रोककर बड़ी देर तक किसी से बातें करता रहा। मैंने देखा, ताँगा अच्छा है। पूछा–किराये पर चलोगे! उसने प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया। संध्या हो चली थी। हम लोगों ने घूमने के विचार से चलना निश्चित किया और उस पर जा बैठे।

इतने में रामदास चाय का सामान लेकर आया। विजय ने पीकर कृतज्ञता प्रकट करते हुए फिर कहना आरम्भ किया–हम लोग बहुत दूर-दूर घूमकर इस चर्च के पास पहुँचे। इच्छा हुई कि घर लौट चलें; पर उस ताँगेवाला ने कहा–बाबू साहब, यह चर्च अपने ढंग का एक ही है, इसे देख तो लीजिए। हम लोग कुतूहल से प्रेरित होकर इसे देखने के लिए चले। सहसा अँधेरी झाड़ी में से वे ही दोनों गुण्डे निकल आए और एक ने पीछे से मेरे सिर पर डण्डा मारा। मैं आकस्मिक चोट से गिर पड़ा। इसके बाद मैं नहीं जानता कि क्या हुआ। फिर, जैसे यहाँ पहुँचा, वह सब तो आप लोग जानती हैं।

घण्टी ने कहा—मैं यह देखते ही भागी। मुझसे जैसे किसी ने कहा कि, ये सब मुझे ताँगे पर बिठाकर ले भागेंगे। आप लोगों की कृपा से हम लोगों की रक्षा हो गई।

सरला, घण्टी का हाथ पकड़कर भीतर ले गई। उसे कपड़ा बदलने को दिया। दूसरी धोती पहनकर जब वह बाहर आई, तब सरला ने पूछा–घण्टी! ये तुम्हारे पति हैं? कितने दिन बीते ब्याह हुए?

घण्टी ने सिर नीचा कर लिया। सरला के मुँह का भाव क्षण-भर में परिवर्तित हो गया; पर वह आज के अतिथियों की अभ्यर्थना में कोई अन्तर नहीं पड़ने देना चाहती थी। वह अपने कोठरी, जो बँगले से हटकर उसी बाग़ में थोड़ी दूर पर थीं, साफ़ करने लगी। घण्टी दालान में बैठी हुई थी। सरला ने आकर विजय से पूछा–भोजन तो करिएगा, मैं बनाऊँ?

विजय ने कहा–आपकी बड़ी कृपा है। मुझे कोई संकोच नहीं। आपका स्नेह छोड़कर जाने का साहस मुझसें नहीं।

इधर सरला को बहुत दिनों पर दो अतिथि मिले।

दूसरे दिन प्रभात की किरणों ने जब विजय की कोठरी में प्रवेश किया, तब सरला भी विजय को देख रही थी। वह सोच रही थी–यह भी किसी माँ का पुत्र है–अहा! कैसे स्नेह की सम्पत्ति है! दुलार से यह डाँटा नहीं गया, अब अपने मन का हो गया!

विजय की आँखें खुलीं । अभी सिर में पीड़ा थी। उसने तकिये से सिर उठाकर देखा–सरला का वात्सल्यपूर्ण मुख। उसने नमस्कार किया। बाथम वायु-सेवन कर लौटा आ रहा था। उसने भी पूछा–विजय बाबू, अब पीड़ा तो नहीं है?

अब वैसी तो नहीं है; इस कृपा के लिए धन्यवाद।

धन्यवाद की आवश्यकता नहीं। हाथ-मुँह धोकर आइए, तो कुछ दिखाऊँगा। आपकी आकृति से प्रकट है कि हृदय में कला-सम्बन्धी सुरुचि है!—बाथम ने कहा।

मैं अभी आता हूँ—कहता हुआ विजय कोठरी के बाहर चला आया। सरला ने कहा—देखो, इसी कोठरी के दूसरे भाग में सब सामान मिलेगा। झटपट चाय के समय से आ जाओ। —विजय उधर गया।

पीपल के वृक्ष के नीचे मेज़ पर एक फूलदान रखा है। उसमें आठ-दस गुलाब के फूल लगे हैं। बाथम, लतिका, घण्टी और विजय बैठे हैं। रामदास चाय ले आया। सब लोगों ने चाय पीकर बातें आरम्भ कीं। विजय और घण्टी के संबंध में प्रश्न हुए और उनका चलता हुआ उत्तर मिला—विजय काशी का एक धनी युवक है और घण्टी उसकी मित्र है। यहाँ दोनों घूमने-फिरने आये हैं।

बाथम एक पक्का दुकानदार था। उसने मन में विचारा कि, मुझे इससे क्या सम्भव है कि ये कुछ चित्र ख़रीद लें, परन्तु लतिका को घण्टी की ओर देखकर आश्चर्य हुआ, उसने पूछा—क्या आप लोग हिन्दू हैं?

विजय ने कहा—इसमें भी कोई संदेह है?

सरला दूर खड़ी इन लोगों की बातें सुन रही थी। उसको एक प्रकार की प्रसन्नता हुई। बाथम के कमरे में विक्रय के चित्र और कलापूर्ण सामान सजाये हुए थे। वह कमरा एक छोटी-सी प्रदर्शनी थी। दो-चार चित्रों पर विजय ने अपनी सम्मति प्रकट की , जिसे सुनकर बाथम बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने विजय से कहा—आप तो सचमुच इस कला के मर्मज्ञ है; मेरा अनुमान ठीक ही था।

विजय ने हँसते हुए कहा— मैं चित्रकला से बड़ा प्रेम रखता हूँ, मैंने बहुत-से चित्र बनाए भी हैं। और महाशय, यदि आप क्षमा करें, तो मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि इनमें से कितने सुन्दर चित्र—जिन्हें आप प्राचीन और बहुमूल्य कहते हैं—वे असली नहीं हैं।

बाथम को कुछ क्रोध और आश्चर्य हुआ। पूछा—आप इसका प्रमाण दे सकते हैं?

प्रमाण ही नहीं,मैं एक चित्र की प्रतिलिपि कर दूँगा। आप देखते नहीं, इन चित्रों के रंग ही कह रहे हैं कि वे आजकल के हैं—प्राचीन समय में वे बनते ही कहाँ थे, और सोने की नवीनता कैसी बोल रही है। देखिये न!— इतना कहकर विजय ने एक चित्र बाथम के हाथ में उठाकर दिया। बाथम ने उसे ध्यान से देखकर धीरे-धीरे टेबुल पर रख दिया और फिर हँसते हुए विजय के दोनों हाथ पकड़कर वेग से हिला दिया और कहा—आप सच कहते हैं। इस प्रकार से मैं स्वयं ठगा गया और दूसरों को भी ठगता हूँ। क्या कृपा करके आप कुछ दिन और मेरे अतिथि होंगे? आप जितने दिन मथुरा में रहें, मेरे ही यहाँ रहें—यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है। आपके मित्र को कोई भी असुविधा न होगी। सरला हिन्दुस्तानी रीति से आपके लिए सब प्रबन्ध करेगी।

लतिका आश्चर्य में थी और घण्टी प्रसन्न हो रही थी। उसने संकेत किया। विजय मन में विचारने लगा—क्या उत्तर दूँ, फिर सहसा उसे स्मरण हुआ कि वह मथुरा में एक निस्सहाय और कंगाल मनुष्य है; जब माता ने छोड़ दिया है, तब उसे कुछ करके ही जीवन

बिताना होगा। यदि यह काम कर सका, तो...वह झटपट बोल उठा—आप जैसे सज्जन के साथ रहने में मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी; परन्तु मेरा थोड़ा-सा सामान है, उसे ले आना होगा।

धन्यवाद। आपके लिए तो मेरा यही छोटा-सा कमरा आफिस का होगा और आपकी मित्र मेरी स्त्री के साथ रहेगी।

बीच ही में सरला ने कहा—यदि मेरी कोठरी में कष्ट न हो, तो वहीं रह लेंगी।

घण्टी मुस्कराई। विजय ने कहा।—हाँ, ठीक तो होगा।

सहसा इस आश्रम के मिल जाने से उन दोनों को विचार करने का अवसर नहीं मिला।

बाथम ने कहा—नहीं, नहीं, इसमें मैं अपना अपमान समझूँगा। घण्टी हँसने लगी। बाथम लज्जित हो गया; परन्तु लतिका ने धीरे से बाथम को समझा दिया कि घण्टी को सरला को साथ रहने में विशेष सुविधा होगी।

विजय और घण्टी का अब वहीं रहना निश्चित हो गया।

बाथम के यहाँ रहते विजय को महीनों बीत गए। उसमें काम करने की स्फूर्ति और परिश्रम की उत्कण्ठा बढ़ गई है। चित्र लिए वह दिन भर तूलिका चलाया करता है! घण्टों बीतने पर वह एक सिर उठा कर खिड़की से मौलसिरी के वृक्ष की हरियाली देख लेता है। वह नादिरशाह का एक चित्र अंकित कर रहा था, जिसमें नादिरशाह हाथी पर बैठकर उसकी लगाम माँग रहा है। मुग़ल दरबार के चापलूस चित्रकार ने यद्यपि उसे मूर्ख बनाने के लिए ही यह चित्र बनाया था; परन्तु इस साहसी आक्रमणकारी के मुख से भय नहीं, प्रत्युत पराधीन सवारी पर चढ़ने की एक शंका ही प्रकट हो रही है। चित्रकार को उसे भयभीत चित्रित करने का साहस नहीं हुआ। सम्भवतः उस आँधी के चले जाने के बाद मुहम्मदशाह उस चित्र को देखकर बहुत प्रसन्न हो रहा था। विजय की कला-कुशलता में उसका पूरा विश्वास हो चला था—वैसे ही पुराने रंग-मसाले, वैसी ही अंकन-शैली थी।

कोई भी उसे देखकर यह नहीं कह सकता कि यह प्राचीन दिल्ली-कलम का चित्र नहीं है।

आज चित्र पूरा हुआ है। अभी वह तूलिका हाथ से रख ही रहा था कि दूर पर घण्टी दिखाई दी। उसे जैसे उत्तेजना की एक घूँट मिली, थकावट मिट गई। उसने तर आँखों से देखा, घण्टी का परिचय इन दिनों बहुत साधारण हो गया था। आज उसकी दृष्टि में नवीनता थी। उसने उल्लास से पुकारा—घण्टी!

घण्टी की उदासी पल भर में चली गई। वह एक गुलाब का फूल तोड़ती हुई उस खिड़की के पास आ पहुँची। विजय ने कहा—मेरा चित्र पूरा हो गया।

ओह! मैं तो घबरा गई थी कि चित्र कब तक बनेगा! ऐसा भी कोई काम करता है! न न न! विजय बाबू अब आप दूसरा चित्र न बनाना—मुझे यहाँ लाकर अच्छे बन्दीगृह में रख दिया! कभी खोज तो लेते, एक-दो बात भी तो पूछ लेते!—घण्टी ने उलाहनों की झड़ी लगा दी। विजय ने अपनी भूल को अनुभव किया। यह निश्चित नहीं है कि सौन्दर्य हमें सब समय आकृष्ट कर ले। आज कुतूहल छलक रहा है! सौन्दर्य का उन्माद है! आकर्षण है!

विजय ने कहा—तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ घण्टी!

घण्टी ने कहा—आशा है, अब कष्ट न दोगे!

पीछे से बाथम ने प्रवेश करते हुए कहा— विजय बाबू, बहुत सुन्दर 'मॉडल' है, देखिए यदि आप नादिरशाह का चित्र पूरा कर चुके हों, तो एक मौलिक चित्र बनाइए।

विजय ने देखा, यह सत्य है। एक कुशल शिल्पी की बनाई हुई प्रतिमा—घण्टी—खड़ी सहसा कहा—आश्चर्य! इस सफलता के लिए बधाई!

विजय प्रसन्न हो रहा था। उसी समय बाथम ने फिर कहा—विजय बाबू मैं घोषणा करता हूँ कि आप भारत के एक प्रमुख चित्रकार होंगे! क्या आप मुझे आज्ञा देंगे कि मैं इस अवसर पर आपके मित्र को कुछ उपहार दूँ?

विजय हँसने लगा। बाथम ने अपनी उँगली से हीरे की अँगूठी निकाली और घण्टी की ओर बढ़ाना चाहा। वह हिचक रहा था। घण्टी हँस रही थी। विजय ने देखा, चंचल घण्टी की आँखों में हीरे का पानी चमकने लगा था। उसने समझा, यह बालिका प्रसन्न होगी। सचमुच दोनों हाथों में सोने की एक-एक पतली चूड़ियों के अतिरिक्त और कोई आभूषण घण्टी के पास न था। विजय ने कहा— तुम्हारी इच्छा हो, तो पहन सकती हो— घण्टी ने हाथ फैलाकर ले लिया।

व्यापारी बाथम ने फिर गला साफ़ करते हुए कहा— विजय बाबू, स्वतन्त्र व्यवसाय और स्वावलम्बन का महत्त्व आप लोग कम समझते हैं, यही कारण है कि भारतीयों के उत्तम-से-उत्तम गुण दबे रह जाते हैं। मैं आज आप से यह अनुरोध करता हूँ कि आपके माता-पिता चाहे जितने धनवान हों, परन्तु आप इस कला को व्यवसाय की दृष्टि से कीजिए। आप सफल होंगे, मैं इसमें आपका सहायक हूँ! क्या आप इस नये मॉडल पर एक मौलिक चित्र बनावेंगे?

विजय ने कहा—आज विश्राम करूँगा, कल आपसे कहूँगा।

४

आज कितने दिनों पर विजय सरला की कोठरी में बैठा है। घण्टी लतिका के साथ बातें करने के लिए चली गई थी। विजय को सरला ने अकेले पाकर कहा—बेटा! तुम्हारी भी माँ होगी, उसको तुम एकबारगी भूलकर इस छोकड़ी को लिए इधर-उधर मारे-मारे क्यों फिर रहे हो? आह, वह कितनी दुखी होगी!

विजय सिर नीचे किए चुप रहा—सरला फिर कहने लगी—विजय! कलेजा रोने लगता है, हृदय कचोटने लगता है, आँखें छटपटाकर उसे देखने के लिए बाहर निकलने लगती हैं, उत्कण्ठा साँस बनकर दौड़ने लगती है। पुत्र का स्नेह, बड़ा स्नेह है, विजय! स्त्रियाँ ही स्नेह की विचारक हैं। अहा, तुम निष्ठर लड़के क्या जानोगे! लौट जाओ मेरे बच्चे! अपनी माँ की सूनी गोद में लौट जाओ।—सरला का गम्भीर मुख किसी व्याकुल आकांक्षा से इस समय विकृत हो रहा था।

विजय को आश्चर्य हुआ। उसने कहा—क्या आपके भी कोई पुत्र था?

था विजय, बहुत सुन्दर था! परमात्मा के वरदान के समान शीतल, शान्तिपूर्ण था। हृदय की आकांक्षा के सदृश गर्म। मलय-पवन के समान कोमल सुखद स्पर्श! वह सुन्दर है, वही मेरा सत्य है। आह विजय! पच्चीस बरस हो गये—उसे देखे हुए पच्चीस बरस!—दो युग से कुछ ऊपर ! पर मैं उसे देखकर मरूँगी।—कहते-कहते सरला की आँखों से आँसू गिरने लगे।

इतने में एक अन्धा लाठी टेकते हुए सरला के द्वार पर आया। उसे देखते ही सरला गरज उठी—आ गया! विजय, यही है उसे ले भागनेवाला! पूछो, इसी से पूछो!

उस अन्धे ने लकड़ी रखकर अपना मस्तक पृथ्वी पर टेक दिया, फिर सिर ऊँचा-कर बोला—माता! भीख दो! तुम से भीख लेकर जो मैं पेट भरता हूँ, वही तो मेरा प्रायश्चित्त है। माता, अब क्षमा की भीख दो। देखती नहीं हो, नियति ने इस अन्धे को तुम्हारे पास पहुँचा दिया! क्या वही तुमको—आँखों वाली को—तुम्हारे पुत्र तक न पहुँचा देगा?

विजय विस्मय से देख रहा था कि अन्धे की फूटी आँखों से आँसू बहे जा रहे हैं। उसने कहा—भाई, मुझे अपनी राम-कहानी तो सुनाओ।

घण्टी भी वहीं आ गई थी। अब अन्धा सावधान होकर बैठ गया। उसने कहना आरम्भ किया—

हमारा घराना एक प्रतिष्ठत धर्मगुरुओं का था। बीसों गाँव के लोग हमारे चेले थे। हमारे पूर्वजों की तपस्या और त्याग से, यह मर्यादा मुझे उत्तराधिकार में मिली थी। वंशानुक्रम से हम लोग मन्त्रोपदेष्टा होते आए थे। हमारे शिष्यसम्प्रदाय में यह विश्वास था कि सासारिक आपदाएँ निवारण करने की हम लोगों में बहुत बड़ी रहस्यपूर्ण शक्ति है। रही होगी मेरे पूर्वजों में; परन्तु मैं उन सब गुणों से रहित था। मैं पल्ले सिरे का धूर्त था। मुझको मन्त्रों पर उतना विश्वास न था, जितना अपने चुटकलों पर। मैं चालाकी से भूत उतार देता, रोग अच्छे कर देता, बन्ध्या को सन्तान देता, ग्रहों की आकाश-गति में परिवर्तन कर देता, व्यवसाय में लक्ष्मी की वर्षा कर देता। चाहे सफलता दो-एक को ही मिलती रही हो, परन्तु धाक में कमी न थी। मैं कैसे क्या-क्या करता, उन सब घृणित बातों को न कहकर, केवल सरला के पुत्र की बात सुनाता हूँ।

पाली गाँव में मेरा एक शिष्य था। उसने एक महीने की एक लड़की और अपनी युवती विधवा छोड़कर अकाल में ही स्वर्ग-यात्रा की। वह विधवा धनी थी। उसको पुत्र की बड़ी लालसा थी; परन्तु पति थे नहीं, पुनर्विवाह असम्भव था। उसके मन में किसी तरह यह बात बैठ गई कि बाबाजी यदि चाहेंगे तो यही पुत्री, पुत्र बन जाएगी। अपने इस प्रस्ताव को लेकर बड़े प्रलोभन के साथ वह मेरे पास आई। मैंने देखा सुयोग है। उससे कहा—तुम किसी से कहना मत, एक महीने बाद गंगासागर मकर-संक्रान्ति के योग में यह किया जा सकता है। वहीं पर गंगा—समुद्र हो जाती है, फिर लड़की से लड़का, क्यों नहीं होगा! उसके मन में यह बात बैठ गई! हम लोग ठीक समय पर गंगासागर पहुँचे! मैंने अपना लक्ष्य ढूँढ़ना आरम्भ किया। उसे मन-ही-मन ठीक भी कर लिया। उस विधवा से लड़की लेकर मैं

सिद्धि के लिए एकान्त में गया–वन में किनारे पर मैं पहुँच गया। पुलिस उधर लोगों को जाने नहीं देती। उसकी आँखों से बचकर मैं जंगल की हरियाली में चला गया। थोड़ी देर में दौड़ता हुआ मेले की ओर आया। और उस समय मैं बराबर चिल्ला रहा था–'बाघ! बाघ!' लोग भयभीत होकर भागने लगे। मैंने देखा कि मेरा निश्चित बालक वहीं पड़ा है। उसकी माँ अपने साथियों को उसे दिखाकर किसी आवश्यक काम से दो-चार मिनट के लिए हट गई थी। उसी समय भगदड़ का प्रारम्भ हुआ था। मैंने झट उस लड़की को वहीं रखकर लड़के को उठा लिया और फिर कहने लगा– देखो यह किसकी लड़की है! पर उस भीड़ में कौन किसकी सुनता था। मैं एक साँस में अपनी झोंपड़ी की ओर आया–और हँसते-हँसते विधवा की गोद में लड़की के बदले लड़का देकर अपने को सिद्ध प्रमाणित कर सका। यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह स्त्री किस प्रकार उस लड़के को ले आई। बच्चा भी छोटा था, ढँककर किसी प्रकार हम लोग निर्विघ्न लौट आए। विधवा को मैंने समझा दिया था कि तीन दिन तक कोई इसका मुँह न देख सके, नहीं तो फिर लड़की बन जाने की संभावना है। मैं बराबर उस मेले में घूमता रहा और अब उस लड़की की खोज में लगा। पुलिस ने भी खोज की; पर उसका कोई लेने वाला न मिला। मैंने देखा कि एक निस्सन्तान चौबे की विधवा ने उस लड़की को पुलिस वालों से पालने के लिए माँग लिया। और मैं अब उसके साथ चला। उसे दूसरे स्टीमर पर बैठाकर ही मैंने साँस ली। सन्तान-प्राप्ति में मैं उसका भी सहायक था। मैंने देखा कि यही सरला, जो आज मुझे भिक्षा दे रही है, लड़के के लिए बराबर रोती रही; पर मेरा हृदय पत्थर था, न पिघला। लोगों ने बहुत कहा कि तू इस लड़की को ही लेकर पाल-पोस, पर उसे तो गोविन्दी चौबाइन की गोद में रहना था।

घण्टी अकस्मात् चौंक उठी–क्या कहा! गोविन्दी चौबाइन? हाँ गोविन्दी, उस चौबाइन का नाम गोविन्दी था?–जिसने उस लड़की को अपनी गोद में लिया–अंधे ने कहा।

घण्टी चुप हो गई। विजय ने पूछा–क्या है घण्टी?

घण्टी ने कहा–गोविन्दी तो मेरी माता का नाम था। और वह यह कहा करती तुझे मैंने अपनी ही लड़की-सा पाला है!

सरला ने पूछा–क्या तुमको गोविन्दी ने कहीं से पाकर ही पाल-पोस कर बड़ा किया, वह तुम्हारी माँ नहीं थी?

घण्टी–नहीं। वह आप भी यजमानों की भीख पर जीवन व्यतीत करती रही और मुझे भी दरिद्र छोड़ गई।

विजय ने कौतुक से कहा–तब तो घण्टी, तुम्हारी माता का पता लग सकता है? क्यों जी बुड्ढे! तुम यदि इनको वही लड़की समझो, जिसका तुमने बदला किया था, तो क्या इसकी माँ का पता बता सकते हो?

ओह! मैं उसे भलीभाँति जानता हूँ; पर अब वह कहाँ है, नहीं कह सकता क्योंकि, उस लड़के को पाकर भी वह सुखी न रह सकी। उसे राह में ही सन्देह हो गया कि यह मेरी लड़की से लड़का नहीं बना, वस्तुतः कोई दूसरा लड़का है; पर मैंने उसे डाँटकर समझा

दिया कि अब अगर तू किसी से कहेगी, तो लड़का चुराने के अभियोग में सज़ा पावेगी। वह लड़का भी रोते ही दिन बिताता। कुछ दिन बाद हरिद्वार का एक पंडा गाँव में आया। वह उसी विधवा के घर में ठहरा। उन दोनों में गुप्त प्रेम हो गया। अकस्मात वह एक दिन लड़के को लिए मेरे पास आई और बोली—इसे नगर के किसी अनाथालय में रख दो, मैं अब हरिद्वार जाती हूँ। मैंने कुछ प्रतिवाद न किया, क्योंकि उसका अपने गाँव के पास से टल जाना ही अच्छा समझता था। मैं सहमत हुआ। और वह, विधवा उसी पंडे के साथ हरिद्वार चली गई। उसका नाम था नन्दा।

अंधा इतना कहकर चुप हुआ।

विजय ने कहा—बुड्ढे! तुम्हारी यह दशा कैसे हुई?

वह सुनकर क्या करोगे। अपनी करनी का फल भोग रहा हूँ इसीलिए मैं अपनी पाप-कथा सबसे कहता फिरता हूँ, तभी तो इनसे भेंट हुई! भीख दो माता—, अब हम जायँ—अन्धे ने कहा।

सरला ने कहा—अच्छा एक बात बताओगे?

क्या?

उस बालक के गले में एक सोने का बड़ा-सा यंत्र था, उसे भी तुमने उतार लिया होगा?—सरला ने उत्कण्ठा से पूछा।

न, न, न! वह बालक तो उसे बहुत दिनों तक पहने था, और मुझे स्मरण है, वह तब तक था, जब मैंने उसे अनाथालय में सौंपा था। ठीक स्मरण है, वहाँ के अधिकारी से मैंने कहा—इसे सुरक्षित रखिये, सम्भव है कि इसकी यही पहचान हो, क्योंकि उस बालक पर मुझे दया आई; परन्तु वह दया पिशाच की दया थी।

सहसा विजय ने पूछा—क्या आप बता सकती हैं—वह कैसा यंत्र था?

वह यंत्र हम लोगों के वंश का प्राचीन रक्षा-कवच था, न जाने कब से मेरे कुल के सब लड़कों को वह एक बरस की अवस्था तक पहनाया जाता था। वह एक त्रिकोण स्वर्ण-यंत्र था।—कहते-कहते सरला के आँसू बहने लगे।

अन्धे को भीख मिली। वह चला गया। सरला उठकर एकान्त में चली गई। घण्टी कुछ काल तक विजय को अपनी ओर आकर्षित करने के चुटकले छोड़ती रही; परन्तु विजय एकान्त-चिन्ता-निमग्न बना रहा।

५

विचार-सागर में डूबती-उतरती हुई, घण्टी आज मौलसिरी के नीचे एक शिला-खण्ड पर बैठी है। वह अपने मन से पूछती थी—विजय कौन है, जो मैं उसे रसाल वृक्ष समझकर, लता के समान लिपटी हूँ! फिर उसे आप-ही-आप उत्तर मिलता—तो और दूसरा कौन है मेरा? लता का तो यही धर्म है कि जो समीप अवलम्बन मिले, उसे पकड़ ले और इस सृष्टि में सिर ऊँचा करके खड़ी हो जाय। अहा! क्या मेरी माँ जीवित है?

पर विजय तो चित्र बनाने मे लगा है। वह मेरा ही तो चित्र बनाता है, तो भी मैं उसके लिए निर्जीव प्रतिमा हूँ। कभी-कभी वह सिर उठाकर मेरी भौंहों के झुकाव को, कपोलों के गहरे-रंग को, देख लेता है, और फिर तूलिका की मार्जनी से उसे हृदय के बाहर निकाल देता है! यह मेरी आराधना तो नहीं है!

सहसा उसके विचारों में बाधा पड़ी। बाथम ने आकर घण्टी से कहा—क्या मैं कुछ पूछ सकता हूँ?

कहिये—सिर का कपड़ा सम्भालते हुए घण्टी ने कहा।

विजय से आपकी कितने दिनों की जान-पहचान है?

बहुत थोड़े दिनों की—यहीं वृन्दावन से।

तभी वह कहता था—

कौन क्या कहता था—

दारोगा। यद्यपि उसका साहस नहीं था कि मुझसे कुछ अधिक कहे; पर उसका अनुमान है कि आपको विजय कहीं से भगा लाया है।

घण्टी किसी की कोई नहीं है, जो उसकी इच्छा होगी वही करेगी। मैं आज ही विजय बाबू से कहूँगी कि वह मुझे लेकर किसी दूसरे घर में चलें। —बाथम ने देखा कि वह स्वतन्त्र युवती तनकर खड़ी हो गई। उसकी नसें फूल रही थी। इसी समय लतिका ने वहाँ पहुँच कर एक काण्ड उपस्थित कर दिया। उसने बाथम की ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखते हुए पूछा—तुम्हारा क्या अभिप्राय था?

सहसा आक्रांत होकर बाथम ने कहा—कुछ नहीं। मैं चाहता था कि यह ईसाई होकर अपनी रक्षा कर ले, क्योंकि इसके...

बात काटकर लतिका ने कहा—और यदि मैं हिन्दू हो जाऊँ?

बाथम ने फँसे हुए गले से कहा—दोनों हो सकता है। पर, तुम मुझे क्षमा करोगी लतिका?

बाथम के चले जाने पर लतिका ने देखा कि अकस्मात अन्धड़ के समान यह बातों का झोंका आया और निकल गया।

घण्टी रो रही थी; लतिका उसके आँसू पोंछती थी। बाथम के हाथ की हीरे की अँगूठी सहसा घण्टी की उँगली में लतिका ने देखी और वह चौंक उठी। लतिका का कोमल हृदय, कठोर कल्पनाओं से भर गया। वह उसे छोड़कर चली गई।

चाँदनी निकलने पर घण्टी आपे में आई। अब उसकी निस्सहाय अवस्था स्पष्ट हो गई। वृंदावन की गलियों में यों ही फिरनेवाली घण्टी, इन कई महीनों की निश्चित जीवनचर्या से एक नागरिक महिला बन गई थी। उसके रहन-सहन बदल गये थे। हाँ, एक बात और उसके मन में खटकने लगी थी—वह अन्धे की कथा। क्या सचमुच उसकी माँ जीवित है? उसका मुक्त हृदय, चिन्ताओं की उमसवाली संध्या में पवन के समान निरुद्ध हो उठा। वह निरीह बालिकों के समान फूट-फूटकर रोने लगी।

सरला ने आकर उसे पुकारा—घण्टी, क्या यहीं बैठी रहोगी? उसने सिर नीचा किये हुए उत्तर दिया—अभी आती हूँ। सरला चली गई। कुछ काल तक वह बैठी रही, फिर उसी पत्थर

पर अपने पैर समेटकर वह लेट गई। उसकी इच्छा हुई–आज ही यह घर छोड़ दे; पर वह वैसा न कर सकी। विजय को एक बार अपनी मनोव्यथा सुना देने की उसे बड़ी लालसा थी। वह चिन्ता करते-करते सो गई।

विजय अपने चित्रों को रखकर आज बहुत दिनों पर मदिरा का सेवन कर रहा था। शीशे के एक बड़े ग्लास में सोडा और बरफ से मिली हुई मदिरा सामने मेज़ से उठाकर वह कभी-कभी दो घूँट पी लेता है। धीरे-धीरे नशा गहरा हो चला, मुँह पर लाली दौड़ गई। वह अपनी सफलताओं से उत्तेजित था। अकस्मात उठकर बँगले से बाहर आया; बगीचे में टहलने लगा। घूमता हुआ वह घण्टी के पास जा पहुंचा। अनाथ-सी घण्टी अपने दुःखों में लिपटी हुई दोनों हाथों से अपने घुटने लपेटे हुए पड़ी थी। वह दीनता की प्रतिमा थी। कला वाली आँखों ने चाँदनी रात में यह देखा। वह उसके ऊपर झुक गया उसे प्यार कर लेने की उसकी इच्छा हुई, किसी वासना से नहीं वरन एक सहृदयता से। वह धीरे-धीरे अपने होंठ उसके कपोल के पास तक ले गया। उसकी गरम साँसों की अनुभूति घण्टी को हुई। वह पलभर के लिए पुलकित हो गई पर आँखें बन्द किये रही। विजय ने प्रमोद से एक दिन उसके रंग डालने के अवसर पर उसका आलिंगन करके, घण्टी के हृदय में नवीन भावों की सृष्टि कर दी थी। वह उसी प्रमोद का , आँख बन्द करके आवाहन करने लगी; परन्तु नशे में चूर विजय न जाने क्यों जैसे सचेत हो गया, उसके मुँह से धीरे-से निकल पड़ा–यमुना! –और वह हटकर खड़ा हो गया।

विजय चिन्तित भाव से लौट पड़ा। वह घूमते-घूमते बँगले के बाहर निकल आया, और सड़क पर यों ही चलने लगा। आधे घण्टे तक वह चला गया फिर उसी सड़क से लौटने लगा। बड़े-बड़े वृक्षों की छाया ने सड़क पर पड़ती हुई चाँदनी को कहीं-कहीं छिपा लिया है। विजय उसी अन्धकार में चलना चाहता है। यह चाँदनी से यमुना और अँधेरी से घण्टी की तुलना करता हुआ, अपने मन के विनोद का उपकरण जुटा रहा है। सहसा उसके कानों में कुछ परिचित स्वर सुनाई पड़े, उसे स्मरण हो आया–उसी इक्केवाले का शब्द। हाँ, ठीक है, वही तो है। विजय ठिठककर खड़ा हो गया। साइकिल पकड़े एक सब-इंस्पेक्टर और साथ में वही ताँगेवाला, दोनों बातें करते हुए आ रहे हैं।

सब.—क्यों नवाब! आजकल कोई मामला नहीं देते हो?

ताँगे.—इतने मामले दिए, मेरी भी खबर आपने ली?

सब.—तो तुम रुपया ही चाहते हो न?

ताँगे.—पर यह इनाम रुपयों में न होगा!

सब.—फिर क्या?

ताँगे.—रुपया आप लीजिए, मुझे तो वह बुत मिल जानी चाहिए। इतना ही करना होगा।

सब.—ओह! तुमने फिर वही बात छेड़ी। तुम नहीं जानते हो, यह बाथम एक अंग्रेज़ है, और उसकी लोगों पर मेहरबानी है। हाँ, इतना हो सकता है कि तुम उसको अपने हाथों में कर लो, फिर मैं तुमको फँसने न दूँगा।

ताँगे.—यह तो जान-जोखम का सौदा है!

सब.—फिर मैं क्या करूँ? पीछे लगे रहो, कभी तो हाथ लग जाएगी। मैं सम्हाल लूँगा। हाँ, यह तो बताओ, उस चौबाइन का क्या हुआ, जिसे तुम बिन्दरावन की बता रहे थे। मुझे नहीं दिखलाया, क्यों?

ताँगे.—वही तो वहाँ है! यह परदेशी न जाने कहाँ से कूद पड़ा। नहीं तो अब तक–

दोनों बातें करते अब आगे बढ़ गये। विजय ने पीछा करके बातों को सुनना अनुचित समझा। वह बँगले की ओर शीघ्रता से चल पड़ा।

कुरसी पर बैठे वह सोचने लगा–सचमुच घण्टी एक निस्सहाय युवती है। उसकी रक्षा करनी ही चाहिए। उसी दिन से विजय ने घण्टी से पूर्ववत मित्रता का बर्ताव प्रारम्भ कर दिया– वही हँसना-बोलना, वही साथ-साथ घूमना-फिरना।

विजय एक दिन हैण्डबैग की सफ़ाई कर रहा था। अकस्मात् उसे मंगल का वह यन्त्र और सोना मिल गया। उसने एकान्त में बैठकर उसे फिर बनाने का प्रयत्न किया और वह कृतकार्य भी हुआ–सचमुच वह एक त्रिकोण स्वर्ण-यंत्र बन गया, विजय के मन में लड़ाई खड़ी हो गई–उसने सोचा कि सरला से उसके पुत्र को मिला दूँ, फिर उसे शंका हुई, सम्भव है कि मंगल उसका पुत्र न हो। उसने अनवधानता से उस प्रश्न को टाल दिया। नहीं कहा जा सकता कि इस विचार में मंगल के प्रति विद्वेष ने भी कुछ सहायता की थी या नहीं।

बहुत दिनों की पड़ी हुई एक सुन्दर बाँसुरी भी उसके बैग में मिल गई। वह उसे लेकर बजाने लगा। विजय की दिनचर्या नियमित हो चली। चित्र बनाना, बंशी बजाना और कभी-कभी घण्टी के साथ बैठकर ताँगे पर घूमने चले जाना, इन्हीं कामों में उसका दिल सुख से बीतने लगा।

६

वृंदावन से दूर एक हरा-भरा टीला है, यमुना उसी से टकराकर बहती है। बड़े-बड़े वृक्षों की इतनी बहुतायत है कि वह टीला दूर से देखने पर एक बड़ा छायादार निकुंज मालूम पड़ता है। एक ओर पत्थर की सीढ़ियाँ हैं, जिनसे चढ़कर ऊपर जाने पर एक छोटा-सा श्रीकृष्ण का मन्दिर है और उसके चारों ओर कोठरी और दालानें हैं।

गोस्वामी कृष्णशरण उस मन्दिर के अध्यक्ष, एक साठ-पैंसठ बरस के तपस्वी पुरुष है। उनका स्वच्छ वस्त्र, धवल केश, मुखमंडल की अरुणिमा और भक्ति से भरी आँखें, अलौकिक प्रभा का सृजन करती हैं। मूर्ति के सामने ही दालान में वे प्रातः बैठे रहते हैं। कोठरियों में कुछ वृद्ध साधु और वयस्का स्त्रियाँ रहती हैं। सब भगवान का सात्विक प्रसाद पाकर सन्तुष्ट और प्रसन्न हैं। यमुना भी यहीं रहती है।

एक दिन कृष्णशरण बैठे हुए कुछ लिख रहे थे। उनके कुशासन पर लेखन-सामग्री पड़ी थी। एक साधु बैठा हुआ उन पत्रों को एकत्र कर रहा था। प्रभात अभी तरुण नहीं हुआ

था, वसन्त का शीतल पवन कुछ वस्त्रों की आवश्यकता उत्पन्न कर रहा था। यमुना उस प्रांगण में झाड़ू दे रही थी। गोस्वामी ने लिखना बन्द करके साधु से कहा—इन्हें समेटकर रख दो। साधु ने लिपिपत्रों को बाँधते हुए पूछा—आज तो एकादशी है, भारत का पाठ न होगा?

नहीं।

साधु चला गया। यमुना अभी झाड़ू लगा रही थी। गोस्वामी ने सस्नेह पुकारा—यमुने!

यमुना झाड़ू रखकर, हाथ जोड़कर सामने आई। कृष्णशरण ने पूछा- बेटी तुझे कोई कष्ट तो नहीं है?

नहीं महाराज!

यमुने! भगवान दुखियों से अत्यन्त स्नेह करते हैं। दुःख भगवान का सात्विक दान है—मंगलमय उपहार है। इसे पाकर एक बार अन्तःकरण के सच्चे स्वर से पुकारने का, सुख अनुभव करने का अभ्यास करो। विश्राम का निश्वास, केवल भगवान के नाम के साथ ही निकलता है बेटी!

यमुना गद्‌गद हो रही थी। एक दिन भी ऐसा नहीं बीतता, जिस दिन गोस्वामी आश्रमवासियों को अपनी सान्त्वनामयी वाणी से सन्तुष्ट न करते। यमुना ने कहा—महाराज, और कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिए।

मंगल इत्यादि ने मुझसे अनुरोध किया है कि मैं सर्वसाधारण के लाभ के लिए आश्रम में कई दिनों तक सार्वजनिक प्रवचन करूँ। यद्यपि मैं इसे अस्वीकार करता रहा, किन्तु बाध्य होकर मुझे करना ही पड़ेगा। यहाँ पूरी स्वच्छता रहनी चाहिए। कुछ बाहरी लोगों के आने की सम्भावना है।

यमुना नमस्कार करके चली गई।

कृष्णशरण चुपचाप बैठे रहे। वे एकटक कृष्णचन्द्र की मूर्ति की ओर देख रहे थे। यह मूर्ति वृंदावन की और मूर्तियों से विलक्षण थी। एक श्याम, ऊर्जस्वित, वयस्क और प्रश्न गम्भीर मूर्ति खड़ी थी। बायें हाथ से कटि से आबद्ध नन्दक खड्‌ग की मूठ पर बल दिये दाहिने हाथ की अभय मुद्रा से आश्वासन की घोषणा करते हुए कृष्णचन्द्र की यह मूर्ति, हृदय की हलचलों को शान्त कर देती थी। शिल्पी की कला सफल थी।

कृष्णशरण एकटक मूर्ति को देख रहे थे। गोस्वामी की आँखों से उस समय बिजली निकल रही थी, जो प्रतिमा को सजीव बना रही थी। कुछ देर के बाद उनकी आँखों से जलधारा बहने लगी। और वे आप-ही-आप कहने लगे—तुम्हीं ने प्रण किया था कि जब-जब धर्म की ग्लनि होगी, हम उसका उद्धार करने के लिए आवेंगे! तो क्या अभी विलम्ब है? तुम्हारे बाद एक शांति का दूत आया था, वह दुःख को अधिक स्पष्ट बनाकर चला गया। विरागी होकर रहने का उपदेश दे गया; परन्तु उस शक्ति को स्थिर रखने के लिए शक्ति कहाँ रही? फिर से बर्बरता और हिंसा ताण्डव-नृत्य करने लगी है—क्या अब भी विलम्ब है?

जैसे मूर्ति विचलित हो उठी।

एक ब्रह्मचारी ने आकर नमस्कार किया। वे भी आशीर्वाद देकर उसकी ओर घूम पड़े। पूछा–मंगलदेव! –तुम्हारे ब्रह्मचारी कहाँ हैं?

आ गये हैं गुरुदेव!

उन सबों को काम बाँट दो और कर्त्तव्य समझा दो। आज प्रायः बहुत-से लोग आवेंगे।

जैसी आज्ञा हो; परन्तु गुरुदेव! मेरी एक शंका है।

मंगल, इस प्रवचन में अपनी अनुभूति सुनाऊँगा, घबराओ मतो। तुम्हारी सब शंकाओं का उत्तर मिलेगा।

मंगलदेव ने सन्तोष से सिर झुका दिया। वह लौटकर अपने ब्रह्मचारियों के पास चला आया।

आश्रम में दो दिनों से कृष्ण-कथा हो रही थी। गोस्वामी बाल-चरित्र कहकर उसका उपसंहार करते हुए बोले–

धर्म और राजनिति से पीड़ित यादव-जनता का उद्धार करके भी श्रीकृष्ण ने देखा कि यादवों को ब्रज में शाति न मिलेगी।

प्राचीनतंत्र के पक्ष पाती नृशंस राजन्य-वर्ग मन्वन्तर को मानने के लिए प्रस्तुत न थे। हाँ, वह मनन की विचार-धारा सामूहिक परिवर्तन करनेवाली थी। क्रमागत रूढ़ियाँ और अधिकार उसके सामने काँप रहे थे। इन्द्र पूजा बन्द हुई, धर्म का अपमान! राजा कंस मारा गया, राजनीतिक उलटफेर!! ब्रज पर प्रलय के बादल उमड़े। भूखे भेड़ियों के समान, प्राचीनता के समर्थक, यादवों पर टूट पड़े।

बार-बार शत्रुओं को पराजित करके भी श्रीकृष्ण ने निश्चय किया कि ब्रज को छोड़ देना चाहिए।

वे यदुकुल को लेकर नवीन उपनिवेश की खोज में पश्चिम की ओर चल पड़े।

गोपाल ने ब्रज छोड़ दिया। यही ब्रज है। अत्याचारियों की नृशंसता से यदुकुल के अभिजात-वर्ग ने ब्रज को सूना कर दिया। पिछले दिनों में, ब्रज में बसी हुई पशुपालन करनेवाली गोपियाँ–जिनके साथ गोपाल खेले थे, जिनके साथ जिये, बड़े हुए जिनके पशुओं के साथ वे कड़ी धूप में घनी अमराइयों में, करील के कुंजों में विश्राम करते थे–वे गोपियाँ, वे भोली-भाली सरल हृदय अकपट स्नेहवाली गोपियाँ, रक्त-मांस के हृदय वाली गोपियाँ–जिनके हृदय में दया थी, माया-ममता थी,आशा थी, विश्वास था, प्रेम का आदान-प्रदान था,—इसी यमुना के कछारों में वृक्षों के नीचे, वसन्त की चाँदनी में, जेठ की धूप में छाँह लेती हुई, गोरस बेचकर लौटती हुई, गोपाल की कहानियाँ कहतीं। निर्वासित गोपाल की सहानुभूति से, उस क्रीड़ा के स्मरण से, उन प्रकाशपूर्ण आँखों की ज्योति से, गोपियों की स्मृति इन्द्रधनुष-सी रँग जाती। वे कहानियाँ प्रेम से अतिरंजित थीं, स्नेह से परिप्लुत थी, आदर से आर्द्र थीं। सबको मिलाकर उनमें एक आत्मीयता थी– हृदय की वेदना थी, आँखों का आँसू था! उन्हीं को सुनकर, इस छोड़े हुए ब्रज में उसी दुःख-सुख की अतीत सहानुभूति से लिपटी हुई कहानियों को सुनकर आज भी हम-तुम आँसू बहा देते हैं!

क्यों? वे प्रेम करके, प्रेम सिखलाकर, निर्मम स्वार्थ पर हृदयों में मानव-प्रेम को विकसित करके, ब्रज को छोड़कर चले गये–चिरकाल के लिए। बाल्यकाल की लीलाभूमि ब्रज का आज भी इसीलिए गौरव है। यह ब्रज है। वही यमुना का किनारा है!

कहते-कहते गोस्वामी की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। श्रोता भी रो रहे थे।

गोस्वामी चुप होकर बैठ गये। श्रोताओं ने इधर-उधर होना आरंभ किया। मंगलदेव आश्रम में ठहरे हुए लोगों के प्रबन्ध में लग गया; परन्तु यमुना?–वह दूर एक मौलसिरी के वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठी थी। वह सोचती थी–ऐसे भगवान भी बाल्यकाल में अपनी माता से अलग कर दिये गये थे! उसका हृदय व्याकुल हो उठा! वह विस्मृत हो गई कि उसे शान्ति की आवश्यकता है। डेढ़ सप्ताह के अपने हृदय के टुकड़े के लिए वह मचल उठी--वह अब कहाँ है? क्या जीवित है? उसका पालन कौन करता होगा? वह जियेगा अवश्य, ऐसे बिना यत्न के बालक जीते हैं–इसका तो इतना बडा प्रणाम मिल गया है! हॉ, और वह एक नर-रत्न होगा, महान होगा!–क्षण भर में माता का हृदय मंगलकामना से भर उठा। इस समय उसकी ऑखों में आँसू न थे। वह शान्त बैठी थी। चाँदनी निखर रही थी! मौलसिरी के पत्तों के अंतराल से चन्द्रमा का आलोक उसके बदन पर पड़ रहा था! स्निग्ध मातृ-भावना से उसका मन उल्लास से परिपूर्ण था। भगवान की कथा के छल से गोस्वामी ने उसके मन के एक सन्देह, एक असन्तोष को शान्त कर दिया था।

मंगलदेव को आगन्तुकों के लिए किसी वस्तु की आवश्यकता थी। गोस्वामीजी ने कहा–जाओ यमुना से कहो। मंगल यमुना का नाम सुनते ही एक बार चौंक उठा। कुतूहल हुआ, फिर आवश्यकता से प्रेरित होकर किसी अज्ञात यमुना को खोजने के लिए आश्रम के विस्तृत प्रांगण में घूमने लगा।

मौलसिरी के वृक्ष के नीचे, यमुना निश्चल बैठी थी। मंगलदेव ने देखा एक स्त्री है, यही यमुना होगी। समीप पहुँचकर देखा, तो वही यमुना थी।

पवित्र देव-मन्दिर की दीपशिखा-सी वह ज्योतिर्मयी मूर्ति थी। मंगलदेव ने उसे पुकारा–यमुना!

वात्सल्य-विभूति के काल्पनिक आनन्द से पूर्व उसके हृदय में मंगल के शब्द ने तीव्र घृणा का संचार कर दिया। वह विरक्त होकर अपरिचित-सी बोल उठी –कौन है?

गोस्वामी जी की आज्ञा है कि ...–आगे कुछ कहने में मंगल असमर्थ हो गया, उसका गला भरनि लगा।

जो वस्तु चाहिए, उसे भण्डारी से जाकर कहिए, मैं कुछ नहीं जानती। –यमुना अपने काल्पनिक सुख में भी बाधा होते देखकर अधीर हो उठी।

मंगल ने फिर संयत स्वर में कहा–तुम्हीं से कहने की आज्ञा हुई है।

अबकी यमुना ने स्वर पहचान और सिर उठाकर मंगल को देखा। दारुण पीड़ा से वह कलेजा थामकर बैठ गई। विद्युद्वेग से उसके मन में यह विचार नाच उठा कि मंगल के ही अत्याचार के कारण मैं वात्सल्य-सुख मे वञ्चित हूँ। इधर मंगल ने समझा कि मुझे पहचानकर ही वह तिरस्कार कर रही है। आगे कुछ न कह वह लौट पड़ा।

गोस्वामीजी वहाँ पहुँचे तो देखते हैं–मंगल लौटा जा रहा है और यमुना बैठी रो रही है। उन्होंने पूछा–क्या है बेटी?

यमुना गोस्वामीजी की संदिग्ध आज्ञा से मर्माहत हुई और अपने को सम्हालने का प्रयत्न करने लगी।

रात-भर उसे नींद न आई।

७

उत्सव का समारोह था; गोस्वामीजी व्यासपीठ पर बैठे थे! व्याख्यान प्रारम्भ होने ही वाला था; उसी समय साहबी ठाट से घण्टी को साथ लिए विजय सभा में आया।

आज यमुना दुःखी होकर और मंगल ज्वर में, अपने-अपने कक्ष में पड़े थे। विजय सन्नद्ध था–गोस्वामीजी का विरोध करने की प्रतिज्ञा , अवहेलना और परिहास उसकी आकृति से प्रकट थे।

गोस्वामीजी सरल भाव से कहने लगे–

उस समय आर्यावर्त में एकतन्त्र शासन का प्रचण्ड ताण्डव चल रहा था। सुदूर सौराष्ट्र में श्रीकृष्ण के साथ यादव अपने लोकतन्त्र की रक्षा में लगे थे। यद्यपि सम्पन्न यादवों की विलासिता और षड्यन्त्रों ने गोपाल को भी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, फिर भी उन्होंने सुधर्मा के सम्मान की रक्षा की। पाञ्चाल में कृष्णा का स्वयंवर था। कृष्ण के बल पर पाण्डव उसमें अपना बल-विक्रम लेकर प्रकट हुए। पराभूत होकर कौरवों ने भी उन्हें इन्द्रप्रस्थ दिया। कृष्ण ने धर्म-राज्य-स्थापना का दृढ़ संकल्प किया था, अतः आततायियों के दमन की आवश्यकता थी। मागध जरासन्ध मारा गया। सम्पूर्ण भारत में पाण्डवों की, कृष्ण की संरक्षता में धाक जम गई। नृशंस यज्ञों की समाप्ति हुई। बन्दी राजवर्ग तथा बलिपशु मुक्त होते ही कृष्ण की शरण हुए। महान हर्ष के साथ राजसूय हुआ। वह था राजसूय। राजे-महाराजे काँप उठे। अत्याचारी शासकों को शीतज्वर हुआ। सब उस धर्मराज की प्रतिष्ठा में साधारण कर्मकारों के समान नतमस्तक होकर काम करते रहे। और भी एक बात हुई–आर्यावर्त्त ने उसी निर्वासित गोपाल को आश्चर्य से देखा, समवेत महाजनों में अग्रपूजा और अर्घ्य का अधिकारी! इतना बड़ा परिवर्तन ! सब दाँतों-तले उँगली दाबे हुए देखते रहे। उसी दिन भारत ने स्वीकार किया–गोपाल पुरुषोत्तम है। प्रसाद से युधिष्ठिर ने धर्मसाम्राज्य को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ ली, इसके कुचक्रियों का मनोरथ सफल हुआ–धर्मराज विशृंखल हुआ; परन्तु पुरुषोत्तम ने उसका जैसे उद्धार किया, वह तुम लोगों ने सुना होगा—महाभारत की युद्धकथा से। भयानक जनक्षय करके भी सात्विक विचारों की रक्षा हुई। और भी सुदृढ़ महाभारत की स्थापना हुई, जिसमें नृशंस राजन्यवर्ग नष्ट किए गए। पुरुषोत्तम ने वेदों के अतिवाद और उनके नाम पर होनेवाले अत्याचारों का उच्छेद किया था। बुद्धिवाद का प्रचार हुआ। गीता द्वारा धर्म की, विश्वात्मा की, विराट की, आत्मवाद

की, विमल व्याख्या हुई। स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि कहकर जो धर्माचरण के अनधिकारी समझे जाते थे—उन्हें धर्माचरण का अधिकार मिला। साम्य की महिमा उद्घोषित हुई। धर्म में, राजनीति में, सर्वत्र विकास हुआ। वह मानवजाति के इतिहास में महापर्व था। पशु और मनुष्य के भी साम्य की घोषणा हुई। वह पूर्ण संस्कृति थी। उसके पहले भी वैसा नहीं हुआ और उसके बाद भी उतनी पूर्णता ग्रहण करने के लिए मानव शिक्षित न हो सके, क्योंकि सत्य को इतना समष्टि से ग्रहण करने के लिए कोई दूसरा पुरुषोत्तम नहीं हुआ। मानवता का सामंजस्य बने रहने की जो व्यवस्था उन्होंने की है, वह आगामी अनन्त दिवसों तक अक्षुण्ण रहेगी --

तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः

--जो लोक से न घबराये और जिससे लोक न उद्विग्न हो, वही पुरुषोत्तम का प्रिय मानव है, जो सृष्टि को सफल बनाता है।

विजय ने प्रश्न की चेष्टा की; परन्तु उसका साहस नहीं हुआ।

गोस्वामी ने व्यासपीठ से हटते हुए चारों ओर दृष्टि घुमाई, यमुना और मंगल नहीं दिखाई पड़े। वे उन्हें खोजते हुए चल पड़े। श्रोतागण भी चले गये थे। कृष्णशरण ने यमुना को पुकारा। वह उठकर आई। उसकी आँखें अरुण, मुख विवर्ण, रसना अवाक् और हृदय धड़कने से पूर्ण था। गोस्वामीजी ने उससे कुछ न पूछा। उसे साथ आने का संकेत करके वे मंगल की कोठरी की ओर बढ़े। मंगल अपने बिछावन पर पड़ा था। गोस्वामीजी को देखते ही उठ खड़ा हुआ। वह अभी भी ज्वर से आक्रान्त था। गोस्वामीजी ने पूछा- मंगल! तुमने इस अबला का अपमान किया था!

मंगल चुप रहा।

बोलो, क्या तुम्हारा हृदय पाप से भर गया था?

मंगल फिर भी चुप। अब गोस्वामीजी से न रहा गया।

तो तुम मौन रहकर अपना अपराध स्वीकार करते हो?

वह बोला नहीं।

तुम्हें चित्त-शुद्धि की आवश्यकता है। जाओ सेवा में लगो, समाज सेवा करके अपना हृदय शुद्ध बनाओ। जहाँ स्त्रियाँ सताई जायँ, मनुष्य अपमानित हों, वहाँ तुमको अपना दम्भ छोड़कर कर्त्तव्य करना होगा। इसे दण्ड न समझो, प्रायश्चित्त न समझो। यही तुम्हारा क्रियमाण कर्म है। जाओ। पुरुषोत्तम ने लोकसंग्रह किया था, वे मानवता के हित में लगे रहे, अन्याय के विरुद्ध तुम्हें अपने से लड़ना होगा। उस असुर को परास्त करना होगा। गुरुकुल यहाँ भेज दो; तुम अबलाओं की सेवा में लगो। भगवान की भूमि भारत में स्त्रियों पर तथा मनुष्यों को पतित बनाकर बड़ा अन्याय हो रहा है। करोड़ों मनुष्य जंगलों में अभी पशु-जीवन बिता रहे हैं। स्त्रियाँ विपथ पर जाने के लिए बाध्य की जाती हैं, तुमको उनका पक्ष लेना पड़ेगा। उठो!

मंगल ने गोस्वामीजी के चरण छुए। वह सिर झुकाए चला गया। गोस्वामीजी ने घूमकर यमुना की ओर देखा। वह सिर नीचा किए रो रही थी। उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कृष्णशरण ने कहा–भूल जाओ यमुना, उसके अपराध को भूल जाओ।

परन्तु यमुना, मंगल को और उसके अपराध को कैसे भूल जाती?

८

घण्टी और विजय, बाथम के बॅगले पर लौटकर गोस्वामीजी के सम्बन्ध में बड़ी देर तक बातचीत करते रहे। विजय ने अन्त में कहा– मुझे तो गोस्वामी की बातें कुछ जँचती हैं। कल फिर चलूँगा। तुम्हारी क्या सम्मति है घण्टी?

मैं भी चलूँगी।

वे दोनों उठकर सरला की कोठरी की ओर चले गये। अब दोनों वही रहते हैं। लतिका ने कुछ दिनों से बाथम से बोलना छोड़ दिया है। बाथम भी पादरी के साथ ही दिन बिताता है। आजकल उसकी धार्मिक भावना प्रबल हो गई है।

मूर्तिमती चिन्ता-सी लतिका यन्त्र-चालित पाद-विक्षेप करती हुई दालान में आकर बैठ गई। पलकों के परदे गिरे हैं। भावनाएँ अस्फुट होकर विलीन हो जाती हैं–

मैं हिन्दू थी...हाँ फिर...सहसा आर्थिक कारणों से पिता..माता...ईसाई..यमुना के पुल पर से रेलगाड़ी आती थी...झक झक झक...आलोकमाला का हार पहने सन्ध्या में..हाँ, यमुना की आरती भी होती थी...और वे कछुए...मैं उन्हें चने खिलाती थी...पर मुझे रेलगाड़ी का संगीत उन घंटों से अच्छा लगता..फिर एक दिन हम लोग गिरजाघर में जा पहुँचे। इसके बाद...गिरजाघर का घंटा सुनने लगी...ओह मैं लता-सी बढ़ने लगी...बाथम एक सुन्दर हृदय की आकांक्षा-सा सुरुचिपूर्ण यौवन का उन्माद...प्रेरणा का पवन...मैं लिपट गई...क्रूर...निर्दय ...मनुष्य के रूप में पिशाच...मेरे धन का पुजारी...व्यापारी..चापलूसी बेचनेवाला। और यह कौन ज्वाला घण्टी...बाथम असह-नीय...ओह!

लतिका रोने लगी। रूमाल से उसने मुँह ढँक लिया। वह रोती रही। जब सरला ने आकर उसके सिर पर हाथ फेरा, तब वह चैतन्य हुई–सपने से चौंककर उठ बैठी। लैम्प का मन्द प्रकाश सामने था। उसने कहा– सरला, मैं दुःस्वप्न देख रही थी।

मेरी सम्मति है कि इन दोनों अतिथियों को बिदा कर दिया जाय। प्यारी मारगरेट, तुमको बड़ा दुख है!–सरला ने कहा।

नहीं, नहीं, बाथम को दुख होगा!–घबराकर लतिका ने कहा।

उसी समय बाथम ने आकर दोनों को चकित कर दिया। उसने कहा–लतिका ! मुझे तुमसे कुछ पूछना है।

मैं कल सुनूँगी...फिर कभी..मेरा सिर दुख रहा है...बाथम चला गया। लतिका सोचने लगी–कैसी भयानक बात–उसी को स्वीकार करके क्षमा माँगना। बाथम! कितनी निर्लज्जता है। मैं फिर क्षमा क्यों न करूँगी। परन्तु कर नहीं सकती। आह, बिच्छू के डंक-सी वे बातें! वह विवाद! मैंने ऐसा नहीं किया, तुम्हारा भ्रम था, तुम भूलती हो,–यही न कहना है? कितनी झूठी बात! वह झूठ कहने में संकोच नहीं कर सकता–कितना पतित...

लतिका ने आँख खोलकर देखा–अँधेरा चाँदनी को पिये जाता है। अस्तव्यस्त नक्षत्र, शवरी रजनी की टूटी हुई काँचमाला के टुकड़े हैं, उनमें लतिका अपने हृदय का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करने लगी । सब नक्षत्रों में विकृत प्रतिबिम्ब ! वह डर गई ! काँपती हुई उसने सरला का हाथ पकड़ लिया।

सरला ने उसे धीरे-धीरे पलंग तक पहुँचाया। वह जाकर पड़ रही। आँखें बन्द किये थी, डर से खोलती न थी। उसने मेष शावक और शिशु का ध्यान किया। शावक को गोद मे लिये शिशु उसका प्यार कर रहा है; परन्तु यह क्या–यह क्या–वह त्रिशूल सी कौन विभीषिका उसके पीछे खड़ी है! ओह, उसकी छाया मेष-शावक और शिशु दोनों पर पड़ रही है।

लतिका ने अपने पलकों पर बल दिया, उन्हें दबाया, वह सो जाने की चेष्टा करने लगी। पलकों पर अत्यन्त बल देने से मुँदी आँखों के सामने एक आलोक-चक्र घूमने लगा। आँखें फटने लगीं। ओह चक्र! क्रमशः यह प्रखर उज्ज्वल आलोक नील हो चला, मेघों के जल में वह शीतल नील हो चला, देखने योग्य–सुदर्शन आँखें ठंडी हुई, नींद आ गई।

समारोह का तीसरा दिन था। आज गोस्वामीजी अधिक गम्भीर थे। आज श्रोता लोग भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे। विजय भी घण्टी के साथ ही आया था। हाँ, एक आश्चर्यजनक बात थी–उसके साथ आज सरला और लतिका भी थीं। बुड्ढा पादरी भी आया था।

गोस्वामीजी का व्याख्यान आरम्भ हुआ–

पिछले दिनों में मैंने पुरुषोत्तम की प्रारम्भिक जीवनी सुनाई थी, आज सुनाऊँगा उनका सन्देश। उनका सन्देश था–आत्मा की स्वतंत्रता का, साम्य का, कर्मयोग का और बुद्धिवाद का। आज हम धर्म के जिस ढाँचे को–शव को–घेर कर रो रहे हैं, वह उनका धर्म नहीं था। धर्म को वे बड़ी दूर की पवित्र या डरने की वस्तु नहीं बतलाते थे। उन्होंने स्वर्ग का लालच छोड़कर रूढ़ियों के धर्म को पाप कहकर घोषणा की। उन्होंने जीवन्मुक्त होने का प्रचार किया। निःस्वार्थ भाव से कर्म की महत्ता बतायी और उदाहरणों से भी उसे सिद्ध किया। राजा नहीं थे; पर अनायास ही वे महाभारत के सम्राट हो सकते थे, पर हुए नहीं। सौन्दर्य, बल, विद्या, वैभव, महत्ता, त्याग कोई भी ऐसे पदार्थ नहीं थे, जो उन्हें अप्राप्य रहे हों। वे पूर्णकाम होने पर भी समाज के एक तटस्थ उपकारी रहे। जंगल के कोने में बैठकर उन्होंने धर्म का उपदेश काषाय ओढ़कर नहीं दिया; वे जीवन युद्ध के सारथी थे। उसकी उपासना-प्रणाली थी–किसी भी प्रकार चिन्ता का अभाव होकर अन्तकरण का निर्मल हो

जाना, विकल्प और संकल्प में शुद्धबुद्धि की शरण जानकर कर्त्तव्य निश्चय करना। कर्म-कुशलता उसका योग है। निष्काम कर्म करना शान्ति है। जीवन-मरण में निर्भय रहना, लोकसेवा करते रहना, उनका सन्देश है। वे आर्य संस्कृति के शुद्ध भारतीय संस्करण हैं। गोपालों के संग वे पले, दीनता की गोद में दुलारे गये। अत्याचारी राजाओं के सिहासन उलटे—करोड़ों बलोन्मत्त नृशंसों के मरण-यज्ञ में वे हँसनेवाले अध्वर्यु थे। इस आर्यावर्त्त को महाभारत बनानेवाले थे—वे धर्मराज के संस्थापक थे। सबकी आत्मा स्वतंत्र हो, इसलिए, समाज की व्यावहारिक बातों को वे शरीर-कर्म कहकर व्याख्या करते थे—क्या यह पथ सरल नहीं, क्या हमारे वर्त्तमान दुःखों में वह अवलम्बन न होगा? सब प्राणियों से निर्वैर रखने-वाला शान्तिपूर्ण शक्ति-संबलित मानवता का ऋजु पथ, क्या हम लोगों के चलने योग्य नहीं है?

समवेत जनमण्डली ने कहा—है, अवश्य है।

हाँ, और उसमें कोई आडम्बर नहीं। उपासना के लिए एकान्त निश्चिन्त अवस्था, और स्वाध्याय के लिए चुने हुए श्रुतियों के सार-भाग का संग्रह, गुणकर्मों से विशेषता और पूर्ण आत्मनिष्ठा, सब की साधारण समता—इतनी ही तो चाहिए। कार्यालय मत बनाइए, मित्रों के सदृश एक-दूसरे को समझाइए, किसी गुरुडम की आवश्यकता नहीं। आर्य-संस्कृति अपना तामस त्याग, झूठा विराग छोड़कर जागेगी। भूपृष्ठ के भौतिक देहात्म-वादी चौंक उठेंगे। यान्त्रिक सभ्यता के पतनकाल में वही मानव जाति का अवलम्बन होगी।

पुरुषोत्तम की जय!—की ध्वनि से वह स्थान गूँज उठा। बहुत-से लोग चले गये।

विजय ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। मैं इस समाज से उपेक्षित—अज्ञातकुलशीला घण्टी से ब्याह करना चाहता हूँ, इसमें आपकी क्या अनुमति है?

मेरा तो एक ही आदर्श है। तुम्हें जानना चाहिए कि परस्पर प्रेम का विश्वास कर लेने पर यादवों के विरुद्ध रहते भी सुभद्रा और अर्जुन के परिणय को पुरुषोत्तम ने सहायता दी। यदि तुम दोनों में परस्पर प्रेम है, तो भगवान को साक्षी देकर तुम परिणय के पवित्र बन्धन में बँध सकते हो।—कृष्णशरण ने कहा।

विजय बड़े उत्साह से घण्टी का हाथ पकड़े देव-विग्रह के सामने आया, और वह कुछ बोलना ही चाहता था कि यमुना आकर खड़ी हो गई। वह कहने लगी—विजय बाबू, यह ब्याह आप केवल अहंकार से करने जा रहे हैं, आपका प्रेम घण्टी पर नहीं है।

बुड्ढा पादरी हँसने लगा। उसने कहा— लौट जाओ बेटी! विजय, चलो सब लोग चलें।

विजय ने हतबुद्धि के समान एक बार यमुना को देखा। घण्टी गड़ी जा रही थी। विजय का गला पकड़कर जैसे किसी ने धक्का दिया। वह सरला के पास लौट आया। लतिका घबराकर सबसे पहिले ही चली। सब ताँगों पर आ बैठे। गोस्वामीजी के मुख पर स्मित-रेखा झलक उठी।

तृतीय खण्ड

१

श्रीचन्द्र का एकमात्र अन्तरंग सखा धन था, क्योंकि उसके कौटुम्बिक जीवन में कोई आनन्द नहीं रह गया था। वह अपने व्यवसाय को लेकर मस्त रहता। लाखों का हेर फेर करने में उसे उतना ही सुख मिलता, जितना किसी विलासी को विलास में।

काम से छुट्टी पाने पर थकावट मिटाने के लिए बोतल, प्याला और व्यक्ति-विशेष के साथ थोड़े समय तक आमोद-प्रमोद कर लेना उसके लिए पर्याप्त था। चन्दा नाम की एक धनवती रमणी कभी-कभी प्रायः उससे मिला करती; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि श्रीचन्द्र पूर्ण रूप से उसकी ओर आकृष्ट था। यहाँ यह हुआ कि आमोद-प्रमोद की मात्रा बढ़ चली। कपास के काम में सहसा घाटे की सम्भावना हुई। श्रीचन्द्र किसी का आश्रय-अंक खोजने लगा। चन्दा पास ही थी। धन भी था, और बात यह थी कि चन्दा उसे मानती भी थी। उसे आशा भी थी कि पंजाब-विधवा-सभा के नियमानुसार वह किसी दिन श्रीचन्द्र की गृहिणी हो जायेगी। चन्दा को अपनी बदनामी के कारण अपनी लड़की के लिए बड़ी चिन्ता थी। वह उसकी सामाजिकता बनाने के लिए भी प्रयत्नशील थी।

परिस्थिति ने दोनों लोहों के बीच चुम्बक का काम किया। श्रीचन्द्र और चन्दा में भेद तो पहले भी न था; पर अब सम्पत्ति पर भी दोनों का साधारण अधिकार हो चला। वह घाटे के धक्के को सम्मिलित धन से रोकने लगी। बाज़ार रुका, जैसे आँधी थम गई। तगादे-पुरजे की बाढ़ उतर गई।

पानी बरस गया था। धुले हुए अन्तरिक्ष से नक्षत्र अतीत-स्मृति के समान उज्ज्वल होकर चमक रहे थे। सुगन्धरा की मधुर गन्ध से मस्तक भरे रहने पर भी श्रीचन्द्र अपने बँगले के चौतरे पर से आकाश के तारों को बिन्दु मानकर उनसे काल्पनिक रेखाएँ खींच रहा था। रेखागणित के असंख्य काल्पनिक त्रिभुज उसकी आँखों में बनते और बिगड़ते थे; पर वह आसन्न समस्या हल करने में असमर्थ था। धन की कठोर आवश्यकता ऐसा वृत्त खींचती कि वह उसके बाहर जाने में असमर्थ था।

चन्दा थाली लिये आई। श्रीचन्द्र उसकी सौन्दर्य-छटा देखकर पलभर के लिए धन-चिन्ता-विस्मृत हो गया। हृदय एक बार नाच उठा। वह उठ बैठा। चन्दा ने सामने बैठकर उसकी भूख जगा दी। ब्यालू करते-करते श्रीचन्द्र ने कहा —चन्दा, तुम मेरे लिए इतना कष्ट करती हो!

चन्दा—और तुमको इस कष्ट में चिन्ता क्यों है?

श्रीचन्द्र—यही कि मैं स्वयं कर लूँगी। हाँ, पहले यह तो बताओ—अब तुम्हारे ऊपर कितना ऋण है?

श्रीचन्द्र—अभी बहुत है।

चन्दा—क्या कहा! अभी बहुत है?

श्रीचन्द्र—हाँ, अमृतसर की सारी स्थावर सम्पत्ति अभी बन्धक है। एक लाख रुपया चाहिए।

एक दीर्घ निःश्वास लेकर श्रीचन्द्र ने थाली टाल दी। हाथ-मुँह धोकर आरामकुर्सी पर जा लेटा। चन्दा पास ही कुर्सी खींचकर बैठ गई। अभी वह पैंतीस से ऊपर की नहीं है। यौवन है। जाने-जाने कर रहा है, पर उसके सुडौल अंग छोड़कर उससे जाते नहीं बनता। भरी-भरी गोरी बाँहें उसने गले में डालकर श्रीचन्द्र का एक चुम्बन लिया। श्रीचन्द्र को ऋण-चिन्ता फिर सताने लगी। चन्दा ने देखा, श्रीचन्द्र के प्रत्येक श्वास में रुपया रुपया का नाद हो रहा था। वह चौंक उठी। एक बार स्थिर दृष्टि से उसने श्रीचन्द्र के चिन्तित बदन की ओर देखा, और बोली—एक उपाय है, करोगे?

श्रीचन्द्र ने सीधे होकर बैठते हुए पूछा—वह क्या?

विधवा-विवह-सभा में चलकर हम लोग....कहते-कहते चन्दा रुक गई; क्योंकि, श्रीचन्द्र मुस्कराने लगा था। उसकी हँसी में एक मार्मिक व्यंग्य था। चन्दा तिलमिला उठी। उसने कहा–तुम्हारा सब प्रेम झूटा था!

श्रीचन्द्र ने पूरे व्यवसायी के ढंग से कहा—बात क्या है, मैंने तो कुछ कहा भी नहीं और तुम लगीं बिगड़ने!

चन्दा—मैं तुम्हारी हँसी का अर्थ समझती हूँ!

श्रीचन्द्र—कदापि नहीं। स्त्रियाँ प्रायः तुनक जाने का कारण सब बातों में निकाल लेती है। मैं तुम्हारे भोलेपन पर हँस रहा था। तुम जानती हो कि ब्याह के व्यवसाय में तो मैंने कभी का दिवाला निकाल दिया है, फिर भी वही प्रश्न!

चन्दा ने अपना भाव सँभालते हुए कहा—ये सब तुम्हारी बनावटी बातें हैं। मैं जानती हूँ कि तुम्हारी पहली स्त्री और संसार तुम्हारे लिए नहीं के बराबर है। उसके लिए कोई बाधा नहीं। हम-तुम एक हो जायँगे, तब सब सम्पत्ति तुम्हारी हो जायगी!

श्रीचन्द्र–यह तो यों भी हो सकता है; पर मेरी एक सम्मति है, उसे मानना-न-मानना तुम्हारे अधिकार में है। है बात बड़ी अच्छी।

चन्दा—वह क्या?

श्रीचन्द्र ने एक क्षण में हिसाब बैठा लिया! उसके लिए रुपयों का नया-नया प्रबन्ध सोचना साधारण बात थी। उसने ठहरकर बड़ी गम्भीरता से कहा—लाली के लिए सम्बन्ध खोज लिया है; पर वह तुम्हारे प्रस्ताव के अनुसार चलने से न हो सकेगा।

चन्दा—क्यों?

श्रीचन्द्र—तुम जानती हो कि विजय मेरे लड़के के नाम से प्रसिद्ध है और काशी में अमृतसर की गन्ध अभी नहीं पहुँची है। मैं यदि तुमसे विधवा-विवाह कर लेता हूँ, तो इस सम्बन्ध में अड़चन भी होगी, और बदनामी भी। क्या तुमको वह जामाता पसन्द नहीं!

चन्दा ने एक बार उल्लास से बड़ी-बड़ी आँखें खोलकर देखा और बोली—यह तो बड़ी अच्छी बात सोची!

श्रीचन्द्र ने कहा—तुमको यह जानकर और प्रसन्नता होगी कि मैंने जो कुछ रुपये किशोरी को भेजे हैं, उनसे उस चालाक स्त्री ने अच्छी जमींदारी बना ली है। और, काशी में अमृतसर वाली कोठी की बड़ी धाक है। वहीं चलकर लाली का ब्याह हो जाएगा। तब, हम लोग यहाँ की सम्पत्ति और व्यवसाय से आनन्द लेंगे। किशोरी धन, बेटा, बहू लेकर सन्तुष्ट हो जायगी! क्यों कैसी रही!

चन्दा ने मन में सोचा, इस प्रकार यह काम हो जाने पर, हर तरह की सुविधा रहेगी। समाज के हम लोग विद्रोही भी नहीं रहेंगे और काम भी बन जायगा। वह प्रसन्नतापूर्वक सहमत हुई।

दूसरे दिन के प्रभात में बड़ी स्फूर्ति थी! श्रीचन्द्र और चन्दा बहुत प्रसन्न हो उठे। बगीचे की हरियाली पर आँखें पड़ते ही मन हल्का हो गया।

चन्दा ने कहा—आज चाय पीकर ही जाऊँगी।

श्रीचन्द्र ने कहा—नहीं, तुम्हें अपने बँगले में उजेले से पहिले ही पहुँचना चाहिए। मैं तुम्हें बहुत सुरक्षित रखना चाहता हूँ।

चन्दा ने इठलाते हुए कहा—मुझे इस बँगले की बनावट बहुत सुन्दर लगती है, इसकी ऊँची कुरसी और चारों ओर खुला उपवन बहुत ही सुहावना है!

श्रीचन्द्र ने कहा—चन्दा, तुमको भूल न जाना चाहिए कि संसार में पाप से उतना डर नहीं, जितना जानवर से! इसलिए तुम चलो, मैं ही तुम्हारे बँगले पर आकर चाय पिऊँगा। अब इस बँगले से मुझे प्रेम नहीं रहा, क्योंकि इसका दूसरे के हाथ में जाना निश्चित है।

चन्दा एक बार घूमकर खड़ी हो गई। उसने कहा–ऐसा कदापि नहीं होगा। अभी मेरे पास एक लाख रुपया है। मैं कम सूद पर तुम्हारी सब सम्पत्ति अपने यहाँ रख लूँगी। बोली, फिर तो तुमको किसी दूसरे की बात न सुननी होगी?

फिर हँसते हुए उसने कहा—और मेरा तगादा तो इस जन्म में छूटने का नहीं!

श्रीचन्द्र की धड़कन बढ़ गई। उसने बड़ी प्रसन्नता से चन्दा के कई चुम्बन लिये और कहा—मेरी सम्पत्ति ही नहीं, मुझे भी बन्धक रख लो प्यारी चन्दा! पर अपनी बदनामी बचाओ। लाली भी हम लोगों का रहस्य न जाने तो अच्छा क्योंकि, हम लोग चाहे जैसे भी हों, पर सन्तानें तो हम लोगों की बुराइयों से अनभिज्ञ रहें। अन्यथा, उनके मन में बुराइयों के प्रति अवहेलना की धारणा बन जाती है। और वे उन अपराधों को फिर अपराध नहीं समझते—जिन्हें वे जानते हैं कि हमारे बड़े लोगों ने भी किया है।

लाली के जगने का तो अब समय हो रहा है। अच्छा, वहीं चाय पीजिएगा और सब प्रबन्ध भी आज ही ठीक हो जायगा।

गाड़ी प्रस्तुत थी, चन्दा जाकर बैठ गई। श्रीचन्द्र ने एक दीर्घ निःस्वास लेकर अपने हृदय को सब तरह के बोझों से हलका किया।

२

किशोरी और निरंजन काशी लौट आये; परन्तु उन दोनों के हृदय में शान्ति न थी। क्रोध से किशोरी ने विजय का तिरस्कार किया, फिर भी सहज मातृ-स्नेह विद्रोह करने लगा। निरंजन से दिन में एकाध बार इस विषय को लेकर दो-दो चोंच हो जाना अनिवार्य हो गया। निरंजन ने एक दिन दृढ़ होकर उसका निपटारा कर लेने का विचार कर लिया; वह अपना सामान बँधवाने लगा। किशोरी ने यह ढंग देखा। वह जल-भुन गई। जिसके लिए उसने पुत्र को छोड़ दिया, वह भी आज जाने को प्रस्तुत है। उसने तीव्र स्वर में कहा—क्या अभी जाना चाहते हो?

हाँ, मैंने जब संसार छोड़ दिया है, तब किसी की बात क्यों सहूँ? •

क्यों झूठ बोलते हो, तुमने कब कोई वस्तु छोड़ी थी। तुम्हारे त्याग से तो, भोले-भाले, माया में बँधे हुए गृहस्थ, कहीं ऊँचे हैं! अपनी ओर देखो, हृदय पर हाथ रखकर पूछो! निरंजन, मेरे सामने तुम यह कह सकते हो? संसार आज तुमको और मुझको क्या समझता है—कुछ इसका भी समाचार जानते हो?

जानता हूँ किशोरी! माया के साधारण झटके में एक सच्चे साधु के फँस जाने, ठगे जाने का यह लज्जित प्रसंग अब किसी से छिपा नहीं—इसीलिए मैं जाना चाहता हूँ।

तो रोकता कौन है, जाओ! परन्तु जिसके लिए मैंने सब कुछ खो दिया है, उसे तुम्हीं ने मुझसे छीन लिया है—उसे देकर जाओ! जाओ तपस्या करो, तुम फिर महात्मा बन जाओगे! सुना है, पुरुषों के तप करने से घोर-से-घोर कुकर्मों को भी भगवान क्षमा करके उन्हें दर्शन देते है; पर मैं हूँ स्त्री-जाति! मेरा यह भाग्य नहीं, मैंने पाप करके जो पाप बटोरा है, उसे ही मेरी गोद में फेंकते जाओ!

किशोरी का दम घुटने लगा। वह अधीर होकर रोने लगी।

निरंजन ने आज अपना नग्न रूप देखा और वह इतना बीभत्स था कि उसने अपने हाथों से आँखों को ढँक लिया। कुछ काल के बाद बोला—अच्छा, तो विजय को खोजने जाता हूँ!

गाड़ी पर निरंजन का सामान लद गया और बिना एक शब्द कहे वह स्टेशन चला गया। किशोरी अभिमान और क्रोध से भरी चुपचाप बैठी रही। आज वह अपनी ही दृष्टि में तुच्छ जँचने लगी। उसने बड़बड़ाते हुए कहा—स्त्री कुछ नहीं है, केवल पुरुषों की पूँछ है। विलक्षणता यही है कि यह पूँछ कभी-कभी अलग भी रख दी जा सकती है!

अभी उसे सोचने से अवकाश नहीं मिला था कि गाड़ियों के 'खड़खड़' शब्द और बक्स-बंडलों के पटकने का धमाका नीचे हुआ। वह मन-ही-मन हँसी कि बाबाजी का हृदय

इतना बलवान नहीं कि मुझे यों ही छोड़कर चले जाएँ। इस समय स्त्रियों की विजय उसके सामने नाच उठी। वह फूल रही थी, उठी नहीं; परन्तु जब धनियाँ ने आकर कहा–बाबूजी, पंजाब से कोई आये हैं, उनके साथ एक लड़की और उनकी स्त्री है–तब वह एक पल-भर के लिए सन्नाटे में आ गई। उसने नीचे झाँककर देखा, तो --श्रीचन्द्र! उसके साथ शलवार, कुरता ओढ़नी से सजी हुई एक रूपवती रमणी चौदह साल की सुन्दरी कन्या का हाथ पकड़े खड़ी थी। नौकर लोग सामान भीतर रख रहे थे। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर नीचे होकर उतर आई। न जाने कहाँ की लज्जा और द्विविधा उसके अंग को घेरकर हँस रही थी।

श्रीचन्द्र ने इस प्रसंग को अधिक बढ़ाने का अवसर न देकर कहा–यह मेरे पड़ोसी, अमृतसर के व्यापारी, लाला... की विधवा हैं, काशी यात्रा के लिए आई हैं।

ओहो मेरे भाग!- कहती हुई किशोरी उनका हाथ पकड़कर भीतर ले चली। श्रीचन्द्र एक बड़ी-सी घटना को यों ही सँवरते देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हुए। गाड़ीवाले को भाड़ा देकर घर में आए। सब नौकरों में यह बात गुनगुना गई कि मालिक आ गये हैं।

अलग कोठरी में नवागत रमणी का सब प्रबन्ध ठीक किया गया। श्रीचन्द्र ने नीचे की बैठक में अपना आसन जमाया। नहाने-धोने, खाने-पीने और विश्राम में समस्त दिन बीत गया।

किशोरी ने अतिथि-सत्कार में पूरे मनोयोग से भाग लिया। कोई भी देखकर यह नहीं कह सकता था कि किशोरी और श्रीचन्द्र बहुत दिनों पर मिले हैं; परन्तु अब तक श्रीचन्द्र ने विजय को नहीं पूछा, उसका मन नहीं करता था, या साहस नहीं होता था।

थके यात्रियों ने निद्रा का अवलम्ब लिया।

प्रभात में जब श्रीचन्द्र की आँखें खुलीं, तब उसने देखा, प्रौढ़ा किशोरी के मुख पर पचीस बरस पहले का वही सलज्ज लावण्य अपराधी के सदृश छिपना चाहता है। अतीत की स्मृति ने श्रीचन्द्र के हृदय पर वृश्चिक-दंशन का काम किया। नींद न खुलने का बहाना करके उन्होंने एक बार फिर आँखें बन्द कर लीं। किशोरी मर्माहत हुई ; पर आज नियति ने उसे सब ओर से निरवलम्ब करके श्रीचन्द्र के सामने झुकने के लिए बाध्य किया था। वह संकोच और मनोवेदना से गड़ी जा रही थी।

श्रीचन्द्र साहस संकलित करके उठ बैठा । डरते -डरते किशोरी ने उसके पैर पकड लिये। एकांत था। वह जी खोलकर रोई; पर श्रीचन्द्र को उस रोने से क्रोध ही हुआ, करुणा की झलक न आई। उसने कहा–किशोरी ! रोने की तो कोई आवश्यकता नहीं!

रोई हुई लाल आँखों को श्रीचन्द्र के मुँह पर जमाते हुए किशोरी ने कहा–आवश्यकता तो नहीं; पर जानते हो स्त्रियाँ कितनी दुर्बल हैं--अबला हैं। नहीं तो मेरे ही जैसा अपराध करनेवाले पुरुष के पैरों पर पड़कर मुझे न रोना पड़ता!

वह अपराध यदि तुम्हीं से सीखा गया हो, तो मुझे देने की व्यवस्था न खोजनी पड़ेगी।

तो हम लोग क्या इतनी दूर हैं कि मिलना असम्भव है?

असम्भव तो नहीं है, नहीं तो मैं आता कैसे?

अब स्त्री-सुलभ ईर्ष्या किशोरी के हृदय में जगी। उसने कहा—आये होंगे किसी को घुमाने-फिराने -सुख बहार लेने!

किशोरी के इस कथन में व्यंग्य से अधिक उलाहना था। न जाने क्यों श्रीचन्द्र को इस व्यंग्य से सन्तोष हुआ, जैसे ईप्सित वस्तु मिल गई हो। वह हँसककर बोला—इतना तो तुम भी स्वीकार करोगी कि यह कोई अपराध नहीं है।

किशोरी ने देखा, समझौता हो सकता है, अधिक कहा-सुनी करके इसे गुरुतर न बना देना चाहिए। उसने दीनता से कहा—तो अपराध क्षमा नहीं हो सकता ?

श्रीचन्द्र ने कहा—किशोरी ! अपराध कैसा? अपराध समझता, तो आज इस बात-चीत का अवसर ही नहीं आता। हम लोगों का पथ जब अलग-अलग निर्धारित हो चुका है, तब उसमें कोई बाधक न हो, यहीं नीति अच्छी रहेगी। यात्रा करने तो हमलोग आये ही हैं; पर एक काम भी है।

किशोरी सावधान होकर सुनने लगी। श्रीचन्द्र ने फिर कहना आरम्भ किया—

मेरा व्यवसाय नष्ट हो चुका है, अमृतसर की सब सम्पत्ति इसी स्त्री के यहाँ बन्धक है। उसके उद्धार का यही उपाय है कि इसकी सुन्दरी कन्या लाली से विजय का ब्याह करा दिया जाय।

किशोरी ने सगर्व एक बार श्रीचन्द्र की ओर देखा, फिर सहसा कातर भाव से बोली—विजय रूठकर मथुरा चला गया है!

श्रीचन्द्र ने पक्के व्यापारी के समान कहा— कोई चिन्ता नहीं, वह आ जाएगा। तब तक हम लोग यहाँ रहें, तुम्हें कोई कष्ट तो न होगा?

अब अधिक चोट न पहुँचाओ। मैं अपराधिनी हूँ, मैं सन्तान के लिए अन्धी हो रही थी! क्या मैं क्षमा न की जाऊँगी? किशोरी की आँखों से आँसू गिरने लगे।

अच्छा तो उसे बुलाने के लिए मुझे जाना होगा।

नहीं; उसे बुलाने के लिए आदमी गया है। चलो, हाथ-मुँह धोकर जलपान कर लो।

अपने ही घर में श्रीचन्द्र एक अतिथि की तरह आदर-सत्कार पाने लगा।

३

निरंजन वृन्दावन में विजय को खोज में घूमने लगा। तार देकर अपने हरिद्वार के भण्डारों को रुपये लेकर बुलाया और गली-गली खोज की धूम मच गई। मथुरा में द्वारिकाधीश के मन्दिर में कई दिन टोह लगाया। विश्रामघाट पर आरती देखते हुए कितनी संध्याएँ बिताईं, पर विजय का कुछ पता नहीं।

एक दिन वह नाव पर दुर्वासा के दर्शन को गया। वैशाख पूर्णिमा थी। यमुना से हटने का मन नहीं करता था। निरंजन ने नाव वाले से कहा—किसी अच्छी जगह ले चलो । मैं आज रात भर घूमना चाहता हूँ; तुमको भरपूर इनाम दूँगा, चिन्ता न करना, भला!

उन दिनों कृष्णशरण वाली टेकरी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। मनचले लोग बहुत उधर घूमने जाते थे। माँझी ने देखा कि अभी थोड़ी देर पहले ही एक नाव उधर जा चुकी थी, वह भी उधर खेने लगा। निरंजन को अपने ऊपर क्रोध हो रहा था, सोचने लगा—"आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास !"

पूर्णिमा की पिछली रात थी। रात-भर का जगा हुआ चन्द्रमा झीम रहा था। निरंजन की आँखें भी कम अलसाई थीं; परन्तु आज नींद उचट गई थी। सैकड़ों कविताओं में वर्णित यमुना का पुलिन, यौवन -काल की स्मृति जगा देने के लिए कम न था। किशोरी की प्रौढ़ प्रणय-लीला और अपनी साधु की स्थिति, निरंजन के सामने दो प्रतिद्वंद्वियों की भाँति लड़कर उसे अभिभूत बना रही थीं। माँझी भी ऊँघ रहा था। उसके डाँडे बहुत धीरे-धीरे पानी में गिर रहे थे। यमुना के जल में निस्तब्ध शान्ति थी। निरंजन एक स्वप्नलोक में विचर रहा था।

चाँदनी फीकी हो चली। अभी तक आगे जानेवाली नाव पर से मधुर संगीत की स्वर-लहरी मादकता में कम्पित हो रही थी। निरंजन ने कहा–माँझी, उधर ही ले चलो। –नाव की गति तीव्र हुई। थोड़ी ही देर में आगे वाली नाव के पास ही से निरंजन की नाव बढ़ी। उसमें एक रात्रि-जागरण से क्लान्त युवती गा रही थी ओर बीच-बीच में पास ही बैठा हुआ युवक बंशी बजाकर साथ देता, तब वह जैसे ऊँघती हुई प्रकृति -जागरण के आनन्द से पुलकित हो जाती। सहसा संगीत की गति रुकी। युवक ने उच्छ्वास लेकर कहा–घण्टी! जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, भ्रांत हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे; इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता रही तो समर्पण ही कैसा! मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या!

निरंजन ने धीरे-से अपने माँझी से नाव दूर ले चलने के लिए कहा। इतने में फिर युवक ने कहा–तुम भी इसे मानती होगी? जिसको सब कहते हुए छिपाते हैं, जिसे अपराध कहकर कान पकड़कर स्वीकार करते हैं, वही तो–जीवन का, यौवन-काल का ठोस सत्य है। सामाजिक बन्धनों से जकड़ी हुई आर्थिक कठिनाइयाँ, हम लोगों के भ्रम से धर्म का चेहरा लगाकर अपना भयानक रूप दिखाती हैं! क्यों, स्पष्ट है। फिर भी संस्कार और रूढ़ि की राक्षसी प्रतिमा के सामने समाज क्यों अल्हड़ रक्तों की बलि चढ़ाया करता है!

घण्टी चुप थी। वह नशे में झूम रही थी। जागरण का भी कम प्रभाव न था। युवक फिर कहने लगा– देखो, मैं समाज के शासन में आना चाहता था; परन्तु आह! मैं भूल करता हूँ।

तुम झूठ बोलते हो विजय! समाज तुमको आज्ञा दे चुका था; परन्तु तुमने उसकी आज्ञा ठुकराकर यमुना का शासनादेश स्वीकार किया। इसमें समाज का क्या दोष है। मैं उस दिन की घटना नहीं भूल सकती, वह तुम्हारा दोष है। तुम कहोगे कि फिर मैं जब जानकर भी तुम्हारे साथ क्यों घूमती हूँ; इसलिए कि मैं इसे कुछ महत्त्व नहीं देती। हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिये कुछ सोचना-विचारना चाहिए। और, जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है–जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियाँ किया

करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूँ! यह कैसे हो, क्या हो, और क्यों हो—इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौड़ी -पाई लेना रहता है और स्त्रियों को भरना पड़ता है। तब, इधर-उधर देखने से क्या! 'भरना है'—यही सत्य है, उसे दिखावे के आदर से ब्याह करके भरा लो या व्यभिचार कहकर तिरस्कार से। अधमर्ण की सान्त्वना के लिए यह उत्तमर्ण का शाब्दिक, मौखिक प्रलोभन या तिरस्कार है। समझे? घण्टी ने कहा।

विजय का नशा उखड़ गया । उसने समझा मैं मिथ्या ज्ञान को अभी तक समझता हुआ अपने मन को धोखा दे रहा हूँ। यह हँसमुख घण्टी संसार के सब प्रश्नों को सहन किये बैठी है। प्रश्नों को गम्भीरता से विचारने का मैं जितना ढोंग करता हूँ, उतना उपलब्ध सत्य से दूर होता जा रहा हूँ—वह चुपचाप सोचने लगा।

घण्टी फिर कहने लगी—समझे विजय! मैं तुम्हें प्यार करती हूँ। तुम ब्याह करके यदि उसका प्रतिदान किया चाहते हो,तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं। यह विचार तो मुझे कभी सताता ही नहीं। मुझे जो करना है,वही करती हूँ, करूँगी भी। घूमाओगे घूमूँगी, पिलाओगे पीऊँगी, दुलार करोगे हँस लूँगी, ठुकराओगे रो दूँगी। स्त्री को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता है। मैं इन सबों को समभाव से ग्रहण करती हूँ और करूँगी।

विजय का सिर घूमने लगा। वह चाहता था कि घण्टी अपनी वक्तृता जहाँ तक सम्भव हो, शीघ्र बन्द कर दे। उसने कहा—अब तो प्रभात होने में विलम्ब नहीं, चलो कहीं किनारे उतरें और हाथ-मुँह धो लें।

घण्टी चुप रही । नाव तट की ओर चली। इसके पहले ही एक दूसरी नाव भी तीर पर लग चुकी थी; परन्तु वह निरंजन की थी। निरंजन दूर था, उसने देखा—विजय ही तो है! अच्छा दूर-दूर रहकर इसे देखना चाहिए, अभी शीघ्रता से काम बिगड़ जाएगा।

विजय और घण्टी नाव से उतरे । प्रकाश हो चला था। रात की उदासी भरी बिदाई ओस के आँसू बहाने लगी। कृष्णशरण की टेकरी के पास ही वह उतारे का घाट था। वहाँ केवल एक स्त्री प्रातःस्नान के लिए अभी आई थी। घण्टी वृक्षों की झुरमुट में गई थी कि उसके चिल्लाने का शब्द सुन पड़ा। विजय उधर दौड़ा; परन्तु घण्टी भागती हुई उधर ही आती दिखाई पड़ी। अब उजेला हो चला था। विजय ने देखा कि वही ताँगे वाला नवाब उसे पकड़ना चाहता है। विजय ने डॉटकर कहा—खड़ा रहा दुष्ट ! नवाब अपने दूसरे साथी के भरोसे विजय पर टूट पड़ा । दोनों से गुत्थमगुत्था हो गया। विजय के दोनों पैर उठाकर वह पटकना चाहता था और विजय ने दाहिने बग़ल में उसका गला दबा लिया था, दोनों ओर से पूर्ण बल-प्रयोग हो रहा था कि विजय का पैर उठ गया।, विजय ने, नवाब के गला दबानेवाले दाहिने हाथ को अपने बाएँ हाथ से और भी दृढ़ता से खींचा। नवाब का दम घुट रहा था, फिर भी उसने जाँघ में काट खाया; परन्तु पूर्ण क्रोधावेश में विजय को उसकी वेदना न हुई, वह हाथ की परिधि को नवाब के कण्ठ के लिए यथासम्भव संकीर्ण कर रहा था। दूसरे क्षण में नवाब अचेत होकर गिर पड़ा। विजय अत्यन्त उत्तेजित था। सहसा किसी ने उसके कंधे पर छुरी मारी; पर वह ओछी लगी। चोट खाकर विजय का मस्तक और भी भड़क उठा, उसने पास ही पड़ा हुआ पत्थर उठाकर नवाब का सिर कुचल

दिया। उसकी घण्टी चिल्लाती हुई नाव पर भागना चाहती थी कि किसी ने उससे धीरे-से कहा—खून हो गया है, तुम यहाँ से हट चलो!

कहनेवाला बाथम था। उसके साथ भय -विह्वल घण्टी नाव पर चढ़ गई। डाँडे गिरा दिए गए।

इधर नवाब का सिर कुचलकर जब विजय ने देखा, तब वहाँ घण्टी न थी, परन्तु एक दूसरी स्त्री खड़ी थी। उसने विजय का हाथ पकड़कर कहा— ठहरो विजय बाबू! क्षण-भर में विजय का उन्माद ठंडा हो गया। वह एक बार सिर पकड़कर अपनी भयानक परिस्थिति से अवगत हो गया।

निरंजन दूर से यह कांड देख रहा था। अब अलग रहना उचित न समझकर वह भी पास आ गया। उसने कहा—विजय, अब क्या होगा?

कुछ नहीं, फाँसी होगी और क्या !— निर्भीक भाव से विजय ने कहा।

आप इन्हें अपनी नाव दे दें और ये जहाँ तक जा सकें, निकल जाएं। इनका यहाँ ठहरना ठीक नहीं—स्त्री ने निरंजन से कहा।

नहीं यमुना! तुम अब इस जीवन को बचाने की चिन्ता न करो, मैं इतना कायर नहीं हूँ।—विजय ने कहा।

परन्तु तुम्हारी माता क्या कहेगी विजय! मेरी बात मानो, तुम इस समय तो हट ही जाओ, फिर देखा जाएगा। मैं भी कह रहा हूँ, यमुना की भी यही सम्मति है। एक क्षण में मृत्यु की विभीषिका नाचने लगी! लड़कपन न करो, भागो।—निरंजन ने कहा।

विजय को सोचते-विचारते और विलम्ब करते देखकर यमुना ने बिगड़कर कहा— विजय बाबू! प्रत्येक अवसर पर लड़कपन अच्छा नहीं लगता। मैं कहती हूँ, आप अभी चले जाएँ। आह! आप सुनते नहीं?

विजय ने सुना—'अच्छा नहीं लगता!' ऊँह, यह तो बुरी बात है। हाँ ठीक, तो देखा जाएगा। जीवन सहज में दे देने की वस्तु नहीं। और तिस पर भी यमुना कहती है— ठीक उसी तरह जैसे पहले दो खिल्ली पान और खा लेने के लिए, उसने कई बार बाँटने के स्वर में अनुरोध किया था! तो फिर!...

विजय भयभीत हुआ। मृत्यु जब तक कल्पना की वस्तु रहती है, तब तक चाहे उसका जितना प्रत्याख्यान कर लिया जाए; परन्तु यदि वह सामने हो?

विजय ने देखा, यमुना ही नहीं, निरंजन भी है, क्या चिन्ता यदि मैं हट जाऊँ! वह मान गया, निरंजन की नाव पर जा बैठा। निरंजन ने रुपयों की थैली नाव वाले को दे दी। नाव तेजी से चल पड़ी।

भण्डारी और निरंजन ने आपस में कुछ मंत्रणा की, और वे—खून हुआ है, अरे बाप रे!—कहते हुए एक ओर चल पड़े। स्नान करनेवाली का समय हो चला था। कुछ लोग आ भी चले थे। निरंजन और भण्डारी जी का पता नहीं। यमुना चुपचाप वहीं बैठी रही। वह अपने पिता भण्डारी जी की बात सोच रही थी। पिता कहकर पुकारने की उसकी इच्छा को किसी

ने कुचल दिया। कुछ समय बीतने पर पुलिस ने आकर यमुना से पूछना आरम्भ किया–तुम्हारा नाम क्या है?

यमुना।

यह कैसे मरा?

इसने एक स्त्री पर अत्याचार करना चाहा था।

फिर?

फिर यह मारा गया।

किसने मारा?

जिसका इसने अपराध किया।

तो क्या वह स्त्री तुम्हीं तो नहीं हो?

यमुना चुप रही।

सब-इन्सपेक्टर ने कहा–यह स्वीकार करती है। इसे हिरासत में ले लो। यमुना कुछ न बोली। तमाशा देखनेवालों का थोड़े समय के लिए मनबहलाव हो गया।

कृष्णशरण की टेकरी में हलचल थी। यमुना के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की चर्चा हो रही थी। निरंजन और भण्डारी भी एक और मौलसिरी के नीचे चुपचाप बैठे थे। भण्डारी ने अधिक गम्भीरता से कहा–

पर इस यमुना को मैं पहचान रहा हूँ!

क्या?

नहीं-नहीं, यह ठीक है–तारा ही है?

मैंने इसे कितनी बार काशी में किशोरी के यहाँ देखा है और मैं कह सकता हूँ कि यह उसकी दासी यमुना है; तुम्हारी तारा कदापि नहीं।

परन्तु आप उसको कैसे पहचानते हैं! तारा मेरे घर उत्पन्न हुई, पली और बढ़ी। कभी उसका और आपका सामना तो हुआ नहीं, आपकी आज्ञा भी ऐसी ही थी। ग्रहण में वह भूलकर लखनऊ गई। वहाँ का एक स्वयंसेवक उसे हरिद्वार ले जा रहा था, मुझसे राह में भेंट हुई, मैं रेल से उतर पड़ा। मैं उसे न पहचानूँगा।

तो तुम्हारा कहना ठीक हो सकता है।–कहकर निरंजन ने सिर नीचा कर लिया।

मैंने इसका स्वर, मुख, अवयव पहचान लिया, यह रामा की कन्या है!–भण्डारी ने भारी स्वर से कहा।

निरंजन चुप था। वह विचार में पड़ गया। थोड़ी देर में बड़बड़ाते हुए उसने सिर उठाया –दोनों को बचाना होगा, दोनों ही ...हे भगवान?

इतने में गोस्वामी कृष्णशरण का शब्द उसे सुनाई पड़ा–आपलोग चाहे जो समझें, पर मैं इस पर विश्वास नहीं कर सकता कि यमुना हत्या कर सकती है। वह संसार में सताई हुई एक पवित्र आत्मा है, वह निर्दोष है! आप लोग देखेंगे कि उसे फाँसी न होगी।

आवेश से निरंजन उसके पास जाकर बोला --मैं उसकी पैरवी का सब व्यय दूँगा। यह लीजिए एक हज़ार के नोट हैं, घटने पर और भी दूँगा। अच्छे-अच्छे वकील कर लिए जाएँ।

उपस्थित लोगों ने एक अपरिचित की इस उदारता पर धन्यवाद दिया। गोस्वामी कृष्णशरण हँस पड़े। उन्होंने कहा--मंगलदेव को बुलाना होगा, वही सब प्रबन्ध करेगा।

निरंजन उसी आश्रम का अतिथि हो गया और उसी जगह रहने लगा। गोस्वामी कृष्णशरण का उसके हृदय पर प्रभाव पड़ा। नित्य सत्संग होने लगा, प्रतिदिन एक दूसरे के अधिकाधिक समीप होने लगे।

मौलसिरी के नीचे शिलाखंड पर गोस्वामी कृष्णशरण और देव निरंजन बैठे हुए बातें कर रहे थे। निरंजन ने कहा--

महात्मन! आज मैं तृप्त हुआ। मेरी जिज्ञासा ने अपना अनन्य आश्रय खोज लिया। श्रीकृष्ण के इस कल्याण-मार्ग पर मेरा पूर्ण विश्वास हुआ।

आज तक जिस रूप में मैं उन्हें देखता था, वह एकांगी था; किन्तु इस प्रेमपथ का सुधार करना चाहिए। इसके लिए प्रयत्न करने की आज्ञा दीजिए।

प्रयत्न ! निरंजन तुम भूल गए। भगवान की महिमा स्वयं प्रचारित होगी। मैं तो, जो सुनना चाहता है, उसे सुनाऊँगा। इससे अधिक कुछ करने का मेरा साहस नहीं।

किन्तु मेरी एक प्रार्थना है। संसार वधिर है, उसको चिल्लाकर सुनाना होगा, इसलिए भरतवर्ष में हुए उस प्राचीन महापर्व को लक्ष्य में रखकर भारतसंघ नाम से एक प्रचार-संस्था बना दी जाय!

संस्थाएँ विकृत हो जाती हैं। व्यक्तियों के स्वार्थ उसे कलुषित कर देते हैं, देव निरंजन! तुम नहीं देखते कि भारत-भर में साधु-संस्थाओं की क्या....

निरंजन ने क्षण-भर में अपनी जीवनी पढ़ने का उद्योग किया। फिर खीझकर उसने कहा--महात्मन् । फिर आपने इतने अनाथ स्त्री, बालक और वृद्धों का परिवार क्यों बना लिया है?

निरंजन की ओर देखते हुए क्षण-भर चुप रहकर गोस्वामी कृष्णशरण ने कहा--

अपनी असावधानी तो मैं इसे न कहूँगा निरंजन! एक दिन मंगलदेव की प्रार्थना से अपने विचारों को उद्घोषित करने के लिए मैंने इस कल्याण की व्यवस्था की थी। उसी दिन से मेरी टेकरी में भीड़ लगी। जिन्हें आवश्यकता है, दुःख है, अभाव है, वे मेरे पास आने लगे। मैंने किसी को बुलाया नहीं। अब किसी को हटा भी नहीं सकता।

तब आप यह नहीं मानते कि संसार में मानसिक दुःख से पीड़ित प्राणियों को इस संदेश से परिचित करने की आवश्यकता है?

है, किन्तु मैं आडम्बर नहीं चाहता। व्यक्तिगत श्रद्धा से जितना जो कर सके, उतना ही पर्याप्त है।

किन्तु अब यह एक परिवार बन गया है, इसकी कोई निश्चित व्यवस्था करनी ही होगी।

मैं इस झंझट से दूर रहना चाहता हूँ। मंगल को आने दो।

निरंजन ने यहाँ का सब समाचार लिखते हुए किशोरी को यह भी लिखा था–अपने और उसके पाप-चिह्न विजय का जीवन नहीं के बराबर है। हम दोनों को संतोष करना चाहिए और मेरी भी इच्छा है कि अब भगवद्‌भजन करूँ। मैं भारत-संघ के संघटन में लगा हूँ। विजय को खोजकर उसे और भी संकट में डालना होगा। तुम्हारे लिए भी संतोष को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं।

पत्र पाकर किशोरी खूब रोई।

श्रीचन्द्र अपनी सारी कल्पनाओं पर पानी फिरते देखकर किशोरी की ही चापलूसी करने लगा। उसकी वह पंजाब वाली चन्दा अपनी लड़की को लेकर चली गई, क्योंकि ब्याह होना असंभव था।

बीतनेवाला दिन बातों को भुला देता है।

एक दिन किशोरी ने कहा–

जो कुछ है, हम लोगों के लिए बहुत अधिक है,हाय-हाय कर के क्या होगा?

मैं भी अब व्यवसाय करने पंजाब न जाऊँगा। किशोरी ! हम दोनों यदि सरलता से निभा सकें, तो भविष्य जीवन हम लोगों का सुखमय होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

किशोरी ने हँसकर सिर हिला दिया।

संसार अपने-अपने सुख की कल्पना पर खड़ा है–यह भीषण संसार अपनी स्वप्न की मधुरिमा से स्वर्ग है। आज किशोरी को विजय की अपेक्षा नहीं, निरंजन की भी नहीं। और, श्रीचन्द्र को रुपयों के व्यवसाय और चन्दा की नहीं। दोनों ने देखा, इन सबके बिना हमारा काम चल सकता है, सुख मिल सकता है। फिर झंझट करके क्या होगा। दोनों का पुनर्मिलन प्रौढ़ आशाओं से पूर्ण था। श्रीचन्द्र ने गृहस्थी सँभाली। सब प्रबन्ध ठीक करके दोनों विदेश घूमने के लिए निकल पड़े। ठाकुरजी की सेवा का भार एक मूर्ख के ऊपर था; जिसे केवल दो रुपये मिलते थे–वे भी महीने भर में । आहा! स्वार्थ कितना सुन्दर है!

४

तब आपने क्या निश्चय किया? –सरला तीव्र स्वर से बोली।

घण्टी को उस हत्याकांड से बचा लेना भी अपराध है, ऐसा मैंने कभी सोचा भी नहीं।–बाथम ने कहा–

बाथम! तुम जितने भीतर से क्रूर और निष्ठुर हो, यदि ऊपर से भी वही व्यवहार रखते, तो तुम्हारी मनुष्यता का कल्याण होता! तुम अपनी दुर्बलता को परोपकार के पर्दे में क्यों छिपाना चाहते हो! नृशंस ! यदि मुझमें विश्वास की तनिक भी मात्रा न होती, तो मैं अधिक सुखी रहती–कहती हुई लतिका हाँफने लगी। सब चुप थे।

कुबड़ी खटखटाते हुए पादरी जॉन ने उस शांति को भंग किया और आते ही बोला—मैं समझ चुका हूँ, जब दोनों एक-दूसरे पर अविश्वास करते हों, तब उन्हें अलग हो जाना चाहिए। दबा हुआ विद्वेष छाती के भीतर सर्प के समान फुफकारा करता है; कब अपने ही को वह घायल करेगा, कोई नहीं कह सकता। मेरी बच्ची लतिका ! मारगरेट !

हाँ पिता! आप ठीक कहते हैं और अब बाथम को भी इसे स्वीकार कर लेने में कोई विरोध न होना चाहिए।—मारगरेट ने कहा।

मुझे सब स्वीकार है। तब अधिक सफ़ाई देना मैं अपमान समझता हूँ...।

—बाथम ने रूखेपन से कहा।

ठीक है बाथम! तुम्हें सफ़ाई देने, अपने को निरपराध सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है। पुरुष को, स्वतन्त्र पुरुष को, इन साधारण बातों से घबराने की सम्भावना नहीं, पाखण्ड! —गरजती हुई सरला ने कहा। फिर लतिका से बोली—चलो बेटी। पादरी सब कुछ कर लेगा, सम्बन्ध -विच्छेद और नया सम्बन्ध जोड़ने में वह पटु है।

लतिका और सरला उठकर चली गई । घण्टी काठ की पुतली-सी बैठी चुपचाप वह अभिनय देख रही थी। पादरी ने उसके सिर पर दुलार से हाथ फेरते हुए कहा—चलो बेटी! मसीह जननी की छाया में ; तुमने समझ लिया होगा कि उसके बिना तुम्हें शांति न मिलेगी!

बिना एक शब्द कहे पादरी से साथ बाथम और घण्टी दोनों उठकर चले। जाते हुए बाथम ने एक बार उस बँगले को निराश दृष्टि से देखा। धीरे-धीरे तीनों चले गए।

आरामकुर्सी पर पड़ी हुई लतिका ने एक दिन जिज्ञासा-भरी से सरला की ओर देखा, तो वह निर्भीक रमणी अपनी दृढ़ता में महिमापूर्ण थी। लतिका का धैर्य लौट आया। उसने कहा—अब?

कुछ चिन्ता नहीं बेटी, मैं हूँ! सब वस्तु बेचकर बैंक में रुपये जमा कर दो, चुपचाप भगवान के भरोसे रूखी-सूखी खाकर दिन बीत जाएगा।—सरला ने कहा।

मैं एक बार उस वृन्दावन वाले गोस्वामी के पास चलना चाहती हूँ, तुम्हारी क्या सम्मति है?—लतिका ने पूछा।

पहले यह प्रबन्ध कर लेना होगा, फिर वहाँ भी चलूँगी। चाय पिओगी? आज दिन-भर तुमने कुछ नहीं खाया, मैं ले आऊँ—बोलो? हम लोगों को जीवन के नवीन अध्याय के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। लतिका। 'सदैव प्रस्तुत रहो' का महामंत्र मेरे जीवन का रहस्य है—दुख के लिए, सुख के लिए जीवन के लिए और मरण के लिए! उसमें शिथिलता न आनी चाहिए! विपत्तियाँ वायु की तरह निकल जाती है; सुख के दिन प्रकाश के सदृश पश्चिमी समुद्र में भागते रहते हैं। समय काटना होगा, बिताना होगा, और यह ध्रुव सत्य है कि दोनों का अन्त है।

लतिका के मुख पर स्फूर्ति की रेखा फूट उठी।

कई महीने बीत गए। लतिका और बाथम का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। बाथम अब पादरी के बँगले में रहता था, और घण्टी भी वहीं रहती। बाथम किसी काम में लग जाने के

लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहा था। वह अपनी जीविका स्थिर करने के लिए प्रयत्नशील था। और, पादरी घण्टी को बपतिस्मा देकर जीवन का कर्त्तव्य पूरा कर लेने की प्रसन्नता से कुछ सीधा हो गया, अब वह उतना झुककर नहीं चलता।

परन्तु घण्टी !– आज अँधेरा हो जाने पर भी, गिरजा के समीप वाले नाले के पुल पर बैठी, अपनी उधेड़-बुन में लगी है। अपने हिसाब-किताब में लगी है–

मैं भीख माँगकर खाती थी, तब मेरा कोई अपना नहीं था। लोग दिल्लगी करते और मैं हँसती, हँसाकर हँसती। पहले तो पैसे के लिए, फिर, फिर चसका लग गया –हँसने का आनन्द मिल गया। मुझे विश्वास हो गया कि इस विचित्र भूतल पर हम लोग केवल हँसी की लहरों में हिलने-डोलने के लिए आ रहे हैं। आह! मैं दरिद्र थी, पर मैं उन रोनी सूरतवाली गम्भीर विद्वान या रुपयों के बोरों पर बैठे हुए भनभनानेवाले मच्छरों को देखकर घृणा करती, या उनका अस्तित्व ही न स्वीकार करती, जो जी खोलकर हँसते न थे। मैं वृन्दावन की गली की एक हँसोड़ पागल थी; पर उस हँसी ने रंग पलट दिया; वही हँसी अपना कुछ और उद्देश्य रखने लगी। फिर विजय ; धीरे-धीरे जैसे सावन की हरियाली पर प्रभात का बादल बनकर छा गया–मैं नाचने लगी मयूर-सी! और, वह यौवन का मेघ बरसने लगा। भीतर -बाहर रंग से छक गया। मेरा अपना कुछ न रहा। मेरा आहार, विचार, वेश और भूषा सब बदला, और खूब बदला। वह बरसात के बादलों की रंगीन संध्या थी; परन्तु यमुना पर विजय पाना साधारण काम न था। असंभव था। मैंने संचित शक्ति से विजय को छाती से दबा लिया था और यमुना ...वह तो स्वयं राह छोड़कर हट गई थी। पर मैं बनकर भी न बन सकी–नियति चारों ओर से दबा रही थी। और मैंने अपना कुछ न रखा था; जो कुछ था, सब दूसरी धातु का था; मेरे उपादान में कुछ ठोस न था। लो–मैं चली; बाथम....उस पर भी लतिका रोती होगी–यमुना सिसकती होगी....दोनों मुझे गाली देती होंगी; अरे-अरे; मैं हँसनेवाली सबको रुलाने लगी! मैं उसी दिन धर्म से च्युत हो गई–मर गई, घण्टी मर गई!..पर, यह कौन सोच रही है! हाँ, वह मरघट की ज्वाला धधक रही है–ओ, ओ मेरा शव! वह देखो–विजय लकड़ी के कुन्दे पर बैठा हुआ रो रहा है और बाथम हँस रहा है। हाय! मेरा शव कुछ नहीं करता है–न रोता है, न हँसता है, तो मैं क्या हूँ! जीवित हूँ! चारों ओर ये कौन नाच रहे हैं, ओह! सिर में कौन धक्के मार रहा है! मैं भी नाचूँ–ये चुड़ैलें हैं और मैं भी! तो चलूँ वहाँ, आलोक है।

घण्टी अपना नया रेशमी साया नोचती हुई दौड़ पड़ी। अन्धकार में चल पड़ी। बाथम उस समय क्लब में था। मैजिस्ट्रेट की सिफ़ारिशी चिट्ठी की उसे अत्यन्त आवश्यकता थी। पादरी जॉन सोच रहा था–अपनी समाधि का पत्थर कहाँ से मँगाऊँ, उस पर क्रास कैसा हो!

उधर घण्टी–पागल घण्टी–अँधेरे में भाग रही थी।

५

फतहपुर सीकरी से अछनेरा जाने वाली सड़क के सूने अंचल में एक छोटा-सा जंगल है। हरियाली दूर तक फैली हुई है। यहाँ खारी नदी एक छोटी-सी पहाड़ी से टकराती हुई बहती है। यह पहाड़ी सिलसिला अछनेरा और सिंघापुर में बीच में है। जनसाधारण उस सूने कानन में नहीं जाते । कहीं-कहीं बरसाती पानी बहने के सूखे नाले अपना जर्जर कलेवर फैलाये पड़े हैं। बीच-बीच में ऊपर के टुकड़े निर्जल नालों से सहानुभूति करते हुए दिखाई दे जाते हैं। केवल ऊँची-ऊँची टेकरियों से उसकी बस्ती बसी है। वृक्षों के एक घने झुरमुट में लता-गुल्मों से ढँकी एक सुन्दर झोंपड़ी है। उसमें कई विभाग हैं। बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे पशुओं के झुंड बँधे हैं; उनमें गाय, भैंस घोड़े भी हैं। तीन-चार भयावने कुत्ते अपनी सजग आँखों से दूर-दूर बैठे पहरा दे रहे है। एक पूरा पशु-परिवार लिए गाला उस जंगल में सुखी और निर्भर रहती है। बदन गूजर,उस प्रान्त के भयानक मनुष्यों का मुखिया गाला का सत्तर बरस का बूढ़ा पिता है। वह अब भी अपने साथियों के साथ चढ़ाई पर जाता है। गाला की वयस यद्यपि बीस के ऊपर है, फिर भी कौमार्य के प्रभाव से वह किशोरी ही जान पड़ती है।

गाला अपने पक्षियों के चारे -पानी का प्रबन्ध कर रही थी। देख तो एक बुलबुल उस टुटे हुए पिंजड़े से निकल भागना चाहती है। अभी कल ही गाला ने उसे पकड़ा था। वह पशु -पक्षियों को पकड़ने और पालने में बड़ी चतुर थी। उसका यही खेल था। बदन गूजर जब बटेसर के मेले में सौदागर बनकर जाता, तब इसी गाला की देख-रेख में पले हुए जानवर उसे मुँहमाँगा दाम दे जाते। गाला अपने टूटे हुए पिंजड़े को तारों के टुकड़े और मोटे सूत से बाँध रही थी। सहसा एक बलिष्ठ युवक ने मुस्कराते हुए कहा– कितनों को पकड़कर सदैव के लिए बन्धन में जकड़ती रहोगी गाला!

हम लोगों की पराधीनता से बड़ी मित्रता है नये! इसमें बड़ा सुख मिलता है। वही सुख औरों को भी देना चाहती हूँ–किसी से पिता, किसी से भाई,ऐसा ही कोई सम्बन्ध जोडकर उन्हें उलझाना चाहती हूँ; किन्तु पुरुष इस जंगली बुलबुल से भी अधिक स्वतन्त्रता-प्रेमी हैं। वे सदैव छुटकारे का अवसर खोज लिया करते हैं। देखा न, बाबा जब होता है, चले जाते हैं। कब तक आवेंगे तुम जानते हो?

नहीं भला मैं क्या जानूँ! पर,तुम्हारे भाई को मैंने कभी नहीं देखा।

इसी से तो कहती हूँ नये! मैं जिसको पकड़कर रखना चाहती हूँ, वे ही लोग तो भागते हैं। जाने कहाँ संसार-भर का काम उन्हीं के सिर पर आ पड़ा है! मेरा भाई?–आह, कितनी चौड़ी छाती वाला युवक था! अकेले चार-चार घोड़ों को बीसों कोस सवारी में ले जाता। आठ-दस सिपाही कुछ न कर सकते। वह शेर -सा उनमें से तड़पकर निकल जाता। उसके सिखाये घोड़े सीढ़ियों पर चढ़ जाते। घोड़े उससे बातें करते, वह उनके मरम को जानता था।

तो क्या अब नहीं है?

नहीं है। मैं रोकती थी, बाबा ने न माना। एक लड़ाई में वह मारा गया! अकेले बीस सिपाहियों को उससे उलझा लिया, और सब निकल आये।

तो क्या मुझे आश्रम देनेवाले डाकू हैं?

तुम देखते नहीं, मैं जानवरों को पालती हूँ, और मेरे बाबा उन्हें मेले में ले जाकर बेचते हैं!—गाला का स्वर तीव्र और सन्देहजनक था।

और तुम्हारी माँ?

ओह! वह बड़ी लम्बी कहानी है,उसे न पूछो! —कहकर गाला उठ गई। एक बार अपने कुरते के अंचल से उसने आँख पोंछी,और एक श्यामा गौ के पास जा पहुँची। गौ ने सिर झुका दिया, गाला उसका सिर खुजलाने लगी। फिर उसके मुँह-से -मुँह सटाकर दुलार किया। उसके बछड़े का गला चूमने लगी। उसे भी छोड़कर एक साल-भर के बछड़े को जा पकड़ा । उसके बड़े-बड़े अयालों को अपनी ऊँगलियों से सुलझाने लगी। एक बार वह फिर अपने पशु-मित्रों में प्रसन्न हो गई। युवक चुपचाप एक वृक्ष की जड़ पर जा बैठा। आधा घण्टा न बीता होगा कि टापों के शब्द सुनकर गाला मुस्कराने लगी। उत्कण्ठा से उसका मुख प्रसन्न हो गया।

अश्वारोही आ पहुँचे। उनमें सबसे आगे उमर में सत्तर बरस का वृद्ध, परन्तु दृढ़ पुरुष था। क्रूरता उसकी धनी दाढ़ी और मूँछों के तिरछेपन से टपक रही थी। गाला ने उसके पास पहुँचकर घोड़े से उतरने में सहायता दी। वह भीषण बुड्ढा अपनी युवती कन्या को देखकर पुलकित हो गया । क्षण-भर के लिए न जाने कहाँ छिपी हुई मानवीय कोमलता उसके मुँह पर उमड़ आई! उसने पूछा—सब ठीक है न गाला !

हाँ बाबा!

बुड्ढे ने पुकारा—नये!

युवक समीप आ गया । बुड्ढे ने एक बार नीचे से ऊपर तक उसे देखा। युवक के ऊपर सन्देह का कोई कारण न मिला। उसने कहा--सब घोड़ों को मलवाकर चारे-पानी का प्रबन्ध कर दे।

बुड्ढे के तीन साथी और उस युवक ने मिलकर घोड़ों को मलना आरम्भ किया। बुड्ढा एक छोटी -सी मँचिया पर बैठकर तमाखू पीने लगा। गाला उसके पास खड़ी होकर उससे हँस-हँसकर बातें करने लगी। पिता और पुत्री दोनों प्रसन्न थे । बुड्ढे ने पूछा—गाला! यह युवक कैसा है?

गाला न जाने क्यों इस प्रश्न पर पहली बार लज्जित हुई। फिर सँभल कर उसने कहा—देखने में तो यह बड़ा सीधा और परिश्रमी है।

मैं भी ऐसी ही समझता हूँ। प्रायः जब हम लोग बाहर चले जाते हैं, तब तुम अकेली रहती हो।

बाबा! अब बाहर न जाया करो।

तो क्या यहीं बैठा रहूँ गाला ! मैं इतना बूढ़ा नहीं हो गया!

नहीं बाबा! मुझे अकेली छोड़कर न जाया करो।

पहले तू जब छोटी थी, तब तो नहीं डरती थी। अब क्या हुआ? और, अब तो यह 'नये' भी यहाँ रहा करेगा। बेटी! यह कुलीन युवक जान पड़ता है।

हाँ बाबा! किन्तु यह घोड़ों को मलना नहीं जानता- देखो सामने। पशुओं से इसे तनिक भी स्नेह नहीं है।बाबा! तुम्हारे साथी भी बड़े निर्दयी हैं। एक दिन मैंने देखा कि सुख से चरते हुए एक बकरी के बच्चे को इन लोगों ने समूचा ही भून डाला! ये सब बड़े डरावने लगते हैं। तमु भी उन्ही में मिल जाते हो।

चुप पगली!अब बहुत विलम्ब नहीं–मैं इन सबसे अलग हो जाऊँगा । अच्छा तो बता, इस नये को रख लूँ न? –बदन गम्भीर दृष्टि से गाला की ओर देख रहा या।

गाला ने कहा–अच्छा तो है बाबा! बेचारा दुख का मारा है।

एक चाँदनी रात थी। बरसात से धुला हुआ जंगल अपनी गंभीरता में डूब रहा था। नाले के तट पर बैठे हुए नये निर्निमेष दृष्टि से उस हृदय -विमोहन चित्र पट को देख रहा था! उसके मन में कितनी बीती हुई स्मृतियाँ स्वर्गीय नृत्य करती हुई चली जा रही थीं। वह अपने फटे हुए कोट को टटोलने लगा। सहसा उसे एक बाँसुरी मिल गई –जैसे कोई खोई हुई निधि मिली। वह प्रसन्न होकर बजाने लगा। बंसी के विलम्बित मधुर स्वर से सोई हुई वनलक्ष्मी को जगाने लगा। वह अपने स्वर में आप ही मस्त हो रहा था। उसी समय गाला न जाने कैसे उसके समीप आकर खड़ी हो गई । नये ने बंसी बजाना बन्द कर दिया। वह भयभीत होकर देखने लगा।

गाला ने कहा–तुम जानते हो कि यह कौन स्थान है?

जंगल है, मुझसे भूल हुई।

नहीं, यह ब्रज की सीमा के भीतर है। यहाँ चाँदनी रात में बाँसुरी बजाने से गोपियों की आत्माएँ, मचल उठती हैं। तुम कौन हो गाला!

मैं नहीं जानती; पर मेरे मन में भी ठेस पहुँचती है।

तब मैं न बजाऊँगा।

नहीं नये! तुम बजाओ, बड़ी सुन्दर बजती थी। हाँ, बाबा कदाचित् क्रोध करें।

अच्छा, तुम रात को यों ही निकलकर घूमती हो। इस पर तुम्हारे बाबा क्रोध न करेंगे?

हम लोग जंगली हैं। अकेले तो मैं कभी कभी आठ-आठ, दस-दस दिन इसी जंगल में रहती हूँ।

अच्छा, तुम्हें गोपियों की बात कैसे मालूम हुई? क्या तुम लोग हिन्दू हो? इन गूजरों से तो तुम्हारी भाषा भिन्न है!

आश्चर्य से देखती हुई गाला ने कहा–क्यों, इसमें भी तुमको सन्देह है! मेरी माँ मुगल होने पर भी कृष्ण से अधिक प्रेम करती थी। अहा नये! मैं किसी दिन उसकी जीवनी सुनाऊँगी। वह..

गाला! तब तुम मुगलानी माँ से उत्पन्न हुई हो!

क्रोध से देखती हुई गाला ने कहा–तुम यह क्यों नहीं कहते कि हम लोग मनुष्य हैं।

जिस सहृदयता से तुमने मेरी विपत्ति में सेवा की है, गाला! उसे देखकर तो मैं कहूँगा कि तुम देव-बालिका हो! –नये का हृदय सहानुभूति की स्मृति से भर उठा था।

नहीं-नहीं, मैं तुमको अपनी माँ की लिखी हुई जीवनी पढ़ने को दूँगी और तब तुम समझ जाओगे। चलो, रात अधिक बीत रही है, पुआल पर सो रहो।–गाला ने नये का हाथ पकड़ लिया; दोनों उस चन्द्रिका-धौत शुभ्र रजनी से भीगती हुई झोंपड़ी की ओर लौटे। उनके चले जाने के बाद वृक्षों की आड़ से बूढ़ा बदन गूजर भी निकला और उनके पीछे-पीछे चला।

प्रभात चमकने लगा था। जंगली पक्षियों के कलनाद से कानन-प्रदेश गुंजरित था। गाला चारे-पानी के प्रबन्ध में लगी थी। बदन ने नये को बुलाया। वह आकर सामने खड़ा हो गया। बदन ने उससे बैठने के लिए कहा। उसके बैठ जाने पर गूजर कहने लगा–

जब तुम भूख से व्याकुल, थके हुए, भयभीत, सड़क से हटकर पेड़ के नीचे पड़े हुए आधे अचेत थे, उस समय किसने तुम्हारी रक्षा की थी?

आपने!–नये ने कहा।

तुम जानते हो कि हम लोग डाकू हैं, हम लोगों को माया ममता नहीं! परन्तु हमारी निर्दयता भी अपना निर्दिष्ट पथ रखती है, वह है केवल धन लेने के लिए। भेद यही है कि धन लेने का दूसरा उपाय हम लोग काम में नहीं लाते, दूसरे उपायों को हम लोग अधम समझते हैं–धोखा देना, चोरी करना, विश्वासघात करना, यह सब तो तुम्हारे नगरों के सभ्य मनुष्यों की जीविका के सुगम उपाय हैं, हम लोग उनसे घृणा करते हैं।

और भी, तुम वृन्दावन वाले खून के एक भागे हुए असामी हो –हो न?–कहकर बदन तीखी दृष्टि से नये छिपना चाहते हो। अच्छा सुनो, हम लोग जिसे अपनी शरण में ले लेते हैं, उससे विश्वासघात नहीं करते। आज तुमसे एक बात साफ़ कह देना चाहता हूँ। देखो, गाला सीधी लड़की है, संसार के कतर-ब्योंत वह नहीं जानती, तथापि यदि वह निसर्ग-नियम से किसी युवक को प्यार करने लगे, तो इसमें आश्चर्य नहीं । संभव है, वह मनुष्य तुम्हीं हो जाओ, इसलिए तुम्हें सचेत करता हूँ कि सावधान! उसे धोखा न देना। हाँ, यदि तुम कभी प्रमाणित कर सकोगे कि तुम उसके योग्य हो,तो फिर देखा जाएगा! समझा!

बदन चला गया। उसकी प्रौढ़ कर्कश वाणी, नये के कानों में वज्र-गम्भीर स्वर से गूँजने लगी। वह बैठ गया और अपने जीवन का हिसाब लगाने लगा।

बहुत विलम्ब तक वह बैठा रहा। तब गाला ने उससे कहा–आज तुम्हारी रोटी पड़ी रहेगी, क्या खाओगे नहीं?

नये ने कहा–मैं तुम्हारी माता की जीवनी पढ़ना चाहता हूँ। तुमने मुझे दिखाने के लिए कहा था न!

ओहो, तो तुम रूठना भी जानते हो! अच्छा खा लो, मान जाओ, मैं तुम्हें दिखला दूँगी। –कहती हुई गाला ने वैसा ही अभिनय किया, जैसे किसी बच्चे को मनाते हुए स्त्रियाँ करती हैं। यह देखकर नये हँस पड़ा। उसने पूछा–अच्छा कब दिखाओगी?

लो तुम खाने लगो, मैं जाकर ले आती हूँ।
नये अपने रोटी-मठे की ओर चला और गाला अपने घर में।

६

शीतकाल के वृक्षों से छनकर आती हुई धूप, बड़ी प्यारी लग रही थी। नये पैरों पर पैर धरे, चुपचाप गाला को दी हुई, चमड़े से बँधी एक छोटी -सी पुस्तक को आश्चर्य से देख रहा था। वह प्राचीन नागरी में लिखी हुई थी। उसके अक्षर सुन्दर तो न थे; पर थे बहुत स्पष्ट। नये कुतूहल से उसे पढ़ने लगा—

मेरी कथा

बेटी गाला! तुझे कितना प्यार करती हूँ, इसका अनुमान तुझे छोड़कर दूसरा नहीं कर सकता। बेटा भी मेरे ही हृदय का टुकड़ा है; पर वह अपने बाप के रंग मे रँग गया—पक्का गूजर हो गया!पर मेरी प्यारी गाला! मुझे भरोसा है कि तू मुझे न भूलेगी। जंगल के कोने में बैठी हुई, एक भयानक पति की पत्नी अपने बाल्यकाल की मीठी स्मृति से यदि अपने मन को न बहलावे, तो दूसरा उपाय क्या है? गाला ! सुन, वर्तमान सुख के अभाव में पुरानी स्मृतियों का धन, मनुष्य को पल-भर के लिए सुखी कर सकता है, और तुझे भी अपने जीवन में आगे चलकर कदाचित् इससे सहायता मिले, इसीलिए मैंने तुझे थोड़ा-सा पढ़ाया और इसे लिखकर छोड़ जाती हूँ—

मेरी माँ मुझे बड़े गर्व से गोद में बैठाकर बड़े दुलार से मुझे अपनी बीती सुनाती, उन्हीं बिखरी हुई बातों को इकट्ठी करती हूँ। अच्छा तो सुनो मेरी कहानी—

मेरे पिता का नाम मिरजा जमाल था। वे मुग़ल-वंश के एक शहजादे थे। मथुरा और आगरा के बीच में ,उनकी जागीर के कई गाँव थे; पर वे प्रायः दिल्ली में ही रहते। कभी-कभी सैर-शिकार के लिए जागीर पर चले आते । उन्हें प्रेम था शिकार से और हिन्दी-कविता से। सोमदेव नामक एक चौबे उनका मुसाहिब और कवि था। वह अपनी हिन्दी-कविता सुनाकर उन्हें प्रसन्न रखता। मेरे पिता को संस्कृत और फ़ारसी से भी प्रेम था। वे हिन्दी के मुसलमान कवि जायसी के पूरे भक्त थे। सोमदेव इसमें उनका बराबर साथ देता। मैंने भी उसी से हिन्दी पढ़ी। क्या कहूँ, वे दिन बड़े चैन के दिन थे! पर आपदाएँ भी पीछा कर रही थीं।

एक दिन मिरजा जमाल अपनी छावनी से दूर ताम्बूल -वीथी में बैठे हुए, वैशाख के पहले के कुछ-कुछ गरम पवन से सुख का अनुभव कर रहे थे। ढालुवें टीले पर पान की खेती, उन पर सुढार छाजन, देहात के निर्जन वातावरण को सचित्र बना रही थी। उसी से सटा हुआ, कमलों में भरा एक छोटा-सा ताल था, जिसमें से भीनी-भीनी सुगन्ध उठकर मस्तक को शीतल कर देती। कलनाद करते हुए कभी-कभी पुरइनों से उड़ जाने पर ही जलपक्षी

अपने अस्तित्व का परिचय दे देते। सोमदेव ने जलपान की सामग्री सामने रखकर पूछा--क्या आज यहीं दिन बीतेगा?

हाँ, देखो, ये लोग कितने सुखी हैं सोमदेव । इन देहाती गृहस्थों में भी कितनी आशा है, कितना विश्वास है। अपने परिश्रम में इन्हें कितनी तृप्ति है!

यहाँ छावनी है, अपनी जागीर में सरकार ? रोब से रहना चाहिए। दूसरे स्थान पर चाहे जैसे रहिए।—सोमदेव ने कहा।

सोमदेव सहचर, सेवक और उनकी सभा का पण्डित भी था। वह मुँहलगा भी था, कभी-कभी उनसे उलझ भी जाता; परन्तु वह हृदय से उनका भक्त था। उनके लिए प्राण दे सकता था।

चुप रहो सोमदेव ? यहाँ मुझे, हृदय की खोई हुई शान्ति का पता चल रहा है। तुमने देखा होगा, पिताजी कितने यत्न से संचय कर यह सम्पत्ति छोड़ गये हैं। मुझे उस धन से पेम करने की शिक्षा, वे उच्चकोटि की दार्शनिक शिक्षा की तरह गम्भीरता से आजीवन देते रहे। आज उसकी परीक्षा हो रही है। मैं पूछता हूँ कि हृदय में जितनी मधुरिमा है, कोमलता है, वह सब क्या केवल एक तरुणी सुन्दरता की उपासना की सामग्री है? इसका और कोई उपयोग नहीं? हँसने के जो उपकरण हैं, वे किसी झलमले अंचल में ही अपना मुँह छिपाए किसी आशीर्वाद की आशा में पड़े रहते हैं? संसार में स्त्रियों का क्या इतना व्यापक अधिकार है?

सोमदेव ने कहा—आपके पास इतनी सम्पत्ति है कि अभाव की शंका व्यर्थ है। जो चाहिए कीजिए। वर्तमान जगत का शासक, प्रत्येक प्रश्नों का समाधान करनेवाला विद्वान, धन तो आपका चिर सहचर और विश्वस्त है ही? चिन्ता क्या?

मिरजा जमाल ने जलपान करते हुए प्रसंग बदल दिया। कहा--आज तुम्हारे बादाम की बरफी में कुछ कड़वे बादाम थे।

तमोली ने टट्टर के पास ही भीतर , दरी बिछा दी थी। मिरजा चुपचाप सामने फूले हुए कमलों को देखते थे। ईख की सिंचाई के पुरवट के शब्द दूर से उस निस्तब्धता को भंग कर देते थे। पवन की गरमी से टट्टर बन्द कर देने पर भी उस सरपत की झँझरी से बाहर का दृश्य दिखलाई पड़ता था। ढालुवीं भूमि में तकिए की आवश्यकता न थी। पास ही आम के नीचे कम्बल बिछाकर दो सेवकों के साथ सोमदेव बैठा था। मन में सोच रहा था— यह सब रुपये की सनक है!

ताल के किनारे, पत्थर की शिला पर, महुए की छाया में एक किशोरी और एक खसखसी दाढ़ीवाला मनुष्य, लम्बी सारंगी लिए, विश्राम कर रहे थे। बालिका की वयस चौदह वर्ष से ऊपर नहीं; पुरुष पचास के समीप। वह देखने से मुसलमान जान पड़ता था। दिहाती दृढ़ता उसके अंग-अंग से झलकती थी। घुटनों तक हाथ-पैर धो, मुँह पोंछकर एक बार अपने में आकर उसने आँखें फाड़कर देखा—उसने कहा—शबनम! देखो, यहाँ कोई अमीर टिका मालूम पडता है। ठंडी हो चुकी हो, तो चलो बेटी! कुछ मिल जाय तो अचरज नहीं।

शबनम वस्त्र सँवारने लगी, उसकी सिकुड़न छुड़ाकर अपनी वेशभूषा को ठीक कर लिया। आभूषणों में दो-चार काँच की चूड़ियाँ और नाक में नथ, जिसमें लटका मोती अपनी फाँसी छुड़ाने के लिए छटपटाता था। टट्टर के पास पहुँच गए। मिरजा ने देखा—बालिका की वेशभूषा में कोई विशेषता नहीं परन्तु परिष्कार था। उसके पास कुछ नहीं था—वसन, अलंकार या भादों की भरी हुई नदी-सा यौवन। कुछ नहीं, थीं केवल दो-तीन कलामयी मुख-रेखाएँ—जो आगामी सौन्दर्य की बाह्य रेखाएँ थीं, जिनमें यौवन का रंग भरना कामदेव ने अभी बाकी रख छोड़ा था। कई दिन का पहना हुआ वसन भी मलिन हो चला था; पर कौमार्य में उज्ज्वलता थी। और यह क्या! सूखे कपोलों में दो-दो, तीन-तीन लाल मुँहासे। तारुण्य जैसे अभिव्यक्ति का भूखा था, अभाव अभाव!'—कहकर जैसे उसकी सुरमई आँखों में पुकार उठता था। मिरजा कुछ सिर उठाकर झँझरी से देखने लगा।

सरकार! कुछ सुनाऊँ? —दाढ़ीवाले ने हाथ जोड़कर कहा।

सोमदेव ने बिगड़कर कहा—जाओ अभी सरकार विश्राम कर रहे हैं।

तो हम लोग भी बैठे जाते हैं, आज तो पेट भर जाएगा—कहकर वह सारंगी वाला वहाँ की भूमि झाड़ने लगा।

झुँझलाकर सोमदेव ने कहा—तुम भी एक विलक्षण मूर्ख हो! कह दिया न, जाओ।

सेवक ने भी गर्व से कहा—तुमको मालूम नहीं, सरकार भीतर लेटे हैं। घबराकर सारंगीवाले ने पूछा—कौन सरकार?

शहजादे मिरजा जमाल ।

कहाँ हैं?

यहीं, इसी टट्टी में है, धूप कम होने पर बाहर निकलेंगे।

भाग खुल गए भय्या! मैं चुपचाप बैठता हूँ—कहकर दाढ़ीवाला बिना परिष्कृत की हुई भूमि पर बैठकर आँखें मटकाकर शबनम को संकेत करने लगा।

शबनम अपने एक ही वस्त्र को और भी मलिन होने से बचाना चाहती थी, उसकी आँखें स्वच्छ स्थान और आड़ खोज रही थीं। उसके हाथ में अभी का तोड़ा हुआ कमलगट्टा था। सबकी आँखें बचाकर वह उसे चख लेना चाहती थी। सहसा टट्टर खुला।

मिरजा ने कहा—सोमदेव!

सेवक दौड़ा, सोमदेव उठ खड़ा हुआ। मिरजा ने आँखों से पूछा— ये कौन लोग हैं? जैसे बिलकुल अनजान।

सारंगीवाला उठ खड़ा हुआ था। उसने कई आदाब बजाकर और सोमदेव को कुछ बोलने का अवसर न देते हुए कहा—सरकार! जाचक हूँ, बड़े भाग से दर्शन हुए।

मिरजा को इतने से सन्तोष न हुआ। उन्होंने मुँह बन्द किये, फिर सिर हिलाकर कुछ और जानने की इन्छा प्रकट की। सोमदेव ने दरबारी ढंग से डाँटकर कहा —तुम कौन हो जी, साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताते?

मैं ढाढी हूँ।

और, यह कौन है?

मेरी लड़की शबनम।

शबनम क्या?

शबनम ओस को कहते हैं पण्डितजी।–मुस्कराते हुए मिरजा ने कहा और एक बार शबनम की ओर भली-भाँति देखा। तेजस्वी श्रीमान की आँखों से मिलते ही, दरिद्र शबनम की आँखें पसीने-पसीने हो गईं। मिरजा ने देखा उन आकाश-सी नीली आँखों में सचमुच ओस की बूँदें छा गई थीं।

अच्छा, तुम लोग क्या करते हो?—मिरजा ने पूछा।

यही गाती है, इसी से हम दोनों का पापी पेट चलता है।

मिरजा की इच्छा गाना सुनने की न थी; परन्तु शबनम अब तक कुछ बोली नहीं थी; केवल इसीलिए सहसा उन्होंने कहा–अच्छा सुनूँ तो तुम लोगों का गाना। तुम्हारा नाम क्या है जी?

रहमत खाँ, सरकार!–कहकर वह अपनी सारंगी मिलाने लगा। शबनम बिना किसी से कुछ पूछे, आकर कम्बल पर बैठ गई। सोमदेव झुँझला उठा; पर कुछ बोला नहीं।

शबनम गाने लगी–

पसे मर्ग मेरी मजार पर जो दिया किसी ने जला दिया।
उसे आह! दामने बाद में सरेशाम ही से बुझा दिया!

इसके आगे जैसे शबनम को भूल गया था। वह इसी पद्य को कई बार गाती रही। उसके संगीत में कला न थी, करुणा थी। पीछे से रहमत उसके भूले हुए अंश को स्मरण दिलाने के लिए गुनगुना रहा था; पर शबनम के हृदय का रिक्त अंश मूर्तिमान होकर जैसे उसकी स्मरण-शक्ति के सामने अड़ जाता था। झुँझलाकर रहमत ने सारंगी रख दी। विस्मय से शबनम ने पिता की ओर देखा, उसकी भोली-भाली आँखों ने पूछा–क्या कुछ भूल हो गई? चतुर रहमत उस बात को पी गया । मिरजा जैसे स्वप्न से चौंके, उन्होंने देखा–सचमुच सन्ध्या से ही बुझा हुआ स्नेहविहीन दीपक सामने पड़ा है। मन में आया, उसे भर दूँ। कहा–रहमत, तुम्हारी जीविका का अवलम्ब तो बड़ा दुर्बल है?

सरकार, पेट नहीं भरता, दो बीघा ज़मीन से क्या होता है?

मिरजा ने कौतुक से कहा–तो तुम लोगों को कोई सुखी रखना चाहे, तो रह सकते हो?

रहमत के लिए जैसे छप्पर से किसी ने आनन्द बरसा दिया। वह भविष्य की सुखमयी कल्पनाओं से पागल हो उठा। क्यों नहीं सरकार! आप गुनियों की परख रखते हैं।

सोमदेव ने धीरे से कहा–वेश्या है सरकार।

मिरजा ने कहा–दरिद्र हैं।

सोमदेव ने विरक्त होकर सिर झुका लिया।

कई बरस बीत गए।

शबनम मिरजा के महल में रहने लगी थी।

सुन्दरी! सुन्दरी! ओ बँदरी ! यहाँ तो आ!

आई! —कहती हुई एक चंचल छोकरी हाथ बाँधे सामने आकर खड़ी हो गई। उसकी भवें हँस रही थीं। वह अपने होंठों को बड़े दबाव से रोक रही थी।

देखो तो आज इसे क्या हो गया है। बोलती ही नहीं, मन मारे बैठी है।

नहीं मलका! चारा-पानी रख देती हूँ। मैं तो इससे डरती हूँ। और कुछ नहीं करती।

फिर इसको क्या हो गया है, बतला नहीं तो सिर के बाल नोच डालूँगी।

सुन्दरी को विश्वास था कि मलका कदापि ऐसा नहीं कर सकती। वह ताली पीटकर हँसने लगी और बोली—मैं समझ गई!

उत्कण्ठा से मलका ने कहा—तो बताती क्यों नहीं?

जाऊँ सरकार को बुला लाऊँ, वे ही इसके मरम की बात जानते हैं।

सच कह, वे कभी इसे दुलार करते हैं, पुचकारते हैं? मुझे तो विश्वास नहीं होता।

हाँ।

तो मैं ही चलती हूँ तू इसे उठा ले।

सुन्दरी ने महीन सोने के तारों से बना हुआ पिंजरा उठा लिया, और शबनम आरक्त कपोलों पर का श्रम-सीकर पोंछती हुई, उसके पीछे-पीछे चली।

उपवन की कुंज गली परिमल से मस्त हो गई। फूलों ने मकरन्द -पान करने के लिए अधरों-सी पंखड़ियाँ खोलीं। मधुप लड़खड़ाए। मलयानिल सूचना देने के लिए आगे-आगे दौड़ने लगा।

लोभ! सो भी धन का! ओह! कितना सुन्दर सर्प भीतर फुफकार रहा है। कोहनूर का सीसफूल गजमुक्ताओं की एकावली बिना अधूरा है, क्यों? वह तो कंगाल थी। वह मेरी कौन है?

कोई नहीं सरकार!—कहते हुए सोमदेव ने विचार में बाधा उपस्थित कर दी!

हाँ, सोमदेव मैं भूल कर रहा था।

बहुत-से लोग वेदान्त की व्याख्या करते हुए ऊपर से देवता बन जाते हैं और भीतर उसके वह नोच-खसोट चला करता है। जिसकी सीमा नहीं।

वही तो सोमदेव! कंगाल को सोने में नहला दिया; पर उसका कोई तत्काल फल न हुआ—मैं समझता हूँ वह सुखी न हो सकी।

सोने की परिभाषा कदाचित् सबके लिए भिन्न-भिन्न हो! कवि कहते हैं—सवेरे की किरणें सुनहली हैं, राजनीति-विशारद —सुन्दर राज्य को, सुनहला शासन कहते हैं। प्रणयी यौवन में सुनहरा पानी देखते हैं, और माता अपने बच्चे के सुनहले बालों के गुच्छों पर सोना लुटा देती है। यह कठोर, निर्दय, प्राणहारी पीला सोना ही तो सोना नहीं है।—सोमदेव ने कहा।

सोमदेव ! कठिन परिश्रम से, लाखों बरस से, नये-नये उपाय से , मनुष्य पृथ्वी से सोना निकाल रहा है; पर वह भी किसी-न-किसी प्रकार फिर पृथ्वी में जा घुसता है। मैं सोचता हूँ कि इतना धन क्या होगा! लुटाकर देखूँ?

सब तो लुटा दिया, अब कुछ कोष में है भी!

क्या!—आश्चर्य से मिरजा ने पूछा।

संचित धन अब नहीं रहा।

क्या वह सब प्रभात के झरते हुए ओस की बूँदों में अरुण किरणों की छाया थी। और, मैंने जीवन का कुछ सुख भी नहीं लिया।

सरकार! सब सुख सबके पास एक साथ नहीं आते, नहीं तो विधाता को सुख बाँटने मे बड़ी बाधा उपस्थित हो जाती!

चिढ़कर मिरजा ने कहा—जाओ!

सोमदेव चला गया, और मिरजा एकान्त में जीवन की गुत्थियों को सुलझाने लगे। वापी के मरकत जल को निर्निमेष देखते हुए वे संगमर्मर के उसी प्रकोष्ठ के सामने निश्चेष्ट थे, जिसमें बैठे थे।

नूपुर की झनकार ने स्वप्न भंग कर दिया—

देखो तो इसे हो क्या गया है, बोलता नहीं क्यों। तुम चाहो तो यह बोल दे।

ऐं! इसका पिंजड़ा तो तुमने सोने से लाद लिया है! मलका! बहुत हो जाने पर भी सोना-सोना ही है! ऐसा दुरुपयोग!

तुम इसे देखो तो, क्यों दुखी है?

ले जाओ, जब मैं अपने जीवन के प्रश्नों पर विचार कर रहा हूँ, तब तुम यह खिलवाड़ दिखाकर मुझे भुलवाना चाहती हो!

मैं तुम्हें भुलवा सकती हूँ! —मिरजा का यह रूप शबनम ने कभी नहीं देखा था । वह उनके गर्म आलिंगन, प्रेम-पूर्ण चुम्बन और स्निग्ध दृष्टि से सदैव ओत-प्रोत रहती थी—आज अचानक यह क्या। संसार अब तक उसके लिए एक सुनहली छाया और जीवन एक मधुर स्वप्न था। खंजरीट मोती उगलने लगे।

मिरजा को चेतना हुई—इसी शबनम को प्रसन्न करने के लिए तो वह कुछ विचारता-सोचता है, फिर यह क्या! यह क्या-मेरी एक बात भी यह हँसकर नहीं उड़ा सकती, झट उसका प्रतिकार ! उन्होंने उत्तेजित होकर कहा—सुन्दरी! उठा ले मेरे सामने से पिंजरा, नहीं तो तेरी भी खोपड़ी फूटेगी और यह तो टूटेगा ही!

सुन्दरी ने बेढब रंग देखा, वह पिंजरा लेकर चली। मन में सोचती जाती थी—आज यह क्या! मन-बहलाव न होकर यह काण्ड कैसा!

शबनम तिरस्कार न सह सकी, वह मर्माहत होकर श्वेत प्रस्तर के स्तम्भ से टिककर सिसकने लगी। मिरजा ने अपने मन को धिक्कारा। रोनेवाली मलका ने उसके अकारण अकरुण हृदय को द्रवित कर दिया। उन्होंने मलका को मनाने की चेष्टा की; पर मानिनी का दुलार हिचकियाँ लेने लगा। कोमल उपचारों ने मलका को जब बहुत समय बीतने पर स्वस्थ किया, तब आँसू के सूखे पद-चिह्न पर हँसी की दौड़ धीमी थी, बात बदलने के लिए मिरजा ने कहा—मलका, आज अपना सितार सुनाओ, देखें अब तुम कैसा बजाती हो?

नहीं, तुम हँसी करोगे और मैं फिर दुःखी होऊँगी।

तो मैं समझ गया, जैसे तुम्हारा बुलबुल एक ही आलाप जानता है—वैसे ही तुम अभी तक वही भैरवी की एक तान जानती होगी—कहते हुए मिरजा बाहर चले गए। सामने सोमदेव मिला, मिरजा ने कहा, सोमदेव! कंगाल धन का आदर करना नहीं जानते।

ठीक है श्रीमान, धनी भी तो सबका आदर करना नहीं जानते, क्योंकि सबके आदरों के प्रकार भिन्न है। जो सुख-सम्मान आपने शबनम को दे रक्खा है, वही यदि किसी कुलवधू को मिलता!

वह वेश्या तो नहीं है...। फिर भी सोमदेव, सब वेश्याओं को देखो—उनमें कितनों के मुख सरल हैं, उनकी भोली-भाली आँखें रो-रोकर कहती हैं, मुझे पीट-पीटकर चंचलता सिखाई गई है। मेरा विश्वास है कि उन्हें अवसर दिया जाए तो वे कितनी ही कुलवधुओं से किसी बात में कम न होतीं!

मेरा ऐसा अनुभव नहीं, परीक्षा करके देखिए।

अच्छा तो तुमको पुरोहिती करनी होगी। निकाह कराओगे न?

अपनी कमर टटोलिए, मैं प्रस्तुत हूँ—कहकर सोमदेव ने हँस दिया। मिरजा मलका के प्रकोष्ठ की ओर चले।

सब आभूषण और मूल्यवान वस्तु सामने एकत्र कर मलका बैठी है। रहमत ने सहसा आकर देखा, उसकी आँखें चमक उठीं। उसने कहा—बेटी यह सब क्या?

इन्हें सहेज देना होगा।

किसे? क्या मैं इन्हें घर ले जाऊँ?

नहीं, जिसका है उसे।

पागल तो नहीं हो गई है—मिला हुआ भी कोई यों ही लौटा देता है।

चुप रहो बाबा!

उसी समय मिरजा ने भीतर आकर यह देखा। उसकी समझ में कुछ न आया। उत्तेजित होकर उन्होंने कहा—रहमत! क्या यह सब घर बाँध ले जाने का ढंग था।

रहमत आँखें नीची किए चला गया; पर मलका शबनम लाल हो गई। मिरजा ने सम्हलकर उससे पूछा—यह सब क्या है मलका!

तेजस्विता से शबनम ने कहा—यह सब मेरी वस्तुएँ हैं, मैंने रूप बेचकर पायी हैं, क्या इन्हें घर न भेजूँ!

चोट खाकर मिरजा ने कहा—अब तुम्हारा दूसरा घर कौन है, शबनम ! मैं तुमसे निकाह करूँगा।

ओह! तुम अपनी मूल्यवान वस्तुओं के साथ मुझे भी अपनी सन्दूक़ में बन्द किया चाहते हो! तुम अपनी सम्पत्ति सहेज लो, मैं अपने को सहेजकर देखूँ!

मिरजा मर्माहत होकर चले गए।

सादी धोती पहने सारंगी उठाकर हाथ में देते हुए, रहमत से शबनम ने कहा—चलो बाबा।

कहाँ बेटी! अब तो मुझसे यह न हो सकेगा, और तुमने भी कुछ न सीखा—क्या करोगी मलका?

नहीं बाबा! शबनम कहो। चलो, जो सीखा है वह गाना तो मुझे भूलेगा नहीं, और भी सिखा देना। अब यहाँ एक पल नहीं ठहर सकती!

बुड्ढे ने दीर्घ निःश्वास लेकर सारंगी उठायी। वह आगे-आगे चला।

उपवन में आकर शबनम रुक गई। मधुमास था, चाँदनी रात थी। वह निर्जनता सौरभ-व्याप्त हो रही थी। शबनम ने देखा, ऋतुरानी शिरीष के फूलों की कोमल तूलिका से विराट् शून्य में अलक्ष्य चित्र बना रही थी। वह खड़ी न रह सकी, जैसे किसी धक्के से खिड़की के बाहर हो गई।

इस घटना को बारह वर्ष बीत गए थे; रहमत अपनी कच्ची दालान में बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। उसने अपने इकट्ठे किए हुए रुपयों से और भी बीस बीघा खेत ले लिया था। गाँव में अब वह एक अच्छा किसान था। मेरी माँ शबनम चावल फटक रही थी और मैं बैठी हुई अपनी गुड़ियाँ खेल रही थी। अभी संध्या नहीं हुई थी। मेरी माँ ने कहा—बानो, तू अभी खेलती ही रहेगी,आज तूने कुछ भी न पढ़ा। —रहमत खाँ, मेरे नाना ने कहा—शबनम, उसे खेल लेने दे बेटी; खेलने के दिन फिर नहीं आते—मैं यह सुनकर प्रसन्न हो रही थी, कि एक सवार नंगे सिर अपना घोड़ा दौड़ाता हुआ दालान के सामने आ पहुँचा और उसने बड़ी दीनता से कहा—मियाँ रात-भर के लिए मुझे जगह दो, मेरे पीछे डाकू लगे हैं!

रहमत ने धुआँ छोड़ते हुए कहा—भई, थके हो तो थोड़ी देर ठहर सकते हो; पर डाकुओं से तो तुम्हें हम बचा नहीं सकते।

यही सही —कहकर सवार घोड़े से कूद पड़ा। मैं तो बाहर ही थी, कुतूहल से पथिक का मुँह देखने लगी। बाध की खाट पर वह हाँफते हुए बैठा। सन्ध्या हो रही थी। तेल का दीपक लेकर मेरी माँ उस दालान में आई। वह मुँह फिराये हुए दीपक रखकर चली गई। सहसा मेरे बुड्ढे नाना को जैसे पागलपन हो गया, खड़े होकर पथिक को घूरने लगे। पथिक ने भी देखा और चौंककर पूछा—रहमत, यह तुम्हारा ही घर है?

हाँ मिरजा साहब!

इतने में एक और मनुष्य हाँफता हुआ आ पहुँचा; वह कहने लगा—सब उलट-पलट हो गया। मिरजा! आज देहली का सिंहासन मुग़लों के हाथ से बाहर है। फिरंगी की दोहाई है, कोई आशा न रही।

मिरजा जमाल् मानसिक पीड़ा से तिलमिलाकर उठ खड़े हुए, मुट्ठी बाँधे टहलने लगे और बुड्ढा रहमत हतबुद्धि होकर उन्हें देखने लगा। भीतर मेरी माँ यह सब सुन रही थी, वह बाहर झाँककर देखने लगी। मिरजा की आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं। तलवार की मूठों पर, कभी मूँछों पर, हाथ चंचल हो रहा था, सहसा वे बैठ गये और उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। वे बोल उठे —मुग़लों की विलासिता ने राज को खा डाला। क्या हम सब बाबर की सन्तान हैं? आह!

मेरी माँ बाहर चली गई। रात की अँधेरी बढ़ रही थी। भयभीत होकर यह सब आश्चर्यमय व्यापार देख रही थी! माँ धीरे-धीरे आकर मिरजा के सामने खड़ी हो गई और

उनके आँसू पोंछने लगी। उस स्पर्श से मिरजा के शोक की ज्वाला जब शांत हुई, तब उन्होंने क्षीण स्वर में कहा—शबनम!

वह बड़ा करुणाजनक दृश्य था। मेरे नाना रहमत खाँ ने कहा—आओ सोमदेव! हम लोग दूसरी कोठरी में चलें। वे दोनों चले गये। मैं चुप बैठी थी। मेरी माँ ने कहा—अब शोक करके क्या होगा, धीरज को आपदा में न छोड़ना चाहिए। यह तो मेरा भाग है कि इस समय मैं तुम्हारी सेवा के लिए किसी तरह मिल गई। अब सब भूल जाना चाहिए। जो दिन बचे हैं, मालिक के नाम पर काट लिए जाएँगे।

मिरजा ने एक लम्बी साँस लेकर कहा—शबनम? मैं एक पागल था—मैंने समझा था, मेरे सुखों का अन्त नहीं; पर आज?

कुछ नहीं, कुछ नहीं, मेरे मालिक! सब अच्छा है, सब अच्छा होगा। उसकी दया में सन्देह न करना चाहिए।

अब मैं भी पास चली आई थी, मिरजा ने मुझे देखकर संकेत से पूछा। माँ ने कहा—इसी दुखिया को छः महीने का पेट में लिए मैं यहाँ आई थी, और यहीं धूल-मिट्टी में खेलती हुई यह इतनी बड़ी हुई। मेरे मालिक! तुम्हारे विरह में यही तो मेरी आँखों की ठंडक थी—तुम्हारी निशानी! मिरजा ने मुझे गले से लगा लिया। माँ ने कहा—बेटी? यही तेरे पिता हैं। मैं न जाने क्यों रोने लगी! हम सब मिलकर बहुत रोये, उस रोने में बड़ा सुख था। समय ने एक साम्राज्य को हाथों में लेकर चूर कर दिया, हम लोगों के दिन सुख से बीतने लगे।

गाँव-भर में मिरजा के आ जाने से एक आतंक छा गया। मेरे नाना का बुढ़ापा चैन से कटने लगा। सोमनाथ मुझे हिन्दी पढाने लगे, और मैं, माता-पिता की गोद के सुख में बढ़ने लगी।

सुख के दिन बड़ी शीघ्रता से खिसकते हैं। एक बरस के सब महीने देखते-देखते बीत गये। एक सन्ध्या में हम सब लोग अलाव के पास बैठे थे। किवाड़े बंद थे। सरदी से कोई उठना नहीं चाहता था। ओस से भीगी रात भारी मालूम होती थी। धुआँ ओस के बोझ से ऊपर नहीं उठ सकता था। सोमनाथ ने कहा—आज बरफ पडेगा, ऐसा रंग है। उसी समय बुधुआ ने आकर कहा—और डाका भी।

सब लोग चौकन्ने हो गये। मिरजा ने हँसकर कहा— तो क्या तू ही उन सबों का भेदिया है

नहीं सरकार! यह देश ही ऐसा है, इसमें गूजरों की...

बुधुआ की बात काटते हुए सोमदेव ने कहा—हाँ-हाँ यहाँ के गूजर बड़े भयानक हैं।

तो हम लोगों को भी तैयार रहना चाहिए? —कहकर मिरजा ने अपनी सिरोही उठा ली।

रहमत ने कहा—आप भी किसकी बात में आते हैं, जाइए आराम कीजिए।

सब लोग उस समय तो हँसते हुए उठे; पर अपनी कोठरी में आते समय सबके हाथ-पैर बोझ से लदे हुए थे। मैं भी माँ के साथ कोठरी में जाकर सो रही।

रात को अचानक कोलाहल सुनकर मेरी आँख खुल गई। मैं पहले सपना समझकर फिर आँख बन्द करने लगी; पर झुठलाने से कठोर आपत्ति कहीं झूठी हो सकती है। सचमुच डाका पड़ा था, गाँव के सब लोग भय से अपने-अपने घरों में घुसे थे। मेरा हृदय धड़कने लगा। माँ भी उठकर बैठी थी। वह भयानक आक्रमण मेरे नाना के ही घर पर हुआ था। रहमत खाँ, मिरजा और सोमदेव ने कुछ काल तक उन लोगों को रोका, एक भीषण काण्ड उपस्थित हुआ। हम माँ बेटियाँ एक-दूसरे के गले से लिपटी हुई थर-थर काँप रही थीं। रोने का भी साहस न होता था, एक क्षण के लिए बाहर का कोलाहल रुका। अब उस कोठरी के किवाड़ तोड़े जाने लगे जिसमें हम लोग थे। भयानक शब्द से किवाड़े टूटकर गिरे। मेरी माँ ने साहस किया, वह उन लोगों से बोली–तुम लोग क्या चाहते हो?

नवाबी का माल दो बीबी! बताओ कहाँ है? एक ने कहा। मेरी माँ बोली –हम लोगों की नवाबी उसी दिन गई, जब मुग़लों का राज्य गया! अब क्या है, किसी तरह दिन काट रहे हैं।

यह पाजी भला बताएगी–कहकर दो नर-पिशाचों ने उसे घसीटा। वह विपत्ति की सताई मेरी माँ मूर्च्छित हो गई; पर डाकुओं में से एक ने कहा–नक़ल कर रही है–और उसी अवस्था में उसे पीटने लगे। पर वह फिर न बोली। मैं अवाक् कोने में काँप रही थी। मैं भी मूर्च्छित हो रही थी कि मेरे कानों में सुनाई पड़ा–इसे न छुओ, मैं इसे देख लूँगा। मैं अचेत थी।

इसी झोंपड़ी के एक कोने में मेरी आँखें खुलीं। मैं भय से अधमरी हो रही थी। मुझे प्यास लगी थी। ओठ चाटने लगी। एक सोलह बरस के युवक ने मुझे थोड़ा दूध पिलाया और कहा—घबराओ न, तुम्हें कोई डर नहीं है। मुझे आश्वासन मिला। मैं उठ बैठी। मैंने देखा, उस युवक की आँखों में मेरे लिए स्नेह है! हम दोनों के मन में प्रेम का षड्यंत्र चलने लगा और उस सोलह बरस के बदन गूजर की सहानुभूति उसमें उत्तेजना उत्पन्न कर रही थी। कई दिनों तक जब मैं पिता और माता का ध्यान करके रोती, तो बदन मेरे आँसू पोंछता और मुझे समझाता। अब धीरे-धीरे मैं उसके साथ जंगल के अंचलों में घूमने लगी।

गूजरों ने नवाब का नाम सुनकर बहुत धन की आशा में डाका डाला था, पर कुछ हाथ न लगा। बदन का पिता सरदार था! वह प्रायः कहता–मैंने इस बार व्यर्थ इतनी हत्या की। अच्छा मैं इस लड़की को जंगल की रानी बनाऊँगा।

बदन सचमुच मुझसे स्नेह करता। उसने कितनें ही गूजर कन्याओं के ब्याह लौटा दिये, उसके पिता ने भी कुछ न कहा। हम लोगों का स्नेह देखकर वह अपने अपराधो का प्रायश्चित्त करना चाहता था; परन्तु बाधक था हम लोगों का धर्म। बदन ने कहा–हम लोगों को इससे क्या? तुम जैसे चाहो भगवान को मानो, मैं जिसके सम्बन्ध में स्वयं कुछ समझता ही नहीं, तब तुम्हें क्यों समझाऊँ। सचमुच वह इन बातों के समझाने की चेष्टा भी नहीं करता। वह पक्का गूजर जो पुराने संस्कार और आचार चले आये थे–उन्हीं कुल-परम्परा के कामों के कर लेने से कृतकृत्य हो जाता। मैं इस्लाम के अनुसार प्रार्थना करती; पर इससे हम लोगों के मन में सन्देह न हुआ। हमारे प्रेम ने हम लोगों को एक बन्धन में बाँध दिया और जीवन

कोमल होकर चलने लगा। बदन ने अपना पैतृक व्यवसाय न छोड़ा, मैं उससे केवल इसी बात से असन्तुष्ट रहती।

यौवन की पहली ऋतु हम लोगों के लिए जंगली उपहार लेकर आई। मन में नवाबी का नशा और माता की सरल सीख–इधर गूजर पति की कठोर दिनचर्या! एक विचित्र सम्मेलन था। फिर भी मैं अपना जीवन बिताने लगी हूँ।

बेटी गाला! तू जिस अवस्था में रह ; जगतपिता को न भूल? राजा कंगाल होते हैं और कंगाल राजा हो जाते हैं; पर वह सबका मालिक अपने सिंहासन पर अटल बैठा रहता है। जिसे हृदय देना, उसी को शरीर अर्पण करना–उसमें एक निष्ठा बनाये रखना। मैं बराबर जायसी की 'पद्मावत' पढ़ा करती हूँ। वह स्त्रियों के लिए तो जीवन यात्रा में पथ-प्रदर्शक हैं। स्त्रियों को प्रेम करने के पहले यह सोच लेना चाहिए–मैं पद्मावती हो सकती हूँ कि नहीं? गाला! संसार दुख से भरा है। सुख के छीटे कहीं से परमपिता की दया से आ जाते हैं। उसकी चिन्ता न करना, उसके न पाने से दुःख भी न मानना। मैंने अपने कठोर और भीषण पति की सेवा सचाई से की है, और चाहती हूँ कि तू भी मेरी जैसी हो। परमपिता तेरा मंगल करे। पद्मावत पढ़ना कभी न छोड़ना। उसके गूढ़ तत्त्व जो मैं तुझे बराबर समझाती आई हूँ, तेरी जीवन-यात्रा की मधुरता और कोमलता से भर देंगे। अन्त में फिर तेरे लिए मैं प्रार्थना करती हूँ–तू सुखी रहे।

नये ने पुस्तक बन्द करते हुए एक दीर्घ निःश्वास लिया। उसकी संचित स्नेह राशि में उस राजवंश की जंगली लड़की के लिए हलचल मच गई। विरस जीवन में एक नवीन स्फूर्ति हुई। वह हँसते हुए गाला के पास पहुँचा। गाला इस समय अपने नये बुलबुल को चारा दे रही थी।

पढ़ चुके! कहानी अच्छी है न?–गाला ने पूछा।

बड़ी करुण और हृदय में टीस उत्पन्न करनेवाली कहानी है गाला! तुम्हारा सम्बन्ध दिल्ली के राज-सिंहासन से है–आश्चर्य!

आश्चर्य किस बात का नये? क्या तुम समझते हो कि यह कोई बड़ी भारी घटना है कितने राजरक्तपूर्ण शरीर, परिश्रम करते-करते मर-पच गये–उस अनन्त अनलशिखा में—जहाँ चरम शीतलता है, परम विश्राम है, वहाँ किसी तरह पहुँच जाना ही तो इस जीवन का लक्ष्य है।

नये अवाक् होकर उसका मुँह देखने लगा। गाला सरल जीवन की जैसे प्राथमिक प्रतिमा थी। नये ने साहस कर पूछा–फिर गाला, जीवन के प्रकारों में तुम्हारे लिए चुनाव का कोई विषय नहीं, उसे बिताने के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं।

है तो नये! समीप के प्राणियों में सेवा-भाव, सबसे स्नेह-सम्बन्ध रखना, यह क्या मनुष्य के लिए पर्याप्त कर्त्तव्य नहीं।

तुम अनायास ही इस जंगल में पाठशाला खोलकर यहाँ के दुर्दान्त प्राणियों के मन में कोमल मानव-भाव भर सकती हो!

ओहो। तुमने सुना नहीं, सीकरी में एक साधु आया है, हिन्दू-धर्म का तत्त्व समझाने के लिए। जंगली बालकों की एक पाठशाला उसने ख़ोल दी है। वह कभी-कभी यहाँ भी आता है, तुझसे भी कुछ ले जाता है; पर मैं देखती हूँ, कि मनुष्य बड़ा ढोंगी जीव है—वह दूसरों को वही सिखाने का उद्योग करता है, जिसे स्वयं कभी भी नहीं समझता। मुझे यह नहीं रुचता! मेरे पुरखे तो बहुत पढ़े-लिखे और समझदार थे, उनके मन की ज्वाला कभी शांत हुई?

यह एक विकट प्रश्न है गाला! जाता हूँ, अभी मुझे घास करना है। यह बात तो मैं धीरे-धीरे समझने लगा हूँ कि शिक्षितों और अशिक्षितों के कर्मों में अंतर नहीं है। जो कुछ भेद है वह उनके काम करने के ढंग का है।

तो तुमने अभी अपनी कथा मुझे नहीं सुनाई।

किसी अवसर पर सुनाऊँगा—कहता हुआ नये चला गया।

गाला चुपचाप अस्त होते हुए दिनकर को देख रही थी। बदन दूर से टहलता हुआ आ रहा था। आज उसका मुँह सदा की भाँति प्रसन्न न था। गाला उसे देखते ही उठ खड़ी हुई, बोली—बाबा! तुमने कहा था, आज मुझे बाजार लिवा चलने को, अब तो रात हुआ चाहती है?

कल चलूँगा बेटी?—कहते हुए बदन ने अपने मुँह पर हँसी ले आने की चेष्टा की, क्योंकि यह उत्तर सुनने के लिए गाला के मान का रंग गहरा हो चला था। वह बालिका के सदृश ठुनककर बोली—तुम तो बहाना करते हो।

नहीं, नहीं, कल तुझे लिवा ले चलूँगा। तुझे क्या लेना है, सो तो बता!

मुझे दो पिंजड़े चाहिएँ, कुछ सूत और रंगीन कागज।

अच्छा कल ले आना।

बेटी और बाप का यह मान निपट गया। अब दोनों अपनी झोंपड़ी में आये और रूखा-सूखा खाने-पीने में लग गये।

७

सीकरी की बस्ती से कुछ हटकर एक ऊँचे टीले पर फूस का बड़ा-सा छप्पर पड़ा है और नीचे कई चटाइयाँ पड़ी हैं। एक चौकी पर मंगलदेव लेटा हुआ, सवेरे की—छप्पर के नीचे आती हुई—शीतकाल की प्यारी धूप से अपनी पीठ में गर्मी पहुँचा रहा है। आठ-दस मैले-कुचैले लड़के भी उसी टीले के नीचे -ऊपर हैं। कोई मिट्टी बराबर कर रहा है, कोई अपनी पुस्तकों को बेठन में बाँध रहा है। कोई इधर-उधर नये पौधों में पानी दे रहा है। मंगलदेव ने यहाँ भी पाठशाला खोल रखी है। कुछ थोड़े से जाट-गूजरों के लड़के यहाँ पढ़ने आते

हैं। मंगल ने बहुत चेष्टा करके उन्हें स्नान करना सिखाया, परन्तु कपड़ों के अभाव ने उनकी मलिनता रख छोड़ी है। कभी-कभी उनके क्रोधपूर्ण झगड़ों में मंगल का मन ऊब जाता है। वे अत्यन्त कठोर और तीव्र स्वभाव के हैं।

जिस उत्साह से वृन्दावन की पाठशाला चलती थी, वह यहाँ नहीं है। बड़े परिश्रम से उजाड़ देहातों में घूमकर उसने इतने लड़के एकत्र किये हैं। मंगल आज गम्भीर चिन्ता में निमग्न है। वह सोच रहा था—क्या मेरी नियति इतनी कठोर है कि मुझे कभी चैन न लेने देगी। एक निश्छल परोपकारी हृदय लेकर मैंने संसार में प्रवेश किया और चला था भलाई करने। पाठशाला का सुन्दर जीवन छोड़कर मैंने एक भोली-भाली बालिका के उद्धार करने का संकल्प किया, यही सत्संकल्प मेरे जीवन की चक्करदार पगडण्डियों में घूमता-फिरता मुझे कहाँ ले आया ! कलंक, पश्चात्ताप और प्रवञ्चनाओं की कमी नहीं। उस अबला की भलाई करने के लिए, जब-जब मैंने पैर बढ़ाया, धक्के खाकर पीछे हटा और उसे भी ठोकरें लगाई। यह किसकी अज्ञात प्रेरणा है? मेरे दुर्भाग्य की ? मेरे मन में धर्म का दम्भ था। बड़ा उग्र प्रतिफल मिला। आर्यसमाज के प्रति जो मेरी प्रति-कूल सम्मति थी, उसी ने...सब कराया। हाँ, मानना पड़ेगा, धर्म-सम्बन्धी उपासना के नियम उसके चाहे जैसे हों—परन्तु सामाजिक परिवर्तन उसके माननीय हैं। यदि मैं पहले ही समझता ! आह! कितनी भूल हुई। मेरी मानसिक दुर्बलता ने मुझे यह चक्कर खिलाया।

मिथ्या-धर्म का संचय और प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप, और आत्म-प्रतारणा—क्यों? शान्ति तो नहीं मिली। मैंने साहस किया होता, तारा को न छोड़ देता, तो क्या समाज और धर्म मुझे इससे भी भीषण दण्ड देता? कायर मंगल! तुझे लज्जा नहीं आती?—सोचते-सोचते वह उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे टीले से उतरा।

शून्य पथ पर निरुद्देश्य चलने लगा। चिन्ता जब अधिक हो जाती है, तब उसकी शाखा-प्रशाखाएँ इतनी निकलती हैं कि मस्तिष्क उनके साथ दौड़ने में थक जाता है। किसी विशेष चिन्ता की वास्तविक गुरुता लुप्त होकर विचार को यान्त्रिक और चेतना-विहीन बना देती है। तब पैरों से चलने में, मास्तिष्क से विचार करने में, कोई विशेष भिन्नता नहीं रह जाती। मंगलदेव की वही अवस्था थी। वह बिना संकल्प के ही बाजार पहुँच गया, तब खरीदने-बेचने वालों की बातचीत उसे केवल भन्नाहट-सी सुनाई पड़ती। वह कुछ समझने में असमर्थ था। सहसा किसी ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया। उसने क्रोध से उस खींचनेवाले की ओर देखा—लहँगा कुरता और ओढ़नी में एक गूजरी युवती! दूसरी ओर से एक बैल बड़ी निश्चिन्तता से सींग हिलाता, दौड़ता निकल गया। मंगल ने अब उस युवती को धन्यवाद देने के लिए मुँह खोला; पर तब तक वह चार हाथ आगे निकल गई थी। विचारों में बौखलाये हुए मंगल ने अब पहचाना—यह तो गाला है! वह कई बार उसके झोंपड़े तक जा चुका था। मंगल के हृदय में एक नवीन स्फूर्ति हुई, वह डग बढ़ाकर गाला के पास पहुँच गया और घबराये हुए शब्दों में उसे धन्यवाद दे ही डाला। गाला भौंचक्की-सी उसे देखकर हँस पड़ी।

अप्रतिभ होकर मंगल ने कहा—अरे तुम हो गाला!

उसने कहा—हाँ, आज सनीचर है न! हम लोग बाजार करने आये हैं। अब मंगल ने उसके पिता बदन को देखा। मुख पर स्वाभाविक हँसी ले जाने की चेष्टा करते हुए मंगल ने कहा--आज बड़ा अच्छा दिन है कि आपका यहीं दर्शन हो गया।

नीरसता से बदन ने कहा—क्यों, अच्छे तो हो?

आप लोगों की कृपा से—कहकर मंगल ने सिर झुका लिया।

बदन बढ़ता चला जाता था और बातें भी करता जाता था। वह एक जगह बिसाती की दूकान पर खड़ा होकर गाला की आवश्यक वस्तुएँ लेने गया। मंगल ने अवसर देखकर कहा—आज तो अचानक भेंट हो गई है, समीप ही मेरा आश्रम है, यदि उधर भी चलियेगा तो आपको विश्वास हो जायेगा कि आप लोगों की भिक्षा व्यर्थ नहीं फेंकी जाती।

गाला समीप के कपड़े की दूकान देख रही थी, वृन्दावनी धोती की छींट उसकी आँखों में कुतूहल उत्पन्न कर रही थी। उसकी भोली दृष्टि उस पर से न हटती थी। सहसा बदन ने कहा—सूत और कागज ले लिये, किन्तु पिंजड़े तो यहाँ नहीं दिखाई देते गाला!

तो न सही, दूसरे दिन आकर ले लूँगी—गाला ने कहा; पर वह देख रही थी धोती। बदन ने कहा—क्या देख रही है? दूकानदार था चतुर, उसने कहा—ठाकुर! यह धोती लेना चाहती है, बची भी इस छापे की एक ही है।

जंगली बदन इस नागरिक प्रगल्भता पर लाल तो हो गया, पर बोला नहीं। गाला ने कहा—नहीं, नहीं, मैं भला इसे लेकर क्या करूँगी। मंगल ने कहा—स्त्रियों के लिए पूर्ण वस्त्र और कोई हो ही नहीं सकता। कुरते के ऊपर से इसे पहन लिया जाय, तो यह अकेला सब काम दे सकता है। बदन को मंगल का बोलना बुरा तो लगा, पर वह गाला का मन रखने के लिए बोला—तो ले ले गाला!

गाला ने अल्हड़पन से कहा—अच्छा तो!

मंगल ने मोल ठीक किया। धोती लेकर गाला के सरल मुख पर एक बार कुतूहल की प्रसन्नता छा गई। तीनों बात करते-करते उस छोटे-से बाजार से बाहर आ गये। धूप कड़ी हो चली थी। मंगल ने कहा—मेरी कुटी ही पर विश्राम कीजिए न! धूप कम होने पर चले जाइएगा। गाला ने कहा—हाँ बाबा, हम लोग पाठशाला भी देख लेंगे। बदन ने सिर हिला दिया। मंगल के पीछे दोनों चलने लगे।

बदन इस समय कुछ चिन्तित था। वह चुपचाप जब मंगल की पाठशाला में पहुँच गया, तब उसे एक आश्चर्यमय क्रोध हुआ। किन्तु वहाँ का दृश्य देखते ही उसका मन बदल गया। वह कुतूहल से काले बोर्डों और स्टूलों के सम्बन्ध में पूछने लगा। क्लास का समय हो था, मंगल के संकेत से एक बालक ने घंटा बजा दिया। पास ही खेलते हुए बालक दौड़ आये; अध्ययन आरम्भ हुआ। मंगल को यत्न -सहित उन बालकों को पढ़ाते देखकर गाला को एक तृप्ति हुई। बदन भी अप्रसन्न न रह सका। उसने हँसकर कहा—भई, तुम पढ़ाते हो, तो अच्छा करते हो; पर यह पढ़ना किस काम का होगा? मैं तुमसे कई बार सुन चुका हूँ कि पढ़ने से, शिक्षा से, मनुष्य सुधरता है; पर मैं तो समझता हूँ—ये किसी काम के न रह जायेंगे। इतना परिश्रम करके तो जीने के लिए मनुष्य कोई भी काम कर सकता है।

बाबा! पढ़ाई सब कामों का सुधार करना सिखाती है। यह तो बड़ा अच्छा काम है, देखिए मंगल के त्याग और परिश्रम को!—गाला ने कहा।

हाँ, तो यह अच्छी बात है। कहकर बदन चुप हो रहा।

मंगल ने कहा—ठाकुर! मैं तो चाहता हूँ कि एक लड़कियों की भी पाठशाला हो जाती पर उनके लिए स्त्री अध्यापिका की आवश्यकता होगी, और वह दुर्लभ है।

गाला ने यह दृश्य देकर बहुत उत्साहित हो रही थी, बोली—बाबा! तुम कहते तो मैं ही लड़कियों को पढ़ाती। बदन ने आश्चर्य से गाला की ओर देखा; पर वह कहती ही रही —जंगल में तो तेरा मन भी लगता। मैं बहुत विचार कर चुकी हूँ, मेरा उस खारी नदी के पहाड़ी अंचल से जीवन भर निभने का नहीं!

तो क्या तू मुझे छोड़कर...कहते-कहते बदन का हृदय भर उठा, आँखें डबडबा आईं। वह दुर्दान्त मनुष्य मोम के समान पिघलने लगा। गाला ने कहा—नहीं बाबा, तुम भी मेरे ही साथ रहो न !

बदन ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता गाला! तुझे मैं अधिक-से-अधिक चाहता हूँ; पर कुछ और भी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें मैं इस जीवन में छोड नहीं सकता। मै समझता हूँ, उनसे पीछा छुड़ा लेने की तेरी भीतरी इच्छा है, क्यों?

गाला ने कहा अच्छा तो घर चलकर इस पर फिर विचार किया जायेगा। —मंगल के सामने वह इस विवाद को बन्द कर लेने के लिए अधीर थी।

रूठने के स्वर में बदन ने कहा—तेरी ऐसी ही इच्छा है, तो घर ही न चल! -यह बात कुछ कड़ी और अचानक बदन के मुँह से निकल पड़ी।

मंगल जल के लिए इसी बीच से चला गया था, तो भी गाला बहुत घायल हो गई। हथेलियों पर मुँह धरे हुए वह टपाटप आँसू गिराने लगी, पर न जाने क्यों उस गूजर का मन अधिक कठोर हो गया था। सान्त्वना का एक शब्द भी न निकला। वह तब तक चुप रहा, जब तक मंगल ने आकर कुछ मिठाई और जल सामने नहीं रक्खा। मिठाई देखते ही बदन बोल उठा—मुझे यह नहीं चाहिए।वह जल का लोटा उठाकर चुल्लू से पी गया और उठ खड़ा हुआ, मंगल को ओर देखता हुआ बोला—कई मील जाना है, बूढ़ा आदमी हूँ! तो चलता हूँ। वह सीढ़ियाँ उतरने गला। गाला को उसने चलने के लिए नहीं कहा। वह बैठी रही। क्षोभ से भरी हुई तड़प रही थी; पर ज्योंही उसने देखा कि, बदन टेकरी से उतर चुका, अब भी वह लौटकर नहीं देख रहा है, तब वह आँसू बहाती उठ खड़ी हुई। मंगल ने कहा—गाला! तुम इस समय बाबा के साथ जाओ, मैं आकर उन्हें समझा दूँगा। इसके लिए झगड़ना कोई बात नहीं।

गाला निरुपाय नीचे उतरी और बदन के पास पहुँचकर भी कई हाथ पीछे-ही-पीछे चलने लगी; परन्तु उस कट्टर बुड्ढे ने घूमकर देखा भी नहीं।

नये के मन में गाला का एक आकर्षण जाग उठा था। वह कभी -कभी अपनी बाँसुरी लेकर खारी के तट पर चला जाता और बहुत धीरे-धीरे उसे फूँकता। उसके मन में भय उत्पन्न हो गया था, अब वह नहीं चाहता था कि वह किसी की ओर अधिक आकर्षित हो, और सबकी

आँखों से अपने की बचाना चाहता। इन सब कारणों से उसने एक कुत्ते को प्यार करने का अभ्यास किया । बड़े दुलार से उसका नाम रक्खा था भालू। वह था भी झबरा। निःसंदिग्ध आँखों से, अपने कानों को गिराकर, अगले दोनों पैर खड़े किये हुए, वह नये के पास बैठा है। विश्वास उसकी मुद्रा से प्रकट हो रहा है। वह बड़े ध्यान से बंसी की पुकार समझना चाहता है। साहसी नये ने बंसी बन्द करके उससे पूछा–

भालू! तुम्हें यह गीत अच्छा लगा?

भालू ने कहा–भुँह!

ओहो, अब तो बड़े समझदार हो गये हो? कहकर नये ने एक चपत धीरे-से लगा दी। वह प्रसन्नता से सिर झुकाकर पूँछ हिलाने लगा। सहसा उछलकर वह सामने की ओर भागा। नये उसे पुकारता ही रहा; पर वह चला गया। नये चुपचाप बैठा उस पहाड़ी सन्नाटे को देखता रहा। कुछ ही क्षण में भालू आगे दौड़ता फिर पीछे लौटता दिखाई पड़ा, और उसके पीछे-पीछे गाला उसके दुलार में व्यस्त दिखाई पड़ी। गाला की वृन्दावनी साड़ी जब वह पकड़कर अगले दोनों पंजों से पृथ्वी पर चिपक जाता और गाला उसे झिड़कती, तो वह खिलवाड़ी लड़के के समान उछलकर दूर जा खड़ा होता और दुम हिलाने लगता। नये उसकी क्रीड़ा को देखकर मुस्किराता हुआ चुप बैठा रहा। गाला ने बनावटी क्रोध से कहा–मना करो अपने दुलारे को , नहीं तो–

वह भी दुलार ही तो करता है। बेचारा जो कुछ पाता है, वही तो देता है, फिर इसमें उलाहना कैसा गाला!

जो पावे उसे बाँट दे। –गाला ने गम्भीर होकर कहा।

यही तो उदारता है! कहो, आज तो तुमने साड़ी पहन ही ली, बहुत भली लगती हो।

बाबा बहुत बिगड़े हैं–आज तीन दिन हुए, मुझसे बोलते नहीं। नये! तुमको स्मरण होगा कि मेरा पढ़ना-लिखना जानकर तुम्हीं ने एक दिन कहा था कि तुम अनायास ही जंगल में शिक्षा का प्रचार कर सकती हो–भूल तो नहीं गये?

नहीं ; मैंने अवश्य कहा था।

तो फिर मेरे विचार पर बाबा इतने दुःखी क्यों है?

उन्होंने उसे अच्छा न समझा होगा।

तब मुझे क्या करना चाहिए?

जिसे तुम अच्छा समझो।

नये! तुम बड़े दुष्ट हो–मेरे मन में एक आकांक्षा उत्पन्न करके जब उसका कोई उपाय नहीं बताते!

जो आकांक्षा उत्पन्न कर देता है, वह उसकी पूर्ति भी कर देता है ऐसा तो नहीं देखा गया! तब भी तुम क्या चाहती हो?

मैं इस जंगली जीवन से ऊब गई हूँ, मैं कुछ और ही चाहती हूँ–वह क्या है? तुम्हीं बता सकते हो।

मैंने जिसे जो बताया, उसे वह समझ न सका गाला! –मुझसे न पूछो, मैं आपत्ति का मारा, तुम लोगों की शरण में आ रहा हूँ–कहते-कहते नये ने सिर नीचा कर लिया। वह विचारों में डूब गया। गाला चुप थी। सहसा भालू ज़ोर से भूँक उठा, दोनों ने घूमकर देखा कि बदन चुपचाप खड़ा है! जब नये उठकर खड़ा होने लगा, तो वह बोला–गाला! मैं दो बातें तुम्हारे हित की कहना चाहता हूँ, और तुम भी सुनो नये।

दोनों ने सिर नीचा कर लिया।

मेरा अब समय हो चला। इतने दिनों तक मैंने तुम्हारी इच्छा में कोई बाधा नहीं दी, यों कहो कि तुम्हारी कोई वास्तविक इच्छा ही नहीं हुई; पर अब तुम्हारा जीवन चिरपरिचित देश की सीमा पार कर रहा है। मैंने जहाँ तक उचित समझा, तुमको अपने शासन में रक्खा, पर अब मैं यह चाहता हूँ कि तुम्हारा पथ नियत कर दूँ और किसी उपयुक्त पात्र की संरक्षता में तुम्हें छोड़ जाऊँ– इतना कहकर उसने एक भेदभरी दृष्टि नये के ऊपर डाली। गाला कनखियों से देखती हुई चुप थी। बदन फिर कहने लगा–मेरे पास इतनी सम्पत्ति है कि गाला और उसका पति जीवन भर सुख से रह सकते हैं–यदि उनकी संसार में सरल जीवन बिता लेने से अधिक इच्छा न हो। नये! मैं तुमको उपयुक्त समझता हूँ–गाला के जीवन की धारा सरल पथ से बहा ले चलने की क्षमता तुम में है! तुम्हें यदि स्वीकार हो तो–

मुझे इसकी आशंका पहले से थी। आपने मुझे शरण दी है इसलिए गाला को मैं प्रतारित नहीं कर सकता। क्योंकि, मेरे हृदय में दाम्पत्य जीवन की सुख-साधना की सामग्री बची न रही। तिसपर भी आप जानते हैं कि मैं एक सन्दिग्ध हत्यारा मनुष्य हूँ!–नये ने इन बातों को कहकर जैसे एक बोझ उतार फेंकने की साँस ली हो।

बदन निरुपाय और हताश हो गया। गाला जैसे इस विवाद से एक अपरिचित असमंजस में पड़ गई। उसका दम घुटने लगा। लज्जा, क्षोभ और अपनी दयनीय दशा से उसे अपने स्त्री होने का ज्ञान अधिक वेग से धक्के देने लगा। वह उसी क्षण नये से अपना सम्बन्ध हो जाना, जैसे अत्यन्त आवश्यक समझने लगी थी। फिर भी यह अपेक्षा वह सह न सकी। उसने रोकर बदन से कहा–आप मुझे अपमानित कर रहे हैं, मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी ब्याह न करूँगी। यह तो क्या, मैंने अभी ब्याह करने का विचार भी नहीं किया है! मेरा उद्देश्य है–पढ़ना और पढ़ाना। मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि मैं किसी बालिका-विद्यालय में पढ़ाऊँगी।

एक क्षणभर के लिए बदन के मुँह पर भीषण भाव नाच उठा। वह दुर्दान्त मनुष्य हथकड़ियों से जकड़े हुए बन्दी के समान किटकिटा कर बोला–तो आज से मेरा-तेरा कोई सम्बन्ध नहीं–और एक ओर चल पड़ा।

नये चुपचाप पश्चिम के आरक्तिम आकाश की ओर देखने लगा। गाला रोष और क्षोभ से फूल रही थी, अपमान ने उसके हृदय को क्षत-विक्षत कर दिया था।

यौवन से भरे हृदय की महिमामयी कल्पना, गोधूली की धूप में बिखरने लगी। नये अपराधी की तरह इतना भी साहस न कर सका कि गाला को कुछ सान्त्वना देता। वह भी उठा और एक ओर चला गया।

चतुर्थ खण्ड

१

वह दरिद्रता और अभाव के गार्हस्थ जीवन की कटुता में दुलारा गया था। उसकी माँ चाहती थी कि वह अपने हाथ दो रोटी कमा लेने के योग्य बन जाय, इसलिए वह बार-बार झिड़की सुनाता। जब क्रोध से उसके आँसू निकलते और जब उन्हें अधरों से पोंछ लेना चाहिए था, तब भी वे रूखे कपोलों पर आप-ही-आप सूखकर एक मिलन-चिह्न छोड़ जाते थे।

कभी वह पढ़ने के लिए पिटता, कभी काम सीखने के लिए डाँटा जाता, यही थी उसकी दिनचर्या। फिर वह चिड़चिड़े स्वभाव का क्यों न हो जाता। वह क्रोधी था, तो भी उसके मन में स्नेह था, प्रेम था और था नैसर्गिक आनन्द-शैशव का उल्लास, रो लेने पर भी जी खोलकर हँस लेना, पढ़ने पर खेलने लगना। बस्ता खुलने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता। पुस्तकें गिरने के लिए निकल पड़ती थीं। टोपी सावधानी से टेढ़ी और कुरते का बटन खुला हुआ। आँखों में सूखते हुए आँसू और अधर पर मुस्कराहट।

उसकी गाड़ी चल रही थी। वह एक पहिया ढुलका रहा था। उसे चलाकर उल्लास से बोल उठा—हटो सामने से, गाडी जाती है।

सामने से आती हुई पगली युवती ने उस गाड़ी को उठा लिया। बालक के निर्दोष विनोद में बाधा पड़ी। वह सहमकर उस पगली की ओर देखने लगा। निष्फल क्रोध का परिणाम होता है रो देना। बालक रोने लगा। म्यूनिसिपल स्कूल भी पास न थी, जिसकी 'अ'-कक्षा में वह पढ़ता था। कोई सहायक न पहुँच सका। पगली ने उसे रोते देखा, वह जैसे अपनी भूल समझ गई। बोली—आँ! अमको खेलाओगे; आँ-आँ, —मैं भी रोने लगूँगी, आँ-आँ-आँ। बालक हँस पड़ा। वह उसे गोद में झिंझोड़ने लगी। अबकी वह फिर घबराया। उसने रोने के लिए मुँह बनाया ही था कि पगली ने उसे गोद से उतार दिया और वह बड़बड़ाने लगी —राम, कृष्ण और बुद्ध सभी तो पृथ्वी पर लोटते था! मैं खोजती थी आकाश में ! ईसा की जननी से पूछती थी। इतना खोजने की क्या आवश्यकता ? कहीं तो नहीं, देखो कितनी चिनगारी निकल रही है। सब एक-एक प्राणी हैं, चमकना, फिर लोप हो जाना! किसी के बुझने में रोना है और किसी के जल उठने में हँसी हा-हा-हा-हा!....

तब तो बालक और भी डरा। वह त्रस्त था, उसे भी शंका होने लगी कि यह पगली तो नहीं है। यह हतबुद्धि-सा इधर-उधर देख रहा था। दौड़कर भाग जाने का साहस भी न था। अभी तक उसकी गाड़ी पगली लिये थी। दूर से एक स्त्री और पुरुष, यह घटना कुतूहल से देखते चले आ रहे थे। उन्होंने बालक को विपत्ति में पड़ा देखकर सहायता करने की

इच्छा की। पास आकर पुरुष ने कहा–क्यों जी, तुम पागल तो नहीं हो ! क्यों इस लड़के को तंग कर रही हो?

तंग कर रही हूँ! पूजा कर रही हूँ पूजा! राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा की सरलता की पूजा कर रही हूँ। इन्हें रुला देने से इनकी एक कसरत हो जाती है, फिर हँसा दूँगी। और, तुम तो कभी भी जी खोलकर न हँस सकोगे और न रो सकोगे।

बालक को कुछ साहस हो चला था। वह अपना सहायक देखकर बोल उठा –मेरी गाड़ी छीन ली है! पगली ने पुचकारते हुए कहा–चित्र लोगे?–देखो पश्चिम में संध्या कैसा अपना रंगीन चित्र फैलाये बैठी है! –पगली के साथ ही और उन तीनों ने भी देखा। पुरुष ने कहा–मुझसे बातें करो, उस बालक को जाने दो। पगली हँस पड़ी। वह बोली- तुमसे बात! बातों का कहाँ अवकाश! चालबाज़ियों से कहाँ अवसर! ऊँह, देखो उधर काले पत्थरों की एक पहाड़ी, उसके बाद एक लहराती हुई झील, फिर नारंगी रंग की एक जलती हुई पहाड़ी –जैसे उसकी ज्वाला ठंडी नहीं होती! फिर एक सुनहला मैदान!–वहाँ चलोगे?

उधर देखने में सब विवाद बन्द हो गया, बालक भी चुप था। उस स्त्री और पुरुष ने भी निसर्ग –स्मरणीय दृश्य देखा। पगली संकेत करनेवाला हाथ फैलाये अभी तक वैसे ही खड़ी थी। पुरुष ने देखा, उसका सुन्दर शरीर कृश हो गया था और बड़ी-बड़ी आँखें क्षुधा से व्याकुल थीं। साथ वाली स्त्री से पुरुष ने कहा–किशोरी! इसे कुछ खिलाओ। किशोरी उस बालक को देख रही थी, अब श्रीचन्द्र का ध्यान भी उसकी ओर गया। वह बालक उस पगली की उन्मत क्रीड़ा से रक्षा पाने की आशा में विश्वासपूर्ण नेत्रों से, इन्हीं दोनों की ओर देख रहा था। श्रीचन्द्र ने उसे गोद में उठाते हुए कहा–चलो तुम्हें गाड़ी दिला दूँ!

किशोरी ने पगली से कहा–तुम्हें भूख लगी है, कुछ खाओगी?

पगली और बालक दोनों ही उनके प्रस्तावों से सहमत थे; पर बोले नहीं। इतने में श्रीचन्द्र का पण्डा आ गया, और बोला–बाबू जी, आप कब से यहाँ फँसे हैं। यह तो चाची का पालित पुत्र है, क्यों रे मोहन! तू अभी से स्कूल जाने लगा है? चल; तुझे घर पहुँचा दूँ?–वह श्रीचन्द्र की गोद से उसे लेने लगा; परन्तु मोहन वहाँ से उतरना नहीं चाहता था।

मैं तुमको कब से खोज रही हूँ, तू बड़ा दुष्ट है रे।–कहती हुई चाची ने आकर उसे अपनी गोद में ले लिया। सहसा पगली हँसती हुई भाग चली। वह कह रही थी–वह देखो, प्रकाश भागा जाता है....अन्धकार...! –कहकर पगली वेग से दौड़ने लगी थी। कंकड़, पत्थर और गड्ढों का ध्यान नहीं। अभी थोड़ी भी दूर वह न जा सकी थी कि उसे ठोकर लगी, वह गिर पड़ी। चोट लगने से वह मूर्च्छित-सी हो गई।

यह दल उसके पास पहुँचा। श्रीचन्द्र ने पंडाजी से कहा–इसकी सेवा होनी चाहिए, बेचारी दुखिया है! पंडाजी अपने धनी यजमान की प्रत्येक आज्ञा पूरी करने के लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने कहा–चाची का घर तो पास ही है, वहाँ उसे उठा ले चलता हूँ। चाची ने मोहन और श्रीचन्द्र के व्यवहार को देखा था, उसे अनेक आशा थी। उसने कहा–हाँ, हाँ, बेचारी को बड़ी चोट लगी है, उतर तो मोहन!–मोहन को उतारकर वह पंडाजी की सहायता से पगली को

अपने पास के घर में ले चली। मोहन रोने लगा। श्रीचन्द्र ने कहा–ओहो, तुम बड़े रोने हो जी? गाड़ी लेने न चलोगे?

चलूँगा–चुप होते हुए मोहन ने कहा।

मोहन के मन में पगली से दूर रहने की बड़ी इच्छा थी। श्रीचन्द्र ने पंडा को कुछ रुपये दिये कि पगली के आराम का कुछ उचित प्रबन्ध किया जाय; और बोले–चाची, मैं मोहन को गाड़ी दिलाने के लिए बाजार लिवाता जाऊँ?

चाची ने कहा–हाँ,हाँ, आपका ही लड़का है।

मैं फिर अभी आता हूँ, आपके पड़ोस में ही तो ठहरी हूँ–कहकर श्रीचंद्र, किशोरी और मोहन बाजार की ओर चले।

ऊपर लिखी हुई घटना को महीनों बीत चुके थे। अभी तक श्रीचन्द्र और किशोरी अयोध्या में ही रहे। नागेश्वरनाथ के मन्दिर के पास ही डेरा था। सरयू की तीव्र धारा सामने बह रही थी। स्वर्गद्वार के घाट पर स्नान कर के श्रीचन्द, किशोरी बैठे थे। पास ही एक बैरागी रामायण की कथा कह रहा था—

'राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।।'

तापस-तिय तारी–गौतम की पत्नी अहल्या को अपनी लीला करते समय भगवान ने तार दिया। वह यौवन के प्रमाद से, इन्द्र के दुराचार से, छली गई। उसने पति से–इस लोक के देवता से–छल किया। वह पामरी इस लोक के सर्वश्रेष्ठ रत्न सतीत्व से वंचित हुई। उसके पति ने शाप दिया, वह पत्थर हो गई। वाल्मीकि ने इस प्रसंग पर लिखा है–वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी। ऐसी कठिन तपस्या करते हुए, पश्चात्ताप का अनुभव करते हुए वह पत्थर नहीं तो और क्या थी! पतितापालन ने उसे शाप-विमुक्त किया। प्रत्येक पापों के दण्ड की सीमा होती है। सब काल में अहल्या-सी स्त्रियों के होने की सम्भावना है, क्योंकि कुमति तो बची है, वह जब चाहे किसी को अहल्या बना सकती है। उसके लिए उपाय है–भगवान का नाम-स्मरण। आप लोग नाम-स्मरण का अभिप्राय यह न समझ लें कि राम-राम चिल्लाने से नाम-स्मरण हो गया–

'नाम निरूपन नाम जतन से। सो प्रकटत जिमि मोल रतन ते।।'

इस 'राम' शब्दवाची उस अखिल ब्रह्माण्ड में रमण करनेवाले पतितपावन की सत्ता को सर्वत्र स्वीकार करते हुए सर्वस्व समर्पण करनेवाली भक्ति के साथ उसका स्मरण करना ही यथार्थ में नाम-स्मरण है।

वैरागी ने कथा समाप्त की। तुलसी बँटी। सब लोग जाने लगे। श्रीचन्द्र भी चलने के लिए उत्सुक था; परन्तु किशोरी का हृदय काँप रहा था अपनी दशा पर, और पुलकित हो रहा था भगवान की महिमा पर। उसने विश्वासपूर्ण नेत्रों से देखा कि सरयू प्रभात के तीव्र आलोक में लहराती हुई बह रही है। उसे साहस हो चला था। पहली ही बार उसने अपना अपराध स्वीकार किया, और यह उसके लिए अच्छा अवसर था कि उसी क्षण उसे उद्धार की भी आशा थी। वह व्यस्त हो उठी।

पगली अब स्वस्थ हो चली थी। विकार तो दूर हो गये थे, किन्तु दुर्बलता बनी थी। हिन्दूधर्म की ओर अपरिचित कुतूहल से देखने लगी थी, उसे वह मनोरंजक दिखलाई पड़ता था। वह भी चाची के साथ श्रीचन्द्र वाले घाट से दूर बैठी हुई, सरयू-तट का प्रभात और उसमें हिन्दूधर्म के आलोक को सकुतूहल देख रही थी।

इधर श्रीचन्द्र का मोहन से हेलमेल बढ़ गया था और चाची भी उसकी रसोई बनाने का काम करती थी। वह हरिद्वार से अयोध्या चली आई थी, क्योंकि वहाँ उसका मन न लगा।

चाची का वह रूप पाठक भूले न होंगे; जब वह हरिद्वार में तारा के साथ रहती थी; परन्तु तब से अब अन्तर था। मानव मनोवृत्तियाँ प्रायः अपने लिए एक केन्द्र बना लिया करती हैं, जिसके चारों ओर वह आशा और उत्साह से नाचती रहती हैं। चाची तारा के उस पुत्र को—जिसे यह अस्पताल में छोड़कर चली आई थी—अपना ध्रुव नक्षत्र समझने लगी थी। मोहन को पालने के लिए उसने अधिकारियों से माँग लिया था।

पगली और चाची जिस घाट पर बैठी थी; वहाँ एक अन्धा भिखारी लठिया टेकता हुआ, उन लोगों के समीप आया। उसने कहा—भीख दो बाबा! इस जन्म में कितने अपराध किये हैं—हे भगवान! अभी मौत भी नहीं आती! चाची चमक उठीं। एक बार उसे ध्यान से देखने लगीं। सहसा पगली ने कहा—अरे, तुम मथुरा से यहाँ भी पहुँचे।

तीर्थों में घूमता हूँ बेटी ! अपना प्रायश्चित्त करने के लिए, दूसरा जन्म बनाने के लिए! इतनी ही तो आशा है—भिखारी ने कहा।

पगली उत्तेजित हो उठी। अभी उसके मस्तिष्क की दुर्बलता गई न थी। उसने समीप जाकर उसे झकझोर कर पूछा—गोविन्दी चौबाइन की पाली हुई बेटी को तुम भूल गये! पण्डित, मैं वही हूँ, तुम बताओगे मेरी माँ का पता था, पर मैं बहुत दिन से नहीं जानता कि वह अब कहाँ है! नन्दो कहाँ है?— यह बताने में अब अन्धा रामदेव असमर्थ है बेटी!

चाची ने उठकर सहसा उस अन्धे का हाथ पकड़कर कहा—रामदेव!

रामदेव ने एक बार अपनी अन्धी आँखों देखने को भरपूर चेष्टा की, फिर विफल होकर आँसू बहाते हुए बोला—नन्दो का-सा स्वर सुनाई पड़ता है! नन्दो तुम्हीं हो? बोलो! हरिद्वार से तुम यहाँ आ गई हो? हे राम! आज तुमने मेरा अपराध क्षमा किया—नन्दो! यही तुम्हारी लड़की है। रामदेव की फूटी आँखों से आँसू बह रहे थे।

एक बार पगली ने नन्दो चाची को ओर देखा और नन्दो ने पगली की ओर—रक्त का आकर्षण तीव्र हुआ, दोनों गले से मिलकर रोने लगी। यह घटना दूर पर हो रही थी। किशोरी और श्रीचन्द्र का उससे कुछ सम्बन्ध न था।

अकस्मात अन्धा रामदेव उठा और चिल्लाकर कहने लगा—पतितपावन की जय हो! भगवान मुझे शरण में लो!—जब तक उसे सब लोग देखें, तब तक वह सरयू की प्रखर धारा में बहता हुआ—फिर डूबता हुआ, दिखाई पड़ा।

घाट पर हलचल मच गई। किशोरी कुछ व्यस्त हो गई। श्रीचन्द्र भी इस आकस्मिक घटना से चकित-सा हो रहा था।

अब यह एक प्रकार से निश्चित हो गया कि श्रीचन्द्र मोहन को पालेंगे,और वे उसे दत्तक रूप से भी ग्रहण कर सकते हैं। चाची को संतोष हो गया था, वह मोहन के धनी होने की कल्पना से सुखी हो सकी। उसका और भी एक कारण था—पगली का मिल जाना। वह आकस्मिक मिलन उन लोगों के लिए अत्यन्त हर्ष का विषय था। किन्तु पगली अब तक पहचानी न जा सकी थीं, क्योंकि वह बीमारी की अवस्था में बराबर चाची के घर पर रही। श्रीचन्द्र से चाची को उसकी सेवा के लिए रुपये मिलते। वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो चली, परन्तु वह किशोरी के पास न जाती। किशोरी को केवल इतना मालूम था कि नन्दो की पगली लड़की मिल गई है।

एक दिन यह निश्चय हुआ कि सब लोग काशी चलें, पर पगली अभी जाने के लिए सहमत न थी। मोहन श्रीचन्द्र के यहाँ रहता था। पगली भी किशोरी का सामना करना नहीं चाहती थी; पर उपाय क्या था! उसे उन लोगों के साथ जाना ही पड़ा। उसके पास केवल एक अस्त्र बचा था, वह था घूँघट! वह उसी की आड़ में काशी आई। किशोरी के सामने भी हाथों घूँघट निकाले रहती। किशोरी नन्दो के चिढ़ने के डर से उससे कुछ न बोलती। मोहन को दत्तक लेने का समय समीप था, वह तब तक चाची को चिढ़ाना भी न चाहती, यद्यपि पगली का घूँघट उसे बहुत खलता था।

किशोरी को विजय की स्मृति प्रायःचौका देती है। एकान्त में वह रोती रहती है। उसकी वही तो सारी कमाई, जीवन भर के पाप-पुण्य का सञ्चित धन विजय! आह, माता का हृदय रोने लगता।

काशी आने पर एक दिन पण्डितजी के कुछ मन्त्रों ने प्रकट रूप से श्रीचन्द्र को मोहन का पिता बना दिया। नन्दो चाची को अपनी बेटी मिल चुकी थी, अब मोहन के लिए उसके मन में उतनी व्यथा न थी। मोहन भी श्रीचन्द्र को बाबूजी कहने लगा था। वह सुख में पलने लगा।

किशोरी परिजात के पास बैठी हुई अपनी अतीत-चिन्ता में निमग्न थी। नन्दो के साथ पगली स्नान करके लौट आई थी। चादर उतारते हुए नन्दो ने पगली से कहा—बेटी!

उसने कहा—माँ!

तुमको सब किस नाम से पुकारते थे,यह तो मैंने आज तक न पूछा। बतलाओ बेटी वह प्यारा नाम!

माँ, मुझे चौबाइन घण्टी नाम से बुलाती थी।

चाँदी की सुरीली घण्टी-सी ही तेरी बोली है बेटी!

किशोरी सुन रही थी। उसने पास आकर एक बार आँख गड़ाकर देखा और पूछा—क्या कहा! घण्टी ?

किशोरी आग हो गई। वह भभक उठी—निकल जा डायन! मेरे विजय को खा डालने-वाली चुड़ैल!

नन्दो तो पहले एक बार किशोरी की डाँट पर स्तब्ध रही; पर वह कब सहनेवाली थी! उसने कहा—मुँह सँभालकर बातें करो बहू! मैं किसी से दबनेवाली नहीं। मेरे सामने किसका साहस है, जो मेरी बेटी—मेरी घण्टी—को आँख दिखलावे! आँख निकाल लूँ!

तुम-दोनों अभी निकल जाओ—अभी जाओ, नहीं तो नौकरों से धक्के देकर निकलवा दूँगी।—हाँफती हुई किशोरी ने कहा।

बस इतना ही तो—गौरी रूठे अपना सुहाग ले! हम लोग जाती हैं, मेरे रुपये अभी दिलवा दो, बस अब एक शब्द भी मुँह से न निकालना—समझा! —नन्दो ने तीखेपन से कहा।

किशोरी क्रोध में उठी और आलमारी खोलकर नोटों का बण्डल उसके सामने फेंकती हुई बोली—लो सहेजो अपना रुपया, भागो!

नन्दो ने घण्टी से कहा—चलो बेटी! अपना सामान ले लो।

दोनों ने तुरन्त गठरी दबाकर बाहर की राह ली। किशोरी ने एक बार भी उन्हें ठहरने के लिए न कहा। उस समय श्रीचन्द्र और मोहन गाड़ी पर चढ़कर हवा खाने गये थे।

किशोरी का हृदय इस नवागन्तुक कल्पित सन्तान से विद्रोह तो कर ही रहा था, वह अपना सच्चा धन गँवाकर इस दत्तक पुत्र से मन भुलवाने में असमर्थ थी। नियति की इस आकस्मिक विडम्बना ने उसे अधीर बना दिया। जिस घण्टी के कारण विजय अपने सुखमय संसार को खो बैठा और किशोरी अपने पुत्र विजय को ; उसी घण्टी का भाई आज उसके सर्वस्व का मालिक है, उत्तराधिकारी है। दुर्दैव का यह कैसा परिहास है! वह छटपटाने लगी, मसोसने लगी; परन्तु अब कर ही क्या सकती थी? धर्म के विधान से दत्तक पुत्र उसका अधिकारी था और विजय नियम के विधान से निर्वासित—मृतक-तुल्य!

२

मंगलदेव की पाठशाला में अब दो विभाग हैं—एक लड़कों का, दूसरा लड़कियों का। गाला लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करती। वह अब एक प्रभावशाली गम्भीर युवती दिखलाई पड़ती, जिसके चारों ओर पवित्रता और ब्रह्मचर्य का मण्डल घिरा रहता! बहुत-से लोग जो पाठशाला में आते, वे इस जोड़ी को आश्चर्य से देखते। पाठशाला के बड़े छप्पर के पास ही गाला की भी झोंपड़ी थी, जिसमें एक चटाई; तीन-चार कपड़े, एक पानी का बरतन और कुछ पुस्तकें थीं। गाला एक पुस्तक मनोयोग से पढ़ रही थी। कुछ पन्ने उलटते हुए उसने सन्तुष्ट होकर पुस्तक धर दी। वह सामने की सड़क की ओर देखने लगी। फिर भी कुछ समझ में न आया। उसने बड़बड़ाते हुए कहा—पाठ्यक्रम इतना असम्बद्ध है कि यह मनोविकास में सहायक होने के बदले, स्वयं भार हो जायगा। वह फिर पुस्तक पढ़ने लगी—'रानी ने उन पर कृपा दिखाते हुए छोड़ दिया और राजा ने भी रानी की उदारता पर हँसकर प्रसन्नता प्रकट की...' राजा और रानी, इसमें स्त्री और पुरुष बनाने का, संसार का सहनशील साझीदार होने का, सन्देश कहीं नहीं। केवल महत्ता का प्रदर्शन, मन पर अनुचित प्रभाव का बोझ! उसने झुँझलाकर पुस्तक पटककर एक निःश्वास लिया। उसे बदन का स्मरण हुआ, 'बाबा'—कहकर एक बार चिहुँक उठी। वह अपनी ही भर्त्सना

प्रारम्भ कर चुकी थी। सहसा मंगलदेव मुस्कराता हुआ सामने दिखाई पड़ा। मिट्टी के दीप की लौ भक-भक करती हुई जलने लगी।

तुमने कई दिन लगा दिये, मैं तो अब सोने जा रही थी।

क्या करूँ, आश्रम की एक स्त्री पर हत्या का भयानक अभियोग था। गुरुदेव ने उसकी सहायता के लिए बुलाया था।

तुम्हारा आश्रम हत्यारों की भी सहायता करता है?

नहीं गाला! वह हत्या उसने नहीं की थी, वस्तुतः एक दूसरे पुरुष ने की; पर वह स्त्री उसे बचाना चाहती है।

क्यों?

यही तो मैं समझ न सका।

तुम न समझ सके! स्त्री एक पुरुष को फाँसी से बचाना चाहती है और इसका कारण तुम्हारी समझ में न आया—इतना स्पष्ट कारण!

तुम क्या समझती हो?

स्त्री जिससे प्रेम करती है, उसी पर सरबस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है, यदि वह भी उसका प्रेमी हो तो स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है। विधाता का ऐसा ही विधान है।

मंगल ने देखा कि अपने कथन में गाला एक सत्य का अनुभव कर रही है। उसने कहा—तुम स्त्री -मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझ सकती हो; परन्तु सम्भव है यहाँ भूल कर रही हो। सब स्त्रियाँ एक ही धातु की नहीं। देखो मैं जहाँ तक उसके सम्बन्ध में जानता हूँ, तुम्हें सुनाता हूँ— वह एक निश्छल प्रेम पर विश्वास रखती थी और प्राकृतिक नियम से आवश्यक था कि एक युवती किसी भी युवक पर विश्वास करे; परन्तु वह अभागा युवक उस विश्वास का पात्र नहीं था। उसकी अत्यन्त आवश्यक और कठोर घड़ियों में युवक विचलित हो उठा। कहना न होगा कि उस युवक ने उसके विश्वास को बुरी तरह ठुकराया। एकाकिनी उस आपत्ति की कटुता झेलने के लिए छोड़ दी गई। बेचारी को एक सहारा भी मिला; परन्तु यह दूसरा युवक भी उसके साथ वही करने के लिए प्रस्तुत था, जो पहले युवक ने किया। वह फिर अपना आश्रम छोड़ने के लिए बाध्य हुई। उसने सबकी छाया में दिन बिताना निश्चित किया। एक दिन उसने देखा कि यही दूसरा युवक एक हत्या करके फाँसी पाने की आशा में हठ कर रहा है। उसने उसे हटा दिया, आप शव के पास बैठी रही। पकड़ी गई, तो हत्या का भार अपने सिर ले लिया। यद्यपि उसने स्पष्ट स्वीकार नहीं किया; परन्तु शासन को तो एक हत्या के बदले दूसरी हत्या करनी ही है। न्याय को यही समीप मिली, उसी पर अभियोग चल रहा है। मैं तो समझता हूँ कि वह हताश होकर जीवन दे रही है। उसका कारण प्रेम नहीं है, जैसा तुम समझ रही हो।

गाला ने एक दीर्घ निःश्वास लिया। उसने कहा—नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुँझलाहट है। मंगल! उससे संसार-भर के पुरुष कुछ लेना चाहते है, एक माता ही कुछ

सहानुभूति रखती है, इसका कारण है उसका भी स्त्री होना। हाँ, तो उसने न्यायालय में अपना क्या वक्तव्य दिया?

उसने कहा–पुरुष स्त्रियों पर सदैव अत्याचार करते हैं, कहीं नहीं सुना गया कि अमुक स्त्री ने अमुक पुरुष के प्रति ऐसा ही अन्याय किया; परन्तु पुरुषों का यह साधारण व्यवसाय है–स्त्रियों पर आक्रमण करना! जो अत्याचारी है, वह मारा गया। कहा जाता है कि न्याय के लिए न्यायालय सदैव प्रस्तुत रहता है; परन्तु अपराध हो जाने पर ही विचार करना उसका काम है। उस न्याय का अर्थ है कि किसी को दण्ड दे देना! किन्तु उसके नियम उस आपत्ति से नहीं बचा सकते। सरकारी वक़ील कहते हैं–न्याय को अपने हाथ में लेकर तुम दूसरा अन्याय नहीं कर सकते; परन्तु उस एक क्षण की कल्पना कीजिए कि उसका सर्वस्व लुटा चाहता है और न्याय के रक्षक अपने आराम में हैं। वहाँ एक पत्थर का टुकड़ा ही आपत्ति-ग्रस्त की रक्षा कर सकता है। तब वह क्या करे, उसका भी उपयोग न करे! यदि आपके सुव्यवस्थित शासन में कुछ दूसरा नियम है, तो आप प्रसन्नता से मुझे फाँसी दे सकते हैं। मुझे और कुछ नहीं कहना है।–वह निर्भीक युवती कहकर चुप हो गई। न्यायाधीश दाँतों-तले ओठ दबाये चुप थे। साक्षी बुलाये गये हैं; पुलिस ने दूसरे दिन उन्हें ले आने की प्रतिज्ञा की है। गाला! मैं तुमसे भी कहता कि चलो, विचित्र अभियोग को देखो; परन्तु यहाँ पाठशाला भी तो देखनी है। अबकी बार मुझे कई दिन लगेंगे!

आश्चर्य है; परन्तु मैं कहती हूँ कि वह स्त्री अवश्य उस युवक से प्रेम करती है, जिसने हत्या की है। जैसा तुमने कहा, उससे तो यही मालूम होता है कि वही दूसरा युवक उसका प्रेम-पात्र है, जिसने उसे सताना चाहा था।

गाला! पर मैं कहता हूँ कि वह उससे घृणा करती थी। ऐसा क्यों! मैं न कह सकूँगा; पर है बात कुछ ऐसी ही। सहसा रुककर मंगल चुपचाप सोचने लगा–हो सकता है। ओह! अवश्य विजय और यमुना!–यही तो, मानता हूँ कि हृदय में एक आँधी रहती है; एक हलचल लहराया करती है, जिसके प्रत्येक धक्के में 'बढ़ो! बढ़ो!' –की घोषणा रहती है। वह पागलपन संसार को तुच्छ लघुकण समझकर उसकी ओर उपेक्षा से हँसने का उत्साह देता है। संसार का कर्त्तव्य, धर्म का शासन, केले के पत्ते की तरह धज्जी-धज्जी उड़ जाता है। यही तो प्रणय है। नीति की सत्ता ढोंग मालूम पड़ती है और विश्वास होता है कि समस्त सदाचार उसी की साधना है...हाँ वही सिद्धि है, वही सत्य है। आह, अबोध मंगल! तूने उसे पाकर भी न पाया। नहीं-नहीं, वह पतन था, अवश्य माया थी। अन्यथा, विजय की ओर इतनी प्राण दे देनेवाली सहानुभूति क्यों? आह, पुरुष-जीवन के कठोर सत्य! क्या इस जीवन में नारी को प्रणय-मदिरा के रूप में गलकर तू कभी न मिलेगा? परन्तु स्त्री, जल-सदृश कोमल एवं अधिक-से-अधिक निरीह है। बाधा देने की सामर्थ्य नहीं; तब भी उसमें एक धारा है, एक गति है, पत्थरों की रुकावट की भी उपेक्षा करके कतराकर वह चली ही जाती है। अपनी सन्धि खोज ही लेती है, और सब उसके लिए पथ छोड़ देते हैं, सब झुकते हैं; सब लोहा मानते हैं। किन्तु सदाचार की प्रतिज्ञा ...तो अर्पण करना होगा धर्म की बलिवेदी पर मन का स्वातंत्र्य! कर तो दिया, मन कहाँ स्वतन्त्र रहा! अब उसे एक राह पर

लगाना होगा।—वह ज़ोर से बोल उठा—गाला! क्या यही!!

गाला चिन्तित मंगल का मुँह देख रही थी। वह हँस पड़ी, बोली—कहाँ घूम रहे हो मंगल?

मंगल चौंक उठा। उसने देखा; जिसे खोजता था वही कब से मुझे पुकार रहा है। वह तुरन्त बोला—कहीं तो नहीं गाला!

आज पहला अवसर था, जब गाला ने मंगल को उसके नाम से पुकारा। उसमें सरलता थी, हृदय की छाया थी। मंगल ने अभिन्नता का अनुभव किया। हँस पड़ा।

तुम कुछ सोच रहे थे। यही कि स्त्रियाँ ऐसा प्रेम कर सकती हैं? तर्क ने कहा होगा—नहीं! व्यवहार ने समझाया होगा—यह सब स्वप्न है! यही न? पर मैं कहती हूँ सब सत्य है...स्त्री का हृदय ...प्रेम का रंगमंच है! तुमने शास्त्र पढ़ा है, फिर भी तुम स्त्रियों के हृदय को परखने में उतने कुशल नहीं हो, क्योंकि...

बीच में रोककर मंगल ने पूछा—और तुम कैसे प्रेम का रहस्य जानती हो गाला! तुम भी तो...

स्त्रियों का यह जन्मसिद्ध उत्तराधिकार है मंगल! उसे खोजना-परखना नहीं होता, कहीं से ले आना नहीं होता। वह बिखरा रहता है असावधानी से—धनकुबेर की विभूति के समान! उसे सम्हालकर केवल एक ओर व्यय करना पड़ता है—इतना ही तो!—हँसकर गाला ने कहा।

और पुरुष को...?—मंगल ने पूछा।

हिसाब लगाना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है, संसार में जैसे उसकी महत्त्वाकांक्षा की और भी बहुत-सी विभूतियाँ हैं, वैसे ही यह भी एक है। पद्मिनी के समान जल-मरना स्त्रियाँ ही जानती हैं, और पुरुष केवल उसी जली हुई राख को उठाकर अलाउद्दीन के सदृश बिखेर देना ही तो जानते हैं!—कहते-कहते गाला तन गई थी। मंगल ने देखा—वह ऊर्जस्वित सौन्दर्य!

बात बदलने के लिए गाला ने पाठयक्रम-सम्बन्धी अपने उपालम्भ कह सुनाये और पाठशाला के शिक्षाक्रम का मनोरंजक विवाद छिड़ा। मंगल उस काननवासिनी के तर्कजालों में बार-बार जान-बूझकर अपने को फँसा देता। अन्त में मंगल ने स्वीकार किया कि वह पाठ्यक्रम बदला जायगा। सरल पाठों में बालकों के चारित्र्य, स्वास्थ्य और साधारण ज्ञान को विशेष सहायता देने का उपकरण जुटाया जायेगा।

स्वावलम्बन का व्यावहारिक विषय निर्धारित होगा।

गाला ने सन्तोष की साँस लेकर देखा—आकाश का सुन्दर शिशु, बैठा हुआ बादलों की क्रीड़ा -शैली पर हँस रहा था और रजनी शीतल हो चली थी। रोएँ अनुभूति में सगबगाने लगे थे। दक्षिण पवन जीवन का सन्देश लेकर टेकरी पर विश्राम करने लगा था। मंगल की पलकें भारी थीं और गाला झीम रही थी। कुछ ही देर में दोनों अपने-अपने स्थान पर बिना किसी शैया के आडम्बर के सो गये।

३

एक दिन सवेरे की गाड़ी से वृन्दावन के स्टेशन पर नन्दो और घण्टी उतरी। बाथम स्टेशन के समीप ही, सड़क पर ईसाई-धर्म पर व्याख्यान दे रहा था–

यह देवमन्दिरों की यात्राएँ तुम्हारे मन में क्या भाव लाती हैं–पाप की या पुण्य की? तुम जब पापों के बोझ से लदकर, एक मन्दिर की दीवार से टिककर लम्बी साँस खींचते हुए सोचोगे कि मैं इससे छू जाने पर पवित्र हो गया, तो तुम्हारे में फिर से पाप करने की प्रेरणा बढ़ेगी। यह विश्वास कि देवमन्दिर मुझे पाप से मुक्त कर देंगे, भ्रम है।

सहसा सुननेवालों में मंगल ने कहा–ईसाई! तुम जो कह रहे हो, यदि वही ठीक है, तो इस भाव के प्रचार का सबसे बड़ा दायित्व लोगों पर है, जो कहते है कि पश्चात्ताप करो, तुम पवित्र हो जाओगे। भाई, हम लोग तो इस सम्बन्ध में ईश्वर को भी झंझट से दूर रखना चाहते हैं–

'जो जस करे सो तस फल चाखा!'

सुननेवालों ने ताली पीट दी। बाथम एक घोर सैनिक की भाँति प्रत्यावर्त्तन कर गया। वह भीड़ में से निकलकर अभी स्टेशन की ओर चला था कि सिर पर गठरी लिये हुए नन्दो के पीछे घण्टी जाती हुई दिखाई पड़ी। वह उत्तेजित होकर लपका, उसने पुकारा–घण्टी !

घण्टी के हृदय में सनसनी दौड़ गई। उसने नन्दो का कन्धा पकड़ लिया। धर्म का व्याख्याता ईसाई, पशु के फंदे में अपना गला फाँसकर उछलने लगा। उसने कहा–घण्टी! चलो, हम तुमको खोजकर लाचार हो गये–आह डार्लिंग!

भयभीत घण्टी सिकुड़ जाती थी। नन्दो ने डपटकर कहा–तू कौन है रे! क्या सरकारी राज नहीं रहा! आगे बढ़ा, तो ऐसा झापड़ लगेगा कि तेरा टोप उड़ जायेगा!

दो-चार मनुष्य और इकठ्टे हो गये। बाथम ने कहा–माँ जी, यह मेरी विवाहिता स्त्री है; यह ईसाई है, आप नहीं जानतीं।

नन्दो तो घबरा गई। और लोगों ने भी कान सगबगाये; पर सहसा फिर मंगल बाथम के सामने लेट गया। उसने घण्टी से पूछा–क्या तुम ईसाई-धर्म ग्रहण कर चुकी हो?

मैं धर्म-कर्म कुछ नहीं जानती। मेरा कोई आश्रय न था, तो इन्होंने मुझे कई दिन खाने को दिया था।

ठीक है; पर तुमने इनके साथ ब्याह किया था?

नहीं, यह मुझे दो-एक दिन गिरजाघर में ले गये ये, ब्याह-वाह मैं नहीं जानती।

मिस्टर बाथम, यह क्या कहती है? क्या आप लोगों का ब्याह चर्च में नियमानुसार हो चुका है।—आप प्रमाण दे सकते हैं?

नहीं, जिस दिन होनेवाला था, उसी दिन तो यह भागी। हाँ, यह बपतिस्मा अवश्य ले चुकी है।

क्यों, तुम ईसाई हो चुकी हो?

मैं नहीं जानती।

अच्छा मिस्टर बाथम। अब आप एक भद्र पुरुष होने के कारण इस तरह एक स्त्री को अपमानित न कर सकेंगे। इसके लिए आप पश्चात्ताप तो करेंगे ही, चाहे वह प्रकट न हो। छोड़िये, राह छोड़िए, जाओ देवी!

मंगल के इस कहने पर भीड़ हट गई। बाथम भी चला। अभी वह अपनी धुन में थोड़ी दूर गया था कि चर्च का बुड्ढा चपरासी मिला। बाथम चौंक पड़ा। चपरासी ने कहा—बड़े साहब की चलाचली है; चर्च को सँभालने के लिए आपको बुलाया है।

बाथम किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा चर्च के ताँगे पर जा बैठा।

पर नन्दो का तो पैर ही आगे न पड़ता था। वह एक बार घण्टी को देखती, फिर सड़क को। घण्टी के पैर उसी पृथ्वी में गड़े जा रहे थे। दुःख से दोनों के आँसू छलक आये थे। दूर खड़ा मंगल भी यह सब देख रहा था। वह फिर पास आया, बोला—आप लोग अब यहाँ क्यों खड़ी हैं?

नन्दो रो पड़ी, बोली—बाबूजी, बहुत दिन पर मेरी बेटी मिली भी, तो बेधरम होकर! हाय, अब मैं क्या करूँ?

मंगल के मस्तिष्क में सारी बातें दौड़ गईं, वह तुरन्त बोल उठा—आप लोग गोस्वामी जी के आश्रम में चलिये, वहाँ सब प्रबन्ध हो जाएगा, सड़क पर खड़ी रहने से फिर भीड़ लग जाएगी। आइए, मेरे पीछे-पीछे चली आइए!—मंगल ने आज्ञापूर्ण स्वर में ये शब्द कहे। दोनों उसके पीछे-पीछे आँसू पोंछती हुई चलीं।

मंगल को गम्भीर दृष्टि से देखते हुए गोस्वामीजी ने पूछा—तो तुम क्या चाहते हो?

गुरुदेव ! आपकी आज्ञा का पालन करना चाहता हूँ; सेवा-धर्म की जो दीक्षा आपने मुझे दी है, उसको प्रकाश्य रूप से व्यवहृत करने को मेरी इच्छा है। देखिए, धर्म के नाम पर हिन्दू स्त्रियों, शूद्रों, अछूतों—नहीं, वही प्राचीन शब्दों में कहे जानेवाले पापयोनियों—की क्या दुर्दशा हो रही है! क्या इन्हीं के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने परागति पाने की व्यवस्था नहीं दी है? क्या वे सब उनकी दया से वंचित ही रहें।

मैं आर्यसमाज का विरोध करता था—मेरी धारणा थी कि धार्मिक समाज में कुछ भीतरी सुधार कर देने से काम चल जाएगा; किन्तु गुरुदेव! यह आपका शिष्य मंगल आप ही की शिक्षा से आज यह कहने का साहस करता है कि परिवर्तन आवश्यक है; एक दिन मैंने अपने मित्र विजय का इन्हीं विचारों के लिए विरोध किया था; पर नहीं, अब मेरी यही दृढ़ धारणा हो गई है कि इस जर्जर धार्मिक समाज में जो पवित्र हैं—वे अलग पवित्र बने रहें, मैं उन पतितों की सेवा करूँ, जिन्हें ठोकरें लग रही हैं—जो बिलबिला रहे हैं!

मुझे पतितपावन के पदांक का अनुसरण करने की आज्ञा दीजिए। गुरुदेव, मुझसे बढ़कर कौन पतित होगा? कोई नहीं, आज मेरी आँखें खुल गई हैं, मैं अपने समाज को एकत्र करूँगा और गोपाल से तब प्रार्थना करूँगा कि भगवान तुममें यदि पावन करने की शक्ति हो, तो आओ। अहंकारी समाज के दम्भ से पद-दलितों पर अपनी करुणा-कादम्बिनी बरसाओ।

मंगल की आँखों में उत्तेजना के आँसू थे। उसका गला भर आया था। वह फिर कहने लगा–गुरुदेव! उन स्त्रियों की दशा पर विचार कीजिए, जिन्हें कल ही आश्रम में आश्रय मिला है।

मंगल! क्या तुमने भली-भाँति विचार कर लिया, और विचार करने पर भी तुमने यही कार्य-क्रम निश्चित किया है?–गम्भीरता से कृष्णशरण ने पूछा।

गुरुदेव! जब कार्य करना ही है, तब उसे उचित रूप क्यों न दिया जाय! देवनिरंजनजी से परामर्श करने पर मैंने तो यही निष्कर्ष निकाला है कि भारतसंघ स्थापित होना चाहिए।

परन्तु तुम मेरा सहयोग उसमें न प्राप्त कर सकोगे। मुझे इस आडम्बर में विश्वास नहीं है, यह मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। मुझे फिर कोई एकांत कुटिया खोजनी पड़ेगी–मुस्कराते हुए कृष्णशरण ने कहा।

कार्य आरम्भ हो जाने दीजिये। गुरुदेव! तब यदि आप उसमें अपना निर्वाह न देखें, तो दूसरा विचार करें। इस कल्याण-धर्म के प्रचार में क्या आप ही विरोधी बनियेगा! मुझे जिस दिन आपने सेवाधर्म का उपदेश देकर वृन्दावन से निर्वासित किया था, उसी दिन से मैं इसके लिए उपाय खोज रहा था; किन्तु आज जब सुयोग उपस्थित हुआ, देवनिरंजनजी जैसा सहयोगी मिल गया, तब आप ही मुझे पीछे हटने को कह रहे हैं।

पूर्ण गम्भीर हँसी के साथ गोस्वामीजी कहने लगे–अब निर्वासन का बदला लिये बिना तुम कैसे मानोगे? मंगल, अच्छी बात है, मैं शीघ्र प्रतिफल का स्वागत करता हूँ। किन्तु, मैं एक बात फिर कह देना चाहता हूँ कि मुझे व्यक्तिगत पवित्रता के उद्योग में विश्वास है, मैंने उसी को सामने रखकर उन्हें प्रेरित किया था। मैं यह न स्वीकार करूँगा कि वह भी मुझे न करना चाहिए था। किन्तु, जो कर चुका, वह लौटाया नहीं जा सकता। तो फिर करो, जो तुम लोगों की इच्छा!

मंगल ने कहा–गुरुदेव, क्षमा कीजिए–आशीर्वाद दीजिए।

अधिक न कहकर वह चुप हो गया। वह इस समय किसी भी तरह गोस्वामी जी के भारत-संघ का आरम्भ करा लिया चाहता था।

निरंजन ने जब वह समाचार सुना, तो उसे अपनी विजय पर प्रसन्नता हुई–दोनों उत्साह से आगे का कार्यक्रम बनाने लगे।

४

कृष्णशरण की टेकरी ब्रज-भर में रहस्यमय कुतूहल और सनसनी का केन्द्र बन रही थी। निरंजन के सहयोग से उसमें नवजीवन का संचार होने लगा। कुछ ही दिनों से सरला और लतिका भी उस विश्राम-भवन में आ गयी थीं।

लतिका बड़े चाव से वहाँ उपदेश सुनती। सरला तो एक प्रधान महिला कार्यकर्त्री थी। उसके हृदय में नई स्फूर्ति थी और शरीर में नये साहस का संचार था। संघ में बड़ी सजीवता आ चली। इधर यमुना के अभियोग में भी संघ प्रधान भाग ले रहा था, इसलिए बड़ी चहल-पहल रहती।

एक दिन वृन्दावन की गलियों में सब जगह बड़े-बड़े विज्ञापन चिपक रहे थे। उन्हें लोग भय और आश्चर्य से पढ़ने लगे–

भारत-संघ

हिन्दू-धर्म का सर्वसाधारण के लिए
खुला हुआ द्वार
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों से
(जो किसी विशेष कुल में जन्म लेने के कारण संसार में सबसे अलग रहकर; निस्सार महत्ता में फँसे हैं)
भिन्न एक नवीन हिन्दू जाति का
संगठन करानेवाला सुदढ़ केन्द्र
जिसका आदर्श प्राचीन है–
राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य-संस्कृति का प्रचारक
वही
भारत-संघ
सबको आमन्त्रित करता है!

दूसरे दिन नया विज्ञापन लगा–

भारत-संघ

वर्तमान कष्ट के दिनों में
श्रेणीवाद
धार्मिक पवित्रतावाद,
अभिजात्यवाद, इत्यादि अनेक रूपों में
फैले हुए सब देशों के भिन्न प्रकारों के जातिवाद
की
अत्यन्त उपेक्षा करता है!
श्रीराम ने शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया था
श्रीकृष्ण ने दासी-पुत्र विदुर का आतिथ्य ग्रहण किया था,
बुद्धदेव ने वेश्या के निमन्त्रण की रक्षा की थी;
इन घटनाओं को स्मरण करता हुआ
भारत-संघ मानवता के नाम पर
सबको गले से लगाता है!
राम, कृष्ण और बुद्ध महापुरुष थे
इन लोगों ने सत्साहस का पुरस्कार पाया था–
'कष्ट, तीव्र उपेक्षा और तिरस्कार!'
भारत-संघ भी

आप लोगों की ठोकरों की धूल
सिर से लगावेगा।

वृंदावन उत्तेजना की उँगलियों पर नाचने लगा। विरोध में और पक्ष में—देवमन्दिरों, कुंजों, गलियों और घाटों पर बातें होने लगीं।

तीसरे दिन फिर विज्ञापन लगा—

मनुष्य अपनी सुविधा के लिए
अपने और ईश्वर के सम्बन्ध को
धर्म,
अपने और अन्य मनुष्यों के सम्बन्ध को
नीति,
और रोटी-बेटी के सम्बन्ध को
समाज,
कहने लगता है, कम-से-कम
इसी अर्थ में इन शब्दों का व्यवहार करता है।
धर्म और नीति में शिथिल
हिन्दुओं का समाज-शासन
कठोर हो चला है!
क्योंकि, दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की
उसके पास क्षमता बच रही है—
और यह अत्याचार प्रत्येक काल और देश के
मनुष्यों ने किया है;
स्त्रियों की
निसर्ग-कोमल प्रकृति और उनकी रचना
इसका कारण है
भारत-संघ
ऋषि-वाणी को दोहराता है
'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'
कहता है—
स्त्रियों का सम्मान करो!

वृन्दावन में एक भयानक हलचल मच गई। सब लोग आजकल भारत-संघ और यमुना के अभियोग की चर्चा में संलग्न है। भोजन करके, पहले की आधी छोड़ी हुई बात फिर आरम्भ हो जाती है—वही भारत-संघ और यमुना!

मन्दिर के किसी-किसी मुखिया को शास्त्रार्थ की सूझी। भीतर-भीतर आयोजन होने लगा। पर, अभी खुलकर कोई प्रस्ताव नहीं आया था। उधर यमुना के अभियोग के लिए सहायतार्थ चन्दा भी आने लगा। वह दूसरी ओर की प्रतिक्रिया थी।

५

कई दिन हो गये थे। मंगल नहीं था। अकेले गाला उस पाठशाला का प्रबन्ध कर रही थी। उसका नवीन उत्साह उसे नित्य बल दे रहा था; पर उसे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उसने कोई वस्तु खो दी है। इधर एक पंडितजी भी उस पाठशाला में पढ़ाने लगे थे। उनका गाँव दूर था ; अतः गाला ने कहा—पण्डितजी, आप भी यहाँ रहा करें तो अधिक सुविधा हो। रात को छात्रों के कष्ट इत्यादि का समुचित प्रबन्ध भी कर दिया जाता और सूनापन उतना न अखरता।

पण्डितजी सात्त्विक बुद्धि के एक अधेड़ व्यक्ति थे। उन्होंने स्वीकार कर लिया। एक दिन वे बैठे हुए रामायण की कथा गाला को सुना रहे थे, गाला ध्यान से सुन रही थी। राम-बनवास का प्रसंग था। रात अधिक हो गई थी, पण्डितजी ने कथा बन्द कर दी । सब छात्रों ने फूस की चटाई पर पैर फैलाये और पण्डितजी ने भी कम्बल सीधा किया।

आज गाला की आँखों में नींद न थी। वह चुपचाप नैश पवन-विकम्पित लता की तरह कभी-कभी विचार में झीम जाती, फिर चौंक कर अपनी विचार-परम्परा की विशृंखल लड़ियों को सम्हालने लगती। उसके सामने आज रह-रहकर बदन का चित्र प्रस्फुटित हो उठता। वह सोचती—पिता की आज्ञा मानकर राम बनवासी हुए और मैंने पिता की क्या सेवा की? उलटा उनके वृद्ध जीवन में कठोर आघात पहुँचाया! और यह मंगल? किस माया में पड़ी हूँ! बालक पढ़ते हैं, मैं पुण्य कर रही हूँ, कर्त्तव्य कर रही हूँ; परन्तु क्या यह ठीक है? मैं एक दुर्दान्त दस्यु और यवनी की बालिका—हिन्दू समाज मुझे किस दृष्टि से देखेगा? ओह, मुझे इसकी क्या चिन्ता! समाज से मेरा क्या सम्बन्ध! फिर भी मुझे चिन्ता करनी ही पड़ेगी...क्यों? इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकती ; पर यह मंगल भी एक विलक्षण...आहा, बेचारा कितना परोपकारी है, तिस पर उसकी खोज करनेवाला कोई नहीं। न खाने की सुध, न अपने शरीर की। सुख क्या है—वह जैसे भूल गया है और मैं भी कैसी हूँ—पिताजी को कितनी पीड़ा मैंने दी, वे मसोसते होंगे। मैं जानती हूँ, लोहे से भी कठोर मेरे पिता अपने दुःख में भी किसी की सेवा-सहायता न चाहेंगे। तब यदि उन्हें ज्वर आ गया हो— उस जंगल के एकान्त में पड़े कराहते होंगे?

सहसा जैसे गाला के हृदय की गति रुकने लगी। उसके कान में बदन के कराहने का स्वर सुनाई पड़ा, जैसे पानी के लिए खाट के नीचे हाथ बढ़ाकर वह टटोल रहा हो। गाला से न रहा गया, वह उठ खड़ी हुई फिर निस्तब्ध आकाश की नीलिमा में वह बन्दी बना दी गई। उसकी इच्छा हुई कि चिल्लाकर रो उठे; परन्तु निरुपाय थी। उसने अपने रोने का मार्ग भी बन्द कर दिया था! बड़ी बेचैनी थी। वह तारों को गिन रही थी, पवन की लहरों को पकड़ रही थी।

सचमुच गाला आज अपने विद्रोही हृदय पर खीज उठी। वह अथाह अन्धकार के समुद्र में उभ चुभ हो रही थी—नाक में, आँख में, हृदय में जैसे अन्धकार भरा जा रहा था। अब उसे निश्चय हो गया कि वह डूब गई ! वास्तव में वह विचारों से थककर सो गई।

अभी पूर्व में प्रकाश नहीं फैला था। गाला की नींद उचट गई । उसने देखा, कोई बड़ी दाढी और मूँछों वाला लम्बा-चौड़ा मनुष्य खड़ा है। चिन्तित रहने से गाला का मन दुर्बल हो ही रहा था, उस आकृति को देखकर वह सहम गई । वह चिल्लाना ही चाहती थी कि उस व्यक्ति ने कहा—गाला मैं हूँ नये!

तुम हो! तो मैं चलती हूँ—कहकर गाला ने सलाई जलाकर आलोक किया। वह एक चिट पर कुछ लिखकर पण्डितजी के कम्बल के पास गई। वे अभी सो रहे थे; गाला चिट उनके सिरहाने रखकर नये के पास गई, दोनों टेकरी से उतरकर सड़क पर चलने लगे।

नये कहने लगा—

बदन के घुटने में गोली लगी थी। रात को पुलिस ने डाके के माल के सम्बन्ध में उस जंगल की तलाशी ली; पर कोई वस्तु वहाँ न मिली। हाँ अकेले बदन ने वीरता से पुलिस-दल का विरोध किया, तब उस पर गोली चलाई गई। वह गिर पड़ा। वृद्ध बदन ने इसको अपना कर्त्तव्य -पालन समझा। पुलिस ने फिर कुछ न पाकर घायल बदन को उसके भाग्य पर छोड़ दिया। यह निश्चय था कि वह मर जाएगा, तब उसे ले जाकर वह क्या करती!

सम्भवतः पुलिस ने रिपोर्ट दी—डाकू अधिक संख्या में थे। दोनों ओर से खूब गोलियाँ चलीं; पर कोई मरा नहीं। माल उन लोगों के पास न था। पुलिस, —दल कम होने के कारण लौट आई; उन्हें घेर न सकी। डाकू लोग निकल भागे—इत्यादि -इत्यादि।

गोली का शब्द सुनकर पास ही सोया हुआ भालू भूँक उठा, मैं भी चौंक पड़ा। देखा कि निस्तब्ध अँधेरी रजनी में यह कैसा शब्द! मैं कल्पना से बदन को संकट में समझने लगा।

जब से विवाह-सम्बन्ध को मैंने अस्वीकार किया, तब से बदन के यहाँ नहीं जाता था। इधर-उधर उसी खारी के तट पर पड़ा रहता। कभी सन्ध्या के समय पुल के पास जाकर कुछ माँग लाता, उसे खाकर भालू और मैं दोनों ही सन्तुष्ट हो जाते। क्योंकि खारी में जल की तो कमी तो थी नहीं। आज सड़क पर सन्ध्या को कुछ असाधारण चहल-पहल देखी; इसलिए बदन के कष्ट की कल्पना कर सका।

सिंवारपुर के गाँव के लोग मुझे औघड़ समझते—क्योंकि मैं कुत्ते के साथ ही खाता हूँ। कम्बल बग़ल में दबाये, भालू के साथ मैं, जनता की आँखों का एक आकर्षक विषय हो गया हूँ।

हाँ, तो बदन के संकट की कल्पना ने मुझको उत्तेजित कर दिया। मैं उसके झोंपड़े की ओर चला। वहाँ जाकर जब बदन को घायल कराहते देखा, तब तो मैं जमकर उसकी सेवा करने लगा। तीन दिन बीत गये, बदन का ज्वर भीषण हो चला। उसका घाव भी असाधारण था, गोली तो निकल गई थी, पर चोट गहरी थी। बदन ने एक दिन भी तुम्हारा नाम न लिया। सन्ध्या को जब मैं उसे जल पिला रहा था, मैंने वायु-विकार बदन की आँखों में

स्पष्ट देखा। उससे धीरे से पूछा—गाला को बुलाऊँ? बदन ने मुँह फेर लिया। मैं अपना कर्त्तव्य सोचने लगा, फिर निश्चय किया कि आज तुम्हें बुलाना ही चाहिए।

गाला पथ चलते-चलते यह कथा संक्षेप में सुन रही थी; पर कुछ न बोली। उसे इस समय केवल चलना ही सूझता था।

नये जब गाला को लेकर पहुँचा, तब बदन की अवस्था अत्यन्त भयानक हो चली थी। गाला उसके पैर पकड़कर रोने लगी। बदन ने कष्ट से दोनों हाथ उठाये, गाला ने अपने शरीर को अत्यन्त हल्का करके बदन के हाथ में दिया। मरणोन्मुख वृद्ध पिता ने अपनी कन्या का सिर चूम लिया।

नये उस समय हट गया था। बदन ने धीरे-से उसके कान में कुछ कहा, गाला ने भी समझ लिया अब अन्तिम समय है। वह डटकर पिता के खाट के पास बैठ गई।

हाय, उस दिन की भूखी संध्या ने उसके पिता को छीन लिया।

गाला ने बदन का शव-दाह किया। वह बाहर तो खुलकर रोती न थी, पर उसके भीतर की ज्वाला का ताप उसकी आरक्त आँखों में दिखाई देता था। उसके चारों ओर सूना था। उसने नये से कहा—मैं तो यह धन का सन्दूक़ न ले जा सकूँगी, तुम इसे ले लो।

नये ने कहा—भला मैं क्या करूँगा गाला! मेरा जीवन संसार के भीषण कोलाहल से, उत्सव से और उत्साह से ऊब गया है। अब तो मुझे भीख मिल जाती है। तुम तो इससे पाठशाला की सहायता पहुँचा सकती हो। मैं इसे वहाँ पहुँचा दे सकता हूँ।—फिर वह सिर झुकाकर मन-ही-मन सोचने लगा—जिसे मैं अपना कह सकता था, जिसे माता-पिता समझता था, वे ही जब अपने नहीं तो दूसरों की क्या!

गाला ने देखा, नये के मन में एक तीव्र विराग और वाणी में व्यंग्य है! वह चुपचाप दिनभर खारी के तट पर बैठी हुई सोचती रही। सहसा उसने घूमकर देखा, नये अपने कुत्ते के साथ कम्बल पर बैठा है। उसने पूछा—तो नये! यही तुम्हारी सम्पत्ति है न?

हाँ, इससे अच्छा इसका दूसरा उपयोग हो ही नहीं सकता। और, यहाँ तुम्हारा अकेले रहना ठीक नहीं।—नये ने कहा।

हाँ पाठशाला भी सूनी है— मंगलदेव वृन्दावन की एक हत्या में फँसी हुई यमुना नाम की एक स्त्री के अभियोग की देख-रेख करने गये हैं, उन्हें अभी कई दिन लगेंगे।

बीच ही में टोककर नये ने पूछा—क्या कहा! यमुना ? वह हत्या में फँसी है?

हाँ, पर तुम क्यों पूछते हो?

मैं भी हत्यारा हूँ गाला, इसी से पूछता हूँ। फ़ैसला किस दिन होगा? कब तक मंगलदेव आवेंगे?

परसों न्याय का दिन नियत है।—गाला ने कहा।

तो चलो, आज ही तुम्हें पाठशाला पहुँचा दूँ। अब यहाँ रहना ठीक भी नहीं।

अच्छी बात है जाओ, वह सन्दूक़ लेते आओ।

नये अपना कम्बल उठाकर चला। और गाला चुपचाप सुनहली किरणों को खारी के जल में बुझती हुई देख रही थी—दूर पर एक स्यार दौड़ा हुआ जा रहा था। उस निर्जन स्थान

में पवन रुक-रुक पर बह रहा था। खारी बहुत धीरे-धीरे अपने करुण-प्रवाह में बहती जाती थी; पर जैसे उसका पानी स्थिर हो-कहीं से आता-जाता न हो। एक स्थिरता और स्पन्दन-हीन विवशता गाला को घेरकर मुस्कराने लगी। वह सोच रही थी—शैशव से परिचित इस जंगली भूखंड को छोड़ने की बात!

गाला के सामने अन्धकार ने परदा खींच दिया। तब वह घबराकर उठ खड़ी हुई। इतने में कम्बल और सन्दूक़ सिर पर धरे नये वहाँ आ पहुँचा। गाला ने कहा—तुम आ गये!

हाँ चलो, बहुत देर चलना है!

दूर चले, भालू भी पीछे-पीछे था।

६

जज के साथ पाँच जूरी बैठे थे। सरकारी वकील ने अपना वक्तव्य समाप्त करते हुए कहा—जूरी सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि अपना मत देते हुए वे इस बात का ध्यान रखें कि वे लोग हत्या जैसे एक भीषण अपराध पर अपना मत दे रहे हैं। स्त्री, साधारण मनुष्य की दया को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है, फिर जब कि उसके साथ उसकी स्त्री-जाति की मर्यादा का प्रश्न भी लग जाता हो। तब यह बड़े साहस का काम है कि न्याय की पूरी सहायता हो। समाज में हत्या का रोग बहुत जल्द फैल सकता है, यदि अपराधी इस...

जज ने वक्तव्य समाप्त करने का संकेत किया। सरकारी वकील ने केवल—अच्छा तो आप लोग शान्त हृदय से अपराध का गुरुत्व विचारकर न्यायालय को न्याय करने में सहायता दीजिए। —कहकर वक्तव्य समाप्त किया।

जज ने जूरियों को सम्बोधन करके कहा—सज्जनो, यह एक हत्या का अभियोग है, जिसमें नवाब नाम का मनुष्य वृंदावन के समीप यमुना के किनारे मारा गया। इसमें तो संदेह नहीं कि वह मारा गया—डाक्टर का कहना है कि गला घोंटने और पत्थर से सिर फोड़ने से उनकी मृत्यु हुई। गवाह कहते हैं—जब हम लोगों ने देखा, तो यह यमुना उस मृत व्यक्ति पर झुकी हुई थी; पर, यह कोई नहीं कहता कि मैंने उसे मारते देखा। यमुना कहती है कि स्त्री की मर्यादा नष्ट करने जाकर नवाब मारा गया;पर सरकारी वकील का यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि उसने मारना स्वीकार किया है। यमुना के वाक्यों से यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जा सकता। इस विशेष बात को समझा देना आवश्यक था। यह दूसरी बात है कि वह स्त्री अपनी मर्यादा के लिए हत्या कर सकती है या नहीं, यद्यपि नियम इसके लिए बहुत स्पष्ट हैं। विचार करने के समय आप लोग इन बातों का ध्यान रक्खेंगे। अब आप लोग एकान्त में जा सकते हैं।

जूरी लोग एक कमरे में जा बैठे। यमुना निर्भीक होकर जज का मुँह देख रही थी। न्यायालय में दर्शक बहुत थे। उस भीड़ में मंगल, निरंजन इत्यादि भी थे। सहसा द्वार पर हलचल हुई, कोई भीतर घुसना चाहता था। रक्षियों ने शांति की घोषणा की। जूरी लोग आये।

दो ने कहा—हम लोग यमुना को हत्या का अपराधी समझते हैं; पर दण्ड इसे कम दिया जाय।—जज ने मुस्करा दिया।

अन्य तीन सज्जनों ने कहा—प्रमाण अभियोग के लिए पर्याप्त नहीं है।

अभी वे पूरा कहने नहीं पाये थे कि एक लम्बा-चौड़ा, दाढ़ी-मूँछ वाला युवक, कम्बल बग़ल में दबाये, कितनों ही को धक्का देता, जज की कुरसी की बग़ल वाली खिड़की से कब घुस आया, यह किसी ने नहीं देखा। वह सरकारी वकील के पास आकर बोला—मैं हूँ हत्यारा ! मुझको फाँसी दो? यह स्त्री निरपराध है।

जज ने चपरासियों की ओर देखा। पेशकार ने कहा—पागलों को भी तुम नहीं रोकते! ऊँघते रहते हो क्या?

इसी गड़बड़ी में बाकी तीन जूरी सज्जनों ने अपना वक्तव्य पूरा किया —हम लोग यमुना को निरपराध समझते हैं।

उधर वह पागल भीड़ में से निकला जा रहा था। उसका कुत्ता भौंककर हल्ला मचा रहा था। इसी बीच में जज ने कहा—हम इन तीन जूरियों से सहमत होते हुए यमुना को छोड़ देते हैं।

एक हलचल मच गई। मंगल और निरंजन—जो अब तक दुश्चिन्ता और सन्देह से कमरे के बाहर थे—यमुना के समीप आये। वह रोने लगी। उसने मंगल से कहा—मैं नहीं चल सकती। मंगल मन-ही-मन कट गया। निरंजन उसे सान्त्वना देकर आश्रम तक ले आया।

एक वकील साहब कहने लगे—क्यों जी, मैंने तो समझा था कि पागलपन भी एक दिल्लगी है; पर यह तो प्राणों से भी खिलवाड़ है।

दूसरे ने कहा—यह भी तो पागलपन है, जो पागल से भी बुद्धिमानी की आशा तुम रखते हो!

दोनों वकील मित्र हँसने लगे।

पाठकों को कुतूहल होगा कि बाथम ने अदालत में उपस्थित होकर क्यों नहीं इस हत्या पर प्रकाश डाला! परन्तु वह नहीं चाहता था कि उस हत्या के अवसर पर उसका रहना तथा उक्त घटना से उसका सम्पर्क सब लोग जान लें। उसका हृदय घण्टी के भाग जाने से और भी लज्जित हो गया था। अब यह अपने को इस सम्बन्ध में बदनाम होने से बचाना चाहता था। वह प्रचारक बन गया था।

इधर आश्रम में लतिका, सरला, घण्टी और नन्दो के साथ यमुना भी रहने लगी, पर यमुना अधिकतर कृष्णशरण की सेवा में रहती। उनकी दिनचर्या बड़ी नियमित थी। वह चाची से भी नहीं बोलती और निरंजन उसके पास ही आने में संकुचित होता। भंडारीजी का तो साहस ही उसका सामना करने का न हुआ।

पाठक आश्चर्य करेंगे कि घटना -सूत्र तथा सम्बन्ध में इतने समीप के मनुष्य एकत्र होकर भी चुपचाप कैसे रहे?

लतिका और घण्टी का यह वह मनोमालिन्य न रहा, क्योंकि अब बाथम से दोनों का कोई सम्बन्ध न रहा। नन्दो चाची ने यमुना के साथ उपकार भी किया था और अन्याय भी।

यमुना के हृदय में मंगल के व्यवहार की इतनी तीव्रता थी कि उसके सामने और किसी के अत्याचार परिस्फुटित हो नहीं पाते। वह अपने दुःख सुख में किसी को साझीदार बनान की चेष्टा न करती। निरंजन मन में सोचता–मैं बैरागी हूँ। मेरे शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक परमाणुओं को मेरे दुष्कर्म के ताप से दग्ध होना विधाता का अमोघ विधान है, यदि सब बातें खुल जाएँ, तो यह सताई हुई स्त्री और भी विरक्ति के नीचे पिसने लग जाय और फिर मैं कहाँ खड़ा रहूँगा! यह आश्रम मुझे किस दृष्टि से देखेगा। नन्दो सोचती–यदि मैं कुछ भी कहती हूँ, तो मेरा ठिकाना नहीं, इसलिए जो हुआ, सो हुआ, अब इसमें चुप रह जाना ही अच्छा है। मंगल और यमुना आप ही अपना रहस्य खोलें, मुझे क्या पड़ी है?

इसी तरह निरंजन, नन्दो और मंगल का मौन भय, यमुना के अदृष्ट अन्धकार का सृजन कर रहा था। मंगल का सार्वजनिक उत्साह, यमुना के सामने अपराधी हो रहा था। वह अपने मन को सान्त्वना देता कि इसमें मेरा क्या अन्याय है–जब उपयुक्त अवसर पर मैंने अपना अपराध स्वीकार करना चाहा, तभी तो यमुना ने मुझे वर्जित किया तथा अपना और मेरा पथ भिन्न-भिन्न कर दिया । इसके हृदय में विजय के प्रति इतनी सहानुभूति कि उनके लिए फाँसी पर चढ़ना स्वीकार! यमुना से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।–वह उद्विग्न हो उठता। सरला दूर से उनके उद्विग्न मुख को देख रहा थी। उसने पास आकर कहा–अहा, तुम इन दिनों अधिक परिश्रम करते-करते थक गये हो!

नहीं माता, सेवक को विश्राम कहाँ? अभी तो आप लोगों के संघ-प्रवेश का उत्सव जब तक समाप्त नहीं हो जाता, हमको छुट्टी कहाँ!

सरला के हृदय में स्नेह का संचार देखकर मंगल का हृदय भी स्निग्ध हो चला। उसको बहुत दिनों पर इतने सहानुभूति सूचक शब्द पुरस्कार में मिले थे।

मंगल इधर लगातार कई दिन धूप में परिश्रम करता रहा। आज उसकी आँखें लाल हो रही थीं। दालान में पड़ी हुई चौकी पर जाकर लेट रहा। ज्वर का आतंक उसके ऊपर छा गया था। वह अपने मन में सोच रहा था कि बहुत दिन हुए बीमार पड़े– काम कर के रोगी हो जाना भी एक विश्राम है, चलो कुछ दिन छुट्टी ही सही। फिर वह सोचता कि मुझे बीमार होने की आवश्यकता नहीं; एक घूँट पानी तक को कोई न पूछेगा। न भाई, यह सुख दूर रहे! पर, उसके अस्वीकार करने से क्या दुःख न आते! उसे ज्वर आ ही गया, वह एक कोने में पड़ा।

निरंजन उत्सव की तैयारी में व्यस्त था। मंगल के रोगी हो जाने से सब का छक्का छूट गया। कृष्णशरणजी ने कहा–तब तक संघ के लोगों के उपदेश के लिए मैं राम-कथा कहूँगा और सर्वसाधारण के लिए प्रदर्शन तो जब मंगल स्वस्थ होगा, किया जायगा।

बहुत-से लोग बाहर से भी आ गये थे। संघ में बड़ी चहल-पहल थी; पर मंगल ज्वर में अचेत रहता। केवल सरला उसे देखती थी। आज तीसरा दिन था, ज्वर में तीव्र दाह था, अधिक वेदना से सिर में पीड़ा थी; लतिका ने कुछ समय के लिए छुट्टी देकर सरला को स्नान करने के लिए भेज दिया था। सवेरे की धूप जंगले के भीतर जा रही थी। उसके प्रकाश

में मंगल की रक्तवर्ण आँखें भीषण लाली से चमक उठतीं। मंगल ने कहा—गाला! लड़कियों की पढ़ाई पर...

लतिका पास बैठी थी। उसने समझ लिया कि ज्वर की भीषणता में मंगल प्रलाप कर रहा है। वह घबरा उठी। सरला इतने में स्नान करके आ चुकी थी। लतिका ने प्रलाप की सूचना दी। सरला उसे वहीं रहने के लिए कहकर गोस्वामी के पास गई। उसने कहा—महाराज! मंगल का ज्वर भयानक हो गया है। वह गाला का नाम लेकर चौंक उठता है।

गोस्वामीजी कुछ चिन्तित हुए।—कुछ विचार कर उन्होंने कहा—सरला घबराने की कोई बात नहीं, मंगल शीघ्र अच्छा हो जायगा। मैं गाला को बुलवाता हूँ।

गोस्वामीजी की आज्ञा से एक छात्र उनका पत्र लेकर सीकरी गया। दूसरे दिन गाला उसके साथ आ गई। यमुना ने उसे देखा। वह मंगल से दूर रहती। फिर भी न जाने क्यों उसका हृदय कचोट उठता; पर वह लाचार थी।

गाला और सरला कमर कसकर मंगल की सेवा करने लगीं। वैद्य ने देखकर कहा—अभी पाँच दिन में यह ज्वर उतरेगा। बीच में सावधानी की आवश्यकता है। कुछ चिन्ता नहीं! —यमुना सुन रही थी, वह कुछ निश्चित हुई।

इधर संघ में बहुत-से बाहरी मनुष्य भी आ गये थे। उन लोगों के लिए गोस्वामीजी राम-कथा कहने लगे थे।

आज मंगल के ज्वर का वेग अत्यन्त भयानक था। गाला पास बैठी हुई मंगल के मुख पर पसीने की बूँदों को कपड़े में पोछ रही थी। बार-बार प्यास से मंगल का मुँह सूखता था। वैद्यजी ने कहा था—आज की रात बीत जाने पर यह निश्चय अच्छा हो जायगा। गाला की आँखों में बेबसी और निराशा नाच रही थी। सरला ने दूर से यह सब देखा। अभी रात आरम्भ हुई थी। अन्धकार ने संघ के प्रांगण में लगे हुए विशाल वृक्षों पर अपना दुर्ग बना लिया था। सरला का मन व्यथित हो उठा। वह धीरे-धीरे एक बार कृष्ण की प्रतिमा के सम्मुख आई। उसने प्रार्थना की। वही सरला, जिसने एक दिन कहा था—भगवान के दुख-दान को आँचल पसारकर लूँगी—आज मंगल की प्राणभिक्षा के लिए आँचल पसारने लगी। यह कंकाल का गर्व था, जिसके पास कुछ बचा ही नहीं। वह किसकी रक्षा चाहती! सरला के पास तब क्या था, जो वह भगवान के दुःख-दान से हिचकती। हताश जीवन तो साहसिक बन ही जाता है; परन्तु आज उसे कथा सुनकर विश्वास हो गया था कि विपत्ति में भगवान सहायता के लिए अवतार लेते है, आते हैं भयभीतों के उद्धार के लिए! अहा, मानव-हृदय की स्नेह-दुर्बलता कितना महत्त्व रखती है! यही तो उसके यांत्रिक जीवन की ऐसी शक्ति है। प्रतिमा निश्चल रही, तब भी उसका हृदय आशापूर्ण था। वह खोजने लगी—कोई मनुष्य मिलता, कोई देवता आकर अमृत-पात्र मेरे हाथों में रख जाता। 'मंगल! मंगल!' —कहती हुई वह आश्रम के बाहर निकल पड़ी! उसे विश्वास था कि कोई दैवी सहायता मुझे अचानक मिल जाएगी अवश्य!

यदि मंगल जी उठता जो गाला कितनी प्रसन्न होती!—यही बड़बड़ाती हुई वह यमुना के तट को ओर बढ़ने लगी। अन्धकार में पथ दिखाई न देता था; पर वह चली जा रही थी।

यमुना के पुलिन में नैश अन्धकार बिखर रहा था। तारों की सुन्दर पंक्तियाँ झलमलाती हुई अनन्त में जैसे घूम रही थीं। उनके आलोक में यमुना का स्थिर गम्भीर प्रवाह जैसे अपनी करुणा में डूब रहा था। सरला ने देखा—एक व्यक्ति कम्बल ओढ़े, यमुना की ओर मुँह किये, बैठा है ; जैसे किसी योगी की अचल समाधि लगी हो।

सरला कहने लगी—हे यमुना माता! मंगल का कल्याण करो और उसे जीवित करके गाला को भी प्राणदान दो। माता! आज की रात बड़ी भयानक है—दुहाई भगवान की।

वह बैठा हुआ कम्बल वाला विचलित हो उठा। उसने बड़े गम्भीर स्वर से पूछा—क्या मंगलदेव रुग्ण हैं?

प्रार्थिनी और व्याकुल सरला ने कहा—हाँ महाराज! यह किसी का बच्चा है, उसके स्नेह का धन है, उसी की कल्याण-कामना कर रही हूँ।

और तुम्हारा नाम सरला है? तुम ईसाई के घर पहले रहती थीं न! —धीरे स्वर से प्रश्न हुआ।

हाँ योगिराज। आप तो अन्तर्यामी हैं!

उस व्यक्ति ने टटोलकर कोई वस्तु निकालकर सरला की ओर फेंक दी। सरला ने देखा, वह एक यंत्र है। उसने कहा—बड़ी दया हुई महाराज! तो इसे ले जाकर बाँध दूँगी न!

वह फिर कुछ न बोला, जैसे समाधि लग गई हो। सरला ने अधिक छेड़ना उचित न समझा। मन-ही-मन नमस्कार करती हुई, प्रसन्नता से आश्रम की ओर लौट पड़ी।

वह अपनी कोठरी में आकर, उस यंत्र को धागे में पिरोकर, मंगल के प्रकोष्ठ के पास गई। उसने सुना, कोई कह रहा है—बहन गाला! तुम थक गई होगी, लाओ मैं कुछ समय सहायता कर दूँ।

उत्तर मिला—नहीं यमुना बहिन! मैं तो अभी बैठी हूँ, फिर आवश्यकता होगी, तो बुलाऊँगी।

एक स्त्री लौटकर निकल गई। सरला भीतर घुसी। उसने वह यंत्र मंगल के गले में बाँध दिया और मन-ही-मन भगवान से प्रार्थना की। वहीं बैठी रही। दोनों ने रात भर बड़े यत्न से सेवा की।

प्रभात होने लगा। बड़े सन्देह से सरला ने उस प्रभात के आलोक को देखा। दीप की ज्योति मलिन हो चली। रोगी इस समय निद्रित था। जब प्रकाश उस कोठरी में घुस आया, तब गाला, सरला और मंगल तीनों नींद में सो रहे थे।

जब कथा समाप्त करके सब लोगों के चले जाने पर गोस्वामीजी उठकर मंगलदेव के पास आये, तब गाला बैठी पंखा झल रही थी। उन्हें देखकर वह संकोच से उठ खड़ी हुई। गोस्वामीजी ने कहा—सेवा सबसे कठिन व्रत है देवि! तुम अपना काम करो। हाँ मंगल! तुम अब अच्छे हो न!

कम्पित-कंठ से मंगल ने कहा—हाँ, गुरुदेव!

अब तुम्हारा अभ्युदय-काल है, घबराना मत! कहकर गोस्वामीजी चले गये।

दीपक जल गया। आज अभी तक सरला नहीं आई। गाला को बैठे हुए बहुत विलम्ब हुआ। मंगल ने कहा–जाओ गाला, संध्या हुई; हाथ-मुँह तो धो लो, तुम्हारे इस अथक परिश्रम से मैं कैसे उद्धार पाऊँगा?

गाला लज्जित हुई। इतने सम्भ्रान्त मनुष्य और स्त्रियों के बीच आकर कानन-वासिनी ने लज्जा सीख ली थी। वह अपने स्त्रीत्व का अनुभव कर रही थी। उसके मुख पर विजय की मुस्कराहट थी। उसने कहा–अभी माँ जी नहीं आई, उन्हें बुला लाऊँ!–कहकर सरला को खोजने के लिए वह चली।

सरला मौलिसिरी के नीचे बैठी सोच रही थी–जिन्हें लोग भगवान कहते हैं, उन्हें भी माता की गोद से निर्वासित होना पड़ा था। दशरथ ने तो अपना अपराध समझकर प्राण-त्याग दिया; परन्तु कौशल्या कठोर होकर जीती रही–जीती रही श्रीराम का मुख देखने के लिए। क्या मेरा भी दिन लौटेगा?–क्या मैं इसी से अब तक प्राण न दे सकी!

गाला ने सहसा आकर कहा–चलिये!

दोनों मंगल को कोठरी की ओर चलीं।

मंगल के गले के नीचे वह यंत्र गड़ रहा था। उसने तकिया से उसे खींचकर बाहर किया। मंगल ने देखा कि वह यंत्र उसी का पुराना यंत्र है। वह आश्चर्य से पसीने-पसीने हो गया। दीप के आलोक में उसे वह देख ही रहा था कि सरला भीतर आई। सरला को बिना देखे ही अपने कुतूहल मे उसने प्रश्न किया–वह मेरा यंत्र इतने दिनों पर कौन लाकर पहना गया, आश्चर्य है।

सरला ने उत्कण्ठा से पूछा–तुम्हारा यन्त्र कैसा बेटा! यह तो मैं एक साधु से लाई हूँ!

मंगल ने सरल आँखों से उसकी ओर देखकर कहा–माँ जी, यह मेरा ही यंत्र है, मैं इसे बराबर बाल्यकाल में पहना करता था। जब यह खो गया, तभी से दुःख पा रहा हूँ। आश्चर्य है, इतने दिनों पर यह कैसे आपको मिल गया!

सरला के धैर्य का बाँध टूट पड़ा। उसने यन्त्र को हाथ में लेकर देखा–'वही त्रिकोण यंत्र।' वह चिल्ला उठी–मेरे खोये हुए निधि। मेरे लाल!यह दिन देखना किस पुण्य का फल है मेरे भगवान!

मंगल तो आश्चर्य -चकित था। सब साहस बटोरकर उसने कहा–तो क्या सचमुच तुम्हीं मेरी माँ हो!

तीनों के आनन्दाश्रु बाँध तोड़कर बहने लगे।

सरला ने गाला के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा–बेटी ! तेरे भाग्य से आज मुझे मेरा खोया हुआ धन मिल गया!

गाला गड़ी जा रही थी।

मंगल एक आनन्दमय कुतूहल से पुलकित हो उठा। उसने सरला के पैर पकड़कर कहा–मुझे तुमने छोड़ क्यों दिया था माँ?

उसकी भावनाओं की सीमा न थी। कभी वह जीवन-भर के हिसाब को बराबर हुआ समझता, कभी उसे भान होता कि आज से संसार में मेरा जीवन प्रारम्भ हुआ है।

सरला ने कहा—मैं कितनी आशा में थी, यह तुम क्या जानोगे। तुमने तो अपनी माता के जीवित रहने की कल्पना भी न की होगी। पर भगवान की दया पर मेरा विश्वास था और उसने मेरी लाज रख ली!

उस हर्ष से लतिका वंचित न रही। उसने भी बहुत दिनों बाद अपनी हँसी को लौटाया।

भण्डार में बैठी हुई नन्दो ने भी इस सम्वाद को सुना, वह चुपचाप रही। घण्टी भी स्तब्ध होकर अपनी माता के साथ काम में हाथ बँटाने लगी।

७

आलोक-प्रार्थिनी यमुना, अपने कुटीर में दीपक बुझाकर बैठी रही। उसे आशा थी कि वातायन और द्वारों से राशि-राशि प्रभात का धवल आनन्द उसके प्रकोष्ठ में भर जायगा; पर जब समय आया, किरनें फूटीं, तब उसने अपने वातायनों, झरोखों और द्वारों को रुद्ध कर दिया! आँखें भी बन्द कर लीं। आलोक कहाँ से आये! वह चुपचाप पड़ी थी। उसके जीवन की अनन्त रजनी उसके चारों ओर घिरी थी।

लतिका ने जाकर द्वार खटखटाया। उद्धार की आशा में आज संघ-भर में उत्साह था। यमुना हँसने की चेष्टा करती हुई बाहर आई। लतिका ने कहा—चलोगी बहन यमुना! स्नान करने?

चलूँगी बहन, धोती ले लूँ!

दोनों आश्रम के बाहर हुईं। चलते-चलते लतिका ने कहा—बहिन सरला का दिन भगवान ने जैसे लौटाया, वैसा सबका लौटे। अहा, पचीसों बरस पर किसका लड़का लौटकर गोद में आता है।

सरला के धैर्य का फल है बहन! परन्तु सबका दिन लौटे, ऐसी तो भगवान की रचना नहीं देखी जाती। बहुतों का दिन कभी न लौटने के लिए चला जाता है। विशेषकर स्त्रियों का। मेरी रानी। जब मैं स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री -जाति की लज्जा की मेघमाला है। उनकी असहाय परिस्थिति का व्यंग्य-उपहास है। —यमुना ने कहा।

लतिका ने आश्चर्य से आँखें बड़ी करते हुए कहा—सच कहती हो बहन! जहाँ स्वतन्त्रता नहीं है, वहाँ पराधीनता का आन्दोलन है; और जहाँ से सब माने हुए नियम हैं, वहाँ कौन-सी अच्छी दशा है। यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को कुछ विशेष सुविधा है। हाय, हाय, पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, वह हृदय चाहती है पर मन इतना भिन्न उपकरणों से बना हुआ है कि समझौते पर ही संसार के स्त्री-पुरुषों का व्यवहार चलता हुआ दिखाई देता है। इसका समाधान करने के लिए कोई नियम या संस्कृति असमर्थ है।

मुझे ही देखो न, मैं ईसाई-समाज की स्वतन्त्रता में अपने को सुरक्षित समझती थी; पर भला मेरा धन मेरा रहा! तभी हम स्त्रियों के भाग्य में लिखा है कि उड़कर भागते हुए पक्षी के पीछे, चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिये घूमती रहें।

यमुना ने कहा– कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन! सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलनेवाले क्रूर हैं। फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिए यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।

दूर पर नन्दो और घण्टी जाती हुई दिखाई पड़ीं। लतिका ने पुकारा, दोनों ठहर गयीं। लतिका, यमुना के साथ दोनों के पास जा पहुँची।

नन्दो ने यमुना की और संकुचित दृष्टि से देखा, और घण्टी की आँखों में स्नेह की भिक्षा थी। सब चुप थी। सबका रहस्य सबका गला घोंट रहा था। किसी के मुख से एक शब्द भी न निकला। सब यमुना-तट पर पहुँचीं।

स्नान करते हुए घण्टी और लतिका एकत्र हो गयीं, और उसी तरह चाची और यमुना का एक जुटाव हुआ। यह आकस्मिक था। घण्टी ने अंजली में जल लेकर लतिका से कहा–बहन! मैं अपराधिनी हूँ, मुझे क्षमा करोगी?

लतिका ने कहा–बहन ! हम लोगों का अपराध दूर चला गया है। यह तो मैं जान गयी हूँ कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचनेवाली थीं; पर सम्भवतः थककर दोनों ही लौट आईं। कोई पहुँच जाता तो द्वेष की सम्भावना थी, ऐसा ही तो संसार का नियम है; पर अब तो हम दोनों एक-दूसरे को समझा सकती हैं, सन्तोष कर सकती हैं।

घण्टी ने कहा–दूसरा उपाय नहीं है बहन! तो मुझे क्षमा कर दो। आज से मुझे बहन कहकर बुलाओगी न?

लतिका ने देखा, नारी-हृदय गल-गलकर आँखों की राह से उसकी अंजली के यमुना-जल में मिल रहा है। वह अपने को न रोक सकी, लतिका और घण्टी गले से लगकर रोने लगीं। लतिका ने कहा–आज से दुःख में, सुख में, हम लोग कभी साथ न छोड़ेंगी। बहन! संसार में गला बाँधकर जीवन बिताऊँगी, यमुना साक्षी है।

दूर यमुना और नन्दो चाची ने इस दृश्य को देखा। नन्दो का मन न जाने किन भावों से भर गया। मानो जन्म-भर की उसकी कठोरता तीव्र पाप लगने से बरफ के समान गलने लगी हो। उसने यमुना से रोते हुए कहा–यमुना, नहीं-नहीं –बेटी तारा! मुझे भी क्षमा कर दे! मैंने जीवन-भर बहुत-सी बुरी बातें की है; पर जो कठोरता तेरे साथ हुई है, वह नरक की आँच से भी तीव्र दाह उत्पन्न कर रही है। बेटी! मैं मंगल को उसी समय पहचान गई, जब उसने अँगरेज से मेरी घण्टी को छुड़ाया था; पर वह न पहचान सका, उसे वे बातें भूल गयी थीं, तिसपर मेरे साथ मेरी बेटी थी, जिसकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था। वह छलिया मंगल आज एक दूसरी स्त्री से ब्याह करने की सुख-चिन्ता में निमग्न है। मैं जल उठती हूँ बेटी । मैं उसका सब भण्डाफोड़ कर देना चाहती थी; पर तुझे भी यहीं चुपचाप देखकर मैं कुछ न कर सकी। हाय रे पुरुष!

नहीं चाची! अब वह दिन चाहे लौट आये, पर वह हृदय कहाँ आवेगा! मंगल को दुःख पहुँचाकर आघात दे सकूँगी, अपने लिए सुख कहाँ से लाऊँगी। चाची! तुम मेरे दुःखों की

साक्षी हो, मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा कर लिया था, और कुछ मन्त्रों से कुछ लोगों की जीभ पर उसका उल्लेख नहीं करा लिया था; पर किया था प्रेम। चाची! यदि उसका यही पुरस्कार है, तो मैं उसे स्वीकार करती हूँ। यमुना ने कहा।

पुरुष कितना बड़ा ढोंगी है बेटी! वह हृदय के विरुद्ध ही तो जीभ से कहता है। आश्चर्य है, उसे सत्य कहकर चिल्लाता है! —उत्तेजित चाची ने कहा।

पर मैं एक उत्कट अपराध की अभियुक्त हूँ चाची! आह मेरा पन्द्रह दिन का बच्चा! मैं कितनी निर्दय हूँ! मैं उसी का तो फल भोग रही। मुझे किसी दूसरे ने ठोकर लगाई और मैंने दूसरे को ठुकराया। हाय! संसार अपराध करके इतना अपराध नहीं करता, जितना यह दूसरों को उपदेश देकर करता है। जो मंगल ने मुझसे किया, वही तो मैं हृदय के टुकड़े से, अपने से, कर चुकी हूँ। मैंने सोचा था कि फाँसी पर चढ़कर उसका प्रायश्चित्त कर सकूँगी, पर डूबकर बची—फाँसी से बची! हाय-रे कठोर नारी-जीवन!!न जाने मेरे लाल का क्या हुआ?

यमुना नहीं—अब उसे तारा कहना चाहिए—रो रही थी। उसकी आँखों में जितनी करुण-कालिमा थी, उतनी कालिन्दी में कहाँ!

चाची ने उसकी अश्रुधारा पोंछते हुए कहा—बेटी! तुम्हारा लाल जीवित है, सुखी है!

तारा चिल्ला पड़ी, उसने कहा—सच कहती हो चाची?

सच तारा! वह काशी के एक धनी श्रीचन्द्र और किशोरी बहू का दत्तक पुत्र है; मैंने उसे वहाँ दिया है। क्या इसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगी बेटी?

तुमने मुझे जिला लिया, अहा! मेरी चाची, तुम मेरी उस जन्म की माता हो, अब मैं सुखी हूँ!—वह जैसे एक क्षण के लिए पागल हो गयी। चाची के गले से लिपटकर रो उठी। वह रोना आनन्द का था।

चाची ने उसे सान्त्वना दी। इधर घण्टी और लतिका भी पास आ रही थीं। तारा ने धीरे से कहा—मेरी विनती है, अभी इस बात को किसी से न कहना—यह मेरा 'गुप्त धन' है।

चाची ने कहा—यमुना साक्षी है!

चारों के मुख पर प्रसन्नता थी। चारों का हृदय हल्का था। जब स्नान करके दूसरी बातें करती हुई आश्रम लौटीं। लतिका ने कहा—अपनी सम्पत्ति संघ को देती हूँ वह स्त्रियों की स्वयंसेविका की पाठशाला चलावे। मैं उसकी पहली छात्रा होऊँगी। और तुम घण्टी?

घण्टी ने कहा—मैं भी! बहन, स्त्रियों को स्वयं घर पर जाकर अपनी दुखिया बहनों की सेवा करनी चाहिए। पुरुष उन्हें उतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं, जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। घरों के भीतर अन्धकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें अत्याचार के परदे में छिपाई गई हैं, उनकी सेवा करूँगी। धात्री, उपदेशिका, धर्म-प्रचारिका, सहचारिणी बनकर उनकी सेवा करूँगी।

सब प्रसन्न मन से आश्रम में पहुँच गईं।

८

नियत दिन आ गया, आज उसका विराट् आयोजन है। संघ के प्रांगण में वितान तना है। चारों ओर प्रकाश है। बहुत-से दर्शकों की भीड़ है।

गोस्वामीजी, निरंजन और मंगलदेव संघ की प्रतिमा के सामने बैठे हैं। एक ओर घण्टी, लतिका, गाला और सरला भी बैठी है। गोस्वामीजी ने शान्त वाणी में आज के उत्सव का उद्देश्य समझाया और कहा—भारत-संघ के संगठन पर आप लोग देवनिरंजनजी का व्याख्यान दत्तचित्त होकर सुनें। निरंजन का व्याख्यान आरम्भ हुआ-

प्रत्येक समय में सम्पत्ति-अधिकार और विद्या ने भिन्न-भिन्न देशों में जाति, वर्ण और ऊँच-नीच की सृष्टि की। जब आप लोग इसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते हैं, तब यह भूल जाते हैं कि इसमें ईश्वर का उतना सम्बन्ध नहीं, जितना उसकी विभूतियों का। कुछ दिनों तक उन विभूतियों का अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही बन जाते हैं, वह प्रमत्त हो जाता है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम, विभूतियों का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, यह कहलाती है उत्क्रान्ति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतियाँ, मानव-स्वार्थ के बन्धनों को तोड़कर समस्त भूत हित के लिए बिखरना चाहती हैं। वह समदर्शी भगवान की क्रीड़ा है।

भारतवर्ष आज वर्णों और जातियों के बन्धन में जकड़कर कष्ट पा रहा है और दूसरों को कष्ट दे रहा है। यद्यपि अन्य देशों में भी इस प्रकार के समूह बन गये हैं; परन्तु यहाँ इसका भीषण रूप है। यह महत्त्व का संस्कार अधिक दिनों तक प्रभुत्व भोगकर खोखला हो गया है। दूसरे की उन्नति से उसे डाह होने लगी है। समाज अपना महत्त्व धारण करने की क्षमता तो खो चुका है; परन्तु व्यक्तियों की उन्नति का दल बनाकर सामूहिक रूप से विरोध करने लगा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी छूँछी महत्ता पर इतराता हुआ दूसरे को नीचा—अपने से छोटा—समझता है, जिससे सामाजिक विषमता का विषमय प्रभाव फैल रहा है।

अत्यन्त प्राचीनकाल में भी इस वर्ण-विद्वेष का—ब्रह्म-क्षत्र-संघर्ष का—साक्षी रामायण है—

उस वर्ण-भेद के भयानक संघर्ष का यह इतिहास जानकर भी, नित्य उसका पाठ करके भी भला हमारा देश कुछ समझता है? नहीं, यह देश समझेगा भी नहीं। सज्जनो! वर्ण-भेद, सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना; परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, वह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ, वह न रहा, गुण-कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, आभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गयी, उसका व्यक्तिगत परीक्षात्मक निर्वाचन के लिए, वर्णों के शुद्ध वर्गीकरण के लिए वर्तमान अतिवाद को मिटाना होगा—बल, विद्या और विभव की ऐसी सम्पत्ति किस हाड़-मांस के पुतले के भीतर ज्वालामुखी-सी धधक उठेगी, कोई नहीं जानता। इसलिए वे व्यर्थ के विवाद हटाकर, उस दिव्य संस्कृति—आर्य मानव संस्कृति—की सेवा में लगना चाहिए। भगवान का स्मरण

करके नारी-जाति पर अत्याचार के सदृश पापिनी मत कहो। किसी को लघु न समझो। सर्वभूत-हित-रत होकर भगवान के लिए सर्वस्व समर्पण करो, निर्भय रहो।

भगवान की विभूतियों को समाज ने बाँट लिया है; परन्तु जब मैं स्वार्थियों को भगवान पर भी अपना अधिकार जमाए देखता हूँ, तब मुझे हँसी आती है–और भी हँसी आती है–तब उस अधिकार की घोषणा करके दूसरों को वे छोटा, नीच और पतित ठहराते हैं। बहु-परिचारिणी जाबाला के पुत्र सत्यकाम को कुलपति ने ब्राह्मण स्वीकार किया था; किन्तु उत्पत्ति, पतन और दुर्बलताओं के व्यंग्य से मैं घबराता नहीं। जो दोषपूर्ण आँखों में पतित हैं, जो निसर्ग-दुर्बल हैं, उन्हें अवलम्ब देना भारत-संघ का उद्देश्य है। इसलिए, इन स्त्रियों को भारत-संघ में पुनः लौटाते हुए बड़ा सन्तोष होता है। इन लतिका देवी ने अपना सर्वस्व दान किया है। उस धन से स्त्रियों की पाठशाला खोली जायगी, जिसमें उनकी पूर्णता की शिक्षा के साथ वे इस योग्य बनाई जायँगी कि घरों में, पर्दों में दीवारों के भीतर नारी-जाति के सुख, स्वास्थ्य और संयत स्वतन्त्रता की घोषणा करें, उन्हें सहायता पहुँचाएँ, जीवन के अनुभवों से अवगत करें। उनमें उन्नति, सहानुभूति, क्रियात्मक प्रेरणा का प्रकाश फैलाएँ। हमारा देश इस सन्देश से–नवयुग के सन्देश से–स्वास्थ्यलाभ करे। इन आर्यललनाओं का उत्साह सफल हो, यही भगवान से प्रार्थना है। अब आप मंगलदेव का व्याख्यान सुनेंगे, वे नारी-जाति के सम्मान पर कुछ कहेंगे।

मंगलदेव ने कहना आरम्भ किया–

संसार में जितनी हलचल है, आन्दोलन हैं, वे सब मानवता की पुकार है। जननी अपने झगड़ालू कुटुम्ब में मेल कराने के लिए बुला रही है। उसके लिए हमें प्रस्तुत होना है। हम अलग न खड़े रहेंगे! यह समारोह उसी का समारम्भ है। इसलिए, हमारे आन्दोलन व्यवच्छेदक न हो।

एक बार फिर स्मरण करना चाहिए कि लोग एक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे श्रीकृष्ण ने कहा-'अविभक्त च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'– यह विभक्त होना कर्म के लिए है, चक्रप्रवर्त्तन को नियमित रखने के लिए है! समाज-सेवा-यज्ञ को प्रगतिशील करने के लिए है। जीवन व्यर्थ न करने के लिए, पाप की आयु, स्वार्थ का बोझ न उठाने के लिए हमें समाज के रचनात्मक कार्य में, भीतरी सुधार लाना चाहिए। यह ठीक है कि सुधार का काम प्रतिकूल स्थिति में प्रारम्भ होता है! सुधार सौन्दर्य का साधन है। सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा है। शारीरिक और आलंकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है। मानसिक सुधार में सामूहिक भाव कार्य करते हैं। इसके लिए श्रम-विभाग है। हम अपने कर्त्तव्य को देखते हुए समाज की उन्नति करें, परन्तु संघर्ष को बचाते हुए। हम उन्नति करते-करते भौतिक ऐश्वर्य के टीले न बन जायँ। हाँ, हमारी उन्नति फल-फूल वाले वृक्षों की-सी हो, जिनमें छाया मिले, विश्राम मिले, शान्ति मिले।

मैंने पहले कहा है कि समाज-सुधार भी हो और संघर्ष से बचाना भी चाहिए। बहुत-से लोगों का यह विचार है कि, सुधार और उन्नति में संघर्ष अनिवार्य है; परन्तु संघर्ष से बचने का एक उपाय है, वह है-आत्म-निरीक्षण। समाज के कामों में अतिवाद से बचाने के लिए

यह उपयोगी हो सकता है। जहाँ समाज का शासन कठोरता से चलता है, वहाँ द्वेष और द्वन्द्व भी चलता है। शासन की उपयोगिता हम भूल जाते हैं, फिर शासन केवल शासन के लिए चलता रहता है। कहना नहीं होगा कि वर्तमान हिन्दूजाति और उसकी उपजातियाँ इसके उदाहरण हैं। सामाजिक कठोर दण्डों से वह छिन्न-भिन्न हो रही हैं, जर्जर हो रही हैं। समाज के प्रमुख लोगों को इस भूल को सुधारना पड़ेगा। व्यवस्थापक तन्त्रों की जननी, प्राचीन पंचायतें, नवीन समस्याएँ सहानुभूति के बदले द्वेष फैला रही हैं। उनसे कठोर दण्ड से प्रतिहिंसा का भाव जाता है। हम लोग भूल जाते हैं कि मानव-स्वभाव दुर्बलताओं से संगठित है।

दुर्बलता कहाँ से आती है? –लोकापवाद से भयभीत होकर स्वभाव को पाप कहकर मान लेना, एक प्राचीन रूढ़ि है। समाज को सुरक्षित रखने के लिए उससे संगठन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। सबके लिए एक पथ देना होगा। समस्त प्राकृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति आपके आदर्श में होनी चाहिए। केवल–'रास्ता बन्द है!' –कह देने से काम न चलेगा। लोकापवाद–संसार का एक भय है, एक महान् अत्याचार है। आप लोग जानते होंगे कि श्रीरामचन्द्र ने भी–लोकापवाद के सामने सिर झुका लिया। 'लोकापवादी बलवाल्येन त्यक्ताहि मैथिली' और इसे पूर्वकाल के लोग मर्यादा कहते हैं, उनका मर्यादापुरुषोत्तम नाम पड़ा। वह धर्म की मर्यादा न थी, वस्तुतः समाज-शासन की मर्यादा थी, जिसे सम्राट् ने स्वीकार किया और अत्याचार सहन किया; परन्तु विवेक-दृष्टि से विचारने पर देश, काल और समाज की संकीर्ण परिधियों में पले हुए सर्वसाधारण नियम-भंग अपराध या पाप कहकर न गिने जायें; क्योंकि प्रत्येक नियम अपने पूर्ववर्त्ती नियम के बाधक होते हैं। या उसकी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए बनते ही रहते हैं। सीता-निर्वासन एक इतिहास-विश्रुत महान् सामाजिक अत्याचार है, और ऐसे अत्याचार अपनी दुर्बल संगिनी स्त्रियों पर प्रत्येक जाति के पुरुषों ने किया है। किसी-किसी समाज में तो पाप के मूल में स्त्री का ही उल्लेख है, और पुरुष निष्पाप है। यह भ्रान्त मनोवृत्ति अनेक सामाजिक व्यवस्थाओं के भीतर काम कर रही है। रामायण भी केवल राक्षस-वध का इतिहास नहीं है, किन्तु नारी-निर्यातन का सजीव इतिहास लिखकर वाल्मीकि ने स्त्रियों के अधिकार की घोषणा की है। रामायण में समाज के दो दृष्टिकोण हैं–निन्दक और वाल्मीकि के। दोनों निर्धन थे, एक बड़ा भारी अपकार कर सकता था और दूसरा एक पीड़ित आर्यललना की सेवा कर सकता था। कहना न होगा कि उस युद्ध में कौन विजयी हुआ! सच्चे तपस्वी ब्राह्मण वाल्मीकि की विभूति संसार में आज भी महान् है। आज भी उस निन्दक को गाली मिलती है, परन्तु देखिए तो, आवश्यकता पड़ने पर हम-आप और निन्दकों से ऊँचे हो सकते हैं? आज भी तो समाज वैसे ही लोगों से भरा पड़ा है–जो स्वयं मलीन रहने पर भी दूसरों की स्वच्छता को अपनी जीविका का साधन बनाये हैं।

हमें इन बुरे उपकरणों को दूर करना चाहिए। हम जितनी कठिनता से दूसरों को दबाये रक्खेंगे, उतनी ही हमारी कठिनता बढ़ती जायेगी। स्त्री-जाति के प्रति सम्मान करना

सीखना होगा।

हम लोगों को अपना हृदय-द्वार और कार्य-क्षेत्र विस्तृत करना चाहिए। मानव-संस्कृति के प्रचार के लिए हम उत्तरदायी हैं। विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त और हर्षवर्द्धन का रक्त हममें है। संसार भारत के सन्देश की आशा में है, हम उन्हें देने के उपयुक्त बनें—यही मेरी प्रार्थना है।

आनन्द की करतलध्वनि हुई। मंगलदेव बैठा। गोस्वामीजी ने उठकर कहा—आज आप लोगों को एक और हर्ष-समाचार सुनाऊँगा। सुनाऊँगा ही नहीं, आप लोग उस आनन्द के साक्षी होंगे। मेरे शिष्य मंगलदेव का, ब्रह्मचर्य की समाप्ति करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का शुभ मुहूर्त्त भी आज ही है। यह कानन-वासिनी गूजर-बालिका गाला अपने सत्साहस और दान से सीकरी में एक बालिका-विद्यालय चला रही है। इसमें मंगलदेव और गाला दोनों का हाथ है। मैं इन दोनों पवित्र हाथों को एक बन्धन में बाँधता हूँ, जिसमें सम्मिलित शक्ति से ये लोग मानव-सेवा में अग्रसर हों और यह परिणय समाज के लिए आदर्श हो!

कोलाहल मच गया, सब लोग गाला को देखने के लिए उत्सुक हुए। सलज्जा गाला, गोस्वामीजी के संकेत से उठकर सामने आई। कृष्णशरण ने प्रतिमा से दो माला लेकर दोनों को पहना दी।

हर्ष-कोलाहल हो रहा था। उसी में किसी का डरावना स्वर सुनाई पड़ा— अच्छा तो है! चंगेज और वर्धनों की सन्तानों की क्या ही सुन्दर जोड़ी है!!

गाला और मंगलदेव ने चौंककर देखा—पर उस भीड़ में कहनेवाला न दिखाई पड़ा।

भीड़ के पीछे कम्बल ओढ़े, एक घनी दाढ़ी-मूँछ वाले युवक का कन्धा पकड़कर तारा ने कहा—विजय बाबू! आप क्या प्राण देंगे! हटिए यहाँ से, अभी वह घटना टटकी है!

नये, नहीं विजय ने घूमकर कहा—यमुना! प्राण तो बच ही गया; पर, यह मनुष्य...

तारा ने बात काटकर कहा—बड़ा ढोंगी है, पाखण्डी है, यही न कहना चाहते हैं आप! होने दीजिए, आप संसार-भर के ठेकेदार नहीं—चलिए।

तारा उसका हाथ पकड़कर अन्धकार की ओर ले चली।

किशोरी सन्तुष्ट न हो सकी। कुछ दिनों के लिए वह विजय को अवश्य भूल गई थी; पर मोहन को दत्तक ले लेने से उसको एकदम भूल जाना असम्भव था। हाँ, उसकी स्मृति और भी उज्ज्वल हो चली। घर के एक-एक कोने उसकी कृतियों से अंकित थे। उन सबों ने मिल कर किशोरी की हँसी उड़ाना आरम्भ किया।

एकान्त में विजय का नाम लेकर वह रो उठती। उस समय उसके विवर्ण मुख को देखकर मोहन भी भयभीत हो जाता। धीरे-धीरे मोहन के प्यार की माया अपना हाथ किशोरी की ओर से खींचने लगी। किशोरी कटकटा उठती, पर उपाय क्या था, नित्य मनोवेदना से पीड़ित होकर उसने रोग का आश्रय लिया। औषधि होती थी रोग की; पर मन तो वैसा ही अस्वस्थ था। ज्वर ने उसके जर्जर शरीर में डेरा डाल दिया। विजय को उसने भूलने की चेष्टा की थी। किसी सीमा तक वह सफल भी हुई; पर वह धोखा अधिक दिन तक नहीं चल सका।

मनुष्य दूसरे को धोखा दे सकता है, क्योंकि उससे सम्बन्ध कुछ ही समय के लिए होता है; पर अपने से, नित्य सहचर से, जो घर का सब कोना जानता है, कब तक छिपेगा। किशोरी चिर-रोगिणी हुई। एक दिन उसे एक पत्र मिला। वह खाट पर पड़ी हुई अपने रूखे हाथों से उसे खोलकर पढ़ने लगी–

"किशोरी,

संसार इतना कठोर है कि वह क्षमा करना नहीं जानता और उसका सबसे बड़ा दंड है---'आत्म दर्शन!' अपनी दुर्बलता, जब अपराधों की स्मृति बनकर डंक मारती है, तब वह कितना उत्पीड़नमय होता है! उसे तुम्हें क्या समझाऊँ! मेरा अनुमान है कि तुम भी उसे भोगकर जान सकी हो।

मनुष्य के पास तर्कों के समर्थनों का अस्त्र है; पर कठोर सत्य अलग खड़ा उसकी विद्वतापूर्ण मूर्खता पर मुस्करा देता है। यह हँसी-शूल-सी भयानक, ज्वाला से भी अधिक झुलसानेवाली होती है।

मेरा इतिहास....मैं लिखना नहीं चाहता। जीवन की कौन-सी घटना प्रधान है, और बाक़ी सब पीछे-पीछे चलनेवाली अनुचरी हैं? बुद्धि बराबर उसे चेतना की लम्बी पंक्ति में पहचानने में असमर्थ है। कौन जानता है कि ईश्वर को खोजते-खोजते कब, किसे पिशाच मिल जाता है!

जगत् की एक जटिल समस्या है–स्त्री-पुरुष का स्निग्ध मिलन। यदि तुम और श्रीचन्द्र एक-मन-प्राण होकर निभा सकते? किन्तु वह असम्भव था। इसके लिए समाज ने भिन्न-भिन्न समय और देशों में अनेक प्रकार की परीक्षाएँ कीं, किन्तु वह सफल न हो सका। रुचि एवं मानव-प्रकृति, इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म-मिलन विरला होता है। मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा। स्वतन्त्र चुनाव, स्वयंवरा, यह सब सहायता नहीं दे सकते। इसका उपाय एकमात्र समझौता है, वहीं ब्याह है; परन्तु तुम लोग उसे विफल बना ही रहे थे कि मैं बीच में कूद पड़ा। मैं कहूँगा कि तुम लोग उसे व्यर्थ करना चाहते थे।

किशोरी! इतना तो निस्सन्देह है कि मैं तुमको पिशाच मिला–तुम्हारे आनन्दमय जीवन को नष्ट कर देनेवाला, भारतवर्ष का एक साधु नामधारी हो। –यह कितनी लज्जा की बात है। मेरे पास शास्त्रों का तर्क था, मैंने अपने कामों का समर्थन किया; पर तुम थीं असहाय अबला–आह, मैंने क्या किया!

और सबसे भयानक बात तो यह थी कि मैं तो अपने विचारों में पवित्र था। पवित्र होने के लिए मेरे पास सिद्धान्त था। मैं समझता था कि, धर्म से, ईश्वर से, केवल हृदय का सम्बन्ध है; कुछ क्षणों तक उसकी मानसिक उपासना कर लेने से यह मिल जाता है। इन्द्रियों से, वासनाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं; परन्तु हृदय तो इन्हीं संवेदनों से सुसंगठित है। किशोरी, तुम भी मेरे ही पथ पर चलती रही हो; पर रोगी शरीर में स्वस्थ हृदय कहाँ से आवेगा? काली करतूतों के भगवान का उज्ज्वल रूप कौन देख सकेगा?

तुमको स्मरण होगा कि मैंने एक दिन यमुना नाम की दासी को तुम्हारे यहाँ देवगृह में जाने के लिए रोक दिया था–उसे बिना जाने-समझे अपराधिनी मानकर! वाह रे दम्भ!

मैं सोचता हूँ कि अपराध करने में भी मैं उतना पतित नहीं था, जितना दूसरों को बिना जाने-समझे छोटा, नीच, अपराधी मान लेने में। पुण्य का सैकड़ों मन का धातु-निर्मित घण्टा बजाकर जो लोग अपनी ओर संसार का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं, वे यह नहीं जानते कि बहुत समीप अपने हृदय तक वह भीषण शब्द नहीं पहुँचता।

किशोरी! मैंने खोजकर देखा कि मैंने जिसको सबसे बड़ा अपराधी समझा था, वही सबसे अधिक पवित्र है! वही यमुना–तुम्हारी दासी! तुम जानती होगी कि तुम्हारे अन्न से पलने के कारण, विजय के लिए फाँसी पर चढ़ने जा रही थी, और मैं–जिसे विजय पर ममत्व था–दूर -दूर खड़ा धन से सहायता करना चाहता था।

भगवान ने यमुना को भी बचाया, यद्यपि विजय का पता नहीं। हाँ, एक बात और सुनोगी, मैं आज इसे स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हरिद्वार वाली विधवा रामा को तुम न भूली होगी, वह तारा (यमुना) उसी के गर्भ से उत्पन्न हुई है। मैंने उसकी सहायता करनी चाही और लगा था कि निकट भविष्य में उसकी सांसारिक स्थिति सुधार दूँ। इसीलिए मैं भारत-संघ में लगा, सार्वजनिक कामों में सहयोग करने लगा; परन्तु कहना न होगा कि इसमें मैंने बड़ा ढोंग पाया। गम्भीर मुद्रा का अभिनय करके अनेक रूपों में उन्हीं व्यक्तिगत दुराचारों को छिपाना पड़ता है, सामूहिक रूप से वही मनोवृत्ति काम करती हुई दिखाई पड़ती है। संघों में, समाजों में, मेरी श्रद्धा न रही। मैं विश्वास करने लगा उस श्रुतिवाणी में कि देवता जो अप्रत्यक्ष है, मानव-बुद्धि से दूर ऊपर है, सत्य है और मनुष्य अनृत है। चेष्टा करके भी उस सत्य को जो प्राप्त करेगा। उस मनुष्य को मैं कई जन्मों तक केवल नमस्कार करके अपने को कृतकृत्य समझूँगा। मेरे संघ में लगने का मूल कारण वही यमुना थी। केवल धर्माचरण ही न था, इसे स्वीकार करने में कोई सकोच नहीं, परन्तु वह विजय के समान ही तो उच्छृंखल है, वह अभिमानी चली गई। मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने दोनों को खो दिया। 'अपने दोनों पर'–तुम हँसोगी, किन्तु वे चाहे मेरे न हों, तब भी मुझे ऐसी शंका हो रही है कि तारा की माता रामा से मेरा अवैध सम्बन्ध अपने को अलग नहीं रख सकता!

मैंने भगवान की ओर से मुँह मोड़कर मिट्टी के खिलौने में मन लगाया था। वे ही मेरी ओर देखकर, मुस्कराते हुए त्याग का परिचय देकर चले गए और मैं कुछ टुकड़ों को–चीथड़ों को–सम्हालने -सुलझाने में व्यस्त बैठा रहा।

किशोरी ! सुना है कि सब छीन लेते हैं भगवान मनुष्य से, ठीक उसी प्रकार जैसे पिता खिलवाड़ी लड़के के हाथ से खिलौना! जिससे वह पढ़ने-लिखने में मन लगाये। मैं अब यही समझता हूँ कि यह परमपिता का मेरी ओर संकेत है।

हो या न हो, पर मैं जानता हूँ कि उसमें क्षमा की क्षमता है, मेरे हृदय की प्यास–ओफ! कितनी भीषण है–वह अनन्त तृष्णा! –संसार के कितने के कितने ही कीचड़ों पर लहरानेवाली जल की पतली तहों में शूकरों की तरह लोट चुकी है! पर, लोहार की तपाई हुई छुरी जैसे सान रखने के लिए बुझाई जाती हो, वैसे ही मेरी प्यास बुझकर भी तीखी होती गई।

जो लोग पुनर्जन्म मानते हैं, जो लोग भगवान को मानते हैं, वे पाप कर सकते है? नहीं, पर मैं देखता हूँ कि इन पर लम्बी-चौड़ी बातें करनेवाले भी इससे मुक्त नहीं। मैं कितने जन्म

लूँगा, इस प्यास के लिए, मैं नहीं कह सकता। न भी लेना पड़े, नहीं जानता! पर मैं विश्वास करने लगा हूँ कि भगवान में क्षमा की क्षमता है।

मर्मव्यथा से व्याकुल होकर गोस्वामी कृष्णशरण से जब मैंने अपना सब समाचार सुनाया, तो उन्होंने बहुत देर तक चुप रहकर यही कहा—निरंजन,भगवान क्षमा करते हैं। मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है मनुष्य का परिमित ज्ञानाभास। सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यावहारिक रूप में उसे सम्पूर्ण ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ प्रमाणित होते हैं। जिन्हें हम परम्परागत संस्कारों के प्रकाश में कलंकमय देखते हैं, वे ही शुद्ध ज्ञान में यदि सत्य ठहरें, तो मुझे आश्चर्य न होगा। तब मैं क्या करूँ? यमुना के सहसा संघ से चले जाने पर नन्दो ने मुझसे कहा कि यमुना का मंगल से ब्याह होनेवाला था। हरिद्वार में मंगल ने उसके साथ विश्वासघात करके उसे छोड़ दिया। आज भला जब वही मंगल एक दूसरी स्त्री से ब्याह कर रहा है, तब वह क्यों न चली जाती? मैं यमुना की दुर्दशा सुनकर काँप गया। मैं ही मंगल का दूसरा ब्याह करानेवाला हूँ। आह! मंगल का समाचार तो नन्दो ने सुना ही था, अब तुम्हारी भी कथा सुनकर मैं तो स्वयं शंका करने लगा हूँ कि अनिच्छापूर्वक भी भारत-संघ की स्थापना में सहायक बनकर मैंने क्या किया है—पुण्य या पाप? प्राचीनकाल के इतने बड़े-बड़े संगठनों में जड़ता की दुर्बलता घुस गई! फिर यह प्रयास कितने बल पर है? —वाह रे मनुष्य! तेरे विचार कितने निस्संबल हैं—कितने दुर्बल हैं!—मैं भी जाता हूँ इसी को विचारने किसी एकान्त में! और, तुमसे मैं केवल यही कहूँगा कि भगवान पर विश्वास और प्रेम की मात्रा बढ़ाती रहो।

किशोरी ! न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है; क्षमा में भगवान की शक्ति है। उसकी सत्ता है, महत्ता है, सम्भव है कि इसीलिए, सबके क्षमा के लिए वह महाप्रलय करता हो।

तो किशोरी! उसी महाप्रलय की आशा में मैं भी किसी निर्जन कोने में जाता हूँ बस—बस!

निरंजन!

पत्र पढ़कर किशोरी ने रख दिया। उसके दुर्बल श्वास उत्तेजित हो उठे, वह फूट-फूटकर रोने लगी।

गरमी के दिन थे। दस ही बजे पवन में ताप हो चला था। श्रीचन्द्र ने आकर कहा—पंखा खींचने के लिए दासी मिल गई है, यही रहेगी, केवल खाना-कपड़ा लेगी।

पीछे खड़ी दो करुण आँखे घूँघट में झाँक रही थीं।

श्रीचन्द्र चले गये। दासी आई, पास आकर किशोरी की खाट पकड़कर बैठ गई। किशोरी ने आँसू पोंछते हुए उसकी ओर देखा—वह यमुना--तारा थी!

९

बरसात के प्रारम्भिक दिन थे। अभी सन्ध्या होने में विलम्ब था। दशाश्वमेध घाट वाली चुंगी-चौकी से सटा हुआ जो पीपल का वृक्ष है, उसके नीचे कितने ही मनुष्य कहलाने वाले प्राणियों का ठिकाना है। पुण्य-स्नान करनेवाली बुढ़ियों की बाँस की डाली में से

निकलकर चार-चार चावल सबों के फटे अंचल में पड़ जाते हैं, उनसे कितनों के विकृत अंग की पुष्टि होती है। काशी में बड़े-बड़े अनाथालय, बड़े-बड़े अन्नसत्र हैं, और उनके संचालक स्वर्ग में जानेवाली आकाश-कुसुमों की सीढ़ी की कल्पना छाती फुलाकर करते है; पर इन्हें तो झुकी हुई कमर, झुर्रियों से भरे हाथों वाली रामनामी ओढ़े हुए, अन्नपूर्णा की प्रतिमाएँ ही दो दाने दे देती हैं।

दो मोटी ईंटों पर खपड़ा रखकर उन्ही दानों को भूनती हुई, कूड़ों की ईंधन से कितनी क्षुधा-ज्वालाएँ निवृत्त होती हैं—यह एक दार्शनिक दृश्य है! सामने नाई अपने टाट बिछाकर बाल बनाने में लगे है, वे पीपल की जड़ से टिके हुए देवता के परम भक्त हैं, स्नान करके अपनी कमाई के फल-फूल उन्हीं पर चढ़ाते हैं। वे नग्न-भग्न देवता, भूखे-प्यासे जीवित देवता, क्या पूजा के अधिकारी नहीं? उन्हीं में फटे कम्बल पर ईंट का तकिया लगाये, विजय भी पड़ा है। अब उसके पहचाने जाने की तनिक भी सम्भावना नहीं। छाती तक हड्डियों का ढाँचा और पिंडलियों पर सूजन की चिकनाई, बालों के घनेपन में बड़ी-बड़ी आँखें और उन्हें बाँधे हुए एक चीथड़ा, इन सबों ने मिलकर विजय को– 'नये को'—छिपा लिया था। वह ऊपर लटकती हुई पीपल की पत्तियों का हिलना देख रहा था। वह चुप था। दूसरे, अपने सायंकाल के भोजन के लिए व्यग्र थे।

अँधेरा हो चला, रात्रि आई,—कितनों के विभव-विकास पर चाँदनी तानने और कितनों के अन्धकार में अपनी व्यंग्य की हँसी छिड़कने! विजय निश्चेष्ट था। उसका भालू उसके पास घूमकर आया, उसने दुलार किया। विजय के मुँह पर हँसी आई, उसने धीरे-से हाथ उठाकर उसके सिर पर रक्खा, पूछा—भालू! तुम्हें कुछ खाने को मिला?—भालू ने जँभाई लेकर जीभ से अपना मुंह पोंछा, फिर बग़ल में सो रहा। दोनों मित्र निश्चेष्ट सोने का अभिनय करने लगे।

एक भारी गठरी लिये दूसरा भिखमंगा आकर उसी जगह सोये हुए विजय को घूरने लगा। अन्धकार में उसकी तीव्रता देखी न गई पर वह बोल उठा—क्यों बे, बदमाश! मेरी जगह तूने लम्बी तानी है ? मारूँ डण्डे से, तेरी खोपड़ी फूट जाय!

उसने डण्ड ताना ही थी कि भालू झपट पड़ा। विजय ने विकृत कण्ठ से कहा —भालू! जाने दो, यह मथुरा का थानेदार है, घूस लेने के अपराध में जेल काटकर आया है, यहाँ भी तुम्हारा चालान कर देगा तब?

भालू लौट पड़ा और नया भिखमंगा एक बार ही चौंक उठा—कौन है रे? —कहता वहाँ से खिसक गया। विजय फिर निश्चित हो गया। उसें नींद आने लगी थी। पैरों में सूजन थी, अनाहार से वह दुर्बल था।

एक घण्टा बीता न होगा कि एक स्त्री आई, उसने कहा—भाई! बहन! —कहकर विजय उठ बैठा। उस स्त्री ने कुछ रोटियाँ उसके हाथ पर रख दीं। विजय खाने लगा। स्त्री ने कहा—मेरी नौकरी लग गई भाई! अब तुम भूखे न रहोगे।

कहाँ बहन?—दूसरी रोटी समाप्त करते हुए विजय ने पूछा।

श्रीचन्द्र के यहाँ।

विजय के हाथ से रोटी गिर पड़ी। उसने कहा—तुमने आज मेरे साथ बड़ा अन्याय किया बहन!

क्षमा करो भाई! तुम्हारी माँ मरण-सेज पर है, तुम उन्हें एक बार देखोगे!

विजय चुप था। उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा। उसने कहा—माँ—मरण-सेज पर! देखूँगा यमुना ? परन्तु तुमने... !

मैं दुर्बल हूँ भाई! नारी-हृदय दुर्बल है, मैं अपने को न रोक सकी। मुझे नौकरी दूसरी जगह मिल सकती थी; पर तुम न जानते होगे कि श्रीचन्द्र का दत्तक पुत्र मोहन का मेरी कोख से जन्म हुआ है!

क्या?

हाँ भाई। तुम्हारी बहन यमुना का वह रक्त है, उसकी कथा फिर सुनाऊँगी।

बहन! तुमने मुझे बचा लिया। अब मैं मोहन की रोटी सुख से खा सकूँगा। पर..माँ मरण-सेज पर ...तो मैं चलूँ....कोई घुसने न दे तब!

नहीं भाई? इस समय श्रीचन्द्र बहुत-सा दान-धर्म करा रहे हैं, हन तुम भी तो भिखमंगे ठहरे —चलो न!

टीन के पात्र में जल पीकर विजय उठ खड़ा हुआ। दोनों चले। कितनी ही गलियाँ पार कर विजय और यमुना श्रीचन्द्र के घर पर पहुँचे। खुले दालान में किशोरी लिटाई गई थी। दान के सामान बिखरे थे। श्रीचन्द्र मोहन को लेकर दूसरे कमरे में जाते हुए बोले—यमुना! देखो, इसे भी कुछ दिला दो। मेरा चित्त घबरा रहा है, मोहन को लेकर इधर हूँ; बुला लेना।

और दो-तीन दासियाँ थीं। यमुना ने उन्हें हटने का संकेत किया। उन सबने समझा—कोई महात्मा आशीर्वाद देने आया है, वे हट गई। विजय किशोरी के पैरों के पास बैठ गया। यमुना ने उसके कानों में कहा—भैया आये हैं।

किशोरी ने आँखें खोल दीं। विजय ने पैरों पर सिर रख दिया। किशोरी के अंग अब हिलते न थे। वह कुछ बोलना चाहती थीं; पर आँखों से आँसू बहने लगे। विजय ने अपने मलिन हाथों से उन्हें पोंछा। एक बार किशोरी ने उसे देखा, आँखों ने अधिक बल देकर देखा; पर वे खुली रह गईं। विजय फिर पैरों पर सिर रखकर उठ खड़ा हुआ । उसने मन-ही-मन कहा—मेरे इस दुखमय शरीर को जन्म देनेवाली दुखिया जननी! तुमसे उऋण नहीं हो सकता!

वह जब बाहर जा रहा था, यमुना रो पड़ी, सब दौड़ आये।

इस घटना को बहुत दिन बीत गए। विजय वहीं पड़ा रहता था। यमुना नित्य उसे रोटी दे जाती, वह निर्विकार भाव से उसे ग्रहण करता।

एक दिन प्रभात में जब उषा की लाली गंगा के वक्ष पर खिलने लगी थी, विजय ने आँखें खोलीं। धीरे से अपने पास से एक पत्र निकालकर वह पढ़ने लगा —वह विजय के समान ही तो उच्छृंखल है।... अपने दोनों पर तुम हँसोगी। किन्तु वे चाहे मेरे न हों, तब भी

मुझे ऐसी शंका हो रही है कि तारा (तुम्हारी यमुना) की माता रामा से मेरा अवैध सम्बन्ध अपने को अलग नहीं रख सकता।

पढ़ते-पढ़ते विजय की आँखों में आँसू आ गए। उसने पत्र फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाला। तब भी वह न मिटा, उज्ज्वल अक्षरों से सूर्य की किरणों में आकाश-पट पर वह भयानक सत्य चमकने लगा।

उसकी धड़कन बढ़ गई, वह तिलमिलाकर देखने लगा। अन्तिम साँस में कोई आँसू बहानेवाला न था, यह देखकर उसे प्रसन्नता हुई। उसने मन-ही-मन कहा–इस अन्तिम घड़ी में हे भगवान! मैं तुमको स्मरण करता हूँ; आज तक कभी नहीं किया था, तब भी तुमने मुझे कितना बचाया–कितनी रक्षा की! हे मेरे देव! मेरा नमस्कार ग्रहण करो, इस नास्तिक का समर्पण स्वीकार करो! अनाथों के नाथ! तुम्हारी जय हो!

उसी क्षण उनके हृदय की गति बन्द हो गई।

आठ बजे भारत-संघ का प्रदर्शन निकलनेवाला था। दशाश्वमेध घाट पर उसका प्रचार होगा। सब जगह बड़ी भीड़ है। आगे स्त्रियों का दल था, जो बड़ा ही करुण-संगीत गाता जा रहा था। पीछे कुछ स्वयंसेवकों की श्रेणी थी। स्त्रियों के आगे-आगे घण्टी और लतिका थीं। जहाँ से दशाश्वमेध के दो मार्ग अलग हुए हैं, वहाँ आकर वे लोग अलग-अलग होकर प्रचार करने लगे। घण्टी उस भिखमंगोंवाले पीपल के पास खड़ी होकर बोल रही थी। उसके मुख पर शांति थी, वाणी में स्निग्धता थी। वह कह रही थी–संसार को इतनी आवश्यकता किसी अन्य वस्तु की नहीं, जितनी सेवा की। देखो–कितने अनाथ यहाँ अन्न-वस्त्र विहीन, बिना किसी औषधि -उपचार के मर रहे हैं। हे पुण्यार्थियो! इन्हें न भूलो, भगवान अभिनय करके इनमें पड़े है; वह तुम्हारी परीक्षा ले रहे हैं। इतने ईश्वर के मन्दिर नष्ट हो रहे हैं धार्मिको! अब भी चलो!

सहसा उसकी वाणी बन्द हो गई। उसने स्थिर दृष्टि से एक पड़े हुए कँगले को देखा, वह बोल उठी–देखो वह बेचारा अनाहार से मर गया-सा मालूम पड़ता है। इनका संस्कार....

हो जायगा! हो जायगा! आप इसकी चिन्ता न कीजिए, अपनी अमृतवाणी बरसा-इए!—जनता में कोलाहल होने लगा; किन्तु वह आगे बढ़ी, भीड़ भी उधर ही जाने लगी। पीपल के पास सन्नाटा हो चला।

मोहन अपनी धाय के संग मेला देखने आया था। वह मान-मन्दिर वाली गली के कोने पर खड़ा था। उसने धाय से कहा–दाई, मुझे वहाँ ले चलकर मेला दिखाओ, चलो मेरी अच्छी दाई!

यमुना ने कहा–मेरे लाल! बड़ी भीड़ है, वहाँ क्या है जो देखोगे?

मोहन ने कहा–फिर तुमको पीटेंगे!

तब तुम पाजी लड़के समझे जाओगे, जो देखेगा वही कहेगा कि यह लड़का अपनी दाई को पीटता है!–चुम्बन लेकर यमुना ने हँसते हुए कहा।

अकस्मात् उसकी दृष्टि विजय के शव पर पड़ी। वह घबराई कि क्या करे! पास ही श्रीचंद्र भी टहल रहे थे। उसने मोहन को उनके पास पहुँचाते हुए हाथ जोड़कर कहा—बाबूजी, मुझे दस रुपये दीजिए।

श्रीचन्द्र ने कहा—पगली, क्या करेगी?

वह दौड़ी हुई विजय के पास गई। उसने खड़े होकर उसे देखा, फिर पास बैठकर देखा। दोनों आँखों से आँसू की धारा बह चली।

यमुना, दूर खड़े श्रीचन्द्र के पास आई। बोली—बाबूजी, मेरे वेतन में से काट लेना, इसी समय दीजिए, मैं जन्म-भर ऋण भरूँगी।

है क्या, मैं भी सुनूँ! —श्रीचन्द्र ने कहा।

मेरा एक भाई था, यहीं भीख माँगता था बाबू! आज मरा पड़ा है, उसका संस्कार तो करा दूँ।

श्रीचन्द्र ने दस का नोट निकाल कर दिया। यमुना प्रसन्नता से बोली—मेरी भी आयु लेकर जियो मेरे लाल!

वह शव के पास चल पड़ी; परन्तु उस संस्कार के लिये कुछ लोग भी चाहिए, वे कहाँ से आवें। यमुना मुँह फिराकर चुपचाप खड़ी थी। घण्टी चारों ओर देखती हुई फिर वहीं आई। उसके साथ चार स्वयंसेवक थे।

स्वयंसेवक ने पूछा—यही न देवीजी?

हाँ—कहकर देवी ने देखा कि एक स्त्री घूँघट काढ़े, दस रुपये का नोट स्वयंसेवक के हाथ में दे रही है।

घण्टी ने कहा—दान है इस पुण्यभागिनी का—ले लो, जाकर इससे सामान लाकर मृतक संस्कार करवा दो।

स्वयंसेवक ने उसे ले लिया। वह स्त्री वहीं बैठी थी। इतने में मंगलदेव के साथ गाला भी आई। मंगल ने कहा—घण्टी! मैं तुम्हारी तत्परता से बड़ा प्रसन्न हुआ। अच्छा अब चलो, अभी बहुत-सा काम बाकी है।

मनुष्य के हिसाब-किताब में काम ही तो बाकी पड़े मिलते हैं—कहकर घण्टी सोचने लगी। फिर उस शव की दीन दशा मंगल को संकेत से दिखलाई।

मंगल ने देखा—एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उसका घूँघट आँसुओं से भीग गया है। और निराश्रय पड़ा है, एक —**कंकाल**।

□□